ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार प्रवचन

भाग-४

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
संकलित प्रवचन
(गाथा क्रमांक ६९ से १४४ तक)

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ
ललितपुर (उत्तरप्रदेश)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

ॐ

नमः श्रीसद्गुरुदेवाय

प्रस्तावना

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

आज से २४७३ वर्ष पहले इस भरतक्षेत्र की पुण्यभूमि में जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान श्री महावीरस्वामी मोक्षमार्ग का प्रकाश करने के लिए समस्त पदार्थों का स्वरूप अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाण के पश्चात् कालदोष से क्रम–क्रम से अपर ज्ञानसिन्धु के बहुत से भाग का तो विच्छेद हो गया। तथा थोड़े से बचे हुए बीजभूत ज्ञान का प्रवाह आचार्यों की परम्परा से उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमें से जिनशासन के स्तम्भ समान कितने ही आचार्य भगवन्तों ने शास्त्रों को गूँथा। उन आचार्यों में एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान महावीर से चला आता हुआ ज्ञान गुरुपरम्परा से प्राप्त करके, उसमें से पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्र गूँथे और संसारनाशक श्रुतज्ञान को चिरंजीव किया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसार के कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत् की शुरुआत में हुये हैं। दिगम्बर जैन परम्परा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीरस्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामी के बाद तुरन्त ही भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने को कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके रचे हुए अनेकों शास्त्र हैं, जिनमें से कुछ एक हाल में विद्यमान हैं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के मुख से बही हुई श्रुतामृत की सरिता में से भर लिए गये वे अमृत भाजन अब भी अनेक आत्मार्थियों को आत्मजीवन अर्पित करते हैं। उनके सर्व शास्त्रों में श्री समयसार महा अलौकिक शास्त्र है। आचार्य भगवान ने इस जगत के जीवों पर परम करुणा करके यह शास्त्र रचा है। इसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप जैसे का तैसा कहने में आया है। अनन्त काल से परिभ्रमण करते जीवों को कुछ समझने को बाकी रह गया है, वह इस परमागम में समझाया है। परम कृपालु आचार्य भगवान समयसार शास्त्र शुरु करते हुए स्वयं ही कहते हैं:—'कामभोगबंधन की कथा

बहुतों ने सुनी है, परिचय किया है, अनुभवी है, परन्तु पर से जुदे एकत्व की प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है। वह एकत्व की–पर से भिन्न आत्मा की–बात मैं इस शास्त्र में समस्त निज वैभव से (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभव से) कहूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक आचार्यदेव ने श्री समयसार में आत्मा का एकत्व–परद्रव्य से और परभावों से भिन्नपना समझाया है। यथार्थ आत्मस्वरूप की पहिचान कराना वह श्री समयसार का मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश्य तक पहुँचने के निमित्त आचार्य भगवान ने उसमें अनेक विषयों का निरूपण किया है। उसमें यह कर्ताकर्म अधिकार अलौकिक है क्योंकि—''इस जगत में मोही (अज्ञानी) जीवों का 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' ऐसे परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार–कि जो अत्यन्त दुर्निवार है वह अनादि संसार से चला आ रहा है'' उसे जड़ में से उच्छेद करने के लिए अमोघ शस्त्र इस अधिकार का यथार्थ समझ है।

वर्तमान में जानकार जगत के बहु भाग में ऐसी भ्रामक मान्यताएँ प्रचलित हैं कि—कर्ता बिना यह जगत बन नहीं सकता, एक आत्मा दूसरे का जीवन–मरण, सुख–दुःख, उपकार–अपकार कर सकता है, आत्मा की प्रेरणा से शरीर हलन–चलन, बोल सकना, कर्म आत्मा को हैरान करते हैं, किसी के आशीर्वाद से दूसरे का कल्याण होता है, शाप से अकल्याण होता है, देव–गुरु की कृपा से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अपन बराबर सम्भाल रखें तो शरीर स्वस्थ रह सकता है और न रखें तो शरीर बिगड़ जाता है, कुम्हार घड़ा बना सकता है, सुनार गहने घड़ सकता है आदि। एवं 'अन्य जीव का हिताहित मैं ही करता हूँ ऐसा जो मानता है वह अपने को अन्य जीवरूप मानता है। उसी प्रकार पौद्गलिक पदार्थों की क्रिया को मैं ही करता हूँ ऐसा जो मानता है व स्वयं को पुद्गल–द्रव्यरूप मानता है।' इसलिए इस प्रकार की भ्रामक मान्यताओं को तोड़कर यह कर्ताकर्म अधिकार कहता है कि—'कर्ता एक द्रव्य होता है और उसका कर्म दूसरे द्रव्य की पर्याय होती है' ऐसा कभी भी बन नहीं सकता, क्योंकि—'जो परिणमे वह कर्ता, परिणाम वह कर्म और परिणति वह क्रिया—ये तीनों ही एक ही द्रव्य की अभिन्न अवस्थाएँ हैं।' फिर 'एक द्रव्य का कर्ता अन्य द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें क्योंकि—कर्ताकर्मपना अथवा परिणमन–परिणामीपना एक द्रव्य में ही हो सकता है। जो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये तो उस द्रव्य का ही नाश हो जाये ऐसा बड़ा दोष आवे, इसलिए एक द्रव्य को अन्य द्रव्य का कर्ता कहना उचित नहीं।' फिर 'वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा रखती नहीं।' वस्तु की उस–उस समय की जो–जो अवस्था (अब=निश्चय+स्था=स्थिति अर्थात् निश्चय से अपनी अपने में स्थिति) वही उसकी व्यवस्था है। इसलिए उसकी व्यवस्था करने के लिए किसी भी परपदार्थ की जरूरत नहीं पड़ती। ऐसी जिनकी मान्यता हो जाती है, वे हर एक वस्तु को स्वतन्त्र तथा परिपूर्ण स्वीकारते हैं। परद्रव्य के परिणमन में मेरा हाथ नहीं है न मेरे परिणमन में किसी अन्य द्रव्य का हाथ है। ऐसा मानने में पर के कर्तापने का अभिमान सहज ही टल जाता है, इससे अज्ञानभाव से जो अनन्त वीर्य पर में रुकता था, वह स्व में लगा वही अनंत

पुरुषार्थ है एवं उसी में अनन्ती शान्ति है—यह दृष्टि वही द्रव्यदृष्टि हुई एवं वही सम्यग्दृष्टि बनी।

हर एक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है व परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तिरूप है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव है इसलिए जो अभावरूप है, वह क्या लाभ-हानि कर सकता है ? यह जो यथार्थपने से समझ में आ जाए तो पर को इष्ट-अनिष्ट मानकर जो राग-द्वेष होता है, उसका अभाव हो जाए।

'दोनों द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया चेतन करता नहीं, चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियाएँ करता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, कारण कि दो द्रव्य की क्रिया एक द्रव्य करता है ऐसा मानना वह जिनदेव का मत नहीं है।' क्योंकि—'इस जगत में वस्तु है, वह अपना स्वभावमात्र ही है।' हर एक वस्तु द्रव्य से-गुण से-पर्याय से परिपूर्ण स्वतन्त्र है। ऐसा जाहिरात यह कर्ताकर्म अधिकार करता है। अत: आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए वह स्वभावदशा में ज्ञान का ही कर्ता है व विभावदशा में अज्ञान, राग-द्वेष का कर्ता है परन्तु पर का कर्ता तो कभी भी होता नहीं। परभाव (विकार) भी कोई अन्य द्रव्य नहीं करता क्योंकि—एक द्रव्य की दूसरे द्रव्य में नास्ति है फिर भी पर्याय में विकार तो होता है वह पुरुषार्थ की विपरीतता अथवा कमजोरी से होता है, परन्तु स्वभाव में वह नहीं है ऐसा ज्ञान होने पर विकार का नाश होता है।

यह तो कर्ताकर्म अधिकार का मात्र संक्षिप्त सार हुआ। वर्तमान में अन्य किसी भी शास्त्र में ऐसा स्पष्ट कर्ताकर्म अधिकार कहीं भी देखने में नहीं आता। इसकी एक-एक गाथा महा मूल मन्त्र हैं, संसार विष को शीघ्रता से उतारनेवाली हैं। बाँसुरी के नाद से जिस प्रकार सर्प डोल उठता है। उसी प्रकार इस गाथा के सुनने और यथार्थरूप से समझने पर आज्ञानदशा में सुप्त आत्मा जागृत हो 'मैं परिपूर्ण हूँ' ऐसा भान होते ही डोल उठती है। इसके मूल कर्ता भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा टीकाकार भगवान श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव का जगत के जीवों पर परम उपकार वर्त रहा है। इसलिए उन्हें अत्यन्त भक्तिभाव से वन्दना करता हूँ।

जिस प्रकार श्री समयसार शास्त्र के मूल कर्ता और टीकाकार अत्यन्त आत्मस्थित आचार्य भगवन्त थे। उसी प्रकार प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतराग के परम भक्त, अनेक शास्त्रों के पारगामी और आश्चर्यकारी प्रभावनाउदय के धारक युग प्रधान महापुरुष हैं। उनके इस समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पढ़नेवाले को उनके आत्म-अनुभव, गाढ़ अध्यात्मप्रेम, स्वरूप की तरफ ढली हुई परिणति, वीतराग भक्ति के रंग में रंगा हुआ चित्त, अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोग का ख्याल आये बिना नहीं रहता। अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभावना उदय गुरुदेव के वर्तता होने से, उन गुरुश्री ने गत १५ वर्षों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़,

कषायपाहुड़, षट्खंडागम, पद्मनन्दिपंचविंशति, तत्त्वार्थसार, इष्टोपदेश, पुरुषार्थसिद्धियुपाय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभवप्रकाश, आत्मसिद्धिशास्त्र, आत्मानुशासन आदि शास्त्रों पर आगम-रहस्य प्रकाशक स्वानुभवमुद्रित अपूर्व प्रवचन करके सौराष्ट्र में (गुजरात और उत्तर भारत में) आत्मविद्या का अतिप्रबल आन्दोलन फैलाया है। मात्र सौराष्ट्र में ही नहीं, परन्तु अभी तो उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों द्वारा और 'आत्मधर्म' नामक मासिक पत्र द्वारा प्रकाशित होते रहने से सारे भारतवर्ष में अध्यात्मविद्या का आन्दोलन वेगपूर्वक फैलता जा रहा है। इस प्रकार, स्वभाव से सुगम होने पर भी गुरुगम की लुप्तप्रायता के कारण एवं अनादि अज्ञान के कारण अतिशय दुर्गम हो जानेवाले जिनागम के गम्भीर आशयों को यथार्थरूप से और अतिशय स्पष्टरूप से प्रगट करके, गुरुदेव ने वीतराग विज्ञान की बुझती हुई ज्योति को सतेज की है। परम पवित्र जिनागमों में तो बहुत ही भरा हुआ है—परम निधान भरे पड़े हैं; परन्तु इन निधानों को देख सकनेवाली दृष्टि, परमकृपालु गुरुदेव के समागम बिना और उनके परम करुणापूर्वक किये हुए प्रवचन—अंजन बिना हम अल्पबुद्धियों को कैसे प्राप्त होता? पंचम काल में चतुर्थ काल की सुवास फैलानेवाले, परम शासनप्रभावक गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने आगम रहस्य खोलकर मेरे समान हजारों जीवों पर जो अपार करुणा की वर्षा की है, उसका वर्णन करने में वाणी अपने को असमर्थ पाती है।

जिस प्रकार परमोपकारी गुरुदेव का प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवों पर उपकार कर रहा है। उसी प्रकार उनके ये पवित्र प्रवचन भी इस काल के एवं भावी काल के हजारों जीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग दर्शाकर अत्यन्त उपकारी होगा। इस दुषम काल में जीव प्राय: बन्धमार्ग को ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्त रहा है। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थ बिना निश्चयनय के आश्रय बिना—मोक्षमार्ग की शुरुआत भी होती नहीं-उस पुरुषार्थ की गन्ध तक प्राप्त नहीं होती, और परावलम्बी भावों को ही-व्यवहाराभास के आश्रय को ही मोक्षमार्ग मान उसी का सेवन कर रहे हैं। स्वावलम्बी पुरुषार्थ के उपदेश करनेवाले ज्ञानी पुरुषों की दुर्लभता वर्तती है और उसके निरूपण करनेवाले श्री समयसार-परमागम का अभ्यास अतिन्यून हो गया है। कदाचित् कोई जीव उसका अभ्यास करता है तो भी उसे गुरुगम के बिना मात्र उसके अक्षरों का ज्ञान होने जितना ही होता है। श्री समयसार के पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्व-मूढ़ हीनवीर्य जीवों को अनादि-अपरिचित होने से, ज्ञानी पुरुष के प्रत्यक्ष समागम बिना अथवा उनके किये हुये विस्तृत विवेचन बिना जीवों को उन सत्यों का परमार्थ समझना अत्यन्त अत्यन्त कठिन पड़ता है। श्री समयसार की प्राथमिक भूमिका की बातों को भी हीनसत्त्व जीव बहुत ऊँची भूमिका की कल्पना कर बैठते हैं, चतुर्थ गुणस्थान के भावों को तेरहवें गुणस्थान का मान लेते हैं और निरालम्बन (स्वावलम्बी) पुरुषार्थ को कोई अनावश्यक कथनमात्र ही वस्तु हो ऐसे उनकी उपेक्षा करके सालम्बन (परावलम्बी) भावों के प्रति आग्रह छोड़ते नहीं। ऐसी करुणाजनक स्थिति में—जबकि-सम्यक् उपदेष्टाओं की अतिशय न्यूनता के

कारण मोक्षमार्ग आवरणस्थिति में पड़ा है तब–शासनोद्धारक युगप्रधान सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने श्री समयसार के विस्तृत विवेचनरूप इन प्रवचनों द्वारा जिनागमों के मर्म को खोलकर, मोक्षमार्ग को अनावृत करके, वीतरागदर्शन का पुनरुद्धार किया है, मोक्ष के महामन्त्र समान समयसार की प्रत्येक गाथा को सर्व तरफ से छानकर इन संक्षिप्त सूत्रों के विराट अर्थों को गुरुदेव ने इन प्रवचनों में प्रगट किया है। सर्व को अनुभव में आये हों ऐसे परिचित प्रसंगों के अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय मार्मिक तथा सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्द भगवान के परम भक्त श्री कानजीस्वामी ने समयसार के अर्थ गम्भीर सूक्ष्म सिद्धान्तों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाये हैं। श्री समयसार के मोक्षदायक भावों को, गले उतर जाए ऐसी असरकारक भाषा में एवं अतिशय मधुर, नित्य–नवीन, विविधतापूर्वक शैली से अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाकर गुरुदेव ने जगत पर असीम उपकार किया है। समयसार में भरे हुए अनमोल तत्त्व–रत्नों के मूल्य ज्ञानियों के हृदय में गुप्त थे, उन्हें गुरुदेव ने जगतविदित किया है।

किसी परम मंगल योग में दिव्यध्वनि के नवनीतस्वरूप श्री समयसार–परमागम की रचना हुई; और उसके एक हजार वर्ष बाद जगत के महाभाग्योदय से श्री समयसार के गहन तत्त्वों को विकसित करनेवाली श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा भगवती आत्मख्याति की रचना हुई; तत्पश्चात् हजार वर्ष बाद फिर महापुण्य का ज्वार आने पर, मन्द बुद्धियों को भी समयसार के मोक्षदायक तत्त्व सुग्राह्य करानेवाले परम कल्याणकारी समयसार–प्रवचन हुए। जीवों की बुद्धि मन्दता को प्राप्त होती जाने पर भी पंचम काल के अन्त तक स्वानुभूति का मार्ग अविच्छिन्न रहना है। इसीलिए स्वानुभूति के उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसारजी के गम्भीर आशय विशेष–विशेष स्पष्ट होने के परम पवित्र योग बनते रहे हैं। अन्तर्बाह्य परम पवित्र योगों में प्रगट हुये, जगत के तीन महा दीपक– श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार प्रवचन – सदा जयवन्त रहो और स्वानुभूति के पन्थ को प्रकाशित करते रहो!

ये परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टपने प्रकाशित करते हैं इतना ही नहीं, किन्तु साथ ही साथ मुमुक्षु जीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ एक अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जितना चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनों की वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, चैतन्यवान और जोरदार है कि—चैतन्यमूर्ति गुरुदेव के चैतन्यभव ही मानों मूर्तिमान होकर वाणी–प्रवाहरूप में बह रहे हों! ऐसी अत्यन्त भाववाहिनी–अन्तर्वेदन को अति उग्रपने व्यक्त करती, शुद्धात्मा के प्रति अनहद प्रेम से विकसित होती हुई, हृदयस्पर्शी जोरदार वाणी सुपात्र जिज्ञासु के हृदय को झकझोर डालती है और उसकी विपरीत रुचि को क्षीण कर शुद्धात्मरुचि को जागृत करती है। प्रवचन के पन्ने–पन्ने पर शुद्धात्म महिमा का अत्यन्त भक्तिमय वातावरण गूंज रहा है एवं इसके प्रत्येक शब्द में से मधुर अनुभवरस नितर रहा है। इस शुद्धात्म भक्तिरस से और

अनुभवरस से मुमुक्षु का हृदय भीग उठता है, उसे शुद्धात्मा की लौ लग जाती है, शुद्धात्मा सिवाय सर्व भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुषार्थ मानों हृदय में उछालें ले रहा है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ वाणी में क्वचित् ही देखने में आती है।

इस भाग के प्रवचनों को दो महा पवित्र आत्माओं ने—परम पूज्य भगवती बहिन श्री चम्पाबेन ने तथा परम पूज्य बहिन श्री शान्ताबेन ने मनन कर अनुभव में लिए हैं। परम पूज्य बहिनों ने प्रवचन के प्रति भक्ति से प्रेरित हो, इन गम्भीर प्रवचनों की सावधानीपूर्वक नोंध लेकर उनमें से अतिशय परिश्रमपूर्वक पक्की कापी लिखकर तैयार करके मुमुक्षुओं पर महा उपकार किया है। इन प्रवचनों की नोंध में कोई न्याय-विरुद्ध भाव न आ जाये उसका पूर्ण ध्यान रखा गया है।

इस प्रकार दिव्य तत्त्वज्ञान के गहन रहस्यों को अमृत-झरती वाणी में समझाकर और साथ ही साथ शुद्धात्मरुचि को जागृत करके पुरुषार्थ को उग्र करके, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी करानेवाले ये प्रवचन जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष सत्पुरुष के वियोग में वर्तते हुए मुमुक्षुओं को अथवा उनका निरन्तर संग दुष्प्राप्य हो ऐसे मुमुक्षुओं को ये प्रवचन अनन्य-आधारभूत हैं। निरालम्बन पुरुषार्थ समझाना व उसकी ओर प्रेरित करना यही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य होने के कारण उनका सर्वांग स्पष्टीकरण करने में इन प्रवचनों में समस्त शास्त्रों का समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का स्पष्टीकरण आ गया है; श्रुतामृत का परम आह्लादजनक महासागर जैसे इन प्रवचनों में हिलोरें ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ हजारों प्रश्नों के प्रगट करने का महा कोष है। शुद्धात्मा की रुचि उत्पन्न कर, पर के प्रति रुचि नष्ट करने की परम औषधि है। स्वानुभूति का सुगम पन्थ है। भिन्न-भिन्न कोटि के सर्व आत्मार्थियों को अत्यन्त उपकारक है। परम पूज्य गुरुदेव ने इन अमृतसागर समान प्रवचनों की भेंट देकर भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूप सुधा को प्राप्त करने के इच्छुक जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। संसार विषवृक्ष को छेदने का यह अमोघ शस्त्र है जो डाल पत्तियों पर न जाकर वह मूल पर ही प्रहार करता है। इस अल्पायुषी मनुष्य भव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य क्या है तो वह शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति एवं अनुभव है। वह बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत हैं। मुमुक्षुगण अतिशय उल्लासपूर्वक उसका अभ्यास कर, उग्र पुरुषार्थ से उनमें कहे हुए भावों को सम्पूर्णरीत्या हृदय में उतारकर, शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति तथा अनुभव करके, शाश्वत परमानन्द को प्राप्त होओ।

वैशाख वदी ८
वि०सं० २००३

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख
श्री दिग० जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

श्री समयसार के कर्ताकर्माधिकार की

विषयानुक्रमणिका

विषय	गाथा
यह अज्ञानी जीव क्रोधादिक में जहाँ तक वर्तता है वहाँ तक कर्म का बन्ध करता है	६९
आस्रव व आत्मा का भेदज्ञान होने पर बन्ध नहीं होता	७१
आस्रवों से निवृत्त होने का विधान	७३
ज्ञान होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल किस रीति से है उसका वर्णन	७४
ज्ञान स्वरूप हुए आत्मा की पहिचान	७४
आस्रव व आत्मा का भेदज्ञान होने पर आत्मा ज्ञानी होता है, तब कर्तृकर्मभाव भी नहीं होता	७६
जीव-पुद्गलकर्म को परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है तथापि कर्तृकर्मभाव कहा नहीं जाता	८०
निश्चयनय के मत से आत्मा और कर्म को कर्तृकर्मभाव व भोक्तृभोग्यभाव नहीं हैं, स्वयं स्वयं में ही कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव है	८३
व्यवहारनय आत्मा व पुद्गलकर्म को कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव कहता है	८४
आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्ता और भोक्ता मानें तो महान दोष—स्वपर से अभिन्नपने का प्रसंग आता है; वह मिथ्यापना होने से जिनदेव सम्मत नहीं है	८५
मिथ्यात्वादि आस्रव जीव-अजीव के भेद से दो प्रकार है ऐसा कथन व उसका हेतु	८७
आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति—ये तीन परिणाम अनादि हैं; उनका कर्तापना व उनके निमित्त से पुद्गल का कर्मरूप होना	८९
आत्मा मिथ्यात्वादिभावरूप नहीं परिणमे तब कर्म का कर्ता नहीं है	९३
अज्ञान से कर्म किस प्रकार होते हैं ऐसा शिष्य का प्रश्न व उसका उत्तर	९४
कर्म के कर्तापने का मूल अज्ञान ही है	९६
ज्ञान होता है तब कर्तापना नहीं है	९७
व्यवहारी जीव आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्ता कहते हैं, यह अज्ञान है	९८
आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता निमित्तनैमितितकभाव से भी नहीं; आत्मा का योग, उपयोग है वह निमित्तनैमित्तिक भावत्व से अज्ञानदशा में कर्ता है और योग उपयोग का वही आत्मा कर्ता है।	१००

विषय	गाथा
ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है	१०१
अज्ञानी भी अपने अज्ञानभाव का ही कर्ता है, पुद्‌गलकर्म का कर्ता तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं क्योंकि परद्रव्यों को परस्पर कर्तृकर्मभाव नहीं	१०२
जीव निमित्तभूत बनते कर्म का परिणाम होते देखकर उपचारमात्र से कहने में आता है कि यह कर्म जीव ने किया	१०५
मिथ्यात्वादि सामान्य आस्रव व गुणस्थानरूपी उनके विशेष बन्ध के कर्ता हैं, निश्चय से जीव उनका कर्ताभोक्ता नहीं है	१०९
जीव व आस्रव का भेद दिखायी है; अभेद कहने में दूषण दिया है	११३
सांख्यमती; पुरुष व प्रकृति को अपरिणामी कहते हैं, उनका निषेध करके पुरुष एवं पुद्‌गल को परिणामी कहा है	११६
ज्ञान से ज्ञानभाव व अज्ञान से अज्ञानभाव ही उत्पन्न होता है	१२६
अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म बँधने का निमित्तरूप अज्ञानादि भावों का हेतु होता है	१३२
पुद्‌गल के परिणाम तो जीव से जुदा हैं और जीव के पुद्‌गल से जुदा हैं	१३७
कर्म जीव के बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट, ऐसे शिष्य ने प्रश्न का निश्चय व्यवहार दोनों नयों से उत्तर	१४१
जो नयों के पक्ष से रहित है वह कर्तृकर्मभाव से रहित समयसार–शुद्ध आत्मा है ऐसा कहकर अधिकार पूर्ण	१४२

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के सम्बन्ध में

उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुंदः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥

[चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख]

अर्थ—कुन्द पुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणों के—चारण-ऋद्धिधारी महामुनियों के—सुन्दर हस्तकमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वन्द्य नहीं हैं?

.......कोण्डकुंदो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-
र्बाह्योपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥

[विंध्यगिरि-शिलालेख]

अर्थ—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान को-भूमितल को—छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करते थे, उसके द्वारा मैं ऐसा समझता हूँ कि—वे अन्तर में तथा बाह्य में रज से (अपनी) अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे (—अन्तर में वे रागादिक मल से अस्पृष्ट थे और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे)।

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

[दर्शनसार]

अर्थ—(महाविदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरदेव) श्री सीमंधरस्वामी से प्राप्त हुए दिव्य ज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते?

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन भी स्वरूपानुसन्धान में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिए मैं आपको अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रवचन भक्ति

सर्वाङ्गी 'सन्मति' श्रुत धारा, गुरु गौतम ने मुख धारी;
थी करुणा हों भाव मरण बिन, तृषित तप्त भवि संसारी।
हृदय शुद्ध मुनि कुन्दकुन्द ने वह संजीवन दया विचार;
घट 'प्रवचन', पंचास्ति, समय ले ली लख शोषित अमृत धार॥
कुन्द रचित पद सार्थक कर मुनि अमृत ने अमृत सींचा;
ग्रन्थराज त्रय तुमने अद्‌भुत मृदुरस ब्रह्म-भाव खींचा॥

वीर वाक्य यह अहो नितारें साम्य सुधारस
भर हृदयाञ्जुलि पिवें मुमुक्षु वमें विषय विष
गहरी-मूर्छा प्रबल-मोह दुस्तर-मल उतरे
तज विभाव हो स्वमुख परणती ले निज लहरे

यह हैं निश्चय ग्रन्थ भंग संयोगी भेदे
अरु हैं प्रज्ञा-शस्त्र उदय-मति संधी छेदे
साधक साथी जगत सूर्य संदेश-वीर का
क्लान्त जगत विश्राम स्थान सतपथ सुधीर का

सुनें, समझलें, रुचे, जगत रुचि से अलसावे।
पड़े बन्धरस शिथिल हृदय ज्ञानी का पावे
कुन्दन-पत्र बना लिखे, अक्षर रत्न तथापि
कुन्द सूत्र के मूल्य का अंकन हो न कदापि

—'युगल' (कोटा)

ॐ

समयसार प्रवचन

(भाग-४)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री समयसार शास्त्र पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के संकलित प्रवचन

कर्ताकर्म अधिकार

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥
अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नम:॥

अब यह कर्ताकर्म अधिकार प्रारम्भ होता है; यह अधिकार ७६ गाथाओं में है। समस्त भरतक्षेत्र में इस काल-वर्तमान में इस समयसार के अतिरिक्त ऐसा कर्ताकर्म का अधिकार अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इस समय सनातन जैनदर्शन के हजारों शास्त्र हैं, किन्तु इतने विस्तार सहित यह कर्ताकर्म का अधिकार समयसार के अतिरिक्त अन्य कहीं पर नहीं है।

यह समयसार इस समय इस भरतक्षेत्र का भगवान है। ऐसी गाथाएँ और ऐसी टीका अन्यत्र कहीं नहीं है। दैवी गाथा, दैवी टीका और दैवी शब्द है। जो जागृत होकर समझे उसकी समझ में आ सकता है। यह समयसार तीर्थंकरों की साक्षात् वाणी है और दिव्यध्वनि में से प्रगट हुई है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भगवान के निकट से सुनकर इसकी रचना की है।

पहले अधिकार में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जीवद्रव्य की और अजीवद्रव्य की बात की; जीव और अजीव – दोनों द्रव्यों को त्रिकालवर्ती स्वतन्त्र-भिन्न पदार्थ बतलाया एवं अन्य भी बहुत-सी बातें उस सम्बन्ध में कही हैं।

अब, इस अधिकार में यह बतलाते हैं कि—जीव और अजीव दोनों पदार्थों की पर्याय में कहाँ भूल होती है। पर्याय में भूल है इसलिए संसार है और संसार है तो उसके अभावरूप मोक्ष भी है।

कर्ता का अर्थ है स्वतन्त्र करनेवाला, परिणमनेवाला, कार्यरूप होनेवाला, और कर्म का अर्थ है कर्ता से होनेवाला कार्य, जो कर्ता ने किया वह। द्रव्य कर्ता है और पर्याय कर्म है। जो स्वतन्त्ररूप से और तन्मय व्यापक होकर करे वह कर्ता; कर्ता का इष्ट सो कर्म; इष्ट अर्थात् प्रिय। अज्ञानी को कौन सा कर्तव्य प्रिय है, और ज्ञानी को कौन सा? ज्ञानी का इष्ट है ज्ञान और अज्ञानी का इष्ट है रागद्वेष अज्ञान।

प्रत्येक वस्तु पराश्रय के बिना, अन्य की सहायता के बिना, स्वतः अपनी पर्याय को करती है; परमाणु की अवस्था का कर्ता परमाणु है और आत्मा की अवस्था का कर्ता आत्मा है। कोई कहे कि दही का कर्ता कौन? जामन डालनेवाला या दूध?

उत्तर—दही का कर्ता दूध है, जामन डालनेवाला उसका कर्ता नहीं है। दूध स्वतः होनेवाला है—कर्ता है और दही की अवस्था हो वह कर्म है। दूध स्वतः दही की अवस्थारूप होता है। दूध में जब दही बनने की योग्यता हो, तब उसे जामन का निमित्त मिलता है; यदि जामन डालनेवाला दही का कर्ता हो तो वस्तु पराधीन हो जाए। जल में जामन डालने से दही बनना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है।

प्रथम पण्डित जयचन्द्रजी कर्ताकर्म के विषय में मांगलिक पद कहते हैं:—

कर्ताकर्मविभावकूं, मेटि ज्ञानमय होय,
कर्म नाशि शिव में बसे, तिहें नमूं, मद खोय।

आत्मा ने अज्ञान भाव से विकारभाव किये, अर्थात् स्वतः विकारभावरूप हुआ; उस विभाव के कर्तृत्व को जो ज्ञानभाव से छोड़ता है, वह राग-द्वेष का कर्ता मिटकर ज्ञाता होता है। वह ज्ञायक आत्मा ज्ञाताभाव से रहकर कर्म का नाश करके शिवपुर में वास करता

है अर्थात् कल्याणपद को प्राप्त करता है; वैसे परमपवित्र आत्मा को मैं मद खोकर अर्थात् निरभिमान होकर, अपवित्रता का नाश करके, पवित्र भाव से नमस्कार करता हूँ।

प्रथम नाटक के मंच पर जीव और अजीव एक ही वेष में प्रवेश करते हैं, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानते हैं कि जैसे जीव और अजीव में कर्ताकर्मरूप से सम्बन्ध हो। जैसे दो पुरुष ज्यों का त्यों कोई एक स्वांग धारण करके नाटक के मंच पर प्रवेश करें उसी प्रकार जीव और अजीव—दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं तथापि दोनों एक ही कर्ताकर्म का वेष धारण कर प्रवेश करते हैं अर्थात् जीव कर्ता और जड़ उसका कर्म हो - ऐसा अज्ञानी को भासित होता है; मैं अबन्ध हूँ—ऐसी वृत्ति उठे तो अज्ञानी उसका कर्ता होता है; शुभाशुभ दोनों भावों का कर्ता अज्ञानी होता है, किन्तु ज्ञानी उनका कर्ता नहीं होता।

अब, प्रथम ज्ञान उस स्वांग को यथार्थ जान लेता है, उस ज्ञान की महिमा का श्लोक कहते हैं:—

(मन्दाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी,
इत्यज्ञानां शमय-दभितः कर्तृ-कर्म-प्रवृत्तिम्।
ज्ञान-ज्योतिः स्फुरति परमोदात्त-मत्यन्त-धीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम्।।४६।।

अर्थ—'इस लोक में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ, और क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं'—ऐसी जो अज्ञानियों के कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, उसका सब ओर से दमन करती हुई ज्ञानज्योति प्रस्फुटित होती है। कैसी है वह ज्ञानज्योति? जो परम उदात्त है अर्थात् किसी के आधीन नहीं है, जो अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है और पराश्रय के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का स्वभाव होने से जो समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं क्रोधादि का कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कर्म हैं। यहाँ पर प्रथम क्रोध को क्यों लिया है? उसका कारण यह है कि—आत्मा निरा ज्ञायक है-उस स्वभाव का न रुचना, न जमना-उसका नाम क्रोध है। स्वभाव न जमे सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है; जो पर से भिन्न अकेला अखण्ड चैतन्यस्वभाव है सो मैं नहीं हूँ, इस प्रकार स्वभाव

की अरुचि क्रोध है; ज्ञायक वस्तु अपने अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड है, विषमता के समस्त भंग-भेद अजीव के सम्बन्ध से दिखायी देते हैं—उस अखण्ड स्वभाव की पुष्टि, दृष्टि में न होना, ज्ञातापन की अरुचि सो **क्रोध** है; परपदार्थ के प्रति अहंबुद्धि सो अनन्तानुबन्धी **मान** है; वस्तु के स्वभाव को यथावत् न मानकर अन्य प्रकार से स्वीकार करना सो अनन्तानुबन्धी **माया** है; स्वभाव की भावना से च्युत होकर संयोग-विकार की, पुण्य की इच्छा करना सो अनन्तानुबन्धी **लोभ** है।

इस जगत के सम्बन्ध में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्ता हूँ और क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। जड़ के विकारी भावों का कर्ता मैं हूँ, अन्तरंग में जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वह मेरा कर्तव्य है, मेरे करने से वह होता है—ऐसी जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति अज्ञानी के होती थी, उसे सब ओर से शान्त करती हुई ज्ञानज्योति प्रगट हुई है।

मैं निर्दोष, पवित्र आत्मा हूँ—ऐसा जिसे भान नहीं है और क्रोध, मान, माया, लोभ मेरा कर्तव्य है, मेरी कर्मण्यता है, मेरी क्रिया है, मैं इसका कर्ता हूँ—ऐसी कर्ताकर्म की प्रवृत्ति को सब ओर से शमन करती ज्ञानज्योति प्रगट हुई।

अकेला ज्ञातापन नहीं चाहिए, क्रोधादि करने से लाभ है मैं अवगुण का कर्ता हूँ और अवगुण मेरा कार्य है—ऐसा अज्ञानी मानता है। और नित्य ज्ञातापना ही मेरा स्वभाव है शरीर, मन, वाणी तो मेरे नहीं हैं किन्तु अवगुण का कार्य भी मेरा नहीं है—इस प्रकार ज्ञानी अपने को अवगुण से भिन्न करना चाहता है। मैं अवगुण का अकारक हूँ नाशक हूँ किन्तु कर्ता नहीं—ऐसी ज्ञानज्योति सम्यग्ज्ञान होने से, सर्व प्रकार से कर्ताकर्म की प्रवृत्ति को शमन करती हुई प्रगट होती है।

जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का पद मिले, तीर्थंकर पद प्राप्त हो—वह भी मेरा कार्य नहीं है—मेरी कर्मण्यता नहीं है। अमुक शुभविकल्प अच्छा और अशुभ विकल्प बुरा—ऐसा कुछ भी स्वभाव दृष्टि में नहीं है। चक्रवर्तीपद, वासुदेवपद, इन्द्रादिपद वह सब धूल के समान हैं, परमाणु की अवस्था हैं—इस प्रकार सर्व ओर से कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का शमन करती हुई ज्ञानज्योति प्रगट होती है।

ज्ञानज्योति परभावों में कर्ताकर्मरूप अज्ञान के सर्व विकल्पभाव का अन्त करती

हुई प्रस्फुटित होती है। कैसी है ज्ञानज्योति ? पराधीन नहीं है स्वतन्त्र है; अपने अधीन है। अज्ञानी कर्माधीन होकर विकारी भावों को अपना मानकर वहाँ रुक जाता है किन्तु उसे भान नहीं है कि मेरा स्वभाव उस विकार का नाशक है।

कोई ऐसा कहे कि विकारी भाव तो मेरा है या नहीं ? पर की सहायता करना तो मेरा कर्तव्य है या नहीं ?

उत्तर—सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं। पर का कुछ कर भी नहीं सकता, वहाँ कर्तव्य कैसा ? यदि विकारी भाव अपना हो तो वह अपना स्वभाव हो जाए, दूर करने से दूर नहीं हो, जो अपना स्वभाव हो वह दु:खस्वरूप होता ही नहीं, किन्तु विकार प्रत्यक्ष दु:खरूप है इसलिए वह जीव का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न—धर्म ऐसा अनमेल कैसा है ?

उत्तर—धर्म अनमेल है, राग-द्वेष के मेल में न मिले ऐसा अनमेल है। अनमेल अर्थात् पर से भिन्न है, स्वाधीन है, मेल रहित अखण्ड है इसलिए अनमेल है। आत्मा स्वाधीन है, क्षण में मोक्ष प्राप्त कर ले - ऐसा स्वतन्त्र द्रव्य है।

अपने स्थान में स्वत: अवगुण करता है, किन्तु ज्ञान से वे कर्ताकर्म की प्रवृत्ति छूटने पर अल्प काल में मुक्त हो—ऐसा इसका स्वरूप है।

पुनश्च वह ज्ञानज्योति कैसी है ? अत्यन्त धीर है, किसी प्रकार की आकुलतारूप नहीं है। बच्चों को ऐसा बना दूँ, कुटुम्ब का भला कर दूँ—ऐसा करना धरना ज्ञानज्योति में नहीं है।

जीवों को कर्ता बुद्धि से अनेक प्रकार की आकुलता होती है; पर के कार्य करने के लिए इतनी आकुलता करते हैं जैसे स्वत: पर के सभी कार्य कर ही सकते हों ? किन्तु अरे भाई! एक रजकण को भी परिवर्तित करने की शक्ति तुझमें नहीं है। तेरी ज्ञानज्योति अनाकुलस्वरूप है।

ज्ञानज्योति अत्यन्त धीर है। बाह्य प्रतिकूलताएँ चाहे जितनी हों परन्तु वे ज्ञानज्योति को कुछ भी असर नहीं कर सकतीं। कितने ही कहते हैं कि हमारे सिर पर इतना बोझ है, हमें कोई सहायता नहीं देता, इतनी भारी प्रतिकूलताओं में, मैं कैसे निभ सकूँगा ? परन्तु यह

सब धीर ज्ञानज्योति को कुछ भी असर नहीं कर सकता। ज्ञान-ज्योति शान्त होकर जानती है कि मैं पर का कुछ नहीं कर सकती, पर मेरा कुछ नहीं कर सकता; परपदार्थ की इच्छारूप आकुलता करना मेरा स्वभाव नहीं है, चाहे जैसे संयोगों को शान्त रहकर जानना मेरा स्वभाव है।

पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न पदार्थों को जानने का जिसका स्वभाव होने से जो समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है, सभी को जानने का चैतन्य का स्वभाव है किन्तु किसी का कुछ करने का स्वभाव नहीं है। (भिन्न-भिन्न द्रव्य कहकर यह बतलाते हैं कि समस्त द्रव्य स्वतन्त्र भिन्न हैं; कोई द्रव्य किसी के आधीन नहीं है।) समस्त द्रव्य कैसे स्थित हैं और उनकी अवस्था कैसे हो रही है—यह जानने का जिसका सवभाव है—ऐसी मेरी ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है। प्रत्यक्ष—साक्षात् जानने का जिसका स्वभाव है ऐसी ज्ञान-ज्योति प्रस्फुटित होती है।

ऐसा भगवान ज्ञानस्वरूप आत्मा परवस्तु को अपना मानने के विपरीत अभिप्राय को दूर करके, अर्थात् असत् को सत् मानने का भाव दूर करके प्रगट होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि परवस्तु का कार्य करने का मेरा स्वभाव नहीं है, किसी व्यवहार से भी वह मेरा कार्य नहीं है; अरे! राग-द्वेष मोहरूप अवगुण की अवस्था करना भी मेरा कार्य नहीं है, मैं तो अपनी ज्ञानपर्याय का कर्ता हूँ और वह मेरा कार्य है।

अब, जहाँ तक यह जीव आस्रव के और आत्मा के विशेष को (अन्तर को) नहीं जाने वहाँ तक आस्रवों का कर्ता बनकर वह अज्ञानी रहकर, स्वत: आस्रवों में लीन होकर कर्मों का बन्ध करता है।

आस्रव के दो भेद हैं; एक द्रव्य-आस्रव और दूसरा भाव-आस्रव। कर्म के रजकणों का आना सो द्रव्य-आस्रव और चैतन्य के विकारी-शुभाशुभ परिणाम सो भाव-आस्रव। जहाँ तक अज्ञान और राग-द्वेषरूप भाव-आस्रव को करता है, वहाँ तक नवीन कर्मबन्ध होता ही रहता है और आत्मा और आस्रव का अन्तर अर्थात् दोनों को भिन्न नहीं जानता।

आत्मा तो निर्दोष ज्ञाता स्वभाव है और आस्रव सदोष बन्धस्वरूप है—इस प्रकार दोनों की भिन्नता को न जाने तब तक वह आत्मा के गुणों से अनभिज्ञ रहता हुआ—यही

मेरा कार्य है और यही कर्तव्य है—ऐसा जानता हुआ स्वतन्त्रता के भाव से च्युत होकर परतन्त्रता के भाव को करता है—वह अब गाथा में कहते हैं:—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो।।६९।।
कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्व-दरिसीहिं।।७०।।

यावन्न वेत्ति विशेषान्तरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः।।६९।।
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः सञ्चयो भवति।
जीवस्यैवं बन्धो भणितः खलु सर्व-दर्शिभिः।।७०।।

अर्थ—जहाँ तक यह जीव, आत्मा और आस्रव—इन दोनों के अन्तर को नहीं जानता, वहाँ तक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादिक आस्रवों में प्रवर्तमान रहता है; क्रोधादिक में प्रवर्तन करते हुए उसे कर्मों का संचय होता है। वास्तव में इस प्रकार जीव को कर्मों का बन्ध सर्वज्ञ देवों ने कहा है।

आत्मा जहाँ तक अपना और आस्रव का भेद नहीं जानता वहाँ तक उसे अज्ञान के कारण कर्मबन्ध होता है; जैसे अन्धा मनुष्य दाने को और कंकड़ को भिन्न नहीं करता उसी प्रकार वह आत्मा और आस्रव को भिन्न नहीं करता; उसने क्षणिक उपाधि भाव को भिन्न नहीं जाना इससे उसने परम सत्य को स्वीकार नहीं किया।

आचार्यदेव ने प्रथम जीव कहा है और फिर आत्मा; अर्थात् उन्हें कहीं जीव और आत्मा को भिन्न नहीं कहना है, परन्तु जीव और आत्मा दोनों एक ही वस्तु है—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

नित्यस्थायी स्वभाव क्या? और अस्थायी क्या? इस प्रकार दोनों को भिन्न न समझे तो अनित्य विकार से भिन्न प्रवर्तन कैसे करेगा? जैसे राजा-बच्चेरूप प्रजा को अपनी मानता है। उसी प्रकार आत्मा में पुण्य-पाप की वृत्तिरूप प्रजा होती है, उसे अपना माने,

वह मेरे उत्तरदायित्व को सम्भालेंगे—ऐसा मानेगा वहाँ तक वह जीव कार्य करता ही रहेगा किन्तु उनसे भिन्न प्रवर्तन नहीं करेगा।

मैं आत्मा ज्ञान हूँ, शान्त हूँ, निर्मल हूँ—ऐसे अपने स्वभाव को भूलकर जो पुण्य-पाप के विकारी भाव आत्मा में होते हैं, उन्हें अपना इष्ट मानता है, वह अपने मूलधन को खोता है, उन विकारी भावों को अपना माने वही आस्रव है; अज्ञानी, विकारी पर्याय को अपना मानकर प्रवर्तन करता है, इससे उसे कर्मों का संचय होता है। वास्तव में इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव सर्वदर्शी ने बन्धन का स्वरूप कहा है।

जैसे यह आत्मा, जिनका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है अर्थात् स्वरूपसिद्ध सम्बन्ध है; त्रिकालस्वरूप का सम्बन्ध है—ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर, भिन्नलक्षण) न होने से उनका भेद (भिन्नत्व) न देखकर सम्यग्ज्ञानी जीव नि:शंक रीति से ज्ञान में अपनेरूप से प्रवर्तन करता है।

ज्ञान, गुण है और आत्मा द्रव्य है—उन दोनों का त्रिकाल तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है, उसे अपना—स्वत: का स्वरूप जानता हुआ नि:शंकता से ज्ञान में अपने रूप से प्रवर्तन करता है और जिस ज्ञान में प्रवर्तन करता है, वह ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होने के कारण उसका निषेध नहीं किया गया है। शरीरादि की और रागादि की जो क्रिया होती है, उसे जान लेना सो वह ज्ञान की परिणति-ज्ञान की क्रिया है। शरीर और राग की अवस्था मैं नहीं हूँ मैं तो भिन्न ज्ञाता हूँ—ज्ञाताभाव से रहकर उसे जान लेना सो ज्ञान की क्रिया है, ज्ञान, ज्ञान में एकाग्र हुआ वह ज्ञान की क्रिया है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञानी जानते हैं कि मुझसे विरुद्ध यह रागादि है, उसका मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु उसका ज्ञाता रहना मेरा कार्य है, वह मेरे ज्ञान की क्रिया है। इस क्रिया का सर्वज्ञ-भगवान ने निषेध नहीं किया है क्योंकि ज्ञानक्रिया में पुरुषार्थ है, ज्ञानक्रिया अपना स्वभाव है, और वह सद्भूतव्यवहार है।

चारित्र की कमजोरी के कारण राग-द्वेष की शुभाशुभ वृत्तियाँ होती हैं—वह चैतन्य की अरूपी विकारी क्रिया है, वह आत्मा की अपनी अवस्था है। अज्ञान अवस्था में विकारी क्रिया का कर्ता होता था और भान होने पर ज्ञान का कर्ता हुआ तथा ज्ञान इसकी

क्रिया हुई। देखो, इसमें क्रिया आयी, किन्तु चैतन्य की क्रिया आयी। जड़ की क्रिया मेरी नहीं है, विकारी क्रिया मेरी नहीं है, किन्तु ज्ञान की जो क्रिया है वह मेरी क्रिया है। इस क्रिया से बन्धनभाव दूर होकर स्वाधीन भाव होते हैं, इसलिए इसका निषेध नहीं किया है।

ज्ञानी अपने ज्ञान में स्व-पर को जानता है किन्तु पर का कर्ता नहीं होता; पहले विकाररूप परिणमित होता था, उससे हटकर अब ज्ञातारूप परिणमन करता है। यह मोक्षमार्ग की—साधक की क्रिया है।

शरीर की और रागादि की क्रिया को अपनी मानता था, उस विपरीत अवस्था को नित्य ज्ञाता स्वभाव के आश्रय द्वारा बदलकर ऐसा मानने लगा कि ज्ञान की क्रिया मेरी स्वभावभूत क्रिया है; वह क्रिया स्वभावभूत होने के कारण उसका निषेध नहीं किया है।

उसी प्रकार यह आत्मा जब तक, जिनका संयोगसिद्ध सम्बन्ध है—ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी, अपने अज्ञानभाव के कारण, विशेष न जानता हुआ उनका भेद नहीं देखता तब तक क्रोधादि में निःशंकरूप से स्वतः प्रवर्तन करता है।

ज्ञान और आत्मा का तो तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, अर्थात् एक स्वरूप है और आत्मा की पर्याय में होनेवाले विकारी आस्रव भावों का इस आत्मा के साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध है।

गुड़ और मिठास का तादात्म्य सम्बन्ध है किन्तु मटकी और गुड़ का संयोगसिद्ध सम्बन्ध है; उसी प्रकार आत्मा का और राग-द्वेष का संयोगसिद्ध सम्बन्ध है। जो विकारी भाव होते हैं, वे परसंयोग से होते हैं, इसलिए उनके साथ आत्मा का संयोगसिद्ध सम्बन्ध है। संयोग अर्थात् साथ में रहे हुए, और तादात्म्य अर्थात् तत्स्वरूप सम्बन्ध। विकारी भावों का आत्मा के साथ क्षणिक सम्बन्ध है, इसलिए वे संयोगी भाव हैं।

आचार्यदेव ने इस गाथा में प्रथम क्रोध की बात क्यों ली है ? आत्मा ज्ञायकस्वभावी है, उस स्वभाव का भलीभाँति न जमना सो क्रोध है, स्वभाव की अरुचि होना सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है। जगत को यह स्वभाव नहीं बैठता इससे आचार्यदेव ने पहले क्रोध की बात ली है।

मैं कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कर्म हैं—ऐसा मानने से क्रोधादि में पुण्य-पाप के दोनों भाव आ जाते हैं।

कर्ताकर्म का अर्थ क्या है? कर्ता से उसका कर्तव्य भिन्न नहीं होता; शरीरादि, राग इत्यादि आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, इसलिए वह ज्ञाता का कर्तव्य नहीं है।

शास्त्र में तीन प्रकार के सम्बन्ध आते हैं। एक—तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध, दूसरा—संयोगसिद्ध सम्बन्ध और तीसरा—परस्पर अवगाह लक्षणसिद्ध सम्बन्ध।

ज्ञान और आत्मा का तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध इस प्रकार है जैसे अग्नि और उष्णता का सम्बन्ध है। ज्ञान और आत्मा का तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध होने से ज्ञानक्रिया का निषेध नहीं किया है क्योंकि ज्ञानियों के साधकदशा में ज्ञानक्रिया आये बिना नहीं रहती। क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उनका आत्मा के साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध है; जिनका वियोग होता है, उनका संयोगसिद्ध सम्बन्ध कहलाता है। जिनका संयोग होता है, उनका वियोग भी होता है। क्रोधादि एक समय में नष्ट हो जाते हैं और दूसरे समय नवीन उत्पन्न होते हैं, आत्मा का भान होने पर मिथ्यात्वरूप क्रोधादि समूल नष्ट हो जाते हैं, इसलिए क्रोधादि आत्मा के साथ उत्पाद-व्यय सम्बन्ध से हैं किन्तु ध्रुव सम्बन्ध से नहीं हैं। ध्रुव सम्बन्ध नहीं है इसलिए संयोग सम्बन्ध है, किन्तु स्वभाव सम्बन्ध नहीं है।

पंच महाव्रत के शुभपरिणाम भी आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध से हैं। संयोग है इससे केवलज्ञान प्राप्त होने पर उन परिणामों का वियोग होता है; जिनका उत्पाद हो उनका व्यय होता है।

कोई यह प्रश्न करे कि—ज्ञान की अवस्था बदलती है न? उसका उत्पाद-व्यय होता है या नहीं? उसका उत्तर इस प्रकार है—ज्ञान की पर्याय बदलती अवश्य है, उत्पाद-व्यय भी होता है, किन्तु जैसा चैतन्य का निर्मल स्वभाव है, उसी प्रकार का उत्पाद-व्यय होता है। पर्याय की जाति वैसी की वैसी रहकर बदलती है, इसलिए ज्ञान की पर्याय का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। क्रोधादि विकारी परिणाम आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध स्वभाववाले हैं। क्रोधादि की पर्याय प्रतिसमय भिन्न-भिन्न प्रकार से बदलती है। रुचि, अरुचि, हर्ष, शोक इत्यादि भाव आत्मा के शान्त स्वभावरूप नहीं हैं किन्तु विपरीत

स्वभाववाले हैं, इससे आत्मा का उन विकारी परिणामों के साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध है किन्तु तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध नहीं है।

जो विकारी और अविकारी भावों के अन्तर को नहीं जानता वह अज्ञानी, अज्ञानता के कारण विकार का कर्ता होकर प्रवर्तन करता है। अज्ञानी स्वभाव और विभाव के भेद को न जानता हुआ, यह क्रोधादि की वृत्तियाँ जैसे मुझमें ही होती हों—ऐसा नि:शंकरूप से उन्हें अपना मानकर प्रवर्तन करता है। क्रोध, मान, माया, लोभ को मैं उत्पन्न करता हूँ और वह मेरा कार्य है—इस प्रकार क्रोधादि का कर्ता होता है। अज्ञानी क्रोध, मान, माया में अपने रूप से प्रवर्तन करता है, उसे क्रोधादि की क्रिया कहा गया है, किन्तु वह क्रिया परभावभूत होने के कारण उसका निषेध किया है, तो भी अज्ञानी को ऐसा अभ्यास हो गया है कि—क्रोध, मान, माया, लोभ मेरे स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं। जैसे विष्टा के कीड़े को पुन: पुन: उसमें जाने की आदत पड़ जाती है वैसे ही अज्ञानी को पुन: पुन: क्रोधरूप मोहरूप परिणमन करने की आदत पड़ गई है; इससे वह नि:शंकरूप से उनमें परिणमन करता है। अज्ञानी अपने अज्ञानभाव के कारण, ज्ञानभवनमात्र जो सहज उदासीन (ज्ञातादृष्टा मात्र) अवस्था है, उसका त्याग करके अज्ञानभवन-व्यापाररूप अर्थात् क्रोधादि व्यापाररूप प्रवर्तन करता हुआ प्रतिभासित होता है, वह कर्ता है।

ज्ञानी के राग-द्वेष होते हैं—'हो जाते हैं' किन्तु उसको ऐसी बुद्धि नहीं होती कि मैं राग-द्वेष को उत्पन्न करता हूँ, उसका कर्ता हूँ।

अपना स्वभाव निर्दोष ज्ञानमूर्ति है; जो राग-द्वेष होते हैं, उन्हें जानने का और स्वत: को जानने का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है—ऐसी अपनी सहज वैराग्यरूप ज्ञाता-दृष्टा अवस्था को भूलकर अज्ञानी क्रोधादि पर की वृत्तियों में रुक जाता है इससे चैतन्य की जागृति रुक जाती है, वह विकसित नहीं हो पाती हैं। मैं इसी का कर्ता हूँ और यही मेरा कर्म है—ऐसा मिथ्या प्रतिभास उसे होता है। इस प्रकार नि:शंकता से परिणमित होता हुआ प्रवर्तन करता है। आचार्यदेव की प्रत्येक गाथा में अपूर्व रहस्य विद्यमान है।

जो अज्ञानभवन व्यापाररूप अर्थात् क्रोधादि व्यापाररूप प्रवर्तन करता हुआ प्रतिभासित होता है, वह कर्ता है और ज्ञानभवन व्यापाररूप प्रवर्तन से भिन्न जो क्रियमाण रूप से अन्तरंग में उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं—ऐसे क्रोधादिक कर्म हैं।

निर्दोष ज्ञान के होनेवाले प्रवर्तन से भिन्न, क्रियमाणरूप से इन क्रोधादि का मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है—इस प्रकार, अपने से किये जा रहे प्रतिभासित होते हैं; यही मेरा कार्य है ऐसा मानता है किन्तु इससे भिन्न मेरा कार्य है—उसे नहीं जानता।

जीव को पर का माहात्म्य आया है किन्तु स्व का माहात्म्य नहीं आया; जब तक स्व का माहात्म्य न आये तब तक दिशा कैसे बदल सकती है ?

जो ज्ञानव्यापार से भिन्न लक्षणवाले क्षणिक विकार होते हैं, वे मेरे स्वभावभवन में से ही होते हैं ? पुण्य-पाप की सम्पत्ति मेरे स्वभाव में से ही निकलती है ? विकार करना मेरा स्वभाव ही है, पराश्रय, शुभराग करना चाहिए, रागादि, शरीर की क्रिया, क्रोधादि मेरा कार्य है और यही मेरा कर्तव्य है—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु मैं इनसे भिन्न हूँ—ज्ञाता ही हूँ ऐसा उसे भासित नहीं होता अर्थात् नहीं जानता।

मैं अपने स्वभाव का और इन क्रोधादि का ज्ञान करनेवाला हूँ, अपने को जानते हुए अपनी ज्ञानदशा में, ज्ञाता रहकर अपना और पर का भिन्नत्व का भास होना चाहिए—ऐसे स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को भूलकर, मैं क्रोधादि जितना ही हूँ, क्रोधादि मेरा स्वरूप है, पराश्रय-व्यवहार मेरा कर्तव्य है—इस प्रकार अज्ञानी पर को अपने रूप से ही जानता है।

अपने भिन्न स्वभाव का भान नहीं है इससे अज्ञानरूप से ऐसा भासित होता है कि—पुण्य-पाप की जो विकारी अरूपी क्रिया है, उसका मैं कर्ता हूँ, वह सब अपनी स्वभाव प्रवृत्तिरूप प्रतिभासित होता है—यही संसार का कारण है।

अज्ञानी अज्ञान अवस्था के कारण विकारी भावों का कर्ता होता है, परन्तु जड़ का कर्ता तो कोई व्यवहार से भी हो ही नहीं सकता, अज्ञानी मानता है कि मैं जड़ का कर्ता होता हूँ—अपने भावों में ऐसी मिथ्यात्व पूर्वक रागादिक की न्यूनाधिकता किया करता है, परन्तु जड़ का कुछ कर ही नहीं सकता। इस प्रकार अनादि काल से अज्ञान द्वारा हुई यह कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है।

आत्मा पर का अकर्ता है, आत्मा का स्वरूप पर से भिन्न है, यह स्वरूप समझने पर ही निवृत्ति है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई रीति नहीं है। देखो न ! क्षणमात्र में देह छोड़कर चला जाता है; आज इस भव में और कल अन्य किसी गति में ! स्वरूप को समझे बिना

कर्ताकर्म की प्रवृत्ति ऐसी की ऐसी बनी ही रहती है। इसलिए इस स्वरूप को समझने से ही भव का अन्त हो सकता है।

इस प्रकार अपने अज्ञान के कारण कर्ताकर्म भाव द्वारा क्रोधादि में प्रवर्तमान इस आत्मा को, क्रोधादि की प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र करके स्वत: अपने भाव से ही परिणमित पुद्गलकर्म एकत्रित होते हैं।

देखो! कर्म ने अज्ञान नहीं कराया। आचार्यदेव कहते हैं कि अपने अज्ञान द्वारा क्रोध, मान, माया और लोभ में प्रवर्तमान आत्मा को बन्ध होता है।

जीव अज्ञान को लेकर क्रोध में उलझा, मान में फँसा, किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई धैर्य रख! स्वतन्त्र ज्ञाता स्वभाव के तीव्र विरोध के फल में तू एकेन्द्रिय निगोद में चला गया था वहाँ मानादि कषाय व्यक्त करने की ताकत नहीं थी मूली के साथ तू व्यर्थ बिक रहा था, अब मानव भये हों अब तो चेत! तू तो तीनलोक का नाथ है, तू पर से और अनित्य क्रोधादि से भिन्न ज्ञानस्वरूप है प्रथम उसका भानकर! लोभ और आकुलता को छोड़ दे।

आत्मा अज्ञान अवस्था में क्रोधादि का कर्ता होता है, उन परिणामों का निमित्त पाकर नवीन रजकणों का बन्धन होता है, वह प्रारब्ध (किस्मत) जड़ रजकणों के सामर्थ्य से बँधता है। रजकण में भी परिवर्तित-परिणमित होने की स्वतन्त्र सामर्थ्य है।

रजकण अपने स्वतन्त्र परिणमन से एकत्रित होते हैं, जब आत्मा अज्ञान अवस्था से शुभाशुभभावरूप परिणमित हो तब वे परिणाम कर्मबन्ध होने में बाह्य निमित्त होते हैं; कर्मरूप रजकण अपनी स्वतन्त्र योग्यता से बँधते हैं किन्तु शुभाशुभ परिणाम उन्हें निमित्तरूप होते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिकपना स्वतन्त्र सम्बन्ध है, कर्म रजकण अपने आप ही स्वतन्त्र परिणमित होते हैं। जैसे चावल, दाल आदि खाद्य पदार्थ पेट में जाते हैं, पश्चात् वे अपने आप रक्तरूप, वातरूप, पित्तरूप आदि अवस्थारूप से परिणमित हो जाते हैं, कोई उन्हें परिणमित नहीं करता, उसी प्रकार जड़ शक्तिवान पुद्गल स्वत: परिणमित हो जाते हैं।

इस प्रकार जीव और पुद्गल का, परस्पर क्षेत्र में अवगाह जिसका लक्षण है—ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहरूप होने

से जिसमें से इतरेताश्रय दोष दूर हुआ है—ऐसा वह बन्ध कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान है—उसका निमित्त है।

जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल स्वत: कर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं, एक-दूसरे की अवस्था की योग्यता ऐसी होती है कि दोनों एक क्षेत्रावगाह रूप में एक स्थान पर व्याप्त होकर रहते हैं, उनका परस्पर अवगाह लक्षण सम्बन्ध कहलाता है। जीव के परिणामों का बाह्य निमित्त पाकर कर्म के पुद्गल एक ही स्थान पर अवगाहित होकर रहते हैं, तो भी भाव से भिन्न हैं। जो एक स्थान पर रहते हैं उन्हें, अवगाह जिसका लक्षण है—ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध कहा जाता है।

गुण-गुणी एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते, तदाकार हैं इसलिए उनका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध कहा जाता है।

रागादि विकार के संयोग का वियोग होता है इसलिए उसे संयोगसिद्ध सम्बन्ध कहा जाता है। यहाँ पर तीन प्रकार का सम्बन्ध लिया है, किन्तु चौथा सम्बन्ध नहीं लिया। स्त्री और बच्चों का सम्बन्ध नहीं लिया है, जो सम्बन्ध ही नहीं है, वह कैसे लिया जाएगा? वे तो अपने से बिल्कुल भिन्न हैं, दूरवर्ती क्षेत्र में रह रहे हैं, उनके साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है। उनके प्रति राग है, उस राग का सम्बन्ध आत्मा के साथ है, किन्तु स्त्री-बच्चों का सम्बन्ध तो आत्मा के साथ किंचित् भी नहीं है। किन्तु उनके प्रति राग है इससे उपचार से अर्थात् मात्र आरोप से कहा जाता है कि सम्बन्ध है, किन्तु वास्तव में तो कोई सम्बन्ध नहीं है।

जीव और पुद्गल का जो बन्ध होता है, उसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं है। जीव के वही के वही परिणामों से बन्ध हो और उसी के उसी बन्ध से पुनश्च वही का वही राग हो तो इतरेतराश्रय दोष लगे, किन्तु वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है; जैसे रुई की एक पौनी के पश्चात् दूसरी पौनी पृथक् होती है तो भी सूत बनता जाता है, वैसे ही अमुक स्थिति तक कर्म आत्मा में रहते हैं, पुराने दूर होते जाते हैं और नवीन बँधते जाते हैं किन्तु प्रवाह नहीं टूटता। जिस परिणाम से कर्म का बन्ध हुआ वह बन्ध उसी के उसी परिणाम का निमित्त नहीं होता किन्तु नवीन परिणामों का निमित्त होता है, और जो नवीन विकारी परिणाम हुए वे पुराने बन्ध के निमित्त नहीं होते किन्तु नवीन बन्ध के निमित्त होते हैं। इसलिए इतरेतराश्रय दोष नहीं लगता।

पहले आत्मा शुद्ध था और पश्चात् अशुद्ध हो गया, पहले कर्म नहीं थे और फिर बँध गये—ऐसा नहीं है अर्थात् आत्मा के परिणामों से कर्म हुए और कर्मों से आत्मा के परिणाम हुए—ऐसा नहीं है, एक-दूसरे के आधार से दोनों सिद्ध हुए—वैसा नहीं है परन्तु अनादि काल से स्वत:सिद्ध हैं; अनादि से कर्म, कर्मरूप और आत्मा के परिणाम विकाररूप स्वतन्त्र परिणमित होते आते हैं, दोनों द्रव्यों के परिणमन चक्र अनादि काल से स्वतन्त्ररूप से परिणमित होते चले आ रहे हैं, कोई किसी के आधार से सिद्ध नहीं होता, इसलिए इतरेतराश्रय दोष नहीं लगता।

अनादि काल से जो ऐसा बन्ध है—वह कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान है, उस अज्ञान का निमित्त है।

अज्ञान आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है, इससे जो पूर्व का बन्ध है, वह अज्ञान का निमित्त है। अज्ञान-पर्याय उपादान है और उसका निमित्तकारण बन्ध है। जो बन्ध होता जाता है, वह नवीन अज्ञान का निमित्त होता है। अज्ञानपर्याय अपने विपरीत पुरुषार्थ के कारण बढ़ती है। इससे तो ऐसा ज्ञात होता है कि यह कर्मरूप में अन्य कोई वस्तु है, कर्म कहीं राग-द्वेष या अज्ञान नहीं करा देते, किन्तु जो नवीन कर्म बँधते हैं, वे भविष्य में तबतक निमित्त होते हैं, जबतक जीव स्वत: राग-द्वेष और अज्ञान करता रहता है।

आत्मा जबतक अपने निर्दोष ज्ञानस्वभाव में और क्रोधादि में भेद नहीं जानता तबतक उसके कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है।

कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का निमित्त अज्ञानपर्याय है और अज्ञानपर्याय का निमित्त पूर्व का बन्ध है, इससे जिसके अज्ञानपर्याय दूर हो गयी उसके बन्ध भी हट गया, और उसकी कर्ताकर्म की प्रवृत्ति भी दूर हो गयी; इस प्रकार ज्ञान होने से ही अबन्ध हो गया।

जिसके अज्ञानपर्याय है, उसके बन्ध भी है और कर्ताकर्म की प्रवृत्ति भी है ॥६९-७० ॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है? देखो, शिष्य को तीव्राकांक्षा हुई है कि अहो! ऐसा चैतन्यस्वभाव हमें कब प्राप्त होगा? अनन्त काल से ऐसे का ऐसा भटकना चला आ रहा है, वह कब रुक जाएगा? राग-द्वेष

और आत्मस्वभाव के भिन्नत्व की जिसे खबर नहीं है—ऐसा अजान शिष्य समझने के लिए आतुरता से पूछता है।

शिष्य ने जिज्ञासापूर्वक प्रश्न किया कि इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अन्त कब आयेगा? उसका उत्तर गाथारूप में कहते हैं:—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।७१।।

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं भवति विशेषान्तरं तु तदा न बन्धस्तस्य।।७१।।

अर्थ—जब यह जीव आत्मा और आस्रवों के अन्तर और भेद को जान लेता है, तब उसे बन्ध नहीं होता। 'जइया' अर्थात् जब सच्चे भेदज्ञान के पुरुषार्थ को करता है तब अपना हित होता है ऐसा कहा है किन्तु कोई कर्म, काल, निमित्तादि के कारण यह कार्य होता है ऐसा नहीं है।

जीव को जब अपने निर्दोष स्वभाव का और विकारी भाव का भेदज्ञान हो जाता है, तब वह अबन्ध हो जाता है। जहाँ तक विकारी भावों को अपना मानता है तब तक उसे बन्ध होता है। अनन्त काल से जीव ने बहुत किया परन्तु विकारी भावों से पृथक् होने का प्रयत्न नहीं किया, अविकारी अबन्धस्वरूप आत्मा को समझने पर ही मोक्ष का पंथ प्रगट होता है, मोक्ष की साधन रूप डोरी हाथ में आती है; सम्यग्ज्ञान होते ही आस्रवों से भेदज्ञान होता है।

इस जगत में जो वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है, और 'स्व का' भवन सो स्व-भाव है; इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना-ज्ञानरूप परिणमित होना सो आत्मा है और क्रोधादि का होना-परिणमित होना सो क्रोधादि हैं।

देखो! वस्तु की व्यवस्था की है, जिसमें विकारभाव हों वह वस्तु नहीं किन्तु वस्तु अपना 'स्वभाव मात्र' ही है—ऐसा कहा है। जितना स्वभाव है उतनी ही वस्तु है, जो विकार है, वह वस्तु नहीं है। यह द्रव्यदृष्टि की बात है। स्वभाव में परवस्तु तो नहीं है किन्तु क्रोधादि का होना—परिणमित होना भी वस्तु नहीं, वह भी वस्तु नहीं है।

आत्मा निर्दोष ज्ञानस्वरूप है, उसमें निरुपाधिकरूप से स्वभाव का होना—परिणमित होना सो वस्तु का स्वभाव है। वास्तव में आत्मा की पर्याय में जो करने-धरने की वृत्ति हो वह आत्मा का होना—परिणमित होना नहीं है, पुण्य-पाप की जितनी वृत्तियाँ होती हैं, वह आत्मा नहीं किन्तु क्रोधादि से विलक्षण अपने ज्ञानस्वभाव में स्वत: परिणमित होना सो वस्तु है, वह आत्मा है।

पुण्य-पाप की किसी भी प्रकार की वृत्ति की उपाधि से रहित मात्र ज्ञाताभाव ही आत्मा है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, हास्य, शोक इत्यादि सभी परसंयोग से होनेवाले औपाधिक भावों का होना—परिणमित होना सो क्रोधादि हैं, आत्मा नहीं। परवस्तु के प्रति अभिमान होना कि यह वस्तु मेरी है, यह परभाव मेरे हैं—वैसे मिथ्यात्वभावरूप अभिमान की गिनती क्रोधादिक में होती है, वह आत्मा नहीं है, वस्तुस्वरूप नहीं है। वस्तुस्वभाव में से जो कुछ भी नष्ट हो सकता है, वह उसका स्वभाव नहीं है। क्रोधादि आत्मा की पर्याय में होते हैं और उस पर्याय का नाश भी होता है, वे भाव आत्मा में निरन्तर एकरूप से नहीं रहते इसलिए वे भाव आत्मा नहीं हैं, आत्मा का स्वभाव नहीं हैं।

क्रोधादि का आत्मा के साथ संयोगसिद्ध सम्बन्ध है, और निर्दोष ज्ञानस्वभाव संयोगी नहीं है किन्तु असंयोगी स्वत: स्वभाव है। जिन भावों से सर्वार्थसिद्धि का भव मिले और तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो वे भाव भी आत्मा नहीं हैं, पर हैं—ऐसा यहाँ आचार्यदेव का कहना है। दुनिया न माने इसलिए कहीं सत् को असत् और असत् को सत् नहीं कहा जा सकता। दुनिया तो अनादि से विपरीत मार्ग पर है और वह विपरीत ही कहेगी, क्योंकि संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीवों का और संसार से विरक्त जीवों के मार्ग भिन्न ही होते हैं, दोनों के मार्ग एक दूसरे से विपरीत ही होते हैं। यदि विपरीत न हों तो संसार-मोक्ष होगा ही नहीं।

जितना अपने ज्ञान में युक्त हुआ उतना आत्मा, धर्म, स्वभाव और जिनशासन है; राग-द्वेषरूप होना, उसमें रुकना सो जिनशासन नहीं है, आत्मा नहीं है, आत्मा का स्वभाव नहीं है और धर्म भी नहीं है।

पुनश्च जो ज्ञान का होना-परिणमित होना है वह क्रोधादि का होना-परिणमित होना भी नहीं है, कारण कि ज्ञान होने (परिणमन) के समय जैसे ज्ञान का होना प्रतीत होता है, उस प्रकार क्रोधादि होते मालूम नहीं पड़ते।

निर्दोष ज्ञान, श्रद्धा तथा अन्तर चारित्र का होना सो आत्मा है, क्योंकि ज्ञान होने के समय ऐसा ज्ञात होता है कि मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ; उस समय मिथ्यात्वादि आस्रवों से निवृत्ति होती प्रतीत होती है, ज्ञाता की ज्ञान क्रिया हो रही भासित होती है, किन्तु क्रोधादिक होते प्रतीत नहीं होते।

जब स्वत: साक्षी होता है तब, अर्थात् जानने के समय ज्ञान करना ही प्रतीत होता है, मैं ज्ञान करने में बढ़ रहा हूँ—ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु उस समय क्रोधादि विकारों में वृद्धि होती मालूम नहीं पड़ती। ज्ञानी के विकारी पर्याय का स्वामित्व नहीं है; विकार स्वभाव भवन में नहीं हैं इससे उसमें दिखाई ही नहीं देते - ऐसा कहा है।

मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ। जब श्रद्धा, ज्ञान और आचरण में एकाग्र होता है तब उनमें राग, द्वेष, क्रोधादि मिश्रित प्रतीत नहीं होते; मिश्रित हैं ही नहीं; भिन्न हैं इसलिए मालूम नहीं पड़ते।

मैं तो शरीरादि और क्रोधादि विकार—सबका ज्ञाता हूँ, ऐसे भान में ज्ञाता ही प्रतीत होता है, पर—क्रोधादिक अपने स्वभाव में प्रतीत नहीं होते। मैं पर से निराला हूँ ऐसे भान के समय, मैं पर का साक्षी हूँ—ऐसा भासित होता है, किन्तु यह भासित नहीं होता कि पर मुझमें है। जब साक्षी की साक्षीरूप पर्याय होती है, उस समय क्रोधादि का कर्तृत्व नहीं होता, और होता हुआ दिखाई भी नहीं देता। ज्ञाता होने के समय क्रोधादिक नहीं होते, उन्हें भिन्न माना है, इससे कर्ता नहीं होता इसलिए ज्ञाता ही है, इस प्रकार जो ज्ञान का होना—परिणमित होना है, वह क्रोधादि का होना-परिणमित होना नहीं है।

क्रोधादि का जो होना-परिणमित होना है, वह ज्ञान का भी होना-परिणमित होना नहीं है, कारण कि क्रोधादि के होने-परिणमित होने के समय जैसे क्रोधादि होते प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान होता मालूम नहीं पड़ता। इस प्रकार क्रोधादि और आत्मा के निश्चय से एकवस्तुपना नहीं है।

क्रोध, राग-द्वेष आदि मैं हूँ—इस प्रकार जो कर्ता होकर रुक गया है, उसे उसके

साथ ही यह प्रतीत नहीं होता कि मैं ज्ञाता हूँ। यहाँ तो पहली ही चोट में वस्तुस्वभाव को पृथक् कर दिया है।

जब ऐसे भाव रहते हैं कि—मैं क्रोध हूँ, मान हूँ, माया हूँ, लोभ हूँ—तब ऐसा भान नहीं होता कि मैं ज्ञाता भिन्न हूँ। विकार अपना स्वभाव नहीं है और ज्ञानादि अपना स्वभाव है, इससे दोनों वस्तुओं को बिल्कुल पृथक् कर दिया है।

जिस समय यह भासित होता है कि प्रथम कुछ व्यवहार-शुभराग करके धर्म का लाभ लूँ, मैं रागी ही हूँ, मायाचारी ही हूँ—उस समय यह प्रतिभासित नहीं होता कि मैं असंयोगी ज्ञाता-पृथक् तत्त्व हूँ, यह समस्त विकार मुझ ज्ञाता के ज्ञेय हैं; इसलिए क्रोध, मान अपने स्वभावगृह के नहीं किन्तु पुद्गल के गृह के हैं (ऐसा भान अज्ञान में कहाँ?) अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं क्रोधादि का कर्ता हूँ और वे मेरे कर्म हैं; किन्तु उसे यह भासित नहीं होता कि मैं ज्ञाता हूँ। ज्ञानादि और क्रोधादि दोनों एक वस्तु नहीं किन्तु दोनों भिन्न हैं।

जब कर्ता हुआ तब ज्ञाता होने का भान नहीं, इसलिए कर्ता ही है; ज्ञाता होने के समय क्रोधादि का कर्ता नहीं है; अपने से भिन्न माना है इसलिए उनका कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है। ज्ञाता के समय कर्ता नहीं होता और कर्ता के समय ज्ञाता नहीं होता।

ज्ञानी विचार करता है कि मैं कर्ता भी अपने स्वभाव का हूँ और कार्य भी अपने स्वभाव का है, राग का जो विकारी कार्य है, वह मेरा नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूँ।

कोई कहेगा कि क्या केवलज्ञानी हो गया है? मात्र जानने में पुरुषार्थ क्या आया? अरे भाई! इसमें अनन्त पुरुषार्थ है, द्रव्य के ऊपर दृष्टि डाली उसमें अनन्त पुरुषार्थ आ गया। जब स्वभाव की ओर का अनन्त पुरुषार्थ विकसित हुआ तभी तो अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हो गया; साक्षीरूप-ज्ञायकरूप रहने में ही अनन्त पुरुषार्थ है। द्रव्यदृष्टि में द्रव्य और पर्याय का भेद दिखायी नहीं देता, अपूर्ण और पूर्ण पर्याय के बीच भेद प्रतिभासित नहीं होता; ज्ञान अपूर्ण और पूर्ण पर्याय को जानता है, परन्तु दृष्टि में उसका भेद नहीं है। द्रव्यदृष्टि से पूर्ण है, परन्तु पर्यायदृष्टि से अभी केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं हुई है इससे अपूर्ण है; किन्तु वस्तुस्वभाव को जानने के पश्चात् जो अल्प राग-द्वेष होता है,

वह दूर करने के लिए है, रखने के लिए नहीं, उसका कर्ता नहीं होता इससे वह ज्ञाता का ज्ञेय है।

साधकदशा में अल्प क्रोध होता है किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि की मुख्यता में उसे नहीं गिना है। यहाँ तो पहली ही चोट में वस्तुस्वभाव को पृथक् किया है, इससे शुभपरिणाम छोड़कर अशुभपरिणाम करने की बात यहाँ नहीं है; किन्तु राग-द्वेष मेरे हैं वह मेरा कार्य है—ऐसी मान्यता अज्ञानी की है ज्ञानी की नहीं—वैसा समझाते हैं।

मैं तो अपने स्वभाव का कर्ता हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ—ऐसे ज्ञान भाव से पर का-क्रोधादिक का आभास नहीं होता। अरे! यदि ज्ञान में जाने तो भी स्व-परप्रकाशक है किन्तु स्व-पर का कर्ता नहीं है।

विकार की अस्वीकृति और अपने ज्ञायक स्वभाव की स्वीकृति ही आस्रव रोकने का उपाय है।

मुनियों के दस धर्मों में क्षमाधर्म प्रथम है। आचार्यदेव स्वतः मुनिपद पर हैं इससे यहाँ क्रोध को पहले लिया है, कारण कि दशधा धर्म में प्रथम उत्तम क्षमा है। (१) कर्मबन्ध होगा इसलिए मैं क्षमा करूँ—वह भाव पुण्यबन्ध में जाता है; (२) शास्त्राज्ञा है इसलिए क्षमा करूँ उस भाव से भी पुण्यबन्ध होता है। (३) क्षमा नहीं करूँगा तो दुर्गति में जाऊँगा—ऐसा विचार करके यदि क्षमाभाव रखे तो उससे भी पुण्यबन्ध होता है; (४) किन्तु मेरा ज्ञायकस्वभाव ही अकषाय है—उसके भान में स्थिर रहना ही वास्तविक क्षमा है-वही यथार्थ धर्म है।

क्षमा के विपक्ष क्रोध है। व्रत से, तप से, पूजा से अथवा भक्ति से धर्म होगा—ऐसा मानकर उसमें रुचि, और अपने स्वभाव की अरुचि सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है। स्वतः अनन्त गुणों के पिण्डरूप वस्तु है और ज्ञायक स्वभाव आश्रित ज्ञाता रहना वह ज्ञान क्रिया धर्म है। उसमें अपनेपन को स्वीकार न करके पराश्रय करनेरूप शुभाशुभभाव और शरीरादि में अपनापन—अहंपना स्वीकार करना सो अनन्तानुबन्धी मान है। अपना सरल स्वभाव जैसा है, उस प्रकार नहीं जानना और बाह्य क्रियाकाण्ड करूँ तो स्वभाव का विकास हो ऐसे विपरीत परिणाम सो अनन्तानुबन्धी माया है। अपनी स्वभावपर्याय का विकास करूँ तभी

यथार्थ सन्तोष है—ऐसा न मानकर शुभाशुभ परिणामों में सन्तोष मानना सो अनन्तानुबन्धी लोभ है।

ज्ञाता रहे तो उसमें क्रोधादि होते दिखायी नहीं देते और क्रोधादि हों तो उनमें ज्ञाता का ज्ञान होता प्रतीत नहीं होता। 'प्रतीत होता है'—ऐसा कहा, उसमें स्वत: को प्रतीत होने की बात है अथवा पर को? स्वत: को ही प्रतीत होने की बात है। स्वत: ही अपने को नि:शंकता से ज्ञानरूप भासित होता है, स्वत: ही अपने को प्रतीत होता है—ऐसा ज्ञान हो तब स्वत: अपने को क्रोधादिरूप होता प्रतिभासित नहीं होता किन्तु ज्ञानरूप से नि:शंकतापूर्वक भासित होता है, अन्य से पूछने नहीं जाना पड़ता। यहाँ पर केवलज्ञानी को अथवा पर को प्रतीत होने की बात नहीं है किन्तु अपनी ही बात है।

छह मास के उपवास करने से आस्रव नहीं रुकता, मौन धारण करे तो भी आस्रव नहीं रुकता किन्तु आत्मा के स्वभाव का ज्ञान करने से आस्रव रुकता है। ज्ञाता का ज्ञानभाव प्रतिभासित हो उस समय क्रोधादि का भास नहीं होता, और जब क्रोधादि प्रतिभासित हों तब ज्ञाता का भास नहीं होता।

यह बात सुनते ही भन्ना उठता है, परन्तु भाई! सत्य बात तो यही है, यह समझे बिना भव का अन्त नहीं आयेगा।

इस प्रकार जब आत्मा और आस्रवों के विशेष (अन्तर) को देखकर यह भगवान आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है, उस समय इस आत्मा के अनादि से होने पर भी वे (पर में) अज्ञान से उत्पन्न होनेवाली कर्ताकर्म की प्रवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं।

कर्ताकर्म की प्रवृत्तियाँ प्रवाहरूप से-सन्तानरूप से अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई हैं; और अज्ञान से उत्पन्न हुई हैं—इसलिए वे दूर हो सकती हैं, वे आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न नहीं हुई हैं इसलिए उनकी निवृत्ति हो सकती है।

कर्ताकर्म की निवृत्ति होने से पौद्गलिक कर्म का अर्थात् नवीन द्रव्यकर्मों का बन्ध भी निवृत्त होता है—ऐसा होने से ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि क्रोधादिक और आत्मा—दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं; जो क्रोधादिक विकारी भाव होते हैं वे चैतन्य की पर्याय में होते हैं, किन्तु वे अपने विपरीत पुरुषार्थ द्वारा परनिमित्त से होनेवाले भाव हैं इसलिए पर हैं—ऐसा द्रव्यदृष्टि के बल में कहते हैं।

ज्ञान में क्रोध, मान नहीं हैं और क्रोध, मान में भगवान आत्मा नहीं है—इस प्रकार दोनों में स्वभावभेद है; और स्वभाव भेद है इसलिए वस्तुभेद है। इस प्रकार जब क्रोध का और आत्मा का भेदज्ञान हो तब उनका एकत्वरूप अज्ञान दूर हो और ज्ञानपर्याय प्रगट हो, तथा कर्मबन्ध न हो। इस प्रकार ज्ञान होने से ही बन्ध का निरोध होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—जो शुभाशुभ परिणाम हैं सो मैं हूँ, मैं पर का कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है—ऐसे मिथ्या-प्रलाप के बिना एक दिन भी नहीं जाता ? भाई ! एक दिन तो ऐसे प्रलाप को बन्द रख ! ज्ञानी विचार करते हैं कि पर्याय का अर्थ प्रजा; अल्प राग-द्वेष की प्रजा हो उसमें रुकना मुझे रुचिकर नहीं है, मैं तो निर्दोष ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ। ज्ञानी को द्रव्यदृष्टि के बल से अल्प विकारी पर्याय में रुकना पसन्द नहीं है, वे उसे अलग करते हैं—समाधान करते हैं।

भाई ! द्रव्यदृष्टि के बल में नि:सन्देह-नि:शंक हो जाओ ! श्रद्धा के बल में चारित्र और केवलज्ञान के सभी भाव विद्यमान हैं, वे प्रगट होंगे। इस समयसार शास्त्र की रचना ऐसे बलवान योग में हुई है कि जो पात्र हो वह तुरन्त समझ जाता है।

अधिकांश व्यक्ति कहते हैं कि इसमें तो मात्र ज्ञान ही ज्ञान आता है, परन्तु यहाँ पर तो आचार्यदेव को ज्ञान कहकर सम्पूर्ण आत्मा का वर्णन करना है। ज्ञान का अर्थ है आत्मा; ज्ञान की प्रसिद्धि से आत्मा की प्रसिद्धि है; मिठास के द्वारा गुड़ की पहिचान होती है—उसी प्रकार ज्ञान में सम्पूर्ण आत्मा का कथन करना है किन्तु एक गुण का नहीं। ज्ञान में श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण आ जाते हैं। बालक-बालिकायें-सभी ज्ञान से समझ सकते हैं इसलिए आत्मा को पहिचानने के लिये ज्ञान ही मुख्य लक्षण कहा है; परन्तु वहाँ एक गुण न समझकर सम्पूर्ण आत्मा ही समझना चाहिए। ज्ञान स्वभावी आत्मा का ज्ञान करना, उसकी प्रतीति और उसमें रमणता करना ही मोक्षमार्ग है।

जो विकारी भाव हैं सो मैं हूँ और यह मेरा कार्य है—ऐसा मिथ्या भाव दूर करने से ज्ञानपर्याय प्रगट होती है और उससे बन्ध का निरोध होता है ॥७१ ॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि—ऐसा क्यों कहा है कि ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध होता है ? अरे भाई ! ज्ञानमात्र का अर्थ है—बीच में विकार का न होना, पर के बन्धन

और पुण्य-पाप वृत्तियों से रहित अकेला ज्ञानमात्रभाव; और उस ज्ञान में दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब कुछ आ जाता है। ज्ञान की श्रद्धा, उसका ज्ञान और एकाग्रता—तीनों आ जाते हैं।

ज्ञानमात्र से अबन्ध किस प्रकार है—उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय-भावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।७२।।

ज्ञात्वा आस्रवाणा-मशुचित्वं च विपरीत-भावं च।
दु:खस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीव:।।७२।।

अर्थ—आस्रवों की अशुचिता और विपरीतता जानकर तथा वे दु:ख के कारण हैं—ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आस्रव, अशुचिमय हैं; शुभाशुभ-दोनों भाव आस्रव हैं, वे दोनों मलिन हैं और अशुचिमय हैं। अशुभभाव तो मलिन हैं ही, परन्तु शुभभावों को मलिन कौन कहता है? जिसने ऐसा निर्णय किया हो कि—आत्मस्वभाव शुभाशुभ भावों से रहित महा निर्मल एवं शुद्ध है। जिसने स्वभाव का आस्वाद लिया हो वह पुरुष कहता है कि शुभभाव भी आस्रव हैं—मलिन हैं और मात्र शुभभाव में ही धर्म माननेवाले अज्ञानी जीव अकेले अशुभ भावों को आस्रव कहते हैं; किन्तु शुभभावों को आस्रव न कहकर धर्म कहते हैं—यह उनकी अज्ञानता है—मूढ़ता है।

ज्ञानी पुरुष यह जानकर कि—शुभाशुभ भावरूप आस्रव दु:खरूप हैं—दु:ख के कारण हैं; उनसे निवृत्ति करते हैं और ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव में प्रवृत्ति करते हैं। आचार्यदेव ने इस गाथा को बहुत उच्च स्तर पर रखा है।

जल में जो काई है वह मल है—मैल है। जल में जो हरे रंग के लोथड़े जमे रहते हैं वे भिन्न हैं और स्वच्छजल भिन्न है; उसी प्रकार काई की भाँति आस्रव मलिन हैं और आत्मा तो निर्मल पवित्र है, वह आस्रवों से पृथक् है। आस्रवों का वेदन क्रोधादि-मलिनरूप होने से वे मैले हैं। जिन भावों से तीर्थंकर गोत्र का बन्ध होता है, वे भाव भी अशुचिमय हैं, गन्दे हैं, मैले हैं, राग हैं। जिन भावों से इन्द्रपद की प्राप्ति होती है, वे भी

आत्मा में काई की भाँति हैं, मैले हैं; वह अपना स्वभाव नहीं है, इसलिए त्याग करने योग्य-हेय हैं। सम्यक्त्वी जीव उन भावों को आदरणीय नहीं मानता किन्तु छोड़नेयोग्य ही जानता है। अज्ञानी उन भावों को आदरणीय मानता है, तथापि उसके इन्द्रपद, तीर्थंकर पद इत्यादि उच्च पदवी के शुभभाव नहीं होते, इससे वैसा उच्च पुण्य भी उसके नहीं बँधता। ज्ञानी शुभपरिणामों को हेय मानता है तो भी उतनी उच्च पदवी के शुभपरिणाम उसके होते हैं, इससे तीर्थंकरपद, इन्द्रपद आदि का पुण्यबन्ध भी उसके होता है।

आस्रवों को अशुचिमय कहा है, तो क्या उनसे दुर्गन्ध आती होगी ? हाँ! पुण्य-पाप के परिणाम अशुचिमय हैं, अपवित्र हैं, दुर्गन्धयुक्त हैं, और आत्मा के स्वभाव से बिल्कुल विरुद्ध जाति के हैं।

भगवान आत्मा तो निरन्तर अत्यन्त निर्मल, चैतन्यमात्रस्वभावरूप अनुभव में आता है इसलिए शुचि है-पवित्र है-उज्ज्वल है।

देखो! भगवान आत्मा को अत्यन्त निर्मल कहा है, मात्र निर्मल नहीं कहा, किन्तु अतिनिर्मल कहा है। पदार्थ स्वत: निर्मल है, उसका गुण निर्मल है और उसकी कारणपर्याय भी निर्मल है—इस प्रकार तीनों काल पदार्थ अति निर्मल है। जो त्रिकाल वीतरागविज्ञान स्वरूप हो उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा तो अत्यन्त शुचि, पवित्र और उज्ज्वल है, एवं वैसे परमपवित्र भगवान आत्मा का भान होने पर आत्मा यथावत् ज्ञात होता है, अनुभव में आता है। भगवान आत्मा का स्वाद तो मिष्ट-मधुर है, परम-पवित्र है, शुचिमय है; और शुभाशुभ परिणामरूप आस्रवों का स्वाद मलिनरूप अनुभव में आता है, शुभाशुभ दोनों परिणाम आकुलतामय हैं, दु:खरूप हैं, अपवित्र हैं, इसलिए अशुचि हैं।

नदी-सरोवर का जल तो निर्मल है किन्तु ऊपर जो काई है वह मैली है, इसी प्रकार आत्मा तो निर्मल है परन्तु वर्तमान पर्याय में होनेवाले विकार मैले हैं।

पुण्य-पाप की वृत्तिरूप आस्रव स्वत: अपने को नहीं जानते किन्तु अन्य द्वारा ज्ञात होनेयोग्य हैं इसलिए जड़ हैं। पुण्यास्रवरूप शुभराग भी क्रोधादि है-क्रोधादि के विकार में आत्मा की ज्ञाता शक्ति रुकती है, जानने की जागृति नहीं रहती, इससे वह आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु जड़ है; जड़ के निमित्त से होनेवाला विकार सो जड़ है।

क्रोध, मान, माया इत्यादि को यह खबर नहीं है कि हम क्रोध, मान, माया हैं अर्थात् उनमें परिणमन करनेवाला ज्ञान उस समय अन्ध है, और उन क्रोधादि विकारों से भिन्न रहनेवाला ज्ञान उन्हें जान सकता है तथा अपने आत्मा को भी जान सकता है। क्रोधादि में परिणमित ज्ञान क्रोधादि-विकार को नहीं जान सकता और आत्मा को भी नहीं जान सकता इससे वह अन्ध है।

आचार्यदेव ने प्रत्येक गाथा में भगवान आत्मा को ही स्थापित किया है, ऐसी अपूर्व बात को अस्वीकार मत करना, आँगन में आकर लौटना मत।

भगवान आत्मा तो, स्वत: को निरन्तर विज्ञानघनस्वभावरूप होने से, स्वत: ही चेतक (ज्ञाता) है (स्वत: को और पर को जानता है) इसलिए चैतन्य से अनन्य स्वभाववाला है (अर्थात् चैतन्य से अन्य स्वभाववाला नहीं है)।

विज्ञानघन कहने में परिपूर्ण निर्मल विज्ञानघन लिया है, विज्ञानघन अर्थात् आत्मा ज्ञान का पिण्ड है, वह **निबिड** है, कठिन है, निर्भेद्य है कि जिसमें किसी पर का प्रवेश नहीं हो सकता; ऐसा ज्ञाता निर्भेद्य आत्मा स्वत: चेतक है—ज्ञाता है, वह अपने द्रव्य, गुण, पर्याय को जानता है और अन्य समस्त पदार्थों के द्रव्य, गुण, पर्याय को भी जानता है। परपदार्थ के अनन्त भावों को जानता है तथापि पर का कोई अंश अपने में प्रवेश नहीं कर सकता—ऐसा ज्ञाता घनरूप है—निर्बन्धरूप है। ज्ञाता स्वभाव आत्मा का अनन्य स्वभाव है, एकरूप है, पृथक् स्वभाव नहीं है। पराश्रयरूप व्यवहार रत्नत्रय है, वे विकारी भाव अपने को भी नहीं जानते और पर को भी नहीं जानते। विज्ञानघन आत्मा स्वत: अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है।

ऐसे विज्ञानघन चैतन्यस्वभाव को जानने से ही स्व-पर का यथार्थ ज्ञान होता है और उसी से बन्धन रुकते हैं, स्वभाव को प्रगट करने का और बन्धन को रोकने का यह एक ही उपाय है, अन्य कोई नहीं।

कोई कहे कि—यह जानने में प्रत्याख्यान तो नहीं आया, फिर बन्धन कैसे रुकेगा? अरे! चैतन्यतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होने पर उसमें नि:शंकता से स्थिर हुआ वही प्रत्याख्यान है। यथार्थ ज्ञान के बिना अज्ञानी प्रत्याख्यान के स्वरूप को नहीं जान सकेगा वह शुभभावरूप

प्रत्याख्यान को ही प्रत्याख्यान मानेगा; परन्तु शुभभावरूप प्रत्याख्यान बन्धनरूप है और स्वरूप की रमणता-स्थिरतारूप प्रत्याख्यान ही अबन्धनरूप है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर ही अनन्त संसार के कारणरूप बन्ध रुक जाता है। पश्चात् अल्पबन्ध रहता है, उसे गिनती में नहीं लिया है और वह भी स्वरूप स्थिरता होने पर अल्प काल में नाश होना ही है इसलिए सम्यग्ज्ञान होने पर ही बन्धन रुक जाता है। संसार के नाश करने का उपाय चैतन्यस्वरूप आत्मा को पहिचानना ही है, अन्य कोई उपाय नहीं।

यह अधिकार कर्ताकर्म का चल रहा है। कर्ता अर्थात् होनेवाला; वह यथार्थ रीति से तो अपने स्वभाव का ही होनेवाला है और जो स्वभावरूप अवस्था होती है, वही वास्तव में कर्ता का कर्म है। विकारभावरूप कार्य का कर्ता वह वास्तव में नहीं है।

यहाँ टीका के प्रथम बोल में कहा है कि आस्रव मलिन हैं और आत्मा निर्मल है; फिर दूसरे बोल में कहा है कि—आस्रव जड़ हैं इसलिए वे स्व-पर को नहीं जानते और भगवान आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होने से चेतक—ज्ञाता है, इससे स्व और पर को जानता है। शुभाशुभ परिणामरूप आस्रव जड़ के निमित्त से होते हैं, इसलिए उन्हें जड़ कहा है, उन विकार भावों को स्व-पर का ज्ञान नहीं होता इससे भी उन्हें जड़ कहा है।

ज्ञानी विचार करता है कि मैं विज्ञानघन हूँ; विभाव विभावों को नहीं जानते और मुझे भी नहीं जानते; मैं विभावों को जानता हूँ और अपने को भी जानता हूँ—ऐसा विज्ञानघन स्वभाव हूँ।

अनेक व्यक्ति कहते हैं कि यह बात तो धनवालों को और सुशिक्षित पुरुषों के रुचनेयोग्य है; कुछ करना नहीं है और मात्र बातें बनाना अनुकूल पड़ता है इसलिए धनवान और विद्वान सभी एकत्रित होते हैं; किन्तु अरे भाई! धर्म का तो महान चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेवों ने भी आदर किया है, वे संसार में राजपाट आदि करते थे तथापि अन्तरंग में तो उनसे विरक्त थे, राज्य और लक्ष्मी पर विद्यमान अपने को ऐसा मानते थे जैसे विष्टा के ढ़ेर पर बैठे हों। लोग बाह्य योगों को धर्म मानते हैं किन्तु आत्मा का धर्म आत्मा में होगा अथवा जड़ में? गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान हो सकते हैं, आत्मा का भान होने पर पर के कारण राग नहीं मानता पर-पदार्थों के प्रति अनन्त गुना राग-द्वेष दूर हो जाता है; सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पश्चात् पाँचवीं भूमिका आने से स्वरूपस्थिरता

में वृद्धि होने पर अणुव्रत के शुभपरिणाम आते हैं और विशेष वृद्धि होने से मुनित्व आता है। प्रथम यथार्थ प्रतीति होती है, फिर यथार्थ व्रत होते हैं। यथार्थ प्रतीति-रुचि के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता और व्यवहार ज्ञान भी मिथ्यारूप-व्यवहाराभास होते हैं। अन्तरंग से परपदार्थों की रुचि हटकर जब आत्मा की रुचि जागृत होती है, उस समय अन्तरंग में यह बात जमती है। जिन्हें आत्मा की रुचि जागृत हो, वे सभी (निर्धन अथवा धनवान) इस बात को सुलभता से समझ सकते हैं। सत्य को सुनकर जो उसे समझने का प्रयास करते हैं, उन्हें यथार्थ प्रतीति होती है, सम्यग्दर्शन होता है और फिर सच्चे व्रत आते हैं। दुनिया दो रंगी है, जिसे जैसा अनुकूल पड़ता है वैसा ही कहता है, परन्तु सत्य त्रिकाल सत् है।

क्रिया-कष्ट वालों को ऐसा लगता है कि जिनमें कुछ करना-धरना नहीं है—ऐसी यह भेदज्ञान की बातें अच्छी ढूँढ़ निकाली हैं! अहा, क्या कहना है! ऐसे भावों का फल तो उस आत्मा की पर्याय में आता रहता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ज्ञानघन आत्मा की श्रद्धा होने से अनन्त आस्रव के अभावरूप निर्जरा हो जाती है और उसमें स्थिरता की वृद्धि होने पर केवलज्ञान होता है—ऐसी भेदज्ञान की महिमा है। भेदज्ञान का अस्वीकार करनेवाले अनन्त संसार में वृद्धि करनेवाले हैं।

अब, तीसरे बोल में कहते हैं कि आस्रव आकुलता प्रगट करनेवाले होने से दु:ख के कारण हैं।

पुण्य-पाप के दोनों भाव आकुलता प्रगट करनेवाले हैं; वे दोनों भाव वर्तमान समय में भी दु:खरूप हैं और भविष्य में भी दु:ख के कारण हैं। कोई कहे कि जब विविध प्रकार के पकवान्न-मिष्टान्न खाते हैं तब आकुलता कहाँ दिखाई देती है? अरे भाई! स्वत: को भूलकर पर में युक्त होना, उसमें हर्ष मानना ही आकुलता है, परवस्तु की इच्छा की और पर का उपभोग करने के भाव किये वही आकुलता है और दु:खमय भाव हैं।

पुण्य-पाप के भाव आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं, और आत्मा की शान्ति में भंग करनेवाले हैं इसलिए वे दु:ख के ही कारण हैं। जिन भावों से इन्द्रपद मिले, चक्रवर्ती का राज्य मिले-वे भाव भी आकुलतामय हैं, इसलिए दु:ख के कारण हैं। चक्रवर्ती का राज्य भी विनाशीक है, वह आत्मा को शरणभूत नहीं है, इसलिए वे भाव भी दु:खरूप हैं।

शुभभावों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और अशुभभावों से नरकादि गतियों में परिभ्रमण करता है, किन्तु वे दोनों भाव बन्धनरूप ही हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि पुण्यभाव छोड़कर पापभाव करना चाहिए; ऐसी तो बात ही नहीं होती; किसी ज्ञानी के वचन ही ऐसे नहीं होते।

परन्तु पुण्यभाव करते-करते धर्म होगा—ऐसा कभी हुआ ही नहीं, होता नहीं, और न होगा ही। पुण्य-पाप के भाव तो कर्म के निमित्त का कार्य है इसलिए वे दु:ख के कारण हैं।

पुनश्च, भगवान आत्मा तो, निरन्तर निराकुलता-स्वभाव के कारण किसी का कार्य और कारण न होने से दु:ख का अकारण है, (अर्थात् दु:ख का कारण नहीं है)।

भगवान आत्मा निरन्तर-सदा के लिये निराकुलस्वभावरूप है, इसलिए आत्मा पुण्य-पाप की वृत्तियों का कारण भी नहीं, और उनका कार्य भी नहीं है।

चिदानन्द आत्मा तो स्वयं सिद्ध है, वह किसी से उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए वह किसी का कार्य भी नहीं है, और आत्मा ने किसी को उत्पन्न नहीं किया। अरे! पुण्य-पाप के भावों को भी आत्मा ने उत्पन्न नहीं किया इसलिए वह उसी का कारण भी नहीं है। आत्मा में निर्मल श्रद्धा-ज्ञान चारित्र का होना वह विकार का कार्य नहीं है और विकार को आत्मा ने नहीं किया है। अज्ञानदशा में अज्ञानी विकार भावों का कर्ता है किन्तु वस्तुस्वभाव दृष्टि से आत्मा कर्ता नहीं है, इसलिए आस्रव दु:ख के कारण हैं और आत्मा दु:ख का कारण नहीं है अर्थात् दु:ख का अकारण है।

इस प्रकार विशेष (अन्तर) देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवों का भेद जाने उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है।

जब यह आत्मा ऐसा जानता है कि यह जो शुभाशुभ वृत्तियों की मलिन अवस्था, क्षणिक अवस्था है सो मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञाता आत्मा त्रिकाल निर्मल-पवित्र हूँ—इस प्रकार आत्मा और आस्रवों के अन्तर को जाने उस समय पर में एकाग्र होना रुक जाता है और उसी समय क्रोधादि-विकारी परिणामों से निवृत्त होता है। क्योंकि यदि उनसे निवृत्त न होता हो तो उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक (सच्चे) भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई है।

इसलिए क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति के साथ जो अविनाभावी है-ऐसे ज्ञानमात्र से ही अज्ञान से होनेवाले पौद्गलिक कर्मबन्ध का निरोध होता है।

आत्मस्वभाव की पहिचान, प्रतीति करके जो क्रोधादि भावों से पृथक् नहीं होता, निवृत्त नहीं होता, भेद नहीं करता, उसे भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं होती। कोई कहे कि पहले क्रोधादि से निवृत्त हो और फिर भेदज्ञान हो जाये तो ? यह बात बिल्कुल मिथ्या है। जिस समय सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है उसी समय क्रोधादि की निवृत्ति होती है, दोनों का समकाल है, प्रथम-पश्चात् है ही नहीं, अविनाभावीरूप से एक साथ हैं। उपयोग पर में एकाकार है, उसमें से हटकर अपने स्वभाव में उपयोग की रुचि और एकाग्रता होते ही क्रोधादि आस्रव निवृत्त होते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रगट होने से ही, अज्ञान से जो कर्मबन्ध होता था वह रुक जाता है।

यह केवलज्ञानी की बात नहीं, किन्तु अव्रती सम्यग्दृष्टि की बात है। यह जो कहा गया है सो ही मार्ग है, यही सत्य पंथ है। सत्य के पथ पर सत्य मिलता है किन्तु असत्य के पथ पर सत्य नहीं मिलता। अनन्त काल से पराङ्मुख दृष्टि रखकर जीवों ने बहुत किया—शास्त्रों का अभ्यास किया, तप किये, व्रत किये, अरे! दिगम्बर मुनि भी अनन्त बार हुआ है, वन में फिरा, कठिन से कठिन तप किये एकान्तवास किया, किन्तु वह सब पराङ्मुख दृष्टि रखकर किया और माना कि हमारा मोक्ष हो जाएगा किन्तु उससे कल्याण का एक अंश भी नहीं हुआ। मोक्षपर्याय प्रगट करने की जो रीति है और जो विधि है उस विधि के अनुसार प्रयत्न करे, माने और अन्तरंग-वर्तन करे तो मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय प्रगट हो, तथा जो अपने को अनुकूल हो वैसा मान लेने से मोक्षमार्ग अथवा मोक्षपर्याय प्रगट हो जाए—ऐसा तीन काल, तीन लोक में नहीं हो सकता।

एक भी व्रत, प्रत्याख्यान न हो तथापि आत्मप्रतीति हो सकती है। वह प्रतीति ऐसी होती है कि जैसा केवलज्ञानी और सिद्ध भगवान को होती है, वैसी प्रतीति स्त्री-पुरुष सभी को हो सकती है, अरे! आठ वर्ष की बालिका को भी हो सकती है। इस समय विदेह क्षेत्र में आठ-आठ वर्ष की बालिकाएँ और बालक वैसी प्रतीति कर रहे हैं।

अज्ञानदशा में जैसे राग-द्वेष करता है, वैसे के वैसे ज्ञानदशा होने पर नहीं करता, उनमें अन्तर हो जाता है, अधिक आसक्ति कम हो जाती है। कोई कहे कि अपने को ऐसी

खबर कब होती है कि अब मुझे सम्यग्ज्ञान हो गया है ? जैसे पैसा हो जाए तो खबर पड़ जाती है। उसी प्रकार यथार्थ-प्रतीति होने पर स्वत: को खबर पड़ ही जाती है। अपने यहाँ लक्ष्मी हो तो किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता, जबकि वह परवस्तु है और सम्यग्ज्ञान तो अपनी वस्तु है इसलिए वह स्वत: से छिपी नहीं रहती।

जैसे दुर्जन और सज्जन—दोनों प्रतीति होने पर सज्जन की ओर उन्मुखता होती है और दुर्जन की उपेक्षा होती है उसी प्रकार आत्मा और आस्रवों का ज्ञान होने से आत्मा की ओर उन्मुखता बढ़ती है और आस्रवों से छूट जाता है। ज्ञान होने पर कर्म सर्वथा नहीं छूट जाते किन्तु प्रथम विपरीत—मान्यता सर्वथा छूटती है और पश्चात् क्रमश: रागादि सब छूट जाता है।

जैसे सर्प को सर्प समझकर पकड़े और सर्प को रस्सी समझकर पकड़े तो उसमें अन्तर है। सर्प पड़ा हो, किन्तु उसे रस्सी जानकर उठा ले तो उससे बचने का उपाय वह नहीं कर सकेगा; बच्चे के झूले की ओर सर्प जा रहा हो, उस समय खबर पड़े कि अरे! यह तो सर्प जा रहा है, तो होशियारी रखकर झट मुँह की ओर से उसे पकड़कर बाहर फेंक देता है किन्तु बच्चे को नहीं काटने देता और ऐसी चालाकी से पकड़ता कि अपने हाथ में भी न काट ले। उसी प्रकार आत्मा और आस्रवों के भेद को न जाने तो आस्रवों से बचने का उपाय भी न रहे; किन्तु मैं आत्मा ज्ञाता-दृष्टा हूँ और यह क्रोधादिक मैं नहीं हूँ—ऐसा विवेक होने के पश्चात् अल्प क्रोधादि होते अवश्य हैं किन्तु वे अपने आत्मा को न काट लें—ऐसी होशियारी और जागृति तो उसके रहती ही है। अज्ञान अवस्था में जो राग-द्वेष होते हैं, वे उसके ज्ञान-श्रद्धान को काट खाते हैं अर्थात् उसके विवेक की जागृति नहीं रहती, किन्तु आत्मा और आस्रवों का विवेक होने के पश्चात्, भेद करने के पश्चात् पहले की तरह क्रोधादि में युक्त नहीं होता, अल्प भाव से युक्त होता है परन्तु उनमें भेद किये बिना नहीं रहता; और जो अल्प क्रोधादि होते हैं, वे भी अल्प काल में छूटने ही वाले हैं।

शिष्य कहता है कि हे भगवन्! सम्यग्दर्शन का इतना अधिक क्या माहात्म्य है ? यथार्थ ज्ञानमात्र से ही बन्ध दूर हो जाता है, सो किस प्रकार ? उससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! सुन, पर से भिन्नत्व का जो ज्ञान है, वह अज्ञान है अथवा ज्ञान ? यदि वह अज्ञान है, तो जो विकार है सो मैं हूँ, विकार मेरे हैं—इस प्रकार विकार और आत्मा—दोनों

को अज्ञानता से अभेद मानता था और ज्ञान होने पर भी वैसा ही हुआ, उससे विशेष कुछ नहीं हुआ।

पर के साथ एकत्व की जो बुद्धि है सो अज्ञान है और भेदत्व की बुद्धि है सो ज्ञान है। यदि एकत्व की बुद्धि से प्रवर्तन करता हो तो ज्ञान होने से कोई विशेषता नहीं हुई।

पुनश्च, आत्मा और आस्रवों का जो भेदज्ञान है, वह यदि ज्ञान हो तो वह विकार में एकमेक होकर प्रवर्तन कर रहा है अथवा उसमें से कुछ निवृत्त हुआ है ? यदि वह उसी के उसी प्रकार से राग-द्वेष में युक्त होता हो तो अविवेकी ज्ञान में और इस नाममात्र भेदज्ञान में कुछ भी अन्तर नहीं हुआ।

यदि भगवान आत्मा ज्ञान होने पर, पुण्य-पाप मेरे हैं और मैं इनका कर्ता हूँ—ऐसे भावों से मुक्त हुआ है, विकारों से पृथक् हो गया है, ज्ञान आस्रवों से निवृत्त हो गया है तो फिर ज्ञान से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ।

जो अल्प राग-द्वेष होता है, उसे यहाँ नहीं गिना है, यथार्थ दृष्टि के बल में अल्प राग-द्वेष की गिनती नहीं है। ज्ञान होने के पश्चात् अन्तर से राग-द्वेष और विषय वासना से निवृत्त हुआ है, उदास हुआ है, पर का मैं कर्ता नहीं हूँ और यह मेरा कार्य नहीं है, मैं तो अपने ज्ञान का कर्ता हूँ और यही मेरा कार्य है—ऐसा भान करके, अंशत: स्वभाव में स्थित हुआ—इससे ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है, जो अल्प राग-द्वेष रह गये वे सम्यग्दर्शन के बल से दूर हो ही जायेंगे, जो रह गया वह दूर होने के लिये ही है, रहने के लिये नहीं है, इसलिए ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।

ऐसा सिद्धहोने से, पुण्य की क्रिया से आत्मा को दर्शन, ज्ञान, चारित्र होंगे—ऐसा विपरीत मानकर ज्ञान का निषेध करनेवाला अज्ञान का अंश जो क्रियानय है उसका खण्डन हुआ-क्रिया जड़ का खण्डन हो गया।

और जो आत्मा एवं आस्रवों का भेदज्ञान है वह भी यदि आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है; सम्यग्ज्ञान होने पर राग-द्वेष यथावत् बने रहें, ऐसा नहीं होता; यह बाह्यक्रिया की बात नहीं है किन्तु अन्तर-परिणति की बात है। पंचेन्द्रिय के विषयों में ऐसी की ऐसी मिठास के वेदन करता हो, उनमें से सुख का स्वाद आ रहा है, ऐसा मानता हो,

रुचि में किंचित् परिवर्तन न हो, इन्द्रिय विषयों से अंशमात्र विरक्ति न हो, राग-द्वेष बिल्कुल न घटे और कहे कि मुझे ज्ञान हुआ है-तो वह शुष्कज्ञानी है किन्तु सम्यग्ज्ञानी नहीं है। इस प्रकार एकान्त ज्ञाननय का खण्डन हुआ।

सम्यग्ज्ञान अस्तिरूप से है और राग-द्वेष का अभाव नास्तिरूप है। अस्ति-नास्ति दोनों स्वभाव के पक्ष आना चाहिए, इस प्रकार यदि दोनों पक्ष आयें तो वह सम्यग्ज्ञान है।

दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत, प्रत्याख्यान आदि शुभभावों से आत्मा प्रगट नहीं होता, क्योंकि पुण्यादिभावों की आत्मा में नास्ति है, इससे नास्ति से अस्ति प्रगट नहीं होती, असत् से सत् का विकास नहीं होता; इस प्रकार पुण्यादि भावों से आत्मा प्रगट नहीं होता; इससे अज्ञान का अंश जो क्रियानय है, उसका खण्डन हो गया।

पुनश्च, जो आत्मा है वह प्रगट ज्ञानरूप है और विकाररूप नहीं है—इस प्रकार यदि पर्याय सम्मिलित न आये, पर से निवृत्त हुई पर्याय साथ में न आये तो अस्ति का यथार्थ ज्ञान है, मात्र शुष्कज्ञान है, एकान्त ज्ञाननय है।

मात्र ज्ञान ही ज्ञान करता रहता है, किन्तु ज्ञान में पर की-रागद्वेष की निवृत्ति नहीं होती-नास्ति नहीं होती। उसे अस्ति-नास्ति का अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा का ज्ञान नहीं है इसलिए वह अकेला ज्ञान, ज्ञान करता है, वह अस्ति का ज्ञान भी मिथ्या है।

आत्मा ज्ञानरूप है और विकारभावरूप नहीं है। 'है' इसमें यदि क्षणिक विकार की 'रहितता' न आये तो ''त्रिकाल ज्ञानानन्दरूप सहितता'' का सच्चा ज्ञान नहीं है; 'है'— 'नहीं है' दोनों साथ नहीं आये, इसलिए सामान्य-विशेष दोनों एकत्रित नहीं हुए, सामान्य-विशेष का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ, अनेकान्त नहीं हुआ, किन्तु एकान्त हुआ। निर्जरा अधिकार में ज्ञान-वैराग्य दो शक्तियों का वर्णन किया है। 'सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्य शक्तिः' सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है; वहाँ भी अस्ति-नास्ति दो भाव लिये हैं। सत्ज्ञान प्रगट हो और उतने अंश में विकार भावों का अभाव न हो, विकार भाव दूर न हों तो यथार्थ ज्ञान नहीं है किन्तु शुष्कज्ञान है, एकान्त ज्ञाननय है।

ज्ञानी के अल्प राग-द्वेष होते हैं तो भी वह अन्तर से उनके प्रति उदास होता है। जैसे बिलली उसी मुँह से अपने बच्चों को पकड़ती है उसी से चूहे को पकड़ती है, किन्तु 'पकड़ने, पकड़ने में अन्तर है' उसी प्रकार ज्ञानी गृहस्थाश्रम में हो, राज-पाट में स्थित हो,

स्त्री-बच्चे हों, अल्प राग-द्वेष होता हो, तथापि अन्तर से उदास होते हैं; वे राज-पाट आदि सब संयोग उसे श्मशान में रखे हुए पुष्पों की भाँति प्रतीत होते हैं। चक्रवर्ती राजा ९६ हजार स्त्रियों के समूह में खड़ा हो किन्तु स्त्रियों से कहता है—अरे रानियों! तुम यह न समझना कि हम तुम्हारे लिये यहाँ पर रुके हुए हैं किन्तु हम अपने राग के कारण यहाँ पर रह रहे हैं, जब हम उस राग का त्याग कर देंगे उस समय एक क्षणमात्र भी नहीं रुकेंगे—ऐसा तुम निश्चय समझो। रानियाँ मन में तो समझती ही हैं कि जब यह विरक्त होगा तब किसी के भी रोकने से नहीं रुकेगा, यह महावैराग्य की मूर्ति है, यह तो अल्प राग के कारण यहाँ रहा है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का हृदय उदास होता है।

मिथ्यादृष्टि के राजपाट इत्यादि समस्त संयोग होते हैं, किन्तु वह उनमें लिप्त रहता है, उनमें उसकी तन्मयबुद्धि होती है, सुखबुद्धि होती है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की संयोग की क्रिया एक सी दिखायी देती है किन्तु भावों में उदय-अस्त का अन्तर होता है, दोनों के हृदय बिल्कुल विपरीत होते हैं। बिल्ली की पकड़ की भाँति-क्रिया तो एक तथापि भावों में अन्तर होता है।

एक सास और बहू थीं; उनमें बिल्कुल बनती नहीं थी। सास के एक लड़की थी जिस पर उसका अपार प्रेम था, किन्तु बहू से हमेशा झगड़ती ही रहती थी, कभी उसके साथ मेल नहीं होता था। एक बार उसके लड़के ने कहा—माँ अभी कमाई अच्छी हुई है तुम कहो तो दो हजार का गहना बहिन को और दो हजार का तुम्हारी बहू को बनवा दूँ। तब माँ बोली—बेटा! बहिन के लिये इतने गहने की आवश्यकता नहीं है, उसे तो पाँच सौ का ही गहना बहुत हो जायेगा; बहू को भले ही दो हजार का बनवा ले। तब लड़के को विचार आया कि ऐसा कैसे? प्रेम तो बहिन के ऊपर अधिक है, बहू के साथ तो बनती ही नहीं; परन्तु ठीक है! बहिन तो गहना लेकर दूसरे के घर चली जायेगी और बहू का गहना घर में ही रहेगा, इससे माँ ऐसा कह रही है। देखो! जगत के जीव स्वार्थ में भी ऐसा विवेक करते हैं।

ज्ञानी को विवेक है कि मेरा स्वभाव तो मेरे घर में ही रहेगा और विकार पर निमित्त से होनेवाले भाव हैं, इससे पर का है, इसलिए वह दूर हो जायेगा। अपने स्वभाव की प्रगट अवस्था घर में रहेगी और विकारी अवस्था नष्ट होकर बदल जायेगी।

आस्रव अशुचिमय हैं, जड़ हैं, दु:ख के कारण हैं; और भगवान आत्मा तो पवित्र है, ज्ञाता है, सुखरूप है। इस प्रकार लक्षणभेद से दोनों को भिन्न जानकर आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है और कर्मों का बन्ध नहीं होता। आत्मा और आस्रवों का भेद जानने पर भी यदि आत्मा आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है।

अज्ञानभाव से जैसी आसक्ति करता था यदि वैसी की वैसी आसक्ति का पोषण किया करे तो वह ज्ञान ही नहीं, अज्ञान है।

शिष्य प्रश्न करता है कि अविरति सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त अन्य कर्म-आवरण तो बँधते हैं, तब फिर उसे ज्ञानी कहा जाये या अज्ञानी?

उत्तर:—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही है। सम्यग्ज्ञानी अभिप्राय पूर्वक के आस्रवों से निवृत्त है, पर के स्वामित्व से निवृत्त है, इससे उसे प्रकृतियों का जो बन्ध होता है, वह अभिप्रायपूर्वक नहीं होता।

जैसे किसी के शरीर में रोग हो जाये तो वह उस रोग के प्रति प्रेम होता है? नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानी भोग को रोग समान जानते हैं, उसे उपसर्ग समझते हैं, और उपसर्ग का प्रेम किसी को नहीं होता। ज्ञानी को भोग का योग आये तब उन्हें ऐसा लगता है कि अरे! यह क्या! वे उसको उपसर्ग समझते हैं, कठिन रोग की पीड़ा मानते हैं, दु:खरूप जानते हैं। वे समझते हैं कि अरे! यह मेरा स्वरूप नहीं है। ज्ञानी संसार में स्त्री-कुटुम्बादि में स्थित हों, तथापि वे उनके स्वामी नहीं होते; यह मेरे आश्रित हैं और मैं इनका रक्षक हूँ— ऐसा स्वामित्व वे स्वीकार नहीं करते। जैसे कोई पुरुष अपने मार्ग पर जा रहा हो और वहाँ कहीं से दुर्गन्ध आई, किन्तु वह गन्ध लेने की उसे रुचि नहीं है; वैसे ही ज्ञानी को आत्मारामरूपी उपवन की प्रतीति होने पर, बीच में पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण वह भले ही स्त्री-कुटुम्ब के राग में स्थित हों किन्तु उसे वे विष्टा की दुर्गन्ध मानते हैं, वह गन्ध लेने की रुचि ज्ञानी की नहीं है; अल्प राग-द्वेष हो जाते हैं किन्तु उनका राग ज्ञानी को नहीं है, विकार की विष्टा में खड़े रहने की रुचि नहीं है—इससे उनके बन्ध नहीं होता।

ज्ञानी पाप की वृत्तियों को तो उपसर्ग मानते ही हैं किन्तु पुण्य की वृत्तियों को भी उपसर्ग समझते हैं, दु:खरूप जानते हैं। वे पुण्यपरिणामों के भी स्वामी नहीं होते। जब तक अपूर्ण हैं तब तक अशुभ परिणामों से बचने के लिये बीच में पुण्य-परिणाम आते अवश्य

हैं, किन्तु ज्ञानी उनके स्वामी नहीं होते, उन्हें हेय जानते हैं; उनसे निवृत्त होने की ही इच्छा रखते हैं इससे उनके बन्धन नहीं होता।

जहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा के स्वभाव का ज्ञान हुआ कि, फिर ज्ञानी विकारभावों का कर्ता नहीं होता और उसका वह कार्य भी नहीं है। ज्ञान होने के पश्चात् कितने ही राग-द्वेष रहते हैं परन्तु जो मिथ्यात्व सम्बन्ध बन्ध नहीं है। मिथ्यात्व सम्बन्ध बन्ध जो कि अनन्त-संसार का कारण है, वह यहाँ पर प्रधानरूप से विवक्षित (कहने की धारणा) है; अविरति आदि से जो बन्ध होता है, वह अल्पस्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है; इससे वह प्रधान नहीं गिना है।

धर्मी राजकाज में हो परन्तु उसे भान है कि मैं तो एक पृथक् शुद्ध पवित्र वस्तु हूँ— इस प्रकार शुद्धता का भान हुआ वहाँ—स्व शुद्धता के भान में, यदि अल्प अशुद्धता हो तो उस बन्ध को यहाँ नहीं गिना है; अल्प है, वह दूर करने के लिये ही है, फिर वह भले ही चक्रवर्ती का राज्य हो, बाह्य के योग अघातिकर्म के उदय के कारण अधिक हो परन्तु अन्तरंग में पर से निराले चैतन्यस्वभाव का भान है, इससे उसे बन्ध नहीं है। सैन्य में खड़ा हो, क्रोध करता हो, किन्तु वह उनका स्वामी नहीं; साक्षी है। यह जो विभाव हैं सो मेरा स्वभाव नहीं है, विकार से अंशत: निवृत्त हुआ है, और पूर्ण स्वरूप के आश्रयपूर्वक स्वभाव में अंशत: स्थिर हुआ है; अनन्तानुबन्धी दूर होकर स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है; परन्तु पाँचवीं भूमिका नहीं है, व्रत के परिणाम नहीं आये हैं; चारित्र ग्रहण करने योग्य अन्तर आसक्ति दूर नहीं हुई है—इससे अल्पबन्ध होता है, परन्तु उसे यहाँ नहीं गिना है।

किसी ज्ञानी के अघातिकर्म के उदय से बाह्य योग अधिकाधिक दिखायी दे और अज्ञानी नग्न-दिगम्बर मुनि होकर बैठा हो, तो भी वास्तव में वह त्यागी नहीं है; बाह्य के त्याग-अत्याग पर से अन्तरंग का माप नहीं है। अज्ञानी बाहर से शान्त दिखायी देता हो, ईंधन रखकर जला डालें तो भी क्रोध न करे, किन्तु पर से पृथक् स्वाश्रय आत्मा का भान नहीं है इससे वह बन्ध में पड़ा है, मोक्षमार्ग में नहीं।

ज्ञानी के किंचित् क्रोध आ जाये, अस्थिरता हो जाये, किन्तु मेरा क्षमावन्त वीतराग स्वभाव पृथक् है—उसका भान है; अस्थिरता को दूर करने का और स्थिरता में वृद्धि करने का प्रयास है—इससे वह बन्धमार्ग में नहीं किन्तु मोक्षमार्ग में प्रवर्तमान है।

प्रथम नम्बर के अज्ञानी बाह्यवेष को देखकर परीक्षा करते हैं। दूसरे नम्बर के अज्ञानी बाह्यक्रिया को देखकर परीक्षा करते हैं। और तीसरे नम्बर के जीव तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करते हैं कि इसे पर से भिन्न आत्मा की प्रतीति है या नहीं? पर-शरीरादि और अन्तरंग में होनेवाली पुण्य-पाप की जो वृत्तियाँ हैं, उनका मैं कर्ता नहीं हूँ और वह मेरा कार्य नहीं—ऐसी निरुपाधि श्रद्धा प्रगट हुई है या नहीं? इस प्रकार परीक्षा करते हैं। ऐसी तीसरे नम्बर की परीक्षा करनेवाला पात्र जीव है।

श्री कुन्थुनाथ, श्री शान्तिनाथ और श्री अरहनाथ—यह तीन तीर्थंकर भगवान चक्रवर्ती थे, तीर्थंकर पद पर आये थे और उसी भव में मोक्ष जानेवाले थे। संसार में थे तब छह खण्ड की साधना करते थे, अपने राज्य की वृद्धि के लिये अन्य राजाओं से युद्ध करने जाते थे। चक्रवर्ती के पास एक ऐसा खड्ग होता है कि जिसकी सेवा हजार देव मिलकर करते हैं; उनकी आयुधशाला में एक ऐसा चक्ररत्न होता है जिसकी हजार देव सेवा करते हैं; उनके यहाँ एक शिल्पकार किसान आदि होते हैं, उनकी सेवा को भी हजार देव रहते हैं—इत्यादि चक्रवर्ती की ऋद्धि इतनी अधिक होती है कि साधारण जीवों को उसका विचार आना भी असम्भव है। चक्रवर्ती संसार में थे परन्तु अन्तरंग से उदास थे, युद्ध करने जाते, परन्तु पर से भिन्न स्वाश्रय चैतन्य भगवान का भान था। पर से निराला मेरा आनन्दघन चैतन्यस्वभाव भिन्न है—उसका भान प्रवर्तमान रहता है; बाह्य संयोग और अन्तर में उठनेवाली वृत्तियाँ भी मेरे आत्मभान को लाभ-हानि नहीं कर सकतीं; यह जो अपूर्ण पर्याय है सो मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण है, मेरे गुण मुझमें विद्यमान हैं, मैं अपने पुरुषार्थ की मन्दता से अपूर्ण हूँ—ऐसा बराबर जानता है; जो अल्प अस्थिरता होती है, वह मेरे सम्यग्दर्शन को हानि नहीं पहुँचा सकती—ऐसा श्रद्धा का बल ज्ञानी को होता है। बाह्य से क्रिया में अधिकांश कषाय हो—ऐसा दिखायी दे, परन्तु अन्तर से अल्प कषाय होती है।

भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनों भाइयों में जब युद्ध हुआ, तब सर्व साधारण को ऐसा लगा कि—दोनों भाई सम्यग्ज्ञानी हैं, और इसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं फिर यह क्या? परन्तु युद्ध के समय भी भान है कि मैं इस सबसे भिन्न हूँ। युद्ध का ज्ञाता है, क्रोध होता है, उसका भी ज्ञाता है, अपने शुद्ध, पवित्र, आनन्दघन स्वभाव का भान प्रवर्तमान है, परन्तु अल्प अस्थिरता होती है इससे युद्ध कर रहे हैं। दोनों भाइयों में युद्ध हुआ उसमें भरत

चक्रवर्ती जीत न सके, तब अन्त में उन्होंने बाहुबलीजी पर चक्र फेंका, परन्तु चक्र गोत्र वध नहीं करता, और फिर बाहुबलीजी चरमशरीरी थे इससे भी चक्र काम नहीं करता था। उस समय बाहुबलीजी को वैराग्य आया कि धिक्कार है इस राज्य को! अरे! इस जीवन में राज्य के लिये यह क्या? ज्ञानी पुण्य से भी सन्तुष्ट नहीं और न पुण्य के फल से ही। बाहुबलीजी को विचार आये कि मैं चिदानन्द आत्मा पर से भिन्न हूँ, यह मुझे शोभा नहीं देता! इस प्रकार वैराग्य आने पर मुनित्व ग्रहण किया। बिल्ली जिस मुँह से अपने बच्चे को पकड़ती है, उसी मुँह से चूहे को भी पकड़ती है, किन्तु पकड़ में अन्तर है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की क्रियाएँ एक सी दिखायी दें किन्तु भावों में अन्तर होता है।

मिथ्यात्व सहित ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है, और जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो तब अज्ञान नहीं किन्तु ज्ञान ही है। चारित्र सम्बन्धी कमजोरी से जो विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं होता, इससे ज्ञानी के बन्ध नहीं है; क्योंकि जो विकार है सो बन्धरूप है और बन्ध का कारण है; वह तो बन्ध की पंक्ति में है, ज्ञान की पंक्ति में नहीं है इसलिए ज्ञानी के बन्ध नहीं है।

यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(मालिनी)

परपरिणति-मुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निद-मुदित-मखण्डं ज्ञान-मुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथ-मवकाशः कर्तृ-कर्म-प्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः।।४७।।

अर्थः—पर परिणति को छोड़ता हुआ, भेद के कथनों को नष्ट करता हुआ, यह अखण्ड एवं अति प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है। अहो! ऐसे ज्ञान में (परद्रव्य के) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है? और पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है? (नहीं ही हो सकता।)

मैं आत्मा निर्मल हूँ, पवित्र हूँ, शुद्ध चिदानन्द मूर्ति हूँ, पुण्य-पाप के भाव मेरे स्वरूप में नहीं हैं—ऐसा भान होने पर परिणति का त्याग करता हुआ, भेद के कथनों को विदीर्ण करता हुआ, अत्यन्त प्रचण्ड अर्थात् तीक्ष्ण ज्ञान प्रत्यक्ष उदित हुआ है।

अहो! मेरे सच्चिदानन्द स्वरूप में ऐसा कैसे हो सकता है कि मैं पर पदार्थों का कर्ता हूँ, और पर-पदार्थ मेरे कार्य हैं ? ऐसे ज्ञान में कर्ताकर्म का अवकाश ही कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। इसलिए नवीन कर्मबन्ध भी कहाँ से होगा ? नहीं ही होगा।

आत्मा पर से और रागादि से निराला है—ऐसा भान हुआ, अर्थात् शेष राग भी नाश के खाते में पहुँच गया, रखने के लिये नहीं रहा, इससे ज्ञानी को नवीन बन्ध होता ही नहीं।

जो पर से निराली शुद्ध अवस्था परिणमित होती है, परिवर्तित होती है, उसमें कर्ताकर्म को और नवीन बन्ध को स्थान ही कहाँ है ? अवकाश ही कहाँ है ?

अल्प विकास के कारण ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान में जो खण्ड होते थे, खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनके बदले अब अखण्ड ज्ञान उदित हुआ अर्थात् एक ज्ञानमात्र आत्मा अनुभव में आया।

मैं अखण्ड ब्रह्ममूर्ति हूँ, उसमें राग-द्वेष की अवस्था के भेद नहीं हैं। इस विकार की तो बात ही क्या है! किन्तु मतिश्रुत की अवस्था के भेद भी अखण्ड स्वरूप में नहीं हैं, इस प्रकार भेद के कथनों को खण्डित करता हुआ अखण्ड ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है। अहो! अखण्ड प्रचण्ड पर से पृथक् ज्ञान पिण्ड उदित हुआ है।

पर-परिणति अर्थात् विकारी भावों को त्याग करता ज्ञान उदित हुआ है, अर्थात् पहले तो छोटे-छोटे कामों में, विकारी भावों में रुकता था; लड़का कुछ अच्छी तरह से बुलाये तो फूल उठे, सुन्दर मकान देखे तो प्रसन्न हो जाये; घर में गाय के बछड़ा पैदा हो तो देखकर आनन्द की मर्यादा न रहे; अरे! और तो और कोई एक बीड़ी या पान लाकर दे तो लट्टू हो जाये—इस प्रकार तुच्छ से तुच्छ बातों में सन्तुष्ट होता था; परन्तु जहाँ श्री गुरु के प्रताप से भेदज्ञान प्रगट हुआ; प्रचण्ड-तीक्ष्ण ज्ञान उदित हुआ कि कहीं न रुककर अपने स्वभाव में ही स्थिर हो गया। अरे! मेरे स्थिर होने का स्थान अन्यत्र नहीं है; राग-द्वेष, क्रोध, विषयवासना—यह मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा गुण तो मेरे पास ही है, मेरे चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त जगत में कोई श्रेष्ठ नहीं है, मेरे स्वभाव का मुझसे किसी भी दिन वियोग नहीं होगा, इसलिए मेरे रुकने का स्थान तो मेरा स्वभाव ही है—ऐसा आत्मा का अपूर्व भान होने से विकार को छोड़ता हुआ—परपरिणति को नष्ट करता हुआ ज्ञान प्रगट हुआ, इससे जो ज्ञान पर में युक्त होता था वह स्वत: में स्थिर होने लगा।

प्रचण्ड है अर्थात् ज्ञान बलवान, तेजवान है, तीक्ष्ण है। जैसे तेज अग्नि सूखे ईंधन को तो जलाती ही है, किन्तु गीली लकड़ियों को भी जला देती है, इसी प्रकार मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ—ऐसी उग्रता ज्ञान में हुई कि राग-द्वेष को जलाकर भस्म कर देता है और कर्मों के चाहे जैसे प्रबल विपाक के रस को जला डालता है। जैसे सूर्य का तेज सर्दी को हटा देता है उसी प्रकार चैतन्यसूर्य-ज्ञानसूर्य की उग्रता होने पर नवीन बन्ध नहीं हो पाता।

ज्ञेयों के निमित्त से तथा क्षयोपशम के विशेष से ज्ञान में अनेक खण्डरूप-रागरूप प्रतिभासित होते थे अर्थात् ज्ञान परोन्मुख होता था, ज्ञेयों में रुकता था-इससे खण्ड होते थे। जब वह ज्ञान अपने अभेदस्वरूप की ओर उन्मुख हुआ तब उसे अखण्ड विशेषण दिया। मतिज्ञानादि जो ज्ञान के भंग-भेद हैं, भेदों की ओर से ज्ञान अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ; वह भेद की ओर नहीं किन्तु अभेद स्वभाव की ओर ढला—इसलिए भेद के कथनों को विनष्ट करता हुआ—ऐसा कहा, और ज्ञान स्वोन्मुख हुआ अर्थात् पर परिणति को छोड़ता हुआ प्रगट हुआ—वैसा कहा। स्वोन्मुख हुआ इससे परपरिणति सहज ही छूट गयी। स्वत: की ओर उन्मुख हुआ इसलिए ज्ञान बलवान हुआ।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभु ! किस प्रकार यह आत्मा पुण्य-पाप के भावों से निवृत्त होता है ? उसका उत्तर गाथारूप में कहते हैं:—

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि।।७३।।

अहमेक: खलु शुद्ध: निर्ममत: ज्ञानदर्शनसमग्र:।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्त: सर्वानेतान् क्षयं नयामि।।७३।।

अर्थ:—ज्ञानी विचार करता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ। उस स्वभाव में रहता हुआ, उसमें (उस चैतन्य-अनुभव में) लीन होता हुआ (मैं) इन क्रोधादिक सर्व आस्रवों को क्षय की प्राप्ति कराता हूँ।

धर्मात्मा-धर्मी जीव ऐसा विचार करता है कि मेरा आत्मा वास्तव में एक ही है, मेरा आत्मा मलिनता रहित बिल्कुल शुद्ध है, मैं आत्मा ममत्वरहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, अर्थात् जानने और देखने से ही मैं परिपूर्ण हूँ; ज्ञाता-दृष्टा और उसमें स्थिरता करनेवाला मैं चैतन्य के अनुभव में लीन होता हुआ इन क्रोधादि आस्रवों को क्षय की प्राप्ति कराता हूँ।

विपरीत दृष्टि, काम, क्रोध, स्नेह-राग, यह सब मेरा स्वरूप नहीं है अर्थात् मैं उन सबका नाशक ही हूँ।

कोई कहे कि आत्मा पूर्ण कब कहलाता है? उसका उत्तर यह है कि वस्तुत: आत्मा त्रिकाल पूर्ण ही है, वर्तमान में भी राग-द्वेष होने पर भी वस्तुदृष्टि से पूर्ण है, परन्तु पर्यायदृष्टि से अपूर्ण है।

धर्मात्मा विचार करता है कि—मैं आत्मा प्रत्यक्ष अखण्ड, अनन्त चिन्मात्रज्योति, अनादि-अनन्त, नित्य उदयरूप विज्ञानघन स्वभावरूप होने के कारण एक हूँ।

प्रश्न:—स्वरूप की दशा के साधक मुनियों का शरीर तो सूख जाता है न?

उत्तर:—ऐसे प्रत्यक्ष चिन्मात्र आत्मा का भान हो इसलिए बाह्य में शरीर सूख जाये—ऐसा कोई नियम नहीं है। एक मुनि को देखकर किसी राजा ने यह विचार किया कि यह मुनि क्या खाते होंगे? क्या पीते होंगे? जिससे मुनि का शरीर इतना सुन्दर है? मैं इतना महान राजा, तथापि मेरा शरीर ऐसा क्यों नहीं? इस प्रकार मुनि को देखकर राजा आश्चर्यचकित हो गया। मुनि की बाह्यऋद्धि देखकर राजा को अन्तरंग आत्मा का बहुमान आया और उससे उन्होंने धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ लिया। शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न हैं, दोनों पदार्थ पृथक् हैं—इत्यादि स्वरूप समझा। आत्मा की साधकदशा के साधनेवाले मुनियों का शरीर सुन्दर-सुशोभित भी होता है इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा के स्वभावरूपी खाद्य पदार्थ में रमण करनेवाले मुनियों का शरीर सूख ही जाता हो—ऐसा कोई नियम नहीं है; उसी प्रकार मोक्षपर्याय के साधक मुनियों के शरीर में रोग नहीं आता, और उनके अन्तर आत्मा में अहिंसा प्रगट हुई है, इसलिए उस अहिंसा का प्रभाव बाह्य में दूसरों पर भी पड़े—ऐसा भी कोई नियम नहीं है। मुनियों के शरीर में रोग भी आते हैं और उन्हें सिंह-बाघ भी खा जाते हैं, क्योंकि शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न पदार्थ हैं। जहाँ आत्मस्वभाव का भान है वहाँ शान्तरस का प्रवाह होता है; शरीर और आत्मा का वहाँ सम्बन्ध ही क्या है? शरीर सशक्त रहे तो भी क्या! दुर्बल हो जाये तो भी क्या! वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा के शान्तरस में क्रीड़ा करने के लिये शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

धर्मात्मा जीव विचार करता है कि मैं आत्मा प्रत्यक्ष अखण्ड, अनन्त चिन्मात्रज्योति

हूँ; निश्चय से मैं प्रत्यक्ष हूँ। यहाँ, प्रत्यक्ष है ऐसा कहा है; परोक्ष नहीं कहा; आत्मा तो प्रत्यक्ष ही है न ? आत्मा परोक्ष हो सकता है ! मतिश्रुतज्ञानी आत्मा को यथार्थतया नि:शंकरूप से जान सकते हैं इसलिए वह प्रत्यक्ष है, और सम्पूर्णरूप से केवलज्ञानी जान सकते हैं, इस अपेक्षा से परोक्ष है। परन्तु परमार्थ से-द्रव्यदृष्टि से आत्मा प्रत्यक्ष है, क्योंकि मतिश्रुतज्ञानी आत्मा को बराबर जान सकते हैं। पुनश्च, कैसा है ? अखण्ड है—जिसमें कर्म के निमित्त से भंग या भेद नहीं होते।

और फिर अनन्त अपार स्वभाववाला है। आत्मा का आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं। धर्मात्मा विचार करता है कि मैं अनादि-अनन्त हूँ, स्वत:सिद्ध हूँ।

आत्मा कैसा है ? नित्य उदयरूप है। इस विशेषण में बिल्कुल द्रव्यदृष्टि को लिया है, निमित्त की अपेक्षा को निकाल दिया है। अपूर्ण और पूर्ण, मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्याय मुझमें नहीं है। द्रव्य से, गुण से, पर्याय से-सर्व प्रकार से मैं निर्मल हूँ। द्रव्य, गुण और द्रव्य की कारणपर्याय—तीनों प्रगट हैं, आवरणरहित हैं; आत्मा प्रतिसमय-नित्य प्रगट है।

और ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि विज्ञानघनस्वभावरूप होने के कारण मैं एक हूँ, ज्ञान का घन हूँ अर्थात् निर्बन्ध हूँ, कर्म के निमित्त से होनेवाले भाव मुझमें नहीं हैं, मैं तो उनसे रहित विज्ञानघन हूँ। द्रव्य से गुण से और पर्याय से—तीनों से स्थायी वस्तु हूँ, एक हूँ, जो अनेक विकारी भाव होते हैं, वे मुझमें नहीं हैं।

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार उतरी हुई जो निर्मल अनुभूति है—उस अनुभूतिमात्र के कारण मैं शुद्ध हूँ।

मैं राग-द्वेष का कर्ता नहीं रहा, वे मेरे कार्य नहीं रहे; मैं उनका साधन नहीं हूँ, मैंने उन्हें रखा नहीं है; वे मुझमें से हुए नहीं हैं और उनको मेरा आधार नहीं है। ऐसा विचार कौन करता है ? धर्मी-ज्ञानी जीव विचार करता है कि मेरे स्वभाव में यह छह प्रकार हैं ही नहीं; यह राग-द्वेष मेरे आधार से हुए हों—ऐसा त्रिकाल में है ही नहीं।

मैं अवगुणों में छह प्रकार से कर्ता हूँ ही नहीं, क्योंकि मेरे गुणों में से कभी भेद पड़े ही नहीं, इससे मैं अवगुणों का कर्ता हुआ ही नहीं, इसलिए मैं कर्ताकर्म की प्रक्रिया से पार उतरा हुआ हूँ, उनके समूह से पार हूँ।

बन्ध-मोक्ष की पर्याय मैं नहीं हूँ, राग-द्वेष भी मैं नहीं हूँ, वह मेरा कार्य नहीं है— ऐसा भान होने पर जो अल्प राग-द्वेष रहा उसका मैं स्वामी नहीं हूँ, मेरा स्वभाव तो निर्मल अनुभूति है, मैं निर्मल अनुभूतिस्वरूप हूँ, इससे मैं शुद्ध हूँ; मैं आत्मा कर्ता और निर्मल अनुभूति मेरा कार्य है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा कार्य नहीं है।

ज्ञान-दर्शनपूर्ण हूँ—ऐसा कहकर पर्याय से भी परिपूर्ण लिया है। टीका में यह कहकर कि मैं प्रत्यक्ष हूँ, पर का आश्रय नहीं है, परोक्ष नहीं हूँ—यह तात्पर्य लिया है। अनादि-अनन्त कहकर काल से अनादि-अनन्तता कहना सो उपचार से है किन्तु नित्य-उदयरूप कहकर वर्तमान में ही अपने समस्त भावों से पूर्ण है। इस कर्ताकर्म अधिकार में भेदज्ञान की बात है अर्थात् पर्याय की बात है, तथापि स्वत: अपूर्ण—अधूरी पर्याय जितना नहीं है अर्थात् अपूर्ण पर्याय से भिन्न किया। और पर्याय से परिपूर्ण है—वैसा बतलाते हैं। नित्य-उदयरूप विज्ञानघनस्वभावभाव कहकर यह बताते हैं कि नित्य द्रव्य-गुण-पर्याय से परिपूर्ण है। पर्याय की परिपूर्णता में त्रिकाली ध्रुवरूप कारण पर्याय ली है।

यदि अवस्थादृष्टि का लक्ष्य छोड़ दें तो वस्तु, वस्तु ही है, एकरूप ही है; परन्तु लोगों को अन्तर बात समझ में नहीं आती, इसलिए जहाँ पर बाह्य की बातें आती हैं, वहाँ प्रसन्न हो जाते हैं, कोई बाह्य से धर्म करना बता दे तो अनुकूल पड़ता है; यदि बच्चों को मिठाई बाँट दे तो धर्म होगा मान लेते हैं, दूसरे लोगों से कहते हैं देखो! हम कैसा धर्म में पैसा लगाते हैं—इस प्रकार कर्तृत्व का अभिमान करते हैं, और यदि कुछ पैसा खर्च करते हैं तो इस प्रकार खर्च करेंगे जिसमें चारों ओर नाम फैल जाये—ख्याति प्राप्त हो। ऐसे अभिमान के हेतु से पैसा खर्च करने में कोई पुण्य नहीं होता, फिर धर्म की बात ही क्या है।

अपने को जाने बिना पर के कर्तृत्व का अभिमान दूर नहीं होता। धर्मात्मा जीव राजकाज में हो तथापि वह कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से निवृत्त ही होता है; कर्ताकर्म की अवस्था से पार हो गया है, अन्तरंग से भ्रम का त्याग हो गया है; किन्तु ऐसा माननेवाला सारा घरबार छोड़कर त्यागी ही हो जाता है—ऐसा कुछ नहीं है, तथापि अन्तर से भ्रान्ति दूर हो जाती है, यह बात यथार्थ है। भ्रान्ति का त्याग होने से ज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पर का अनुसरण करके होनेवाले जो भाव हैं वह मेरा कार्य नहीं है, मेरी कर्मण्यता नहीं है; किन्तु अपने चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाले जो भाव हैं, वह मेरा कार्य है। धर्मात्मा के निर्मल

अनुभूति की अवस्था प्रगट हुई है और स्वत: भी त्रिकाल उसरूप है, धर्मी जीव स्वत: ही शुद्धपर्याय में वृद्धि करते-करते वीतराग होता है; दृष्टि और ज्ञान कारण है तथा चारित्र, उसका कार्य है।

पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है—ऐसी जो क्रोधादि भावों की विश्वव्यापकता है, उसके स्वामीरूप से निरन्तर स्वत: परिणमित न होने से मैं ममत्वरहित हूँ।

धर्मात्मा जीव समझते हैं कि क्रोध, मान, राग-द्वेषादि का स्वामित्व जड़ का है, मैं तो निर्दोष क्षमावन्त वीतरागस्वरूप हूँ और राग-द्वेष का ज्ञाता हूँ; राग-द्वेष चैतन्य की पर्याय में होते हैं, तथापि मैं उनका ज्ञाता हूँ। क्रोधादि भावों की जो विश्वव्यापकता अर्थात् अनेकता है, उसके स्वामीरूप मैं नहीं होता; वे जड़ के निमित्त से होने के कारण जड़ हैं मैं विकारी भावों का स्वामी नहीं होने से ममत्वरहित हूँ, अल्प राग-द्वेष होते हैं, तथापि मैं स्वत: उनके स्वामीरूप से परिणमित नहीं होता इसलिए मैं ममत्वरहित हूँ। इसमें अनन्त पुरुषार्थ है; आत्मा का भान होने पर अनन्त पुरुषार्थ प्रगट होता है और कर्तृत्व छूट जाता है, अनन्त पुरुषार्थ प्रगट होने पर ही कर्तृत्व छूटता है।

कितने ही लोग तो केवली भगवान को **ईरिया वहीया** क्रिया का कर्ता बतलाते हैं। अरे रे! विचारे जीव तत्त्व को नहीं समझते इसलिए कहाँ से कहाँ कर्तृत्व को लगा दिया। जो कर्तृत्व अज्ञानी के पहले गुणस्थान में होता है, उसे तेरहवें गुणस्थान में केवली भगवान के कह दिया है। देखो तो! कितनी मूढ़ता है, कितनी अज्ञानता है! कर्तृत्व तो चौथे गुणस्थान में ही सम्यग्दर्शन होने पर छूट जाता है, फिर केवली भगवान के तो वह होगा ही कहाँ से? केवली भगवान तो सम्पूर्ण वीतराग हुए हैं, उनके एक विकल्पमात्र भी नहीं है फिर कर्तृत्व की तो बात ही क्या है?

ज्ञानी के अल्प अस्थिरता होती अवश्य है; शुभाशुभभावरूप मलिन परिणाम भी होते हैं, परन्तु उन्हें ऐसी दृढ़ प्रतीति है कि मैं उसरूप किसी दिन नहीं हुआ; धर्मी जीव विकारी अवस्था के कर्ता नहीं होते, किन्तु अपने स्वभाव की ही अवस्था के कर्ता होते हैं।

ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि पहले मैं अज्ञानता से पर पदार्थ को अपना माननेरूप अभिमान करता था, पर की खतौनी अपने खाते में और अपनी पर के खाते में करता था, परपदार्थों में से सुख प्राप्त करने की लालसा थी, स्वभाव की अरुचि थी, परन्तु वे परभाव

कभी भी मेरे रूप में नहीं थे। मैं अज्ञानता के कारण भले ही उन भावों को अपनेरूप मानता था, तथापि कभी भी वे भाव मुझरूप नहीं हुए। जो अपनेरूप हो गया हो वह कभी हट नहीं सकता, परमार्थ से आत्मा यदि सदोषरूप हो गया हो तो कभी निर्दोषरूप नहीं हो सकता, इससे मैं आत्मा त्रिकाल निर्दोष पवित्र हूँ, ऐसे पवित्र स्वभाव का भान होने पर ऐसा जानता है कि वे सदोष भाव कभी मुझमें थे ही नहीं; वे मेरा स्वरूप नहीं हैं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ, वे भाव परनिमित्त से होते हैं इसलिए उनका स्वामी जड़ है। शुभाशुभ वृत्तियाँ चैतन्य की पर्याय में होती हैं परन्तु द्रव्यदृष्टि के बल में उन्हें जड़ कह दिया है।

चैतन्यद्रव्य में वे विकारीभाव थे नहीं, हैं नहीं, और होंगे भी नहीं। देखो, यह सम्यग्दृष्टि की अन्तर प्रतीति! ऐसे निराले चैतन्यस्वरूप को जाने बिना, प्रतीति में लिये बिना भव का अन्त कैसे होगा? सम्यग्दृष्टि की अन्तरोन्मुखता अपने शुद्ध स्वभाव की ओर होती है, यही अन्तरंग भावना और यही अन्तरंग का जप है।

जो क्रोध, मान, राग इत्यादि विकारी भाव हैं उनके रूप में परिणमित न होने से मैं ममत्वरहित हूँ; ममतारहित कहकर नास्तित्व बताया है। पहले यह कहकर आचार्यदेव ने अस्तित्व बताया कि मैं एक हूँ, और शुद्ध हूँ। तत्पश्चात् यह कहकर कि विकारी भावों का स्वामित्व मुझमें नहीं है, इससे मैं ममतारहित हूँ; नास्तित्व बताया।

चिन्मात्रज्योति का (आत्मा का) वस्तुस्वभाव से ही, सामान्य और विशेष द्वारा परिपूर्णत्व (सम्पूर्णत्व) होने से, मैं ज्ञान-दर्शन द्वारा परिपूर्ण हूँ। (वस्तु का स्वभाव सामान्य-विशेषरूप है। आत्मा भी वस्तु होने से वह सामान्य-विशेषरूप है अर्थात् दर्शन-ज्ञानस्वरूप है।)

जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है, तब मैं भगवान आत्मा सामान्य और विशेष से अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, मेरे स्वभाव में पुण्य-पाप है ही नहीं—ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है। इस प्रकार प्रतीति और ज्ञान करके धर्मात्मा स्वरूप में स्थिर होता है और स्थिरता में वृद्धि करते-करते वीतराग होता है—उसका नाम चारित्र है।

प्रश्नः—धर्मी की क्रिया यह है?

उत्तरः—हाँ, यह धर्मी की अनन्त क्रिया है; चैतन्य के धर्म की क्रिया चैतन्य में होती है, पर में नहीं होती।

दर्शनोपयोग सामान्य है और ज्ञानोपयोग विशेष है। सामान्य अर्थात् भेद किये बिना। ज्ञान होने से पूर्व, परविषय से रहित जो सत्तामात्र आत्मव्यापार है सो दर्शनोपयोग है, और प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्नरूप, राग के विकल्प के बिना जानना सो ज्ञानोपयोग है।

आत्मा कभी भी पुण्य-पाप के विकारी भावरूप नहीं हुआ, और कभी दर्शन-ज्ञान से पृथक् नहीं हुआ। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड अनादि-अनन्त, पर से निराला, अखण्ड है-ऐसी प्रतीति करके उसमें स्थिर होना सो प्रतिक्रमण है, इसका नाम प्रायश्चित है। इस प्रतिक्रमण और प्रायश्चित से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अब, चैतन्य की अन्य द्रव्यों के साथ तुलना करके उसे भिन्न बताते हैं।

इस गाथा में शिष्य ने यह प्रश्न किया था कि आत्मा किस प्रकार आस्रवों से निवृत्त होता है? उसके उत्तर में आचार्यदेव ने कहा कि—मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ—ऐसा भान होने से आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है, बन्धन खुल जाते हैं। ऐसा मैं आकाशादि द्रव्यों की भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ।

धर्मात्मा ऐसा समझते हैं कि—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, काल इत्यादि की भाँति मैं भी अरूपी वस्तु हूँ। आकाशद्रव्य, उसके अनन्त गुण और पर्याय—वे सभी अनादि-अनन्त हैं आकाश अरूपी, उसके गुण अरूपी, उसकी पर्याय भी अरूपी है; वे तीनों एक होकर अखण्ड वस्तु है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और परमाणु इत्यादि वस्तु, वस्तु के गुण और उसकी पर्याय अनादि-अनन्त निर्मल है। वे सब वस्तु हैं, वैसे ही मैं भी एक वस्तु हूँ; इसलिए मैं भी द्रव्य से, गुण से और पर्याय से अनादि-अनन्त निर्मल हूँ।

ऐसा मैं आकाशादि वस्तुओं की भाँति पारमार्थिक वस्तु-विशेष हूँ, सभी द्रव्य, द्रव्य से, गुण से और पर्याय से त्रिकाल निर्मल हैं एक पृथक् परमाणु भी द्रव्य, गुण और पर्याय से निर्मल है, तो फिर मुझमें यह मलिनता कहाँ से आ गयी? पर के निमित्त से होनेवाले सापेक्ष पर्याय में मलिनता हुई है किन्तु मेरी निरपेक्ष पर्याय आकाशादि द्रव्यों की भाँति अनादि-अनन्त निर्मल है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और परमाणु जैसे मुख्य वस्तु है, मुख्य-मुख्य पृथक् पदार्थ हैं, उसी प्रकार मैं भी 'मुख्य' भिन्न पदार्थ हूँ, उन सबके

स्वभाव की अपेक्षा मेरे स्वभाव में अन्तर है। मैं एक, शुद्ध, ममत्वरहित हूँ, और ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ; आकाशादि द्रव्य तो जड़स्वभावी हैं किन्तु मैं चैतन्यस्वभावी हूँ।

जैसे आकाशादि 'मुख्य' पदार्थ हैं, वैसे ही मैं भी एक 'मुख्य' पदार्थ हूँ। आकाशादि द्रव्य मलिन नहीं होते, और मैं क्यों मलिन होता हूँ? इसलिए निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर मैं पर्याय से भी मलिन नहीं हुआ। निरपेक्ष पर्याय में मलिनता नहीं, किन्तु सापेक्ष पर्याय में मलिनता है।

यदि कर्म की अपेक्षा को छोड़ दें तो आत्मा त्रिकाल-द्रव्य से, गुण से और पर्याय से निर्मल है। जैसे आकाशादि पदार्थ भिन्न-भिन्न, अनादि-अनन्त द्रव्य, गुण और पर्याय से निरपेक्ष पड़े हैं उसी प्रकार आत्मा भी त्रिकाल द्रव्य, गुण और पर्याय से अखण्ड निरपेक्षरूप पर से पृथक् है। आत्मा एक वस्तु है-पदार्थ है, तो जैसी वस्तु हो वैसा ही उसका वर्तमान भी होता ही है। जिस प्रकार वस्तु अखण्ड त्रिकाल निर्मल, ध्रुव है उसी प्रकार उसका वर्तमान अंश भी ध्रुव है, निर्मल है, निरपेक्ष है।

जैसे आकाशादि द्रव्यों में पर की अपेक्षा नहीं है वैसे ही आत्मा में से कर्म के निमित्त के सद्भाव-अभाव की अपेक्षा को निकाल दें तो वस्तु, उसके गुण और उसकी अंशरूप पर्याय पर की अपेक्षा के बिना त्रिकाल स्थायी हैं।

कर्म के निमित्त के अभाव की अपेक्षा से मुझमें मोक्ष का उत्पाद और संसार का व्यय दिखायी देता है। ऐसे उत्पाद-व्यय परनिमित्त से दिखायी देते हैं किन्तु यदि वस्तु का यथार्थ स्वभाव लक्ष्य में लिया जाये तो वस्तु, अनादि-अनन्त, निरपेक्षरूप से स्वाकार-परिणामी है। मेरी वस्तु को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, मात्र निरपेक्ष वस्तु है; वह वस्तु द्रव्य, गुण, पर्याय से त्रिकाल निर्मल है।

आकाशादि पदार्थों की भाँति मैं यथार्थ स्वभाव से पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ, आकाशादि द्रव्यों में पर का कर्ताकर्मपना उनके स्वभाव में नहीं है, वैसे ही मैं राग-द्वेष का कर्ता और वह मेरा कर्म—वह मेरे आत्मवस्तु स्वभाव में ही नहीं है। देखो! इस सम्यग्दर्शन स्वभाव में से कर्ताकर्म इस प्रकार निकाल दिये और मुक्त होने का उपाय बतलाया है।

मैं वस्तुविशेष हूँ, इससे मैं समस्त परद्रव्य-प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा इसी आत्मस्वभाव में निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्यों के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होनेवाली जो

चंचल कल्लोलें हैं उनके निरोध द्वारा इसी का (इस चैतन्यस्वरूप का ही) अनुभवन करता हुआ, अपने अज्ञान द्वारा आत्मा में उत्पन्न होनेवाले जो यह क्रोधादिक भाव हैं, उन सबका क्षय करता हूँ।

राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, हास्य, रति, अरति इत्यादि जो परद्रव्यों की प्रवृत्तियाँ हैं, उनसे निवृत्ति लेता हुआ मैं अपने चैतन्य आत्मा का अनुभवन करता हूँ। शरीरादि तो जड़ हैं ही, परन्तु राग-द्वेष के परिणामों को भी जड़ कहा है-पर कहा है।

समस्त परद्रव्यों के निमित्त से चैतन्य में संकल्प-विकल्पों की जो चंचल कल्लोलें उठती हैं, उनका सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा निरोध करके स्वभाव का अनुभवन करता हुआ सर्व कर्मों को क्षय करता हूँ। राग-द्वेष को दूर करने का पुरुषार्थ सो अवस्था का पुरुषार्थ है; द्रव्य को प्रगट करने का पुरुषार्थ होता ही नहीं, क्योंकि द्रव्य तो सदा प्रगट ही है, द्रव्य के ऊपर दृष्टि करना-वह दृष्टि भी अवस्था है; इसलिए पुरुषार्थ पर्याय प्रगट करने का ही होता है। स्वभाव में तो विकार नहीं है, किन्तु परद्रव्य की ओर ढलती हुई जो अवस्था है, उसे स्वभावोन्मुख करता हुआ, चैतन्य का ही अनुभवन करता हुआ अर्थात् स्वभाव की स्थितिरूप होता हुआ मैं समस्त क्रोधादि भावों का क्षय करता हूँ।

पहले कहा था कि मैं पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ; ऐसा कहकर फिर यह कहा कि मेरा द्रव्य अन्य द्रव्यों से भिन्न है, और यहाँ पर्याय की विशेषता कहते हैं कि परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चैतन्य में होनेवाली जो चंचल कल्लोलें हैं, उन्हें शान्त करके मैं आत्मा का ही अनुभवन करता हूँ। ज्ञानी कहते हैं कि मेरे अज्ञानभाव से पहले मुझमें राग-द्वेष होते थे, उन्हें अब मैं सम्यग्ज्ञानी के द्वारा नष्ट करता हूँ। देखो! इसमें पुरुषार्थ को लिया है। अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से उनमें युक्त होता था अब पुरुषार्थ की शक्ति से आत्मानुभव द्वारा उन सबका क्षय करता हूँ।

प्रथम वस्तुदृष्टि कही और अब यहाँ पर्यायदृष्टि कही है। कोई ऐसा माने कि विकारीपर्याय मुझमें होती ही नहीं उससे ऐसा कहते हैं कि विकार तेरी अवस्था में होता है और तेरे ही पुरुषार्थ द्वारा दूर होता है—ऐसा कहकर पर्याय का ज्ञान भी साथ ही बताते हैं। आचार्यदेव ने अपार करुणा करके अखण्ड स्वरूप को बताया है। यह समयसार भरतक्षेत्र का भगवान है, और इसमें से मोक्ष के बीज बोये गये हैं।

टीका में कहा है कि 'क्षय करता हूँ' वह द्रव्यदृष्टि से क्षय करना कहा है। दृष्टि में सर्व कर्मों की स्वत: नास्ति है और सर्व कर्मों को क्षय करने का पुरुषार्थ है, इससे क्षय करता हूँ—वैसा कहा है। जो अल्प अस्थिरता रह जाती है, उसे ज्ञानी अपना स्वभाव नहीं मानता और वह अल्प काल में ही क्षय होनेवाली है, इससे क्षय करता हूँ, कहा है।

कर्मों का मैं क्षय ही करता हूँ—ऐसा निश्चय करके, अधिक समय से पकड़ा हुआ जहाज जिसने छोड़ दिया है—ऐसे समुद्र के तूफान की भाँति जिसने सर्व विकल्पों का शीघ्र ही वमन कर दिया है ऐसे निर्विकल्प, अचलित, निर्मल आत्मा का अवलम्बन लेता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ, यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

जैसे समुद्र के झंझावात में फँसा हुआ जहाज उसने छोड़ दिया है, वैसे ही जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र छोड़ दिया है, आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेता, निर्विकल्प होता हुआ जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र छोड़ दिया है (जैसे हाथ में कोई वस्तु ले रखी हो और उसे छोड़ दे, वैसे ही विघानघन होते हुए जिसने सर्व विकल्पों का वमन कर दिया है) वह शीघ्र ही आस्रवों से निवृत्त होता है।

जैसे समुद्र का झंझावात अपने आप ही छूटता है, वैसा ही आत्मा में नहीं है। उस सिद्धान्त में एक देश दृष्टान्त लागू पड़ता है, क्योंकि राग-द्वेष विकल्प अपने आप नहीं छूटते किन्तु जब स्वत: पुरुषार्थ करके विकल्पों को छोड़ता है, तब छूटते हैं।

राग-द्वेष की आँधी मेरी नहीं है, मेरा तो निर्मल-पवित्र स्वभाव है, उसके भान में विकल्पों का वमन कर दिया है—ऐसा मैं, निर्विकल्प अर्थात् विकल्पों से रहित, अचलित अर्थात् निश्चल, निर्मल अर्थात् राग-द्वेष के मैल से रहित—ऐसे आत्मा का अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ आस्रवों से निवृत्त होता हूँ।

एक ओर से पर से बिल्कुल पृथक् कहा; पुनश्च, दूसरी ओर से पर्याय से 'निवृत्त होता है' वैसा कहा है। आस्रवों से निवृत्त होता है वह बात पर्याय की अपेक्षा से है; पर्याय में जो वृत्तियाँ होती थीं अर्थात् ज्ञान डगमग होता था—अस्थिर होता था, वह ज्ञान द्रव्य के अवलम्बन से स्थिर होता है, एकरूप होता है—इससे अवस्था की मलिनता दूर हो जाती है, अर्थात् आस्रवों से निवृत्त होता है।

ज्ञानी ने शुद्धनय से आत्मा का ऐसा निश्चय किया है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ। शुद्धनय

अर्थात् आत्मा को देखनेवाली दृष्टि से ऐसा निश्चय किया कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, रागद्वेषादि विकारों का कर्ता नहीं हूँ; राग-द्वेष का कर्ता, साधन आदि छह कारकों के भेदों से मैं रहित हूँ, परद्रव्यों के प्रति ममत्वरहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण वस्तु हूँ। जब वह ज्ञानी-आत्मा, ऐसे अपने स्वरूप में स्थिर होता हुआ उसी के अनुभवरूप होता है, तब क्रोधादिक आस्रव क्षय को प्राप्त होते हैं। जैसे समुद्र के झंझावात ने बहुत समय से जहाज को पकड़ रखा हो किन्तु जब वह शान्त होता है, तब जहाज को छोड़ देता है, उसी प्रकार आत्मा विकल्पों के तूफान का शमन करता हुआ आस्रवों को छोड़ देता है। यहाँ पर तो क्षय करने की और वमन कर देने की ही बात है। यह राग-द्वेष के कार्य मेरे कार्य नहीं हैं, मेरा कार्य तो ज्ञानमात्र स्वभाव का है—ऐसा निश्चय करके स्वभाव का अवलम्बन लेता हुआ राग-द्वेष का वमन कर देता है।

अब शिष्य पूछता है कि ज्ञान होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल किस प्रकार है ? वह कहता है कि—अन्तर में ज्ञान हो और ज्ञान होने से विकार दूर हो जाये, वह दोनों एक ही साथ हैं अथवा एक के बाद एक-क्रमशः ?

जीव-णिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्ख-फल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।७४।।

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः।।७४।।

अर्थः—यह आस्रव जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं और अशरण हैं; पुनश्च, वे दुःखरूप हैं, दुःख ही जिसका फल है—ऐसे हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्ति करता है।

यह गाथा बहुत अच्छी है, इसमें अधिकांश न्याय आयेंगे। इसमें दुःख से मुक्त होने का वास्तविक उपाय कहा है।

आत्मा में नवीन बन्धन होने के जो भाव हैं, वे जीव के साथ निबद्ध हैं, पुण्य-पाप के भाव आत्मा के साथ बँधे हुए हैं किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो विकारी भाव हैं वे अध्रुव हैं, एकरूप नहीं रहते, अनित्य अर्थात् क्षणिक हैं, शरणहीन हैं, अर्थात् पुण्य-पाप के भावों में आत्मा को कहीं भी शरण नहीं मिलती—विश्रान्ति नहीं मिलती; और फिर

वे दु:खरूप हैं अर्थात् पुण्य-पाप के भावों में कहीं भी सुख नहीं मिलता-शान्ति नहीं मिलती, किन्तु मात्र आकुलता का ही वेदन होता है, और उन भावों का भविष्य में जो फल आता है, वह भी दु:खरूप ही है और पुण्य-पाप के भावों से पृथक् जो आत्मस्वभाव है वही सुखरूप है—शान्तिरूप है—शरणरूप है—ऐसा जानकर धर्मात्मा उनसे निवृत्त होते हैं। निवृत्त होना ही सच्ची क्रिया है।

वृक्ष और लाख की भाँति वध्य-घातकस्वभावपना होने से आस्रव जीव के साथ बंधे हुए हैं; परन्तु अविरुद्धस्वभावपने का अभाव होने से वे जीव ही नहीं हैं। (लाख के निमित्त से पीपल आदि वृक्ष नष्ट होते हैं। लाख घातक अर्थात् घात करनेवाली है और वृक्ष वध्य घात होने योग्य है। इस प्रकार लाख और वृक्ष का स्वभाव एक दूसरे से विरुद्ध है इसलिए लाख वृक्ष से बंधी हुई ही है, वह स्वत: वृक्ष नहीं है। उसी प्रकार आस्रव घातक हैं और आत्मा वध्य है। इस प्रकार विरुद्ध स्वभाव होने से आस्रव स्वत: जीव नहीं हैं।)

आत्मा में जो भी व्रत-अव्रत के, पूजा-भक्ति के, दया-हिंसादि के भाव होते हैं, वे सब विकारी भाव हैं, वे आत्मा के साथ बंधे हुए हैं, लाख और वृक्ष की भाँति उनका सम्बन्ध है। वृक्ष, वध्य अर्थात् हने जाने योग्य है और लाख हननेवाली अथवा घात करनेवाली है। वध्य, वृक्ष को लागू होता है और घातक, लाख को लागू पड़ता है। यह तो दृष्टान्त है किन्तु वैसा आत्मा में समझने के लिये कहा है।

आत्मा घात होने योग्य है अर्थात् पुण्य-पाप और मिथ्या अभिप्राय के जो परिणाम होते हैं, उनसे आत्मा के स्वभाव का घात होता है और पुण्य-पाप के परिणाम घातक हैं। आत्मा में जितनी पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, उनसे भगवान आत्मा पृथक् है। वृक्ष में से जब लाख निकलती है, तब वृक्ष का नाश होता है। जैसे पीपल के वृक्ष में लाख होती है, वह पीपल का क्षय करनेवाली है, वैसा ही आत्मा में व्रत-अव्रत के जो शुभाशुभभाव उदित होते हैं, वे आत्मा का क्षय करनेवाले हैं। आत्मा का क्षय करनेवाले हैं, यह उपचार से कहा है, वास्तव में आत्मा की निर्मल अवस्था का क्षय करनेवाले हैं, इससे पुण्यभाव छोड़कर पापभाव करने की बात नहीं कही है किन्तु पुण्य पापभाव आत्मा के स्वभाव का घात करनेवाले है—ऐसा समझने की बात है।

जिन भावों से स्वर्ग का भव मिले, अथवा जिनसे नरक का भव धारण करना पड़े

वे सभी भाव जीव के साथ बंधे हुए हैं। जहाँ तक राग-द्वेष है, वहाँ तक जीव को हानि करते हैं; चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा है, और राग-द्वेष में चैतन्य के स्वभाव सदृश स्वभाव का अभाव स्व से च्युतिरूप है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव होने से पुण्य-पाप के भाव जीव नहीं किन्तु जड़ हैं। विरुद्ध स्वभाव होने से और जड़ के निमित्त से उत्पन्न होने से वे जड़ हैं।

जिस ताँबे का मेल सोने को पन्दर वान कहलाये वह ताँबा वास्तव में सोना नहीं है किन्तु सोने से विरुद्ध जातिवाला ताँबा ही है। उसी प्रकार जड़कर्मों के निमित्त से शुभाशुभरूप विकारी भाव हों और उन भावों के कारण आत्मा विकारी कहा जाये, वे विकारीभाव वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। आत्मा-चैतन्य ज्ञान, दर्शन, आनन्द का रसकन्द है और शुभाशुभभाव वास्तव में उससे विजातीय हैं, इसलिए वे उसका स्वभाव हैं ही नहीं।

लाख और वृक्ष का स्वभाव एक-दूसरे से विरुद्ध है, इसलिये लाख वृक्ष के साथ मात्र बंधी हुई है किन्तु वह वृक्ष का स्वभाव नहीं है और वह स्वतः वृक्ष भी नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में जो शुभाशुभ भाव होते हैं, वे आत्मा से विरुद्ध हैं, वे कर्म के निमित्त से मात्र अवस्था में होते हैं, इससे आत्मा का स्वभाव नहीं है; वैसे ही अवस्था स्वतः भी आत्मा नहीं है, परन्तु वह आत्मा की घातक है। पहले कहा था कि आत्मा का कभी भी घात नहीं होता, और फिर यहाँ कहा है कि आत्मा का घात होता है; तो उसका आशय ऐसा समझना चाहिये कि आत्मा का घात नहीं होता किन्तु उसकी निर्मल पर्याय नष्ट होती है; पर्याय नष्ट होने से आत्मा का घात होता है, वह उपचार से कहा जाता है।

कितने ही लोग कहते हैं कि मोक्षमार्ग में बीच में शुभभाव आयें उन्हें घातक कैसे कहते हो ? वे शुभभाव विकार हैं इसलिए घातक ही हैं; यह साफ, दो और दो चार जैसी बात है। यह जीवनिबद्ध का प्रथम बोल हुआ।

अब दूसरा बोल कहते हैं। आस्रव वायुवेग की भाँति बढ़ते-घटते होने से अध्रुव हैं; चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है।

जैसे कितने ही मनुष्यों को मूर्च्छा का रोग होता है; वह रोग क्षणभर में बढ़ जाता है और क्षण में कम हो जाता है। उसी प्रकार पुण्य-पाप के भावरूप आस्रव क्षण में बढ़ते हैं और क्षण में घटते हैं। जैसे किसी मनुष्य के दान देने के शुभभाव हों कि इस जगह इतने हजार रुपये दे दूँ; फिर वहाँ विचार बदले कि इतने अधिक रुपये देने से लोगों को ऐसा

लगेगा कि इसके पास बहुत पैसा है, और इससे चन्दा लेनेवाले भी आने लगेंगे इसलिए यह प्रगट नहीं करना चाहिए कि हम पैसेवाले हैं; इतना अधिक पैसा नहीं देना चाहिए। देखो! क्षण भर पूर्व कितना दान देने के भाव थे और घड़ी भर में ही वे कम हो गये, इस प्रकार आस्रव न्यूनाधिक होते हैं।

पुनश्च, किसी के हिंसा का भाव हो तब एकाएक जोश में आकर खून कर देता है, और जब वह भाव मन्द होता है तब विचार करता है कि अरे रे! इस बेचारे को बिल्कुल न मारा होता तो अच्छा होता। फिर उससे कोई पूछे कि यह खून किसने किया? तो कहता हैं कि मैंने किया है, मैं अपराधी हूँ, मुझे बन्दी बना लो। देखो! क्षणभर पूर्व खून करने के भाव थे और क्षण में वे भाव बदल गये इस प्रकार आस्रव बढ़ते-घटते हैं।

किसी-किसी समय ऐसा वैराग्य हो जाता है कि यह संसार असार है। संसार से एकदम अरुचि हो जाती है, उसका राग मन्द पड़ जाता है; और जब फिर से अनुकूलताएँ मिलती हैं तो सब भूल जाता है और राग पुनः बढ़ जाता है। इस प्रकार आस्रव न्यूनाधिक होते रहते हैं, क्योंकि वे अध्रुव हैं।

इसमें से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव अपने आप ही होते हैं। जब स्वतः अशुभ भावों को कम करके शुभभाव करता है, तब होते हैं; वे शुभभाव आस्रव हैं—ऐसा कहकर वस्तुस्वभाव बतलाते हैं।

जब किसी समय कोई प्रतिकूलता का प्रसंग बन जाता है, तब संसार से उदास दिखाई देने लगता है, वैरागी जैसा हो जाता है। और जब फिर से मान एवं बड़प्पन मिलने लगता है तब सोचता है कि चलो मान मिला तो सब कुछ मल गया—ऐसा राग बढ़ जाता है। इस प्रकार मूर्च्छा के वेग की भाँति यह आस्रव घटते-बढ़ते रहते हैं। चैतन्य आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से ध्रुव है, ऐसे ध्रुव-अध्रुव स्वरूप को जानकर ज्ञानी पुरुष आस्रवों से निवृत्त होते हैं।

प्रथम आचार्यदेव ने ऐसा कहा कि—आस्रव आत्मा के साथ वध्य-घातक स्वभावरूप से हैं। आत्मा घात होने योग्य है और आस्रव उसका घात करनेवाले हैं। फिर दूसरे बोल में कहा है कि आस्रव मूर्च्छा के वेग की भाँति बढ़ते-घटते हैं, जैसे राग क्षण में बढ़ जाता है और क्षण में घट जाता है, तथा आत्मा ध्रुव है। पुण्य-पाप के भाव नाशवान

हैं और मैं अविनाशी, ज्ञानवन्त ध्रुव हूँ—ऐसा भिन्न विवेक हुआ कि आस्रवों से निवृत्ति होती है।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि यथार्थ ज्ञान प्रगट होने का और शुभाशुभ आस्रवभावों के दूर होने का एक ही काल किस प्रकार है? आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि आत्मा नाश होने योग्य है और आस्रव नाशक हैं; दोनों बिल्कुल विरुद्ध स्वभाववाले हैं, इसलिए पृथक् हैं। आत्मा की पर्याय में विकार होने की योग्यता तभी तक है जब तक वह पराधीन होता है; तभी तक वह घात होने योग्य है—ऐसा समझना चाहिए। आस्रव अध्रुव हैं और आत्मा ध्रुव है, जहाँ इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का भिन्न विवेक हुआ कि उसी क्षण आस्रवों का निरोध होता है। जो पुण्य-पाप के भावरूप आस्रव हैं सो आत्मा नहीं है और आत्मा पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं—ऐसा पृथक् भान करके जितने अंश में स्वरूप में स्थिर हुआ उतने ही अंश में उसी क्षण आस्रव दूर हो जाते हैं, इस प्रकार आस्रवों के टलने का और ज्ञान होने का समकाल है।

आस्रव शीतदाहज्वर के आवेश की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अनित्य हैं। जिसका विज्ञानघन स्वभाव है—ऐसा जीव ही नित्य है।

अध्रुव में न्यूनाधिकता के भाव थे और अनित्य में शीतदाहज्वर की भाँति—दोनों में एकदम अंतर है, इतना अंतर लिया है कि भाव बिल्कुल बदल जाता है। जब इकतरा बुखार आता है तब रजाइयाँ ओढ़कर सोता है, शरीर काँपने लगता है, और जब कँपकँपी मिट जाती है और बुखार बढ़ता है, तब पानी में भीगे हुए पोते सिर पर रखता है—इस प्रकार अनित्य के बोल में बिल्कुल परिवर्तन लिया है।

उसी प्रकार पुण्य-पाप के परिणाम ठण्डे-गरम बुखार के आवेश की भाँति क्रमशः उत्पन्न होते हैं, इसलिए अनित्य हैं। जैसे एक-एक मास के उपवास करता है, दया, दान, भक्ति करता है, और ऐसे शुभपरिणाम करता है कि नवमें ग्रैवेयक में जाता है, वहाँ शुक्ल-लेश्या के उज्ज्वल परिणाम होते हैं और फिर वहाँ से मरकर मनुष्य होता है तो बहुत कंजूस होता है, क्रोध, मान, माया और लोभ के इतने तीव्र परिणाम करता है कि वहाँ से मरकर फिर नरक में जाता है। देखो! इस प्रकार परिणामों में एकदम परिवर्तन हो जाता है। पूर्वभव में मुनि हुआ था, उसके फलस्वरूप नवमें ग्रैवेयक में गया और इस भव में पुनः क्रोधादिक

की तीव्रता करके नरक में गया-इस प्रकार ठण्डे-गरम बुखार की भाँति परिणामों में एकदम अन्तर हो जाता है।

पुण्य-पाप के परिणाम अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जब हिंसा के भाव होते हैं, तब दया के भाव नहीं होते, और जब दया के भाव होते हैं तब हिंसा के भाव नहीं होते, तथापि अपनापन मानने में दृष्टि का दोष तो दोनों में साथ ही है; विपरीत मान्यता की शल्य तो दया-हिंसा के भावों के समय साथ ही होती है। व्रत, तप, पूजा, दया, दान, हिंसा, झूठ इत्यादि परिणाम ठण्डे-गरम बुखार की भाँति अनित्य हैं, परिवर्तित होनेवाले हैं, नाश होनेवाले हैं, और विज्ञानघन आत्मा अर्थात् निर्बन्ध ज्ञान का घन आत्मा नित्य चैतन्य स्वभाव ही है, ऐसे आत्मा का विवेक करे कि आस्रवों से उसी क्षण अंशतः निवृत्ति होती है। चैतन्यस्वरूप आत्मा का विवेक होने से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई है, वह नित्यस्वभावी द्रव्य के बल से प्रगटी है इससे नित्यस्वभाव में उसका समावेश किया है।

पुनश्च, कहते हैं कि आस्रव अशरण हैं, अर्थात् पुण्य-पाप के भाव अशरण हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि जैसे काम सेवन में वीर्यपात होते ही दारुण काम का संस्कार नाश को प्राप्त होता है, किसी से रोका नहीं जा सकता; उसी प्रकार कर्मोदय के छूटते ही आस्रव नष्ट हो जाते हैं; वे रोके नहीं जा सकते इसलिए अशरण हैं।

पुण्य-पाप के परिणाम अशरण हैं। कर्मोदय छूट जाने के पश्चात् उन विकारी भावों को आत्मा नहीं ला सकता, उसका अर्थ यह है कि अकेले आत्मा का स्वभाव, पुण्य-पाप करने का नहीं है; शुभभाव आये और फिर छूट जाये, उस समय कोई कहे कि पुनः वैसे का वैसा शुभभाव लाऊँ किन्तु पुनः वैसे का वैसा भाव नहीं आता। शुभाशुभ भावों को पकड़कर नहीं रखा जा सकता इसलिए आस्रव अशरण हैं। आस्रव अपना स्वभाव नहीं हैं, वे विपरीत पुरुषार्थ से होते हैं; अपनी चैतन्य पर्याय में भी वे परनिमित्त से होनेवाले भाव हैं, अपना स्वभाव नहीं हैं, इससे उन्हें पकड़ा नहीं जा सकता; इसलिए पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा को शरणरूप नहीं हैं। आस्रव अशरण हैं उनमें आत्मा को शरण नहीं मिलती, किन्तु अपना चैतन्य स्वभाव ही शरणरूप है। अपने आप (स्वतः से ही) रक्षित, सहज चित्शक्तिरूप जीव ही शरण सहित है। जो पुण्य-पाप के भाव किये वे रक्षा नहीं कर सकते परन्तु आत्मा स्वतः अपने से ही अपने आप रक्षित है, उसकी रक्षा नहीं करना

पड़ती। रक्षित ही है, इसलिए वह आत्मा ही सहज स्वभाव से शरण सहित है—ऐसे आत्मस्वभाव का विवेक होते ही—उसी क्षण आस्रव निवृत्ति को प्राप्त होते हैं।

आस्रव निरन्तर आकुलस्वभाववाले होने से दु:खरूप हैं, सदैव निराकुल स्वभावयुक्त जीव ही अदु:खरूप अर्थात् सुखरूप है।

व्रत-अव्रत, पूजा-भक्ति, दया-हिंसा, झूठ-चोरी और विषय के परिणाम—यह सभी दु:खरूप हैं, चैतन्य का स्वभाव नहीं है। चैतन्य स्वभाव तो सुखरूप है। पुण्य के परिणाम भी दु:खरूप हैं—ऐसा कहा है, उससे यह तात्पर्य नहीं निकालना कि शुभपरिणाम छोड़कर अशुभ परिणाम करना चाहिए। परन्तु शुभपरिणाम भी दु:खरूप हैं—ऐसी श्रद्धा करने की बात है।

चैतन्य पदार्थ अनादि-अनन्त पृथक् तत्त्व है। आस्रव आकुल स्वभाववाले होने से वर्तमान में ही दु:खरूप हैं; जिस समय शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उसी समय दु:खरूप हैं, आकुलतारूप हैं। जब वे परिणाम उत्पन्न होते हैं, तब आत्मा की शान्ति भंग होती है और जब आत्मा की शांति भंग होती है, तभी वे परिणाम होते हैं। शुभाशुभ परिणामों का वेदन ही आकुलतामय है, आत्मा स्वत: ही निराकुल स्वभाववाला होने से सुखरूप है।

नरक में अनन्तानन्त दु:ख भोगे; पानी की बूँद और अन्न का दाना भी न मिला उस समय आकुलित होकर दु:ख सहे, किन्तु भाई! विचार तो कर, तुझे अपने सुख के लिये परद्रव्य की क्या आवश्यकता है? तेरा सुख तो तुझमें ही विद्यमान है। आजकल मँहगाई का समय है इसलिए लोग अनाज को इकट्ठा करके रखते हैं और आकुलता करते हैं; परन्तु त्रिलोकीनाथ चैतन्य भगवान आत्मा को अनाज के दाने शरण रूप नहीं हो सकते। चिदानन्द भगवान आत्मा को एक विकल्प अथवा एक रजकण की भी आवश्यकता नहीं है—ऐसी प्रथम श्रद्धा करेगा तो समाधान हो जायेगा ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं।

पुण्यभाव हों या पापभाव हों, वे दोनों दु:खरूप हैं और आत्मा का स्वभाव आनन्दकन्द है। वस्तु तो निरन्तर त्रिकाल आनन्दरूप ही है, परन्तु जब मोक्ष और मोक्षमार्ग की अवस्था प्रगट हो तब उस आनन्द का वेदन होता है, वर्तमान पर्याय के आनन्द का वेदन होता है।

अरे भाई! इस संसार में सन्तुष्ट होकर पड़ा है किन्तु वह सब पड़ा रहेगा; ऐसा कर

लूँ वैसा कर दूँ—वे सभी भाव दु:खरूप हैं। आत्मा निराकुलस्वभावी है—इसका भान करे तो आस्रवों का बन्धन ढीला पड़ता जायेगा, टूटता जायेगा।

पुण्यरूप शुभराग भी भविष्य काल में आकुलता के उत्पादक जो पुद्गल परिणाम हैं—उनका हेतु होने से शुभास्रव दु:खफलरूप हैं; (अर्थात् दु:ख ही उनका फल है) जीव ही समस्त पुद्गलपरिणामों का अहेतु होने से सुखफलरूप है (अर्थात् दु:खफलरूप नहीं है।)

पुण्य-पाप के भाव भविष्य में भी दु:खफलरूप हैं; क्योंकि जो आकुलता के फलरूप हों—ऐसे पुद्गल परिणाम का हेतु है, और वर्तमान में भी आकुलता रूप हैं, इसलिए दु:खरूप हैं।

प्रश्न:—जिनसे पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध हो, वैसे सम्यक् दृष्टि के शुभ परिणाम सुखरूप होते हैं या नहीं?

उत्तर:—चाहे जैसे पुण्य के परिणाम हों वर्तमान में भी दु:खरूप हैं और भविष्य में भी दु:खरूप हैं। पुण्यानुबन्धी पुण्य भी भविष्य में आकुलता होने निमित्त हैं, किन्तु वह आत्मा की शान्ति का निमित्त नहीं है।

पुद्गल के निमित्त से होनेवाले विकारी भाव और उन विकारी भावों के निमित्त से बंधनेवाले जड़कर्म भविष्य में आकुलता के परिणाम उत्पन्न होने में निमित्त हैं, किन्तु आत्मा की शान्ति-समाधि में वे निमित्त नहीं हैं।

आकुलता के परिणाम जड़ के निमित्त से होते हैं इसलिए उन्हें जड़ कह दिया है और आकुलता के फल में भी जड़कर्मों का बन्ध होता है, इस प्रकार जड़ का फल जड़ ही आता है। आकुलता के परिणाम होते तो चैतन्य की ही पर्याय में हैं, किन्तु वह जड़ की ओर उन्मुख होने का भाव है इसलिए उन्हें जड़ कह दिया है। चैतन्य की निर्मल पर्याय का फल शान्ति, निराकुलता, समाधिरूप है, इसलिए वह चैतन्य की पर्याय है उसमें जड़कर्मों का निमित्त नहीं है, चैतन्य की निर्मल पर्याय चेतनरूप है और विकारी पर्याय जड़रूप है।

इन्द्र-अहमिन्द्र का भव अथवा चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव का भव भी आकुलता उत्पन्न होने के निमित्त हैं। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा, निर्विकल्प, निरुपाधिस्वरूप है,

उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता किसी भी पुद्गल परिणाम का हेतु नहीं है इसलिए वह दुःखरूप नहीं है, किन्तु वर्तमान में भी एकान्त सुखरूप है और भविष्य में भी सुख फलरूप है। इसके अतिरिक्त जितने भी पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वे सब वर्तमान में दुःखरूप हैं और भविष्य में भी दुःख होने के निमित्त हैं।

एक मनुष्य बोला—महाराज एक बार तो कहो कि पुण्य का फल मीठा है! कैसे कहें? विकार तीन काल में भी मीठा नहीं हो सकता; शुभाशुभरूप विकार परिणाम और उसके फल को मीठा माननेवाले एवं मनवानेवाले—दोनों अनन्त संसार में परिभ्रमण करनेवाले हैं।

आत्मा शुद्ध है, निर्मल है, ज्ञायक ध्रुवमूर्ति है—ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करने पर उसमें स्थिर न हो सके, उतना विकल्प में युक्त होता है, किन्तु वह विकल्प मिठास का कारण है ही नहीं; और ज्ञानी उसमें मिठास मानते भी नहीं हैं, उसमें जितना अशुभराग दूर हुआ उतना ही लाभ का कारण है, जो शुभराग रहा वह लाभ का कारण नहीं है; जो शेष रहा है वह तो दुःखरूप और दुःखफलरूप ही है। यही स्थिति है, इसमें अन्य कुछ है ही नहीं। ज्ञायकमूर्ति आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान हों वह सुखरूप है और उनमें वृद्धि हो वह भी सुखरूप है।

आस्रवों और आत्मा को पृथक् करने के लिये छह प्रकार बताये हैं—लाख और वृक्ष की भाँति वध्य-घातक कहा, मूर्च्छा के वेग की तरह न्यूनाधिक कहा, शीत और दाहज्वर की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं इसलिए अनित्य कहा, वीर्य के रजकण छूटते ही काम का संस्कार भी छूट जाता है—उसकी भाँति अशरण कहा, आकुलतामय होने से दुःखरूप कहा, और आस्रवों का फल भी दुःखरूप है इसलिए उन्हें दुःखफलरूप कहा है; इस प्रकार आस्रवों को और आत्मा को भिन्न स्वभाववाला कहा है।

इस प्रकार आस्रवों का और जीव का भेदज्ञान होने से जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है—ऐसा यह आत्मा, बादलों के समूह से रहित दिशा के विस्तार की भाँति अमर्यादित स्वच्छता जिसका विस्तार है ऐसा, सहजरूप से विकसित होनेवाली चित्शक्ति के द्वारा ज्यों-ज्यों विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है, वैसे ही वैसे आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, और जैसे-जैसे आस्रवों से निवृत्त होता है वैसे ही विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है।

आस्रव निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, शरण हीन हैं, अनित्य हैं, दु:खरूप हैं और दु:खफलरूप हैं। आत्मा का स्वभाव आस्रवों से भिन्न जाति का है; आत्मा अबन्ध है, ध्रुव है शरण सहित है, नित्य है, सुखरूप है और सुखफलरूप है—इस प्रकार आस्रवों से भिन्न यथार्थ ज्ञान हुआ कि वहाँ, जिस प्रकार बादलों के झुण्ड खण्डित हो जाते हैं और दिशाएँ स्वच्छ-निर्मल, कालिमा रहित हो जाती हैं; उसी प्रकार अमर्यादित, सहजरूप से विकसित होनेवाली चित्शक्ति के द्वारा जैसे-जैसे विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है, वैसे ही वैसे आस्रवों से निवृतित होती जाती है।

मैं आत्मा ज्ञाता हूँ, मेरी चित्शक्ति निर्दोष और निर्मल है, मेरा स्वरूप आस्रवों से भिन्न है—ऐसा विवेक होने से कर्ममेघों का रस शिथिल पड़ जाता है, कर्म की रचना खण्डित हो जाती है, और जैसे-जैसे सहजरूप से विकसित होती हुई चैतन्यशक्ति द्वारा स्वरूप स्थिरता बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता है वैसे ही वैसे स्वरूप स्थिरता में वृद्धि होती है।

शुभाशुभ विकल्परूप जो विकार है सो मैं नहीं हूँ—ऐसा विवेक हुआ कि ज्ञान निबिड होता जाता है और ज्यों-ज्यों ज्ञानघन-स्वभाव निबिड होता जाता है वैसे ही पुण्य-पाप के भाव अल्प होते जाते हैं अर्थात् आस्रव निवृत्त होते जाते हैं; जैसे-जैसे स्व में एकाग्र होता जाता है अर्थात् घट होता जाता है वैसे ही वैसे उतने आस्रवों से निवृत्त होता ही जाता है।

अमर्याद अर्थात् ज्ञान-दर्शन की अनन्त शक्ति युक्त स्वभाव में एकाग्र हो उतना आस्रव दूर होता है और जितना आस्रव दूर होता है उतनी ही एकाग्रता होती है। विकल्पों में न रुककर, आत्मा में रुकना सो यथार्थ उपवास है। शुभपरिणामरूप उपवास तो पुण्यबन्ध का कारण है परन्तु आत्मा में रुकने रूप जो उपवास है, वह मोक्ष का कारण है।

सम्यक् प्रकार से, आस्रवों से जितना निवृत्त होता है उतना ही विज्ञानघन स्वभाव होता है और जितना विज्ञानघन स्वभाव होता है उतना ही सम्यक् प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है। इस प्रकार ज्ञान और आस्रवों की निवृत्ति की समकालीनता है।

यहाँ सम्यक् शब्द पर जोर दिया है। सम्यक् प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है—ऐसा सम्यक् शब्द आचार्यदेव ने लिया है; क्योंकि पुण्य-पाप के भावरूप आस्रव प्रतिक्षण

समस्त जीवों के परिवर्तित होते हैं, परन्तु अज्ञानियों ने अपने स्वभाव का भान नहीं किया इसलिए वे सम्यक् प्रकार से विज्ञानघन नहीं होते, इससे आस्रवों से निवृत्त नहीं होते; इसलिए उन्हें निवृत्त होने का सम्यक् प्रकार लागू नहीं होता, किन्तु वह ज्ञानियों को ही लागू होता है।

ज्ञानी को आत्मा की पहिचान होती है कि मैं अखण्ड चिदानन्द, ज्ञान पिण्ड आत्मा हूँ; उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी परद्रव्य मेरे नहीं हैं, उनका कोई भी कर्तव्य मेरा नहीं है; मैं परद्रव्य का कर्ता नहीं किन्तु अपने स्वभाव का ही कर्ता हूँ—ऐसा सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् जितना-जितना स्वरूप में एकाग्र होता है, उतना ही राग-द्वेष से मुक्त होता है और जितना राग-द्वेष से मुक्त होता है, उतना ही स्वरूप में एकाग्र होता है। जितनी स्वरूप स्थिरता होती जाती है, उतनी ही अस्थिरता दूर होती है और जितनी अस्थिरता दूर होती है, उतनी ही स्वरूप स्थिरता होती है। जितना स्वाश्रयरूप ज्ञाता पंथ में युक्त हुआ उतना ही पराश्रयरूप आस्रवों से निवृत्त होता है और जितना आस्रवों से निवृत्त होता है, उतना ही ज्ञान करने के पंथ में रुकता है। इस प्रकार विकार भावरूप आस्रवों के दूर होने का और सम्यग्ज्ञान प्रगट होने का समकाल है, अर्थात् एक ही काल है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भेदज्ञान ही आस्रवों से निवृत्त होने का उपाय है। अत्यन्त सारगर्भित टीका की है। जिसने इस भेदज्ञान की माला को पहिन लिया है, उसका ब्याह नहीं रुक सकता; वह अल्प काल में ही अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता ही है।

जैसे लोक व्यवहार में ब्याह के समय माला डल चुकी है, पश्चात् उसके कुटुम्ब में चाहे जिस प्रकार का विघ्न आये किन्तु ब्याह नहीं रुक सकता; उसी प्रकार भेदज्ञानरूपी माला पहिनने के बाद चाहे जैसे कर्मों का उदय आये तो भी उसकी अल्प काल में होनेवाली मुक्ति टल नहीं सकती।

देखो! यहाँ पर यह लिखा है कि भेदज्ञान ही आस्रवों से निवृत्त होने का एकमात्र उपाय है—अन्य कोई उपाय नहीं कहा है। व्रत, तप, पूजादि करने से आस्रवों से निवृत्त होता है—ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि व्रत, तपादिभाव स्वत: ही शुभास्रव हैं इसलिए उनमें प्रवर्तन करने से आस्रव कैसे रुकेंगे? किन्तु उन भावों से हटकर निर्विकारी स्वरूप में स्थित हो तब आस्रवों से निवृत्त हो सकता है।

आत्मा क्या है, उसका स्वरूप क्या है, उसमें स्थिर होना—रुकना किस प्रकार होता है;—यह सब ज्ञान हुए बिना आस्रव कैसे दूर होंगे? इसीलिए इस गाथा में आचार्यदेव ने आस्रवों का यथावत् चित्र खींचकर जीवों को ख्याल कराया है कि तुम आस्रवों के स्वरूप को इस प्रकार जानो, और उनसे विपरीत भगवान आत्मा का स्वरूप इस प्रकार समझो। यदि सम्यक् प्रकार से ऐसा ज्ञान करोगे तो आस्रवों से निवृत्ति होगी और आत्मस्वरूप में स्थिति होगी।

धर्म के बहाने जितने पुण्यभाव और अशुभ कार्य के बहाने जितने पापभाव होते हैं, वे सब आस्रव हैं। जैसा समझा है, उसी मार्ग का अवलम्बन करते हुए जितने अंश में राग-द्वेष की अस्थिरता घटती जाती है, उतने ही अंश में आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है और आस्रवों से उतने अंश में निवृत्ति होती है। और जब सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव होता है तब समस्त आस्रवों से निवृत्त होता है। भेदविज्ञान में वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण ज्ञान जम जाता है, विज्ञानघन पिण्ड परिपूर्ण पृथक् हो जाता है, तब सम्पूर्ण आस्रवों से निवृत्त होता है।

यहाँ पर यह कहा है कि भेदज्ञान होने से आस्रव निवृत्त होते हैं। इस प्रकार चारित्र में भी जितना भेदज्ञान करते-करते स्थिर होता जाता है—एकाग्र होता जाता है उतना ही आस्रवों से निवृत्त होता जाता है। चारित्र में भी भेदज्ञान के अभ्यास से ही आगे बढ़ा जाता है।

सम्यग्ज्ञान होने पर कर्म की ४१ प्रकृतियों का बन्ध तो सहज ही रुक जाता है। वह सम्यक्त्वी धर्मातमा भले ही राज्य करता हो, युद्ध कर रहा हो, तो भी ४१ प्रकृतियों का बन्ध तो होता ही नहीं और पश्चात् जैसे-जैसे स्थिर होता जाये—स्वरूप में दृढ़ होता जाये, वैसे ही अधिक प्रकृतियों का बन्ध भी रुकता जाता है।

सच्चिदानन्द शान्तमूर्ति आत्मा का भान होने से अनन्त संसार दूर हो जाता है और वर्तमान में ४१ प्रकृतियों का नवीन बन्ध प्रति क्षण क्रमशः रुक जाता है और भविष्य में नरक, तिर्यंच—दो गतियों से छूट जाता है; मनुष्य गति मिले तो उसमें भी दशांगी सुख प्राप्त होता है, देवगति में जाये तो वहाँ भी उच्च-जाति का देव होता है; इस प्रकार सम्यग्दर्शन की भूमिका में पुण्य भी अपूर्व बँधता है। कोई कहे कि उसने ऐसा क्या किया? अरे भाई! उसने तो जो अनन्त काल में नहीं किया था ऐसा अपूर्व किया है; आत्मा में अपूर्व भान प्रगट किया कि वहाँ अनन्त-संसार का नाश हो गया। यह सम्यग्दर्शन का फल है।

प्रश्नः—आत्मा विज्ञानघन होता जाता है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तरः—अपने स्वभाव में स्थिर होता जाता है—अपनी कृतकृत्यता जमती जाती है। जहाँ तक ऐसा माने कि पुण्य-पाप के भावों का मैं कर्ता हूँ, स्वामी हूँ, वे मुझे गुण-लाभ करेंगे, वहाँ तक भले ही ज्ञान का विकास नव पूर्व जितना हो किन्तु वह सभी अज्ञान है। अन्तरंग में मिथ्या अभिप्राय भरा हो तब तक ज्ञान का विकास चाहे जितना हो किन्तु उस ज्ञान को अर्थात् ज्ञातृत्व को अज्ञान कहा जाता है।

आत्मा के भानपूर्वक भले ही अल्प ज्ञान का विकास हो तो भी उसे ज्ञान कहते हैं। वस्तु स्वभाव पर से निराला है, अखण्डानन्द स्वरूप है—उसका भान हो, पश्चात् भले ही अल्प ज्ञान हो तो भी उसे विज्ञान कहते हैं, क्योंकि उस ज्ञान के फल में केवलज्ञान प्रगट होगा। यथार्थ सम्यग्ज्ञान का स्वीकार सो वस्तुस्वभाव का स्वीकार है, वस्तुस्वभाव का स्वीकार सो सम्यग्ज्ञान का स्वीकार है।

जैसे-जैसे वह सम्यग्ज्ञान अर्थात् विज्ञान जमता-दृढ़ होता—स्थिर होता जाता है। वैसे-वैसे आस्रवों से निवृत्ति होती जाती है; जैसे-जैसे आस्रवों से निवृत्ति होती जाती है वैसे ही वैसे विज्ञान जमता-दृढ़ होता-स्थिर होता जाता है।

शरीर के टुकड़े हो जायें, चूर्ण हो जाये, चाहे जैसी प्रतिकूलता आये, संयोग में चाहे जैसा परिवर्तन हो तो भी जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है उसे कोई उल्टा करने में समर्थ नहीं है एक रंचमात्र भी कोई उसे हिलाने-डुलाने में समर्थ नहीं है; महान वज्रपात हो, तो भी वह सम्यग्दर्शन में कोई परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन हुआ कि केवलज्ञान की प्राप्ति होगी ही; दौज हुई कि पूर्णमासी होगी ही—ऐसा सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप और आगे के कथन की सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
स्वं विज्ञान-घनस्वभाव-मभया-दास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृ-कर्म-कलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्।।४८।।

अर्थ:—इस प्रकार पूर्व कथित विधान से, इसी समय परद्रव्य से उत्कृष्ट (सर्व प्रकार से) निवृत्ति करके, विघानघन स्वभावरूप, मात्र अपने पर निर्भयरूप से आरूढ़ होता हुआ अर्थात् अपना ही आश्रय करता हुआ (अथवा अपने को नि:शंकरूप से आस्तिकभाव से स्थिर करता हुआ,) अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्तियों के अभ्यास से हुए क्लेश से निवृत्त हुआ, स्वत: ज्ञानस्वरूप होता हुआ, जगत का साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा), पुराण पुरुष (आत्मा) यहाँ से अब प्रकाशमान होता है।

पूर्वोक्त विधि से जहाँ ज्ञान किया कि उसी समय परवस्तु के सर्व प्रकार से निवृतित करके विज्ञानघन अर्थात् अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के अतिरिक्त पर का कुछ न करता हुआ, किन्तु अपने में स्थिर होता हुआ ज्ञान, मात्र अपने पर नि:शंकरूप से आरूढ़ होता अर्थात् अपने में नि:शंकरूप से-नि:सन्देहरूप से स्थिर होता हुआ—अपनी सत्ता में दृढ़रूप से स्थिर होता हुआ, कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के क्लेश से निवृत्त होता है। राग मेरा है, मैं राग का हूँ, एक क्षणिक पर्याय का मैं कर्ता होता था और वह मेरा कार्य होता था; अब ज्ञान हुआ कि मैं तो ज्ञाता हूँ, ध्रुव हूँ, स्थिर हूँ वैसे ही ज्ञाता की स्थिरता के बल में, अभानरूप से कर्ताकर्म के अभ्यास से हुआ जो क्लेश-दु:ख है, उससे निवृत्ति होती है और उसी क्षण ज्ञानस्वरूप होता हुआ जगत का साक्षी अर्थात् जितने जगत के भाव होते हैं उन्हें साक्षीरूप से देखनेवाला किन्तु उनका कर्ता होनेवाला नहीं; चाहे जो पुण्य-पाप की वृत्ति हो उसका ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् साक्षीरूप से रहनेवाला, अनादि का पुराणपुरुष-भगवान आत्मा अब यहाँ से प्रकाशमान होता है ॥७४॥

अब शिष्य पूछता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया—ऐसा कैसे जाना जा सकता है? उसका चिह्न (लक्षण) कहो!

यह जीव धर्मात्मा है, धर्म करता है—ऐसा किस प्रकार जाना जाता है? ऐसे ज्ञानी आत्मा का लक्षण अथवा अनुमान क्या है? ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा कैसे पहिचाना जाता है? उसके समाधान के लिये यह गाथा कहते हैं।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम् ।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ।।७५।।

अर्थ:—जो आत्मा इन कर्म के परिणामों को और नोकर्म के परिणामों को करता नहीं, किन्तु जानता है, वह ज्ञानी है।

जो आत्मा जड़-कर्मों की अवस्था और शरीरादि की अवस्था को नहीं करता उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता, उसमें तन्मय बुद्धि से परिणमन नहीं करता, किन्तु मात्र जानता है अर्थात् तटस्थ रहता हुआ-साक्षीरूप से जानता है, वह आत्मा ज्ञानी है।

निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होनेवाला जो कर्म का परिणाम और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदिरूप से बाह्य में उत्पन्न होनेवाले जो नोकर्म के परिणाम हैं, वे सभी पुद्गल परिणाम हैं।

मोह अर्थात् परवस्तु के प्रति उत्साह भाव; राग अर्थात् प्रेम; द्वेष अर्थात् ईर्ष्या, सुख, दुःखादि अन्तरंग में उत्पन्न होनेवाले परिणाम पुद्गल परिणाम हैं। मोह, राग, द्वेषादि विकारी अवस्थाएँ आत्मा की पर्याय में उत्पन्न हैं तो भी वे जड़ की ही अवस्थाएँ हैं—ऐसा यहाँ पर कहा है, क्योंकि वे जड़ की ओर उन्मुख होनेवाले भाव हैं इसलिए उन्हें जड़ कहा है। वे भाव आत्मा का स्वभाव नहीं हैं और उनकी मूल उत्पत्ति आत्मा में से नहीं है, इसलिए उन्हें जड़ कहा है।

अन्तरंग में उत्पन्न होनेवाले हर्ष-शोक, रति-अरति इत्यादि के जो परिणाम हैं, सो सभी जड़ हैं। जो अज्ञान भाव से राग-द्वेषादि करे वह आत्मा नहीं है, क्योंकि वे आत्मा का यथार्थ स्वभाव नहीं हैं; वे भाव करना आत्मा का कर्तव्य नहीं है तथापि अज्ञान भाव से वे मिथ्यात्व भाव करता है इससे वह आत्मा नहीं है। जो राग-द्वेषादि भावों जितना ही आत्मा को माने वह आत्मा ही नहीं है।

जो चौरासी में रुलता है, वह जीव ही नहीं है। चैतन्य की जागृति नहीं रही इससे जड़ जैसा हो गया है, इसलिए आचार्यदेव ने उसे जड़ ही कहा है। भूल करना मेरा स्वभाव ही नहीं है; मैं भूल का नाशक हूँ—ऐसा जो नहीं मानता वह आत्मा ही नहीं है, क्योंकि जिसने भूल को अपना माना, अपने को नित्य भूल करनेवाला माना उसने आत्मा का पवित्र

स्वभाव अपना नहीं माना, किन्तु अपने को अपवित्र ही माना है, इसलिए इस अपेक्षा से वह आत्मा ही नहीं है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक हैं वही मेरा कर्तव्य है। भले ही कदाचित् शुभभाव हों तो वह भी विकारी भाव ही हैं इसलिए जिसने ऐसा माना कि वे भाव मेरा कर्तव्य है और मैं उनका कर्ता हूँ; उसने यह नहीं माना कि शुभाशुभ भावरहित वीतरागी, असंग, अबद्ध, सच्चिदानन्द स्वभाव को प्रगट करना मेरा कर्तव्य है—कार्य हैं; इसलिए वह जड़ है।

मैं रागादि का उत्पादक नहीं हूँ, आत्मा तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, मैं ज्ञातापने का कार्य कर सकता हूँ—ऐसा नहीं माना और मैं परवस्तु का कुछ कर सकता हूँ—शुभराग-व्यवहार तो करना चाहिए यह माना, इसलिए उसकी अपने चैतन्य की जागृति दब गयी है—इससे इस अपेक्षा से वह जड़ है। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि चैतन्य का नाश होकर जड़द्रव्य हो जाता है; यदि आत्मा जड़ हो जाता हो तो 'तू समझ, आत्मा को पहिचान'—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यह तो कई बार कहते हैं कि बालक-बालिकाएँ, राजा-रंक, सभी आत्मा प्रभु हैं—परिपूर्ण भगवान हैं, वर्तमान में भी सभी आत्मा अनन्त गुणों से युक्त हैं, किन्तु उसका भान नहीं करता-पहिचान नहीं करता और जड़ के कर्तव्य को अपना कर्तव्य मानता है, जड़ के स्वरूप को अपना स्वरूप मानता है; उसकी दृष्टि में उसे जड़ का ही प्रतिभास होता है इसलिए उसे जड़ कहा है।

शरीर, वाणी, इत्यादि पुद्गल का स्थूल परिणाम है, और कार्मण शरीर पुद्गल का सूक्ष्म परिणाम है। ठण्डा-गरम स्पर्श मैं कर सकता हूँ—मैं बना सकता हूँ; ऐसा माननेवाला पुद्गल के स्पर्शगुण की पर्याय का कर्ता होता है, इसलिए वह जड़ है।

स्वादिष्ट-रसमय भोजन हम बना सकते हैं, आम का, दूधपाक का, श्रीखण्ड का स्वादिष्ट रस हम कर सकते हैं—ऐसा माननेवाला पुद्गल द्रव्य के रसगुण की पर्याय का कर्ता होता है इसलिए वह जड़ है।

पुष्प लताओं को हम यदि अच्छी तरह लगायें तो उनमें बहुत फूल हों, यदि ध्यान से देखरेख करें तो फुलवाड़ी सुन्दर हो जाये और अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्प आयें—ऐसा माननेवाला पुद्गल द्रव्य के गन्धगुण की अवस्था के कर्ता होते हैं।

हम कपड़ों को बिल्कुल सफेद निकाल सकते हैं; बढ़िया साबुन हो, स्वच्छ पानी हो और थोड़ा-सा नील भी हो तो कपड़े बिल्कुल सफेद धुलेंगे। मैल का नाम तक नहीं रहेगा। ऐसा माननेवाला पुद्गल के वर्ण गुण की अवस्था का कर्ता होता है। अरे भाई! कपड़े की सफेद अवस्था पुद्गल के वर्ण गुण में से परिणमित होकर आती है, उस पर्याय का तू कर्ता नहीं है, तू अपने भावों का कर्ता है। पुद्गल की वर्ण, गन्ध, रस इत्यादि पर्यायों के होते समय तेरा मात्र निमित्त था किन्तु उनका तू कर्ता नहीं है; पुद्गल गुण की पर्याय पुद्गल गुण में से परिणमित होकर आती है। जब मिट्टी से घड़ा बनना होता है, उस समय कुम्हार की उपस्थिति होती है, किन्तु धोबी की उपस्थिति नहीं होती। जिस कार्य के लिये जो निमित्त अनुकूल होता है, उसी की उपस्थिति उस समय होती है।

वाणी मैं बोलता हूँ, अच्छा भाषण दूँ तो जनता प्रसन्न हो जाये; धीरे से-चिल्लाकर जैसे बोलना हो उस प्रकार मैं बोल सकता हूँ—ऐसा माननेवाला वाणी की अवस्था का कर्ता होता है। वाणी तो पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है, तथापि मैं वाणी बोल सकता हूँ—ऐसा माननेवाला जड़ की अवस्था का कर्ता होता है। कोई कहे वाणी यदि अपने आप उसकी इच्छा से निकलती हो तो फिर वह इच्छानुसार और व्यवस्थित क्यों बोली जाती है? अण्डबण्ड क्यों नहीं निकलती? उसका कारण यह है कि बोलने की इच्छा का, ज्ञान का और वाणी का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसी इच्छा हो, जैसा ज्ञान परिणमित हो, उसी प्रकार वाणी परिणमित होगी—ऐसा लगभग निमित्त-नैमित्तिक स्वतन्त्र रहकर-सम्बन्ध है तथापि कोई किसी का कर्ता नहीं है, सभी द्रव्यों की पर्याय स्वतन्त्र परिणमित होती है।

बन्धन अर्थात् रजकण के पिण्ड का बन्धन। जैसे कि जलेबी के मैदे को बराबर गलाकर हम अच्छी जलेबी बना सकते हैं, दूध हम अच्छा जमा सकते हैं, दूध में यदि इस तरह जामन डाला जाये तो अच्छा दही बनता है; और कितनी ही स्त्रियाँ तो कहती हैं अरे! सब आना चाहिए, सब चीज़ों के मिलाने का अटकल होना चाहिए तो सब अच्छा बन सकता है; हमें तो यह सब आता है, इससे सब अच्छा बना सकते हैं—ऐसा माननेवाला पुद्गल द्रव्य की बन्धनरूप अवस्था का कर्ता होता है। दही जब बिगड़ता होगा तब तेरी कोई चतुराई वहाँ काम नहीं आयेगी; तेरी शक्ति नहीं है कि दही को बिगड़ना हो और तू

उसे सुधार दे, और दही यदि अच्छा होना होगा तो वह चाहे जिस प्रकार से अच्छा हो जायेगा; इसमें तूने क्या किया? जो कार्य सुधरना अथवा बिगड़ना होते हैं तब उन्हें अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; जामन का निमित्त, स्त्री का निमित्त आदि निमित्त होते हैं, इससे उपचार से कहा जाता है कि इस स्त्री ने यह कार्य किया है; किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं है, सभी द्रव्य स्वतन्त्र परिणमन करते हैं। इसी प्रकार समस्त परद्रव्यों के कार्य में समझना चाहिए।

संस्थान अर्थात् पुद्गल द्रव्य के आकार। उन आकारों का कर्ता जीव नहीं है, पुद्गल द्रव्य स्वतः ही आकाररूप परिणमित होता है। हम ऐसा सुन्दर मकान बना सकते हैं, उसमें सुन्दर चित्रकारी कर सकते हैं—ऐसा माननेवाला जड़ की अवस्था का कर्ता होता है; मैं शरीर का आकार अच्छा रख सकता हूँ; सुन्दर कपड़े पहने जायें तो शरीर सुन्दर दिखायी देता है—उन सबका अपने को कर्ता माननेवाला जड़ है। आत्मा ज्ञाता है, उस ज्ञायक स्वभाव का उसे भान नहीं है। शरीरादि सूक्ष्म पुद्गल परिणाम और कार्मण शरीर के सूक्ष्म पुद्गलपरिणाम—वे सब मैं हूँ, उतना ही मैं हूँ—ऐसा माननेवाला जड़ है। जीव स्वतः जड़ नहीं हो गया है, किन्तु पुद्गल पर दृष्टि है, उसकी दृष्टि में पुद्गल ही प्रतिभासित होता है—इस अपेक्षा से उसे जड़ कहा है।

आत्मा चिदानन्द वीतरागस्वरूप ज्ञाता है; इसकी जिसे खबर नहीं है और यह मानता है कि—शरीर, हर्ष-शोक का, कर्ता मैं हूँ, यह मेरे कार्य हैं—कर्तव्य हैं; उसने पुद्गल की अवस्था को अपना माना है, इससे वह जड़ है—आत्मा नहीं।

वास्तव में हिलने-डुलने की समस्त क्रिया जड़ की है, जड़ ही इसका कर्ता है; इसी प्रकार वाणी भी जड़ की अवस्था है। कोई कहे कि हम चुपचाप रहें तो? किन्तु भाई—उसमें भी तू यह मानता है कि मैं चुपचाप रहा, इससे जड़ की पर्याय का कर्ता हो गया। वाणी बोलना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है और मौन रहना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, इससे मैं वाणी बोला और मैं चुपचाप रहा—ऐसा माननेवाला पुद्गल की पर्याय का कर्ता होता है; किन्तु ज्ञायक आत्मा का भान करके ज्ञातारूप से जिसका परिणमन है, वह पुद्गल की अवस्था का कर्ता नहीं होता किन्तु मात्र ज्ञायक ही रहता है।

परमार्थ से, जैसे घड़े और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का (व्याप्यव्यापकता का)

सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है, वैसे ही पुद्गलपरिणाम के और पुद्गल के, व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है।

मिट्टी स्वत: व्यापक होकर-फैलकर घड़े का कार्य करती है। मिट्टी व्यापक है और घड़ा व्याप्य है, जो व्यापक है सो द्रव्य है और व्याप्य है सो पर्याय है।

इसी प्रकार आत्मा में जो हर्ष-शोक की वृत्तियाँ होती हैं, वे कर्म के निमित्त से होने के कारण जड़ हैं, उसमें पुद्गल द्रव्य का प्रसार होता है; हर्ष-शोक की वृत्तियाँ व्याप्य हैं और पुद्गल व्यापक है।

अज्ञानी की दृष्टि विकार पर है। जो अवगुण की क्रिया होती है उतना ही वह अपने को मानता है, अपने त्रिकाल अखण्ड गुण को भूलता है, इससे वह अपने को जड़ मानता है।

मुक्ति और मुक्ति का मार्ग आत्मा में ही है, बाहर नहीं है। अन्तरंग में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष के सभी भाव और शरीरादि नोकर्म—इस सबमें पुद्गलद्रव्य का प्रसार होता है, इसलिए सब पुद्गल ही हैं। उन समस्त भावों का कर्ता पुद्गल ही है; आत्मा तो उनका ज्ञाता है। यहाँ पर चैतन्य के विकारी परिणामों को जड़ कहा है किन्तु आगे कथन आयेगा कि विकारी परिणाम चैतन्य के हैं; वे जड़ के निमित्त से होते हैं किन्तु वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है इससे जड़ हैं, परन्तु चैतन्य की अवस्था में होते हैं, इसलिए चैतन्य के हैं।

शरीर, वाणी, वर्ण, रस, गन्ध, राग, द्वेष आदि सभी में पुद्गल का प्रसार होता है इसलिए पुद्गल ही उनका कर्ता है और वे पुद्गल का कार्य हैं।

स्वाश्रय द्वारा आत्मा में तो गुणों की निर्मल पर्यायों की ही उत्पत्ति होती है; जो मलिन अवस्था हैं उनकी उत्पत्ति में तो परद्रव्य का संग कारण है अत: रागादि में जड़ का ही कारण है। मिट्टी फैलकर घड़ा हुआ, वैसा ही पुद्गल बढ़कर अर्थात् पुद्गल की पर्याय परिवर्तित होते-होते राग-द्वेषादि की अवस्था आती है।

स्वात्मा के आश्रय में तो आत्मा की अवस्था परिवर्तित होते-होते वीतरागता की अवस्था आती है; आत्मा की अवस्था में परिवर्तन होते-होते राग की अवस्था नहीं आती—ऐसी यहाँ बात है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक की पर्याय होती तो आत्मा में ही है, किन्तु आत्मा के मूल स्वरूप में वे परिणाम हैं ही नहीं; तीन काल और तीन लोक में वे आत्मा नहीं हैं; वे परोन्मुखतावाले-विरुद्ध भाव हैं इसलिए पर के हैं।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का लक्षण बताया जाता है। सम्यग्ज्ञानी समझते हैं कि हर्ष-शोक, राग-द्वेष, शरीरादि कुछ भी मेरे नहीं हैं; मैं तो शुद्ध चैतन्य ज्ञायक हूँ।

चैतन्य की अवस्था में क्षणिक विकार होते हैं, इससे कहीं सम्पूर्ण आत्मा नहीं बिगड़ गया है।

प्रश्न:—वस्तु को बुरा कहें तो, अथवा आत्मा बिगड़ गया है—ऐसा कहें तो क्या आपत्ति है?

उत्तर:—यदि आत्मा को बाह्य से-प्रगट एक समय की दशा में बिगड़ा हुआ कहो तो वह सुधर सकता है, किन्तु परमार्थ से बिगड़ा हुआ कहोगे तो सुधारा भी नहीं जा सकता। यथार्थ रीति से देखा जाये तो आत्मा बिगड़ा नहीं है किन्तु मात्र वर्तमान पर्याय में विकार हुआ है इसलिए सुधारा जा सकता है, दूर किया जा सकता है। समस्त विकारी परिणाम कर्माधीन होते हैं, उन्हें ज्ञाता स्वरूप भूलकर अपना स्वभाव माने, मैं उनका उत्पादक-कर्ता हूँ, ऐसा माने वह अज्ञानी है; किन्तु जो ऐसा मानता है कि रागादि आस्रवों का मैं कर्ता नहीं हूँ, वह मेरा कार्य नहीं है, मैं उनका उत्पादक नहीं हूँ, वे मेरे नहीं हैं, वे मेरे स्वभाव में नहीं हैं—वह सम्यग्ज्ञानी है।

पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से पुद्गलपरिणामों का कर्ता है, और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक के द्वारा स्वयं व्याप्त होने से (व्याप्यरूप होने से) कर्म हैं। इससे पुद्गल द्वारा कर्ता होकर कर्मरूप से किये जानेवाले जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणाम हैं; उनको जो आत्मा, (पुद्गलपरिणाम और आत्मा को) घड़ा और कुम्हार की भाँति व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से परमार्थ से नहीं करता परन्तु (मात्र) पुद्गलपरिणामों के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप (ज्ञप्ति क्रियारूप) से करता हुआ अपने आत्मा को जानता है, वह आत्मा (कर्म-नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न, ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। यह देखो ज्ञानी की पहिचान।

कुम्हार घड़े का कुछ नहीं करता, मात्र बाहर रहकर देखता ही है; किन्तु अज्ञानी मानता है कि यह मुझसे हो रहा है। व्याप्यरूप होनेवाली जो मिट्टी की अवस्था है, उसमें व्याप्त होकर कहीं कुम्हार घड़ारूप नहीं हुआ है; कुम्हार का कोई गुण अथवा कोई अवस्था मिट्टीरूप नहीं हुए हैं। कुम्हार अति क्रोधी हो तो क्या घड़े में कुम्हार का क्रोध आता है?

यदि वास्तव में कुम्हार घड़े का कर्ता हो तो कुम्हार का क्रोध घड़े में घुस जाना चाहिए, किन्तु ऐसा कभी भी नहीं बनता। घड़ा अपनी शीतलता को नहीं छोड़ता; उसमें यदि पानी डालें तो वह ठण्डा होता है। कुम्हार का क्रोध किसी भी प्रकार से घड़े में नहीं पहुँचा है, इसलिए कुम्हार और घड़ा बिल्कुल पृथक् हैं; तब फिर कुम्हार ने क्या किया ? मात्र घड़ा बनाने की इच्छा की है; वह इच्छा कुम्हार के आत्मा की पर्याय में हुई, और उस समय इच्छानुकूल योग का उदय होने से, इच्छानुकूल हाथ की क्रिया हुई, वह हाथ की क्रिया हाथ में हुई है किन्तु हाथ का कोई भी भाग घड़े में नहीं गया है। यदि कुम्हार के हाथ ने घड़ा बनाया है तो हाथ का कोई भी भाग घड़े में जाना चाहिए और उसके हाथ में से कुछ भाग कम होना चाहिए; परन्तु ऐसा कभी होता ही नहीं, इसलिए घड़ा और कुम्हार में व्याप्य-व्यापकता के अभाव के कारण कर्ताकर्मपने की असिद्धि है अर्थात् कुम्हार और घड़ा बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। और जहाँ-जहाँ इच्छा हो वहाँ-वहाँ घड़ा उत्पन्न हो ऐसा नहीं है क्योंकि भिन्न सत्ता में कर्तापन नहीं है।

मिट्टी की अवस्था परिणमित होकर घड़ारूप हुई है, किन्तु कुम्हार की किसी भी अवस्था घड़ारूप नहीं हुई है। यदि कुम्हार घड़ारूप हो गया हो तो उससे पृथक् होकर वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। इसलिए कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है।

उसी प्रकार, आत्मा कर्ता है और राग-द्वेष उसका कार्य है—ऐसा नहीं है। यदि वास्तव में आत्मा राग-द्वेषरूप हो गया हो तो त्रिकाल उसीरूप रहेगा किन्तु उससे भिन्न पर्याय प्रगट नहीं कर सकेगा और अपने आनन्दादि अनन्त स्वभावों का अनुभव नहीं कर सकेगा; परन्तु आत्मा तो नित्य चैतन्यमूर्ति ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें अनित्य राग-द्वेष का प्रवेश नहीं हुआ है, वह पर्याय में एक क्षणमात्र ऊपर-ऊपर होता है; यदि वह आत्मा के मूलस्वभाव में घुस गया हो तो कभी भी निकल नहीं सकता, इसलिए जब आत्मा शुभाशुभ विकारी परिणामों का कर्ता नहीं है तो फिर जड़-कर्म और शरीर, वाणी, मन तथा मकान लक्ष्मी इत्यादि का कर्ता तो होगा ही कैसे ? 'जड ते जड त्रणकाल में, चेतन चेतनरूप; कोई कोई पलटे नहि त्रणेकाल द्वयरूप।'

वस्तु और वस्तु की अवस्था का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है; एक वस्तु का सम्बन्ध दूसरी वस्तु की अवस्था के साथ नहीं है। जैसे आत्मा वस्तु व्यापक है और शरीर, वाणी

तथा राग-द्वेषरूप जो अवस्था है, वह उसका व्याप्य है—ऐसा है ही नहीं। एक द्रव्य का दूसरे में व्याप्य-व्यापकपना है ही नहीं।

आत्मद्रव्य व्यापक है और उसकी जो निर्मल अवस्था है सो व्याप्य है; उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य व्यापक है और शरीर, वाणी तथा उसका राग व्याप्य है; इस प्रकार द्रव्य का और उसकी पर्याय का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

मिट्टीरूप वस्तु और उसकी घड़ेरूप पर्याय के साथ कुम्हार का व्याप्य-व्यापकपना नहीं है। कुम्हार व्यापक और घड़ारूप अवस्था व्याप्य—इस प्रकार व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु मिट्टी व्यापक और घड़ारूप पर्याय व्याप्य है। मिट्टी स्वत: परिणमित करके घड़ेरूप अवस्था हुई है, किन्तु कुम्हार परिणमित होकर घड़ारूप अवस्था नहीं हुई है, इससे मिट्टी ने ही कर्ता होकर घड़ा बनाया है, कुम्हार ने नहीं; कुम्हार तो मात्र निमित्तरूप है। वास्तव में जहाँ जिसका व्याप्य-व्यापकपना हो वही कर्ताकर्मपना होता है।

भगवान आत्मा अनादि स्वतन्त्र वस्तु है, वह अपने को भूलकर कर्मों में युक्त होकर अनादि से रुका हुआ है, किन्तु वह कर्मों की अवस्था आत्मा का व्याप्य नहीं है।

जैसे कुम्हार का और घड़े का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है इसलिए कर्ताकर्म सम्बन्ध भी नहीं है, उसी प्रकार पुद्गलपरिणामों के ज्ञान को कर्मरूप करता हुआ ज्ञानी अपने आत्मा को जानता है। राग-द्वेष, शरीर, वर्ण, गन्ध, स्पर्शादि जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, उनके साथ आत्मा का व्याप्यव्यापकपना नहीं है, इससे कर्ताकर्मपना भी नहीं है। उन रागादिक अवस्थाओं का ज्ञान करना आत्मा का कर्म है और आत्मा उस ज्ञानकर्म का कर्ता है। आत्मा ज्ञान की पर्याय करता है, वैसा कहना भी सद्भूतव्यवहार है। गुण और पर्याय का भेद हुआ इसलिए व्यवहार है, परन्तु वस्तुदृष्टि से गुण-पर्याय में भेद नहीं है किन्तु लक्षणादि भेद से भेद है इसलिए व्यवहार कहा है।

जो शरीर, मन, वाणी, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, राग-द्वेषादि को जानने के परिणामरूप कार्य है, जानने की सत्क्रियारूप कार्य है, उस जाननेमात्र सत्कर्म को करता हुआ ज्ञानी अपने आत्मा को जानता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से अत्यन्त भिन्न निरन्तर सर्वत्र ज्ञानपर्याय को करता हुआ-ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। उस ज्ञाता-दृष्टारूप से रहना ही उसका कर्तव्य है, और

उसके अतिरिक्त राग करने का अथवा शरीर को सुधारने का कर्तव्य आत्मा का नहीं है, तथापि जो ऐसा मानता है, वह अज्ञानी है।

परमार्थ से अर्थात् यथार्थ रीति से घड़ा और कुम्हार का व्याप्यव्यापकपना नहीं है; वैसे ही राग-द्वेष और शरीर की अवस्था का ज्ञातारूप आत्मा की पर्याय के साथ भी व्याप्यव्यापकपना नहीं है। यहाँ राग-द्वेष के परिणामों को भी पुद्गल का परिणाम कहा है। पुद्गलपरिणामों के ज्ञान का अर्थात् राग-द्वेषरूप परिणामों के ज्ञान का और राग-द्वेषरूप अवस्था का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है और इससे कर्ताकर्मपना भी नहीं है।

जैसे कुम्हार और मिट्टी के भीतरी सम्बन्ध का अभाव है, वैसे ही ज्ञानपर्याय का राग-द्वेष की पर्याय के साथ तथा शरीरादि की पर्याय के साथ भीतरी सम्बन्ध नहीं है। जैसे घड़ा और मिट्टी का आन्तरिक सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा और ज्ञान का भी आन्तरिक सम्बन्ध है।

ज्ञान ही आत्मा का कार्य है; किन्तु राग-द्वेष आत्मा का कार्य नहीं है। आत्मा का कार्य स्व-पर प्रकाशक है; आत्मा स्वत: को भी जानता है और पर को भी। जानने की क्रिया आत्मा का कार्य है, यह गाथा अलौकिक, अपूर्व है। यह वस्तुस्वरूप समझना कठिन है; सत्समागम के बिना यह नहीं समझा जा सकता।

जो राग-द्वेष और अज्ञान है सो व्यवहार है तथा उसका फल संसार है; अज्ञान भी व्यवहार और संसार भी व्यवहार—दोनों व्यवहार हैं। जिसका कारण व्यवहार हो उसका कार्य भी व्यवहार ही होता है। आत्मा की जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है उसके फलस्वरूप मोक्ष प्रगट होता है। जिसका कारण निश्चय है, उसका कार्य भी निश्चयरूप होता है; जिसका कारण निर्मल उसका कार्य भी निर्मल होता है। यहाँ आत्मा की निर्मलपर्याय को निश्चयनय कहा है और मलिनपर्याय को व्यवहार कहा है। आत्मा की निर्मलपर्याय को व्यवहार कहा जाता है परन्तु यहाँ स्वद्रव्य की अपेक्षा से अपनी पर्याय है, इसलिए निश्चय कहा है।

आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूपी है, उसे भूलकर उसकी अवस्था में पराश्रयपना करे तो दोष होते हैं, उसे मलिन अवस्था कहो, कर्मों में युक्त हुआ कहो, एकान्त दृष्टि में अटकना कहो, अथवा अपना भान भूलकर कर्माधीन हुआ कहो—वे सभी एकार्थवाची

हैं। उन सभी में अज्ञानता का दोष है इसलिए यहाँ पर उन्हें आत्मा नहीं कहा है, क्योंकि जिनके फलस्वरूप एकेन्द्रिय-निगोद में जाये उन्हें आत्मा कैसे कहें? अज्ञानपर्याय में वर्तमान में भी मूढ़ता है और उसके फल स्वरूप भविष्य में भी निगोदादि में मूढ़ होकर जाना है, उसे आत्मा कैसे कहा जाये?

आत्मा तो उसे कहते हैं कि जिससे वर्तमान में भी विकास दिखायी दे और भविष्य में विकास की वृद्धि हो; वह विकास वर्तमान में सुख-शान्ति एवं निराकुलता युक्त होता है और भविष्य में भी उनकी वृद्धि होती ही रहती है, वह पूर्ण होने पर मुक्त हो जाये उसी को आत्मा कहते हैं। जिसकी दृष्टि जड़ के ऊपर है, जिसका ज्ञान मूढ़ता को प्राप्त होता है, उस आत्मा को जड़ कहा है; क्योंकि अपनी जागृति का भान नहीं है—उस अपेक्षा से वह जड़ है। वस्तुस्वरूप को यथावत् समझे बिना भव का अन्त नहीं आ सकता। ज्ञानी को आत्मा की जागृति का भान है, उसकी बात इस गाथा में कही है।

धर्मात्मा जीव का लक्षण क्या है वह बतलाते हैं। शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! ज्ञानी जीव को पहिचानने का चिह्न क्या है? उसे कैसे जाना जा सकता है? उसका कुछ अनुमान या चिह्न बताइये। यह जीव आत्मा का पूर्ण हित करने के पथ पर है—यह कैसे जाना जाये? इसकी मिथ्या बुद्धि का नाश हुआ है और यथार्थ बुद्धि प्रगट हुई है यह कैसे समझा जा सकता है? यह लड़का धर्मी है, यह स्त्री अथवा यह पुरुष धर्मात्मा है यह कैसे अनुमान लगायें? लोक व्यवहार में नीति और सज्जनता के कार्य करे इससे धर्मात्मा कहलाता है, किन्तु इस लोकोत्तर मार्ग-मोक्षमार्ग में धर्मी की पहिचान करने का लक्षण, चिह्न अथवा अनुमान क्या है, वह कहिये। यह अजान शिष्य प्रश्न करता है उनका उत्तर इस गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से दिया गया है।

धर्मात्मा जीव यह नहीं मानता कि शरीरादि मेरे कार्य हैं और मैं उनका कर्ता हूँ। एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी पर-पदार्थ मुझे लाभ-हानि कर सकते हैं—ऐसा मानना सो मोह है; ऐसा मोह ज्ञानी के नहीं होता इसलिए वह धर्मात्मा है। शरीर में चलने की, वाणी में बोलने की, कर्म में कर्मों का फल देने की शक्ति है वह सब पुद्गल की अवस्था है, उसका कर्ता पुद्गल है, राग-द्वेष अपना स्वभाव नहीं है, अपने से वह उत्पन्न नहीं होता; वह अपनी अवस्था में होता अवश्य है किन्तु अपना स्वभाव न होने से उसे जड़ का कहा

है। धर्मात्मा राग-द्वेष के भावों का और शरीरादि का कर्ता नहीं होता किन्तु ज्ञाता है; राग-द्वेष का कर्ता नहीं हुआ और साक्षी रहा अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त हुआ और स्व में स्थिर हुआ। यह धर्मी का अन्तरलक्षण है, अन्तर चिह्न है। ज्ञानी राग-द्वेष से छूटकर स्व में स्थिर होना अपना कर्तव्य समझते हैं। चौथे गुणस्थान में अपनी भूमिकानुसार धर्मात्मा जीव कभी-कभी बाह्य का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं और सिद्धसमान अंशतः अनुभव करते हैं; पाँचवीं भूमिका में स्वरूपरमणता की वृद्धि होती है और छठवीं भूमिका में मुनित्व आता है। वहाँ पर स्वरूपरमणता में विशेष वृद्धि होती है; अन्तर्मुहूर्त में छट्ठे और अन्तर्मुहूर्त में सातवें गुणस्थान में मुनि झूलते हैं; क्षण में स्वरूप में स्थिर होते हैं और क्षण में बाह्य में अर्थात् विकल्प में आ जाते हैं; इस प्रकार पुनः पुनः हजारों बार आना-जाना मुनि करते हैं। जो-जो भाव आते हैं, उनका ज्ञाता रहकर, अस्थिरता को दूर करके वीतरागता प्रगट करना ज्ञानी का कर्तव्य है। अज्ञानी राग-द्वेष को अपना मानते हैं, इससे उन्हें रखना वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

परमार्थ से पुद्गल परिणामों के ज्ञान का और पुद्गल का घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि है और जैसे घड़े और मिट्टी का व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है, वैसे ही आत्मपरिणामों और आत्मा का व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है।

कुम्हार घड़े में प्रवेश नहीं कर जाता, मिट्टी में नहीं घुस जाता, कुम्हार के स्वभाव में मिट्टी प्रवेश नहीं कर जाती, उसके स्वभावरूप से नहीं हो जती, इसलिए मिट्टी घड़े की कर्ता है, कुम्हार नहीं। मिट्टी में घड़ा होने की जो क्रमबद्ध योग्यता है, उसके द्वारा उसकी पर्याय क्रमबद्ध होती है। जब मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता होती है, तब कुम्हार का निमित्त होता है—ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

कुम्हार ने पहले ज्ञात किया था कि मिट्टी में से घड़ा बनेगा, उसके ध्यान में भी ऐसा ही है कि मिट्टी में से घड़ा होगा, बालू में से घड़ा होगा वैसा उसने नहीं जाना है। अब, जिस समय घड़ा बनता है उस समय भी ऐसा जानता है कि इस मिट्टी में से घड़ा हो रहा है; घड़ा 'होता है', 'होता है', 'होता है'—ऐसा कुम्हार जानता है; किन्तु मुझमें से घड़ा हो रहा है, वैसा कुम्हार नहीं जानता। इससे कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है, किन्तु मात्र ज्ञाता ही है—

ऐसा सिद्ध हुआ; तथापि कर्ता मानता है उसकी अज्ञानता और भ्रान्ति है।

देखो न! तुम सभी मकान बनने के विषय में क्या करते हो, उसमें भी ऐसा ही है। पहले भी ऐसा जाना है कि मकान चूना, पत्थर और ईंटों से बनेगा; और फिर जब मकान बनता है तब भी तुम ऐसा जानते हो कि यह मकान चूना, पत्थर से 'बन रहा है, बन रहा है, बन रहा है' किन्तु मुझमें से यह मकान हो रहा है ऐसा नहीं जानते; तथापि अज्ञानी मिथ्याभिमान करता है कि यह मकान मैंने बनाया है। जब मकान होना होता है तब उसे अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं। मकान बनना हो वह जीव को मकान बनवाने का विकल्प नहीं करा देता, परंतु गृहस्थाश्रम के राग में विद्यमान जीव के अपने कारणसे उसका वीर्य विभाव में युक्त होता है, उससे विकल्प आता है, विकल्प से मकान नहीं बनता किन्तु जब मकान बनाना होता है तब ऐसा विकल्प-रागवाला जीव आदि अनुकूल निमित्त स्वत: अपने कारण से उपसिथत हो जाते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जब इस पुस्तक को सीना प्रारम्भ किया तब सीनेवाले ने क्या किया? उसे खबर है कि सुई इस कागज को छेदेगी, कागज सिलेगा, डोरा चलेगा—ऐसा जो ज्ञान है वह ज्ञान, जब जानने की क्रिया करता है, उस समय अपनी इच्छानुसार हाथ की क्रिया का अनुकूल उदय हो तो हाथ की क्रिया होती है, उसने तो मात्र जानने की क्रिया की है, हाथ की क्रिया होना थी इसलिए कागज सीया जाना था इसलिए सीया गया; जिसमें जो स्वभाव हो वह कार्य होता है उसमें तूने क्या किया है? यदि तू कागज सीनेवाला-कर्ता हो तो पत्थरों को साथ में सीं दे; वह तो नहीं कर सकता, तो फिर जो भी कुछ हुआ है, वह उसके स्वभाव से हुआ है उसमें तूने क्या किया? कागज में जब पुस्तकरूप होने की योग्यता हो उस समय उसे अनुकूल निमित्त प्राप्त होते हैं—ऐसा स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न दो चीज़ में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

पुस्तक के, प्रभावना के, दया के, दान इत्यादि के शुभ परिणाम जीव स्वत: करता है। कोई कहे कि जब जैसा होना होगा वैसे शुभ-विकल्प आयेंगे, ऐसा माननेवाला शुष्क है, उसे धर्म से प्रेम नहीं है। अशुभपरिणामों को बदलकर जीव स्वयं शुभपरिणाम कर सकता है; ज्ञानी, धर्मात्मा भी जब तक स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकते तब तक अशुभ से बचने के लिये शुभपरिणामों में पुरुषार्थ द्वारा युक्त होते हैं किन्तु उनके कर्ता नहीं होते।

शुभपरिणाम को जैसा बनना होता है उस प्रकार कर्म नहीं ला देता, परन्तु अशुभपरिणामों में से छूटकर शुभ में स्वत: पुरुषार्थ के द्वारा युक्त होता है और उन शुभपरिणामों के अनुसार दया, दान, प्रभावनादि के बाह्य कार्य होना हों तो होते हैं। जब वे कार्य होते हैं उस समय जीव के शुभपरिणामों का निमित्त होता है—ऐसा लगभग निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इससे अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह कार्य मैंने किये; परन्तु सभी द्रव्य स्वत: अपने स्वतन्त्र कारण से परिणमित होते हैं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी कोई किसी का कर्ता नहीं है। कोई यह कहे कि हमारे भाव तो दान देने के हैं किन्तु बाह्य-क्रिया जब होना हो तभी होती है—ऐसा कहनेवाला मिथ्या बचाव करता है; दान करने के भाव हों तो दान देने की क्रिया होती है—ऐसा लगभग निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

हाथ का अनुकूल उदय न हो, हाथ को लकवा हो गया हो तो बात दूसरी है; बाह्य में सभी प्रकार का अनुकूल उदय हो और दान देने की क्रिया न हो, वैसा नहीं हो सकता; स्वत: को दान नहीं करना है इससे मिथ्या बचाव करता है। यहाँ बचाव करने की बात नहीं है किन्तु कहना यह है कि निमित्त-नैमित्तिक होने पर भी तू परद्रव्य का कर्ता नहीं है। सभी द्रव्य स्वतन्त्र परिणमन करते हैं, कोई किसी का कर्ता नहीं है। ज्ञानी, धर्मात्मा शुद्धस्वरूप में स्थिर होने के लिये ही उद्यत रहते हैं; शुभपरिणाम आते हैं किन्तु वे उनके कर्ता नहीं होते। व्यवहार में कर्तापन का कथन आते हों किन्तु व्यवहार से भी किसी भी परद्रव्य के कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी नहीं हैं; अज्ञानी भी किसी परद्रव्य का कार्य नहीं कर सकता किन्तु मात्र अभिमान करता है कि यह कार्य मैंने किया है। व्यवहार से भी कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता। व्यवहार की मुख्यता से कथन होता है परन्तु कार्य नहीं होता।

कोई स्त्री जब रोटी बनाती है तब भी वह जानती है परन्तु परद्रव्य का कुछ कर नहीं सकती। उसने प्रथम जाना है कि गेहूँ के आटे की रोटी बनेगी, दाल और चावल की खिचड़ी बनेगी; और फिर जब वह बनती है, उस समय भी पहले की ही भाँति जानती है कि गेहूँ के आटे की रोटी बन रही है, किन्तु यह नहीं जानती कि रोटी मुझमें से हो रही है। उस स्त्री में से रोटी नहीं बन रही है तथापि वह व्यर्थ का मिथ्याभिमान करती है कि 'रोटी मैंने बनायी' परन्तु उसमें तूने क्या किया ? तूने बहुत किया तो अज्ञानभाव से इच्छा की है कि रोटी 'करूँ-करूँ' किन्तु रोटी तो गेहूँ की ही बनी है। यदि तुझमें रोटी को बनाने की

शक्ति हो तो लोहे-पत्थर की रोटी बना दे; तब तो कहेगी नहीं, उससे रोटी नहीं बन सकती, रोटी तो आटे से ही बनेगी। फिर उसमें तूने क्या किया? जिसका जो स्वभाव था वह उसमें से प्रगट हुआ उसमें जो शक्ति न हो तो वह कहाँ से आती? व्यर्थ का मिथ्याभिमान करके मूढ़ता का सेवन करती है। जब गेहूँ के आटे से रोटी होनी हो उस समय उपस्थित जीव के विकल्प का, हाथ की क्रिया का, चकला-बेलन, तवा और अग्नि आदि का निमित्त उसे प्राप्त होता है। ज्ञानी के भी रोटी करने की इच्छा तो होती है किन्तु उस इच्छा का, हाथ का अथवा रोटी आदि किसी का भी कर्ता नहीं होता; परन्तु जो कुछ होता है उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है। आटे में से जब रोटी होना हो तब उसके अनुकूल निमित्तों को रोटी होने की योग्यतावाले पुद्गल कहीं खींचकर नहीं लाते किन्तु सभी अनुकूल निमित्त स्वतः अपने-अपने कारण से उपस्थित होते हैं।

जैसे मिट्टी और घड़े का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है, वैसे ही ज्ञानी का अपनी पर्याय के साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध होने से उसके आत्मा का और आत्मा की पर्याय का कर्ताकर्म सम्बन्ध है। परन्तु पुद्गल परिणाम के साथ, रागादिक के साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है, इससे कर्ताकर्म सम्बन्ध भी नहीं है।

इस शरीर की जो चलने-बैठने की क्रिया होती है, उसका कर्ता पुद्गल है और चलना-बैठना उसकी क्रिया है। वह क्रिया शरीररूप से होती है किन्तु आत्मारूप से नहीं होती; यदि वह आत्मारूप होती हो तो ज्ञानदर्शन आदि गुण उसमें मिल जाना चाहिए परन्तु वैसा तो नहीं होता। शरीर की क्रिया भिन्न होती है और आत्मा की भिन्न; जो होता है उसे ज्ञानी जानता है, जानने की क्रिया आत्मा के साथ व्याप्य है और आत्मा स्वतः व्यापक है; आत्मा स्वतः कर्ता है और ज्ञानपर्याय उसका कार्य है—इस प्रकार कर्ताकर्म सम्बन्ध है।

विपरीत पुरुषार्थ द्वारा आत्मा की पर्याय में जो हर्ष-शोक की वृत्तियाँ होती हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, इससे ज्ञानी जानता है कि हर्ष-शोक की अवस्था में मैं उत्पन्न नहीं होता और वह मुझमें उत्पन्न नहीं होती। मैं अपने में उत्पन्न होता हूँ। अपूर्ण हूँ इससे अल्प अस्थिरता होती है, वह अस्थिरता पुरुषार्थ की मन्दता से मेरी अवस्था में होती है किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है, वह परनिमित्त से होनेवाला भाव है, इसलिए पर का है। इस प्रकार ज्ञानी, जो-जो अवस्थाएँ होती हैं उनका ज्ञान करता है। वह ज्ञान आत्मा का कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है।

चलने, बैठने, बोलने आदि की, तथा अन्तर में हर्ष-शोक की जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें ज्ञानी जानता है; यह सब जो मेरे आत्मस्वभाव से बाहर होता है, उसका मैं ज्ञायक हूँ। जो होता है उसे ज्ञानी देखता है अर्थात् ज्ञान की पर्याय करता है, ज्ञान मेरा कार्य है, मेरा धर्म है, उस ज्ञान की पर्याय अपने में विस्तृत हुई है, प्रसारित हुई है और स्वत: में ही व्याप्त हुई है। ज्ञानी जानता है कि मेरे आत्मा के बाहर जो पैदावारी दिखायी दे रही है वह सब जड़ की फसल है, मेरी पैदावारी तो मुझमें है, मेरे अंकुर मुझमें ही हैं; मैं अनन्त गुण की मूर्ति हूँ और अनन्त गुणों की पर्याय से अपने में ही अंकुरित होता हूँ, बढ़ता हूँ, और अपने स्वभाव में फलता हूँ, जड़ से मेरी फसल नहीं होती। विकारों की पैदावारी अज्ञानभावों की है, वह मेरे आत्मा की फसल नहीं है; जब मैं अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होता हूँ, तब दूर हो जाती है। ज्ञानी कर्ता है और ज्ञान उसका कार्य उस प्रकार है जैसे मिट्टी कर्ता और घड़ा उसका कार्य। परन्तु कुम्हार कर्ता और घड़ा उसका कार्य—ऐसी अज्ञानी की बात यहाँ नहीं है, यहाँ तो धर्मात्मा की बात है। ज्ञानी, ज्ञानस्वरूप से है, किन्तु रागस्वरूप से ज्ञानी नहीं है। अपने में अनन्त गुण हैं वे वस्तुरूप से अभेद हैं—ऐसी अभेददृष्टि करके, उसमें एकाग्र होकर, विभावों से भिन्न होकर जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, उनका ज्ञाता ही रहता है।

कुम्हार कर्ता और घड़ा उसका कार्य—वैसी कर्ताकर्म की सिद्धि है ही नहीं। उसी प्रकार पुद्गल और ज्ञान के भी कर्ताकर्मपने की सिद्धि है ही नहीं। जैसे घड़े का और मिट्टी का कर्ताकर्मपन है, वैसे ही आत्म-परिणामों का अर्थात् ज्ञान का और आत्मा का कर्ताकर्मपना है। ज्ञानी द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म—सभी का ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है। यह बात बड़े-बड़े महन्त (दुनिया में कहे जानेवाले महापुरुष) अज्ञानी को भी खटके ऐसी है, किन्तु उससे कहीं वस्तुस्वभाव नहीं बदल जायेगा। वस्तुस्वभाव तो जैसा है वैसा ही है, त्रिकाल ऐसा ही है।

घड़ा अर्थात् यह शरीर। शरीर का आकार घड़े की भाँति है और अपने को उस शरीर की अवस्था का कर्ता माननेवाला कुम्हार जैसा है; कुम्हार ने माना है कि घड़ा मैं बनाता हूँ और अज्ञानी मानता है कि शरीर की अवस्था मैं करता हूँ इसलिए दोनों कुम्हार हैं।

ज्ञानी सबका ज्ञाता है। मकान, दुकान, लक्ष्मी, कुटुम्बादि सभी का ज्ञाता है। यह

बात सर्वज्ञ की नहीं है किन्तु यह तो वस्तुस्वरूप जैसा है, उसे जाननेवाले ज्ञानी की बात है, जिसके राग-द्वेष, शरीरादि की क्रिया होती है, अल्प हर्ष-शोक होता है; अर्थात् चौथे गुणस्थान की बात है, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान की बात है। वस्तुस्वरूप को यथावत् समझे बिना भव का अन्त नहीं है।

अरे भाई! यह शरीर, मकान, स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि सभी को तू अपना मानता है, वे सभी झंझा के झकोरे के समान क्षणभंगुर होने से पवन की भाँति उड़ जायेंगे। पुण्य-पाप के शुभाशुभ भावों को तू अपना मानता है परन्तु वे सब तो क्षणिक हैं, प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं; इसलिए यदि तुझे सुख की आवश्यकता है तो शाश्वत आत्मा का भान कर! अशुभपरिणाम तो विकार ही हैं किन्तु दया, दान, व्रत, पूजा आदि के जो शुभपरिणाम होते हैं वह भी आस्त्रव हैं-अनात्मा है, विकार है। आत्मा के निर्विकार स्वभाव से वे भाव भिन्न हैं, परन्तु अशुभपरिणामों से बचने के लिये शुभपरिणाम आये बिना नहीं रहते; ज्ञानी भी अशुभपरिणामों से बचने के लिये शुभ में विद्यमान रहते हैं; पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है पूर्ण स्वरूप में स्थिर नहीं हुआ जा सकता—इससे शुभपरिणामों में युक्त होते हैं। ज्ञानी शुद्धस्वरूप में स्थिर होने के उद्यमी रहते हैं परन्तु जहाँ तक पूर्ण स्थिरता नहीं हो सकती, वहाँ तक शुभपरिणामों में भी युक्त होते हैं, किन्तु उनके कर्ता नहीं होते, उनके भी ज्ञाता ही रहते हैं, अशुभपरिणामों के, शरीर की क्रिया के और बाह्य के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के भी ज्ञाता ही हैं—इस प्रकार सबके ज्ञाता ही हैं। विकारी अवस्था तो अपने पुरुषार्थ की मन्दता से, अपनी अस्थिरता के कारण होती है तो भी उसके ज्ञाता हैं। द्रव्य को, उसके स्वभाव को और उसकी शुद्ध-अशुद्ध पर्याय को ज्ञानी बराबर जानते हैं, कर्ताकर्म के स्वरूप को एवं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को भी वे बराबर जानते हैं, जो अल्प अस्थिरता होती है, उसे दूर करके वीतराग होने का प्रयास है, भावना है।

जिसे आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है, उसे जड़ के स्वभाव की भी खबर नहीं है; जिसे आत्मा के स्वभाव की खबर है उसे जड़ के स्वभाव की भी खबर है।

मैंने पुण्य किया, दान किये, पर को मैं सुखी कर सकता हूँ, दु:खी कर सकता हूँ; मैं ही शरीर को चला सकता हूँ, वाणी मैं ही बोल सकता हूँ—इस प्रकार पर की क्रिया का स्वामी होनेवाला-पर की क्रिया को अपनी माननेवाला यहाँ से जाकर बीच में एक या

दो भव राजा अथवा देव के लेकर पश्चात् निगोद और नरक में सड़ेगा, वह अधर्मी है। परन्तु जिसने पर से भिन्न आत्मा का सच्चा स्वरूप समझने की यथार्थ जिज्ञासा की होगी वह भविष्य में अवश्य पुरुषार्थ की वृद्धि करके स्वरूप को समझेगा और उसके भव का अन्त आयेगा।

आत्मद्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होने से आत्मपरिणामों का अर्थात् पुद्गलपरिणामों के ज्ञान का कर्ता है; और जो पुद्गलपरिणामों का ज्ञान है वह व्यापक द्वारा स्वत: व्याप्त होने से (व्याप्यरूप होता होने से) कर्म है। और इस प्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणामों का ज्ञान करता है इससे) ऐसा भी नहीं कि पुद्गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य है; क्योंकि पुद्गल और आत्मा का ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध का व्यवहारमात्र होने पर भी पुद्गलपरिणाम जिसके निमित्त हैं—ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है; पुद्गलपरिणामों का ज्ञेयरूप निमित्त है। ज्ञान जानता तो स्वत: के ही द्वारा है किन्तु ज्ञेय निमित्त है। (इसलिए वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।)

आत्मा स्वत: अपने में व्याप्त होकर अपने आत्मपरिणामों का कर्ता है और आत्मपरिणाम अर्थात् ज्ञानपरिणाम उसका कार्य है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का ज्ञान (उसे जाननेवाला ज्ञानकर्म) आत्मा में व्याप्त है, कहीं पर में व्याप्त नहीं है इसलिए वह आत्मा का कर्म है, वह स्वतन्त्र व्यापक द्वारा ही स्वत: में व्याप्त होने से आत्मा का कर्म है। फिर आत्मा पुद्गलपरिणामों का ज्ञान करता है इससे पुद्गल के परिणाम हैं, वे ज्ञाता की अवस्था हो जायें—ऐसा नहीं है। शरीर इस प्रकार चला, रोटी इस प्रकार खाई, पैसा ऐसे हुआ, उन सबका ज्ञान किया इससे कहीं वह सब जड़ की अवस्था आत्मा की नहीं हो जाती। आत्मा का स्वभाव स्व-पर को जानने का है इससे कहीं ज्ञेय ज्ञानरूप और ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हो जाता; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु उससे कहीं एक-दूसरे में प्रवेश नहीं कर जाते। प्रवेश किये बिना कर्ता मानना वह अज्ञानियों का उपचार है।

रागादि या तृष्णा को कम करने की अवस्था आत्मा में होती है, इससे वह मंदरागरूप अवस्था कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं हो जाती। आत्मा शरीर की अवस्था के ज्ञाता और तृष्णा को कम करने की अवस्था के ज्ञाता हैं कर्ता नहीं कारण कि आत्मा की ज्ञानरूप निर्मल अवस्था शरीररूप नहीं हो जाती, वैसे ही शुभाशुभपरिणामरूप नहीं हो जाती, क्योंकि ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध व्यवहारमात्र होने पर भी पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है—

ऐसा वह ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। इसलिए ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है, उस ज्ञानक्रिया का आत्मा कर्ता है।

संयोग और विकार मैं नहीं हूँ कारण कि मैं शरीर, वाणी, मनरूप नहीं हूँ, राग-द्वेष भी नहीं हूँ किन्तु उन सबसे भिन्न आत्मा हूँ—ऐसा ज्ञान करके स्वरूप में स्थिर हुआ वह निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूपाचरण आत्मा की पर्याय है। शरीर, वाणी तो स्थूल हैं, उनका आत्मा के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, परन्तु शरीर और रागादि ज्ञाता नहीं है, ज्ञात होने योग्य है और आत्मा ही ज्ञाता है—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है; पुण्य-पाप के परिणामों के साथ भी आत्मा का ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। आत्मा ज्ञाता है और पुण्य-पाप के परिणाम ज्ञेय-ज्ञान के विषय बननेयोग्य हैं। धर्मात्मा का कार्य उन सबको जानने का है; पर का कुछ भी करने का कार्य धर्मी का नहीं है।

शरीर अथवा एक तृण का भी कुछ करने में ज्ञानी या अज्ञानी कोई समर्थ नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मैं पर का कर सकता हूँ, तो वह अपने विपरीत भाव ही करता है किन्तु पर का कुछ नहीं कर सकता; मैं परवस्तु का कर सकता हूँ—ऐसा जो मानता है वह महामूढ़ है।

अब इसी अर्थ के समर्थन का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दाम-विवेक-घस्मर-महो-भारेण भिन्दन्स्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्।।४९।।

अर्थः—व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं होता। और व्याप्यव्यापक भाव के सम्भव बिना कर्ताकर्म की स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती। ऐसा प्रबल विवेकरूप और सबको ग्रासीभूत करने का जिसका स्वभाव है—ऐसा जो ज्ञान प्रकाश है उसके बल से अज्ञानांधकार को विदीर्ण करता हुआ यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर, कर्तृत्वरहित हुआ उस काल दीप्त होता है।

देखो! आचार्यदेव कलश में फिर से संक्षेप में कहते हैं कि व्याप्य-व्यापकपना

तत्स्वरूप में ही होता है, अर्थात् जड़ की अवस्था व्याप्य और जड़वस्तु स्वतः व्यापक है; इस प्रकार व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है। प्रतिक्षण जो अवस्था होती है, वह वस्तु के आधार से ही होती है, वस्तु में व्याप्त होकर ही होती है। व्यापक अर्थात् होनेवाला और व्याप्य अर्थात् जो होता है वह। अवस्था कहीं अन्यत्र हो और होनेवाला कहीं पृथक् रह जाये—ऐसा नहीं हो सकता। शरीर-वाणी की अवस्था पुद्गल द्रव्य में ही व्याप्त है, पुद्गलद्रव्य के ही आधार से है इसलिए होने का और होनेवाले का-दोनों का मेल है। एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व का कुछ भी न तो कभी हुआ है, न होता है और न होगा ही।

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में व्याप्त हो तो एक द्रव्य दूसरे का कार्य कर सके, कर्ता हो सके; परन्तु एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में व्याप्त होना जहाँ सम्भव ही नहीं, अवकाश ही नहीं वहाँ कर्ताकर्म की स्थिति होगी ही कहाँ से? अर्थात् कर्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती।

इस प्रकार समस्त परपदार्थ से कर्ताकर्म की स्थिति रहित द्रव्य से, गुण से और पर्याय से पर से भिन्न-पृथक् आत्मा है। शरीरादि और स्त्री-कुटुम्बादि पर की ओर उन्मुखवाले जो रागादि भाव हैं, वह मेरा स्वभाव नहीं है—ऐसा प्रबल विवेक होने पर ज्ञानप्रकाश उदित हो उठता है; आत्मज्योति झलकने लगती है और सर्व को ग्रासीभूत करने का जिसका स्वभाव है, अर्थात् सर्व को जान लेने का ज्ञानप्रकाश का स्वभाव है, सर्व को जान लेना ज्ञान की सत्क्रिया भी है, शुभाशुभ भावों का होना असत्क्रिया है। देखो! शरीर की क्रिया नहीं कही परन्तु शुभाशुभ भावों का होना असत्किया है।

अज्ञानी राग-द्वेष को अपना मानकर रखना चाहता है, इसलिए राग-द्वेष उसके हैं, और ज्ञानी राग-द्वेष को अपना स्वभाव नहीं मानते इससे उन्हें दूर करना चाहते हैं, इससे वे उसके नहीं हैं किन्तु ज्ञान उसका है। अज्ञानी का ज्ञान नहीं किन्तु राग-द्वेष हैं।

अज्ञानी का आत्मा कितना है? जितना उसका अज्ञानभाव है, अर्थात् वर्तमान अवस्था जितना; अथवा एक समय के पुण्य-पाप जितना। अज्ञानी त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को नहीं मानता इसलिए वह त्रैकालिक आत्मा अज्ञानी का नहीं है; उसका जो शुद्ध त्रैकालिक स्वभाव है वह तो जायेगा ही कहाँ, परन्तु यहाँ उसकी मान्यता की अपेक्षा से बात है।

ज्ञानी का आत्मा त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा ध्रुव है, अखण्ड है, क्योंकि जैसा चैतन्य का

स्वभाव है वैसा ही ज्ञानी ने प्रतीति में लिया है इसलिए ज्ञानी का आत्मा अखण्ड त्रिकाल शुद्ध है।

ऐसा ज्ञानप्रकाश ज्ञानी के अन्तरंग में प्रगट हुआ है। उस ज्ञानप्रकाश के बल से अज्ञानान्धकार का भेदन हो जाता है, उसका नाश होता है, राग-द्वेष और पुण्य-पाप भाव मेरे नहीं हैं, मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो चिदानन्द आनन्दघन है, उस स्वभाव का मैं कर्ता हूँ, परन्तु परभावों का मैं कर्ता नहीं हूँ—इस प्रकार ज्ञानस्वरूप होकर कर्तृत्वरहित होता हुआ, निर्मल निर्दोषरूप से उस काल शोभित-दीप्त हो रहा है। उस काल अर्थात् पहले अज्ञानी था वह अज्ञान दूर होकर अब ज्ञानी हुआ अर्थात् ज्ञान की अपूर्व अन्तरक्रिया विकसित हुई, उस ज्ञानप्रकाश के बल से ज्ञान में समा जाता है अर्थात् उस काल शोभायमान हो रहा है। यह केवलज्ञानी की बात नहीं है—सम्यग्दृष्टि जीव की बात है। अद्‌भुत बात कही है! जो जागृत होकर समझे उसे ज्ञात होने योग्य है।

शरीर, वाणी और मन आदि की जो प्रतिक्षण अवस्था होती है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है, पृथक् द्रव्य की पर्याय पृथक् द्रव्य में, और आत्मा की पर्याय आत्मा में होती है।

जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हो वह तो व्यापक है और कोई एक अवस्था विशेष सो व्यापक का व्याप्य है। ऐसा होने से द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है, क्योंकि द्रव्य तो समस्त अवस्थाओं में व्यापक ही है और पर्याय एक अवस्थाविशेष है, इसलिए वह व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही हैं वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं इसलिए जो द्रव्य का आत्मा-स्वरूप अथवा सत्व हैं वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप और सत्व है। ऐसा होने से द्रव्य पर्याय में व्याप्त होती है और पर्याय, द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसा व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है।

पुद्‌गलद्रव्य व्यापक है और वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की पर्याय व्याप्य है। वह द्रव्य और पर्याय—दोनों अभेद हैं; जो द्रव्य का स्वरूप और सत्व है, वही पर्याय का स्वरूप और सत्व है।

आत्मा व्यापक है और ज्ञानादि गुणों की पर्याय उसका व्याप्य है। जो आत्मा का स्वरूप और सत्व है, वही पर्याय का भी है; द्रव्य और पर्याय दोनों अभेद हैं। इस प्रकार व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूप में होता है किन्तु अतत्स्वरूप में नहीं होता, अर्थात् जिनके

सत्व-सत्ता भिन्न-भिन्न हैं ऐसे पदार्थों में व्याप्यव्यापकपना नहीं होता। जैसे शरीरादि पुद्गल द्रव्य व्यापक और आत्मा की पर्याय व्याप्य—इस प्रकार व्याप्यव्यापकता नहीं होती। क्योंकि दोनों के स्वरूप और सत्व भिन्न-भिन्न हैं। पुनश्च, आत्मा व्यापक और पुद्गलद्रव्य-शरीरादि की एवं राग-द्वेष की पर्याय व्याप्य—ऐसा भी नहीं होता क्योंकि दोनों के स्वरूप और सत्ता तीनों काल भिन्न-भिन्न हैं।

प्रत्येक वस्तु में, आत्मा में और अन्य पदार्थों में उत्पाद व्यय होता रहता है। नवीन अवस्था का उत्पाद और पुरानी अवस्था का व्यय होता है और वस्तु ध्रुवरूप से स्थायी रहती है—इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रुव होते ही रहते हैं। वह वस्तु स्वत: स्वतन्त्ररूप परिणमित होकर स्थित रहती है, कोई अन्य पदार्थ उसका कर्ता नहीं है।

मकान का बनानेवाला पुरुष नहीं है, खिचड़ी को राँधनेवाली स्त्री नहीं है। चावल-दाल को पाक आया है वह चावल-दाल में से आया है, तपेली या स्त्री में से नहीं आया, जब खिचड़ी बनना होती है तब स्त्री का निमित्त उपस्थित होता है; निमित्त उपस्थित होता है इसलिए व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि इस स्त्री ने यह खिचड़ी बनायी है; निमित्त है इसलिए व्यवहार से कहा जाता है। ज्ञानी के भी जब तक गृहस्थाश्रम में है तब तक अस्थिरता है, इससे मकान बनवाने का विकल्प आता है, खिचड़ी राँधने का विकल्प आता है, यह करूँ, यह करूँ—ऐसे विकल्प अस्थिरता के कारण आते हैं, इससे ज्ञानी को भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण मकानादि का कर्ता उपचार से कहा जाता है। असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानी को भी मकान, खिचड़ी और अस्थिरता का कर्ता कहा जाता है क्योंकि अस्थिरता की ओर वीर्य युक्त होता है। अस्थिरता होती है, हो जाती है इससे पर्यायदृष्टि से कर्ता कहा जाता है, परन्तु वास्तव में द्रव्यदृष्टि से कर्ता है ही नहीं। ज्ञानी के जो अस्थिरता के विकल्प आते हैं उनका वह स्वामी नहीं होने से अपना स्वभाव नहीं मानता, उसमें उसे कर्ताबुद्धि नहीं है, अपने से भिन्न मानता है इससे ज्ञाता रहता है किन्तु कर्ता नहीं होता तो फिर परद्रव्य का कर्ता तो होगा ही कहाँ से? ज्ञानी तो ज्ञान का ही कर्ता है; परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले विकारों से ज्ञानी स्वत: को भिन्न मानता है, इससे उसके कर्ताबुद्धि नहीं है, किन्तु वीर्य की मन्दता से अस्थिरता हो जाती है, इससे मात्र उपचार से कर्ता कहा है।

जब मकान, खिचड़ी इत्यादि होने की योग्यता पुद्गल द्रव्य में होती है तब सामनेवाले जीव का विकल्प इत्यादि अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं, उन सभी निमित्तों को खिचड़ी और मकान होने की योग्यतावाले पुद्गल नहीं ला देते परन्तु सभी अनुकूल निमित्त अपने-अपने कारण से उपस्थित होते हैं।

स्त्री ने खिचड़ी अच्छी बनायी—ऐसा निमित्त से कहा जाता है; खिचड़ी बनते समय जो निमित्त उपस्थित होता है, उस पर आरोप करके कहा जाता है कि यह खिचड़ी इसने अच्छी बनायी है, यह कार्य इसने अच्छा किया है। यदि स्त्री खिचड़ी पका देती हो तो कंकड़ों से खिचड़ी बना दे! तीन काल और तीन लोक में भी परद्रव्य की अवस्था को कोई कर ही नहीं सकता। ज्ञानी जब तक गृहस्थाश्रम में हो तब तक उसे खिचड़ी आदि के करने का विकल्प आता है किन्तु वह उसका कर्ता नहीं है; सम्यक्त्वी धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में हो परन्तु मुझसे अच्छा कार्य हुआ, मकान मैंने अच्छा बनाया, रसोई मुझसे अच्छी बनी, सेवा मैंने की—इत्यादि कार्यों का कर्ता नहीं होता। वस्तु में जो पर्याय होने की शक्ति है वह वस्तु में से क्रमशः बदलते-बदलते प्रगट होती है।

चूना-पत्थर में से जब मकान की अवस्था होनी होती है, तब कारीगर, मजदूर इत्यादि की उपस्थिति होती है। जिस वस्तु में से जो अवस्था होना होती है, तब उसे वैसा ही अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है; जिस वस्तु में से जो अवस्था आये उस अवस्था का कर्ता वह वस्तु है।

भजिये बना रहे हों और तेल की कड़ाही पाँव के ऊपर गिरी, पाँव जल गया और पीड़ा होने लगी। जब जैसा होना होता है वह होता ही है, उसे रोकने के लिये कोई समर्थ नहीं है; जड़ की जो अवस्था होना हो उसे रोकने में किसी की शक्ति समर्थ नहीं है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैंने ध्यान नहीं रखा इसलिए ऐसा हो गया, और ज्ञानी जानता है कि उस वस्तु की अवस्था वैसी होनी थी इसलिए हुई है, उसमें किसी अन्य की शक्ति ऐसी नहीं जो उसे रोक सके। ज्ञानी का ज्ञान सच्चा है इससे उसे समाधान-शान्ति रहती है, अज्ञानी शरीर की जलन में एकाग्र होता है इससे उसे आकुलता का दुःख होता है; ज्ञानी को अस्थिरता के कारण अल्प राग-द्वेष होता है किन्तु उसे अज्ञानी जैसी आकुलता नहीं होती।

प्रश्नः—ज्ञानी के अल्प राग-द्वेष क्यों कहते हो?

उत्तर:—ज्ञानी के अनन्तानुबन्धी कषाय दूर होने से अनन्त राग-द्वेष दूर हो गया है, इससे अल्प राग-द्वेष होता है। जो अल्प राग-द्वेष होता है, उसमें भी वह ऐसा मानता है कि मेरे पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण अल्प राग-द्वेष होता है, जल जाने के कारण अथवा दु:ख होने से राग-द्वेष होता है—ऐसा नहीं है।

दूध का लोटा लेकर लड़की आयी और हाथ में से लोटा गिर गया, उस समय जड़ की जो अवस्था होनी थी वह हुई है। लोटा फूटना न हो और यथावत् रहना हो तो भी वह जड़ की अवस्था है; उसकी फूटने की या तदनुसार रहने की अवस्था आत्मा ने नहीं की है, उस अवस्था का कर्ता जड़ है परन्तु अज्ञानी उसकी अवस्था का कर्ता होता है। अज्ञानी को पर में अहंकार और ममकारबुद्धि रहती है। अहंकार का अर्थ है—पर का मैं कर सकता हूँ, और ममकार अर्थात् परवस्तु मेरी है।

नामकर्म की प्रकृति के कारण शरीर की चलने की गति अच्छी हो तो अज्ञानी मानता है कि हमें कैसा चलना आता है ? हम कैसी मस्तानी-हाथी की चाल से चलते हैं, और दूसरे कितने ही तो गधे की तरह चलते हैं; भाई ! चलना आना चाहिए। ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई ! व्यर्थ का अभिमान क्या कर रहा है ? वह परवस्तु की अवस्था जैसी होनी हो वैसी होती है, उसमें तू कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। यदि चलने का कार्य तेरे हाथ में हो तो पाँव में जब काँटा लग गया हो और चलने में कठिनाई होती हो, उस समय यदि तू उसका कर्ता हो तो मस्तानी चाल से चलकर बतला दे; तब तो कहेगा कि नहीं भाई उस समय कैसे चला जा सकता है ? तो फिर ज्ञानी उससे कहते हैं कि जो होना था सो हुआ; उसमें तूने नवीन क्या किया ? पुद्गलद्रव्य में क्रियावती शक्ति है उसके कारण पुद्गल गतिक्रिया करते हैं। यह मेरा और यह पराया—ऐसे मिथ्याभिमान को छोड़, और वस्तुस्वभाव को यथावत् समझ।

अज्ञानता से जो अहंकार, ममकार होता है वह सम्यग्ज्ञान होने से दूर होता है; सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् भी अल्प राग-द्वेष होता है, वह पर के कारण नहीं होता, किन्तु अपने पुरुषार्थ की मन्दता के कारण होता है। उस पुरुषार्थ की निर्बलता को ज्ञानी अपना स्वरूप नहीं मानता; अल्प राग-द्वेष की जो वृत्ति होती है, उसे ज्ञातारूप से जानता है। ज्ञाता जानता है, उस जानने की अवस्था के अतिरिक्त उसका अन्य कोई कार्य नहीं है, जानने

की उग्रता होने पर अल्प राग-द्वेष भी दूर हो जाता है, इस प्रकार ज्ञाता जीव धर्मात्मा होता है। धर्म आठों पहर होता है अथवा घड़ी दो-चार घड़ी ? धर्मात्मा का धर्म आठों पहर होता है। धर्मात्मा जीव-सम्यग्दृष्टि जीव पर से अपने को लाभ नहीं मानता परन्तु वह जगत् का ज्ञाता दृष्टा-साक्षी होता है, कर्ता नहीं होता। यह बात चौदहवें गुणस्थानवालों की नहीं, परन्तु चौथे गुणस्थानवाले-अविरत सम्यग्दृष्टि की है। कोई ऐसा कहे कि ज्ञानी से भले ही पर के कार्य न हों परन्तु हमसे तो होते हैं ? किसी से पर के कार्य होते ही नहीं मात्र विपरीत मानते हैं ॥७५॥

अब शिष्य पूछता है कि पुद्गलकर्म के ज्ञाता जीव को, पुद्गलकर्म के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है अथवा नहीं ?

शिष्य यह पूछता है कि जीव का पुद्गलकर्म के साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है इससे कर्ताकर्मपना नहीं है; परन्तु ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, इससे कर्ताकर्म सम्बन्ध है या नहीं ? उसका उत्तर गाथा में कहते हैं:—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व पज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गल-कम्मं अणेय-विहं ।।७६।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गल-कर्मानेक-विधम् ।।७६।।

अर्थः—ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों को जानता है, तथापि निश्चय से परद्रव्य की पर्याय में परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता। परद्रव्य के साथ कर्तापने का व्यवहार से कथन होते हैं—कार्य तो प्रत्येक द्रव्य में स्वतन्त्र शक्ति से ही होते हैं।

बात श्रेष्ठ है, सूक्ष्म है, उच्च है। आचार्यदेव कहते हैं कि धर्मी जीव—चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव; धर्मी अर्थात् पूर्णदशा को प्रगट करनेवाला जीव ऐसा मानता है कि परवस्तु को परिवर्तित करने की शक्ति मुझमें नहीं है, मैं परवस्तु को ग्रहण नहीं करता और उसरूप मैं उत्पन्न नहीं होता; वह सब जड़ का कार्य है, उसे जड़ ही करता है।

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य जो व्याप्यलक्षणवाला (जिसका लक्षण व्याप्य है)

पुद्गल के परिणामस्वरूप (कर्ता का कार्य) है, उसमें स्वत: अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमित होता हुआ और उत्पन्न होता हुआ पुद्गलद्रव्य स्वयं पुद्गलपरिणामों का कर्ता है। एक आकाशक्षेत्र में छहों हैं सभी निरन्तर अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं, किसी के कारण या आधार द्वारा किसी का परिणाम हो ऐसा कभी नहीं बनता।

देखो! इसमें क्या कहते हैं—यह प्रत्येक द्रव्य में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप अवस्था निरन्तर होती है, वह उसका कर्म है—कार्य है। जैसे एक ग्राम हो और उस ग्राम में मनुष्य पहुँच जाये वह प्राप्य, एक पर्याय से दूसरी पर्याय होने में जो परिवर्तन आया वह विकार्य और जो नवीन अवस्था की उत्पत्ति होती है, वह निर्वर्त्य।

जड़, जड़ की अवस्था को प्राप्त होता है, जड़ की अवस्था को परिवर्तित करता है, जड़ की अवस्था को उत्पन्न करता है।

कर्म होने योग्य परमाणु अपनी अवस्था को प्राप्त होते हैं, स्वत: परिवर्तित होकर कर्म होते हैं और स्वत: कर्म की अवस्थारूप उत्पन्न होते हैं; परन्तु आत्मा उन्हें प्राप्त करता है, आत्मा बदलता है और आत्मा उत्पन्न होता है—वैसा नहीं है।

यह सूक्ष्म बात है। यदि व्यापार में कमाई का अवसर हो तो अत्यन्त उल्लास आता है, और उसी की बात में भी बहुत हर्ष होता है परन्तु भाई! यह तो आत्मा की रोकड़-अक्षय निधान कमाने की बात है, उसमें बराबर ध्यान रखे तो वस्तु स्वरूप यथावत् समझ में आये।

यदि हाथ भी उठाना हो तो आत्मा नहीं कर सकता, हाथ ऊँचा करने में नोकर्म जो शरीर है वे स्वत: समर्थ हो वह प्राप्य, शरीर स्वत: परिवर्तित हो वह विकार्य और शरीर स्वत: बदलकर नवीन अवस्था की उत्पत्ति करता है, वह निर्वर्त्य। वैसे ही जो द्रव्यकर्म है उसमें भी पुद्गल स्वत: पहुँच जाता है, पुद्गल स्वत: कर्म की अवस्थारूप बदलता है और स्वत: कर्म की अवस्थारूप से उत्पन्न होता है। आत्मा उस कर्म को प्राप्त नहीं होता; आत्मा परिवर्तित नहीं होता और आत्मा उत्पन्न भी नहीं होता। आत्मा तो अपने भावों को प्राप्त करता है, अपने भावरूप परिवर्तित होता है और अपने भावरूप उत्पन्न होता है।

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—तीनों अवस्थाओं में पुद्गलद्रव्य व्याप्त होकर कर्म की अवस्थारूप से परिणमित होता है। यहाँ पर चैतन्य के विकारी परिणामों को भी जड़

कह दिया है। यहाँ अशुद्ध निश्चयनयरूप व्यवहारदृष्टि की बात नहीं है, किन्तु द्रव्यदृष्टि की बात है; दो द्रव्यों को बिल्कुल पृथक् किया है। स्व-पर को जाने सो चेतन, और न जाने सो अचेतन पुण्य-पाप समस्त रागादि भाव अचेतन है चैतन्य स्वभावरूप नहीं होने से जीव उसका कर्ता नहीं बनता।

पुद्गलद्रव्य की पर्याय में प्रारम्भ में भी परमाणु, मध्य में भी परमाणु और अन्त में भी परमाणु। वे तीनों जड़कर्म की अवस्थाएँ होने से जड़ करता है, व्यवहार से भी आत्मा जड़ की अवस्था को नहीं करता; कारण कि पुद्गलकर्म की अवस्था के आदि-मध्य और अन्त में पुद्गल ही व्याप्त होता है, परन्तु आत्मा व्याप्त नहीं होता।

मिट्टी घड़े को प्राप्त होती है, घड़ारूप परिवर्तित होती है और घड़ेरूप से उत्पन्न होती है। मिट्टी के शीतल स्वभाव को कुम्हार प्राप्त नहीं होता, शीतल स्वभाव को कुम्हार परिवर्तित नहीं करता और कुम्हार शीतल स्वभाव को उत्पन्न नहीं करता। मिट्टी स्वतः घड़े में प्रविष्ट हो गयी है, वह घड़े में प्रवेश करके घड़े को प्राप्त होती है, घड़े को परिवर्तित करती है और घड़े को उत्पन्न करती है। घड़े के प्रारम्भ में मिट्टी, मध्य में मिट्टी और अन्त में भी मिट्टी। वह मिट्टी घड़े को ग्रहण करती है, घड़े रूप में परिवर्तित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है।

जैसे कुम्हार घड़े को जानता है परन्तु घड़े में प्रविष्ट नहीं होता, वैसे ही धर्मात्मा जीव पुद्गलपरिणाम को जानते हैं तथापि बाह्यस्थित परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्याप्क होकर उसे ग्रहण नहीं करते, उसरूप परिणमित नहीं होते और उत्पन्न भी नहीं होते।

धर्मी जीव जड़ की अवस्था में अर्थात् कर्म में, मन में, वाणी में, शरीर में प्रविष्ट नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उनके रूप में परिवर्तित नहीं होता था उत्पन्न भी नहीं होता। शरीर, वाणी, मन की अवस्था के प्रारम्भ में भी जड़, मध्य में भी जड़ और अन्त में भी जड़। ज्ञानी, शरीर, मन, वाणी की अवस्था के प्रारम्भ में, मध्य में अथवा अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिवर्तित नहीं होता और उत्पन्न भी नहीं होता। जो-जो अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें ज्ञानी जानता है तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य जो व्याप्य-लक्षणवाला, परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करते हुए (कर्ता नहीं बन सकता इसलिए) ज्ञानी को पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

मिथ्यादृष्टि-मूढ़ जीव मानता है कि मैंने इस प्रकार से जड़ के कार्य किये हैं, कितने

अच्छे कार्य किये हैं—ऐसा माननेवाले ने अपने वीर्य को विपरीत कर दिया है। विपरीत मानने में भी अनन्त वीर्य और सीधा मानने में भी अनन्त वीर्य; जीव उल्टा पड़ा है तो भी बलवान है और सीधा खड़ा भी बलवान है, परन्तु भाई! विपरीत मान्यता में अनन्त काल हो गया, अनन्त जन्म-मरण कर चुका, अब यदि आत्महित करना हो तो यथार्थ प्रतीति कर ले।

वायुयान ऊपर से नीचे गिरता है, वह भी जड़ की पर्याय है। जब वह वायुयान नीचे गिरना होता है तब किसी की शक्ति नहीं जो उसे रोक सके। जड़ की अवस्था जड़ के परिणमन से होती है; प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र-भिन्न है; कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य के परिणमन को रोक नहीं सकता।

कोई कहे कि हमारे करने से काम अच्छा होता है, किन्तु वह उसका मात्र अभिमान है। अनेक स्त्रियाँ मोतियों के तोरण-वन्दनवार बनाती हैं, सीने-पिरोने का कार्य करती हैं, परन्तु वे ऐसा मानती हैं कि हम कितना सुन्दर काम करते हैं, वह उनका मात्र अभिमान ही है। सिलाई-कढ़ाई का कार्य अच्छा होना हो तब वे कार्य आते हैं—ऐसा जीव को अनुकूल निमित्त होता है; परन्तु दूसरे कार्यों में कुशल हो और ऐसे कामों में कुशल न हो—ऐसे जीव का निमित्त उस समय अनुकूलरूप से उपस्थित नहीं होता। जो कार्य जैसे होना होते हैं, उन्हें वैसे ही अनुकूल निमित्त प्राप्त होते हैं; परन्तु यदि वे सिलाई-कढ़ाई आदि के कार्य बिगड़ना हों तो स्त्रियों की शक्ति नहीं जो उन्हें सुधार दें; उनकी कोई भी चतुराई उस समय काम नहीं आयेगी। तीन काल और तीन लोक में कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है।

वह कार्य यदि ठीक होना होता है तो उस समय अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं; तब फिर जो कार्य होना ही था उसमें स्त्रियों ने क्या किया? मात्र अभिमान किया है। किसी भी द्रव्य में जब कोई अवस्था होना होती है अर्थात् क्षेत्रान्तर होना होता है, अथवा रूपान्तर होना होता है, उस समय उसके अनुकूल निमित्तों की उपस्थिति होती ही है, व्यवहार से भी उस परद्रव्य का कार्य कोई कर नहीं सकता परन्तु जब उसकी अवस्था बदलना होती है, उस समय ऐसे अनुकूल निमित्तों की उपस्थिति होती है अर्थात् मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु कर्ताकर्म सम्बन्ध तो है ही नहीं। रजकण की अवस्था का जो क्रम है

उसी क्रमानुसार द्रव्य में से पर्याय परिणमित होती ही रहती है—प्रवाहित ही रहती है। उस समय जो निमित्त उपस्थित हो वह ऐसा मानता है कि यह कार्य मैंने किया है, वह अज्ञान है। किसी उपादान शक्ति को निमित्त ने परिणमित कराया हो तो निमित्त को किसी ने प्रवर्तित किया ? इत्यादि परनिमित्ताधीन मान्यता में तो अनन्त अनवस्था नामक बड़ा दोष आता है।

ज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म को ज्ञेयरूप जानता है; तथापि उनका कर्ता नहीं होता। ज्ञानी जीव का परद्रव्य के साथ व्यवहार से ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है तथापि कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। पुद्गल द्रव्य की प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्यरूप अवस्था में पुद्गल ही व्याप्त होता है, उसके आदि-मध्य-अन्त में भी पुद्गल ही व्याप्त रहता है। ज्ञानी उसे जानते हैं तथापि उसमें व्याप्त नहीं होते (कर्ता नहीं बन सकते) इसलिए उनका पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। धर्मी जीव जड़ की किसी भी अवस्था को करते नहीं, परिवर्तित नहीं करते और उत्पन्न भी नहीं करते, इसलिए उनके कर्ताकर्मभाव नहीं है।

प्रत्येक पुद्गल परमाणु द्रव्य में क्रियावती शक्ति है इसलिए परमाणु का ऐसा स्वभाव है कि वह एक समय में नीचे सातवें नरक के पाताल से मुक्ति शिला तक चला जाता है। पुद्गल परमाणु में ऐसी शक्ति नित्य है ही तथापि अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो गया है कि मैं उन्हें परिवर्तित करता हूँ; यह मात्र उसकी मिथ्या मान्यता है। एक आत्मा भी दूसरे आत्मा की अवस्था को नहीं कर सकता, उसे परिवर्तित नहीं कर सकता, उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वत: अपने में स्वतन्त्र परिणमन कर रहा है। किसी भी समय परद्रव्य की राह देखना पड़े-परिवर्तन रुक जाये ऐसा नहीं है।

परवस्तु में उसी की स्वतन्त्र योग्यतानुसार जो परिवर्तन होता रहता है ऐसा ज्ञान जानता है, किन्तु कर्ता नहीं होता। इस सिद्धान्त में तो बड़े-बड़े पण्डित आचार्य नामवाले अज्ञानी भी चकचौंधिया हो गये कि यह कहते क्या हैं ? अपने शरीर का कुछ नहीं किया जा सकता! दूसरों का कुछ नहीं कर सकता! यह शरीर तो प्रयोगिक पुद्गल है, इसलिए उसे चैतन्य बदल सकता है—ऐसा माननेवाले की बुद्धि जड़-स्थूल है कारण कि वे नय विभाग द्वारा शास्त्र के अर्थ को नहीं समझकर विपरीत ही मान बैठे हैं। जो न समझता हो उसे समझाने के लिये कौन समर्थ है ? तीर्थंकरदेव भी निमित्तमात्र हैं। जब स्वत: जागृत

होकर स्वतन्त्र विश्वनियम को समझे तब समझ में आ सकता है। प्रयोगसा और विस्रसा का अर्थ यह है कि मात्र पुद्गलपरमाणु हो उसे विस्रसा कहा जाता है और चैतन्य का निमित्त जिस पुद्गल में हो उसे प्रयोगसा पुद्गल कहा जाता है—इससे ऐसा नहीं है कि जीव पुद्गल का कर्ता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता इस सिद्धान्त को अखण्ड रखकर सारी बात समझना चाहिए।

शरीर में दायाँ-बायाँ शूल आता है, बुखार, उल्टी आदि अनेक प्रकार के रोग आते हैं; आत्मा उनका ज्ञाता है, किन्तु कर्ता नहीं है। यदि कर्ता होता हो तो वह शूल को बदल दे, बुखार को मिटा दे, उल्टी को शान्त कर दे; किन्तु वैसा नहीं होता। जब जिस रोग को दूर होना होता है तभी दूर होता है, इसलिए आत्मा उसका ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है।

निर्वर्त्य का अर्थ है उत्पन्न करना। जैसे सूत के ताने-बाने से वस्त्र की उत्पत्ति होना; उस ताने-बाने में शक्ति थी उससे वस्त्र उत्पन्न हुआ है किन्तु ताने-बाने से जो वस्त्र बना है, वह जीव से उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि जीव ने वस्त्र को उत्पन्न किया हो तो जब ताना-बाना न हो तब वह अपने हाथों में से वस्त्र उत्पन्न कर दे? अथवा पत्थर में से वस्त्र बना दे? ऐसा तो कुछ भी नहीं कर सकता। व्यर्थ के अज्ञान की पुष्टि करके अभिमान करता है।

जब रोटी को जलना हो तब जलेगी ही, स्त्री का हाथ जल जाता है, अथवा पाँव में बिच्छू काट लेता है, इच्छानुसार पर में कुछ नहीं होता। वस्तु, वस्तु की योग्यतारूप सामर्थ्य से ही अपना कार्य करती है उसमें जो जीव ऐसा मानते हैं कि यह कार्य हमारी होशियारी से हुआ; उन्हें वीतराग अपना भक्त नहीं मानते, दास नहीं मानते; परन्तु वे कहते हैं कि यह जड़ के भक्त और जड़ के दास हैं। शरीरादि जड़ सदा अचेतन है—मूर्तिक है शरीर की अवस्था के परिवर्तन से आत्मा को लाभ-हानि—धर्म-अधर्म नहीं हो सकते हैं क्योंकि उसकी सत्ता भिन्न है; आत्मा तो सदा अमूर्तिक है। वह यदि भूल भी करे तो शरीर से भिन्न रहकर अपनी अवस्था में करता है, परन्तु पर-जड़ में भूल या गुण करे—यह कैसे हो सकता है? संसारदशा में भी आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, उसकी अवस्था भी ज्ञानरूप ही है, वह पुद्गल की अवस्था का कर्ता कैसे हो सकता है? आत्मा भूल या गुण अपने में कर सकता है, परन्तु परवस्तु में भूल-गुण कर ही नहीं सकता। जड़ की अवस्था का चाहे जिसप्रकार परिणमित होना सो पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन है। ऐसा भेदज्ञान करके

जो वस्तुस्वभाव को यथार्थ जाने, श्रद्धा करे और तदनुसार स्थिर हो—वही वीतराग का भक्त है—दास है।

यह कर्ताकर्म अधिकार चल रहा है। प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्यस्वरूप पुद्गलकर्म को पुद्गल करता है, आत्मा नहीं करता। जो कोई पर्याय पहले न हो, परन्तु नवीन उत्पन्न की जाये वह कर्ता का निर्वर्त्य कर्म है। जैसे—सम्यग्दर्शन की पर्याय आत्मा में अनादि काल से प्रगट नहीं थी, वह कर्ता ने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट की जो कि आत्मा का निर्वर्त्यकर्म है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था का बदलना सो कर्ता का विकार्यकर्म है और पदार्थ जो है, उसे प्राप्त करे वह कर्ता का प्राप्यकर्म है।

अब शिष्य पूछता है कि अपने परिणामों के ज्ञाता जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव है अथवा नहीं ?

पूर्व की गाथा में यह प्रश्न किया था कि पुद्गलकर्म के ज्ञाता जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं; और अब यहाँ यह प्रश्न किया है कि निज परिणाम का ज्ञाता जीव पुद्गलकर्म को करता है या नहीं ?

शिष्य कहता है कि प्रभो ! मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पवित्र-स्वरूप हूँ, अनन्त गुण-पर्यायों का पिण्ड हूँ—ऐसा अपने आत्मा के स्वभाव को जाने और अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों की पर्यायों को जानते हुए पर का ज्ञान साथ में आ जाता है, तो फिर जैसे पर का ज्ञान साथ आ जाता है, उसी प्रकार पर की पर्याय भी आत्मा में आ जाती है या नहीं ? वह पर की-जड़ की पर्याय आत्मा का कर्म हो सकती है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सग-परिणामं अणेय-विहं।।७७।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ।।७७।।

अर्थः—ज्ञानी अपने अनेक प्रकार के परिणामों को जानता है तथापि निश्चय से परद्रव्य की पर्याय में परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

ज्ञानी का अर्थ है भगवान का भक्त या भगवान का दास। वह अपने आत्मा के अनेक प्रकार के परिणामों को जानता हुआ पुद्गलकर्म की अवस्था को ग्रहण नहीं करता और उसरूप परिणमित नहीं होता तथा उत्पन्न भी नहीं होता। धर्मी-ज्ञानी तो स्व-पर दोनों को जानते ही रहते हैं अर्थात् वे अपनी जानने की अवस्था को ही करते रहते हैं, परन्तु जड़कर्म की अवस्था को या रागादि भाव को नहीं करते। सम्यक्त्वी स्वद्रव्य और परद्रव्य के स्वरूप को यथार्थतया जानते हैं; दोनों द्रव्यों की स्वतन्त्रता भी बराबर जानते हैं और भिन्नता भी जानते हैं। अपना द्रव्य पर में प्रविष्ट नहीं हो सकता और परद्रव्य स्व में प्रवेश नहीं कर सकता। स्वत: अपने में है और पर, पर में है—ऐसा स्पष्ट ज्ञान होने से ज्ञानी के ऐसा भाव नहीं होता कि—परद्रव्य मेरा कर्म है और मैं उसका कर्ता हूँ।

जड़ की अवस्था का कर्ता मैं और मेरी अवस्था का कर्ता जड़; वह मेरा कर्म और मैं उसका कर्म—ऐसा माननेवाला भगवान का भक्त हो ही नहीं सकता। ऐसा विपरीत माने और कहे कि हम भगवान के भक्त हैं, तो वह बिल्कुल मिथ्या कहनेवाला है; जो वीतराग के स्वरूप को नहीं जानता वह वीतराग का दास कैसा? वीतराग का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप दोनों एक ही हैं, इसलिए जिसने वीतराग के स्वरूप को जाना है, उसने आत्मा के स्वरूप को जाना ही है और जिसने आत्मा के स्वरूप को जाना है, उसने वीतराग के स्वरूप को जाना ही होता है, इसलिए जिसने आत्मा का स्वरूप नहीं जाना है और कहता है कि हमने वीतराग के स्वरूप को जाना है, हम उनके भक्त हैं, वह बिल्कुल झूठ बोलनेवाला है। वह वीतरागदेव का नहीं किन्तु जड़ का और मिथ्याभावों का भक्त है—दास है।

अज्ञानी जीव जड़ शरीर में ममत्व कर बैठे हैं कि शरीर मेरा है, मैं इसका हूँ—इस प्रकार शरीर में एकत्वबुद्धि कर बैठे हैं, जिससे शरीर में सुख शिलीया बन रहे हैं। शरीर तो रोटी और दाल-भात से बना है, रोटी जहाँ तक बर्तन में पड़ी थी तब तक शरीर की भाँति अपनेपन की ममता नहीं करता था किन्तु जब वह शरीर की अवस्थारूप हुई रोटी में से इस शरीर का पुतला बना कि ममत्व कर बैठा, धूल के रजकण दूर थे तब तक कुछ नहीं था परन्तु वे रजकण निकट आकर लोहूरूप—शरीररूप हुए कि ममत्व करने लगा, शरीर के साथ एकत्वपना मानने लगा। अरे भाई— वे रजकण दूर हों तो भी तुझसे भिन्न पदार्थ हैं और निकट हों तो भी तुझसे भिन्न पदार्थ हैं, तूने उनमें ममता की वह स्वत: तेरी ही भूल है।

कोई कहे कि यदि कोई मनुष्य दूर का हो तो अपने को कुछ नहीं, परन्तु यदि पड़ोसी हो तो उसका कुछ असर तो होता है; परन्तु भाई! तूने ममत्व किया इसलिए असर हुआ कहलाता है, वह मनुष्य तो तुझसे भिन्न है। वह तेरे निकट हो या दूर हो उससे कहीं राग नहीं होता किन्तु तू उसमें ममत्व करके रुकता है, इससे ममता होती है। यदि पड़ोसी को कोई सुख-दु:ख आ जाये तो तुझे कुछ भी नहीं होता, इसलिए निकट हो अथवा दूर हो किन्तु जो भिन्न पदार्थ है, वह भिन्न ही है।

आत्मा त्रिकाल चैतन्यस्वभाव है, स्वभाव में रागादि पुण्य-पाप का अभाव है, जो चीज अपने स्वरूप में नहीं उसका ज्ञानी जीव कर्ता नहीं बनता।

शरीर-मन-वाणी, पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा के निकट है तथापि ज्ञानी उनका कर्ता नहीं होता परन्तु मात्र उन्हें जानता ही है। अपने से पृथक् पदार्थ चाहे दूर हो या निकट हो परन्तु जो पृथक् है, वह पृथक् ही है, पृथक् पदार्थ में कर्ताकर्म भाव होता ही नहीं, इसलिए ज्ञानी जीव परभाव-परद्रव्यों का कर्ता नहीं होता।

दीपक का प्रकाश यदि दूर हो तो भी प्रकाशमान होता है और निकट हो तो भी प्रकाशमान होता है; वैसे ही चैतन्य दीपक-ज्ञान दीपक परद्रव्यों को यदि वे दूर हों तो भी जानता है और निकट हों तो भी जानता है। चैतन्य दीपक तो प्रकाशित होता रहता है, उसे दूर से या निकट से कोई सरोकार नहीं है। अज्ञानी जीव परद्रव्यों के निकट आने से ममता कर बैठा कि यह मेरा है; उसका कारण मात्र अज्ञानता है। जब माता के शरीर से जन्म लिया, उस समय इस शरीर का कुछ नाम ही नहीं था फिर जब फुआ ने नाम रखा पानाचन्द; तो भी आठ-दस महीने तक तो उसे खबर ही नहीं पड़ी; फिर सब कहने लगे कि 'पानाचन्द-पानाचन्द' इसलिए इसे ऐसा लगा कि मैं पानाचन्द हूँ; सब लोग मेरे सामने देखकर पानाचन्द-पानाचन्द करते हैं इसलिए मैं अवश्य ही पानाचन्द हूँ, इस प्रकार इसे पूर्ण विश्वास हो गया कि मैं ही पानाचन्द हूँ; फिर तो अगर कोई रात को सोते समय भी बुलाए कि 'ए पानाचन्द' तो बोलेगा—'हाँ'—ऐसी एकत्वबुद्धि शरीर के साथ, नाम, वाणी आदि में हो गई है। फिर यदि कोई ज्ञानी उसे मिले और वह कहे कि भाई! तू पानाचन्द नहीं है, यह शरीर का नाम ही रखा है, यह शरीर भी तू नहीं है, वाणी भी तू नहीं है; तू तो देह से अलग, अविनाशी ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, तो कहेगा कि 'नहीं, मैं तो

पानाचन्द ही हूँ' यह रटते–रटते पक्का हो गया अब उसे कैसे भूल सकता है ? इस प्रकार अज्ञानी अपना आग्रह नहीं छोड़ता; परन्तु जो आत्महित का पिपासु होता है, वह अपना आग्रह छोड़ देता है।

जानने की अवस्था आत्मा में से आयी है, स्वत: में से ही आयी है जो स्वत: ही अपनी पर्याय को प्राप्त हो गया है वह प्राप्य, और जो स्वयं ही उस पर्यायरूप से परिणमित हुआ है अर्थात् परिवर्तित हुआ है वह विकार्य, तथा जो स्वयं ही उस पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ है वह निर्वर्त्य है। ज्ञान की अवस्था में स्वत: ही अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् स्वत: ही प्रसारित होकर उस अवस्था को उत्पन्न करता है। उस अवस्था के प्रारम्भ में भी आत्मा, मध्य में भी आत्मा और अन्त में भी आत्मा ही है। उस ज्ञान की पर्याय को स्वत: ही पकड़ा है अर्थात् स्वत: ही ग्रहण किया है। ज्ञान की एक अवस्था से दूसरी अवस्था होती उसमें स्वत: ही परिणमित हुआ है; एक अवस्था से दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है उसमें स्वत: ही उत्पन्न होता हुआ वह ज्ञान की अवस्था को करता है।

आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र के परिणाम को स्वत: ही ग्रहण करता है, स्वत: उसरूप होता है और स्वत: उसरूप परिवर्तित होकर उत्पन्न होता है। परद्रव्य और परभाव से भिन्न चैतन्यद्रव्य की श्रद्धा सो सम्यग्दर्शन, और पर से भिन्न आत्मतत्त्व का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान तथा पर से भिन्न आत्मतत्त्व में रमणता सो सम्यग्चारित्र है। आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और स्वसंवेदनरूप चारित्र इत्यादि अनेक प्रकार की अपनी अवस्थाओं को आत्मा जानता अवश्य है, किन्तु उन्हें जानते हुए भी स्वत: परद्रव्य की अवस्थारूप नहीं होता।

जैसे मिट्टी स्वत: घड़े में अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् मिट्टी स्वत: घड़े में प्रसारित होकर घड़े के आदि में मिट्टी, मध्य में भी मिट्टी और अन्त में मिट्टी—इस प्रकार घड़े की समस्त अवस्थाओं में मिट्टी स्वत: व्याप्त होकर घड़े को ग्रहण करती है, घड़ेरूप परिणमित होती है और उत्पन्न होती है।

मिट्टी में से क्रमश: घड़ा हुआ; उस घड़े की अवस्था को मिट्टी ने पकड़ा है किन्तु कुम्हार ने नहीं पकड़ा; मिट्टी घड़ेरूप परिणमित हुई है किन्तु कुम्हार घड़ेरूप परिणमित नहीं हुआ। मिट्टी स्वत: ही पिण्ड में से बदलकर घड़ेरूप उत्पन्न हुई है। उसी प्रकार आत्मा में होनेवाली श्रद्धा, ज्ञान और रमणता की अवस्था को ज्ञानी ने स्वत: ही ग्रहण किया है परन्तु

रजकणों ने अथवा विकार भावों ने उस अवस्था को ग्रहण नहीं किया है; उस श्रद्धा-ज्ञान इत्यादि की अवस्था में ज्ञानी का आत्मा ही परिणमित हुआ है, परन्तु आठ कर्मों के रजकण अथवा विकारीभाव उस अवस्थारूप परिणमित नहीं हुए हैं—हुए नहीं हैं। श्रद्धा-ज्ञान इत्यादि की अवस्था में ज्ञानी स्वत: ही एक पर्याय से दूसरे पर्यायरूप परिणमित होकर उत्पन्न होते हैं किन्तु आठ कर्म अथवा विकारी भाव उस अवस्थारूप उत्पन्न नहीं होते।

आठ कर्म के रजकणों में आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् उनमें व्याप्त होकर उन्हें ग्रहण नहीं करता—उसरूप नहीं होता, उसरूप उत्पन्न नहीं होता। आत्मा कर्म परमाणु की अवस्थारूप किसी काल में भी नहीं होता; उस कर्म के प्रारम्भ में, उसके मध्य में अथवा अन्त में कभी भी आत्मा उसे ग्रहण नहीं करता; उसरूप होता नहीं, और उत्पन्न भी नहीं होता, इसलिए धर्मी-ज्ञानी जीव अपने ज्ञान की उस समय होनेवाली अवस्था को जानता है किन्तु उसे ग्रहण नहीं करता, उस रूप नहीं होता और उस रूप उत्पन्न भी नहीं होता। अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादिरूप आत्मा हो सकता नहीं फिर भी उस पर भावों का कर्ता मैं हूँ ऐसा मानना अज्ञानी का मोह है।

ऐसा कर्ताकर्म का अधिकार अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इस समय इस भरतक्षेत्र में जितने शास्त्र हैं, उनमें इस समयसार के अतिरिक्त कहीं भी ऐसा अधिकार नहीं है।

आचार्यदेव इस गाथा में यह बतलाते हैं कि तू अपनी अवस्था को ग्रहण कर, उसमें परिणमन कर, और उत्पन्न हो। उसके अतिरिक्त तू अन्य कुछ भी नहीं कर सकता। जड़ का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं हो सकता; परन्तु वह मानता है कि मैं जड़ का कर्ता हो सकता हूँ। अरे! दूसरी वस्तुएँ तो दूर रहीं, परन्तु कर्म और शरीर तो निकट हैं तथापि उसमें भी तेरा हाथ नहीं है; तू उनका भी कुछ नहीं कर सकता; वे भी स्वतन्त्र हैं और तू भी स्वतन्त्र है। कितने ही लोग कहते हैं कि शरीर का तो हम कर सकते हैं; तब ज्ञानी उनसे कहते हैं कि यदि तू शरीर का कर सकता है तो जब शरीर में लकवा मार जाता है हाथ-पैरों में बाय हो जाती है या कोई फोड़ा हो जाता है तब हाथ-पाँव चलाने की इच्छा होने पर भी क्यों नहीं चल सकता? यदि तू उनका कर्ता है तो उस समय उन्हें चला दे; किन्तु कैसे चलायेगा! पर का कर्ता ही नहीं तथापि जगत के जीव मिथ्याभिज्ञान में चूर हो जाते हैं। देखो न कितने ही मनुष्यों को अनेक प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं, उन्हें मिटाने की तीव्र इच्छा होती है परन्तु

क्या करें ? परद्रव्य कहाँ इनके वश में है। अरे ! इस मनुष्य का तो सारा शरीर जलता रहता था; उससे वह आर्तध्यान करके दु:खी होता था; निरन्तर उसके हाथ-पैर जमीन पर घिसते ही रहते थे; ऐसी स्थिति में शरीर को अच्छा रखने की आत्मा को तीव्र इच्छा होती है परन्तु परद्रव्य उसके अधिकार की बात नहीं है इसलिए इच्छानुसार होता ही नहीं—इससे सिद्ध होता है कि आत्मा जड़ का कर्ता नहीं है।

जीव ऐसा कहते हैं कि 'अजीव को जीव मानना मिथ्यात्व है' किन्तु शरीर और आत्मा को जिसने एक माना है, उसने जीव को जीव ही माना है; अजीव की जितनी अवस्था है वह सब अजीवरूप ही है। जिसने यह माना कि अजीव की एक भी अवस्था मुझसे हुई है उसने त्रिकाल के अजीव की अवस्था को अपने से होना माना है; और जिसने अजीव की एक भी अवस्था को अपने से नहीं माना उसने त्रिकाल की अजीव की अवस्था को अपनेरूप से नहीं माना। समस्त वस्तुएँ स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् हैं—ऐसा समझकर ज्ञानी जीव पर का कर्ता नहीं होता ॥७७॥

अब शिष्य पूछता है कि पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले जीव के पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ?

शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो ! आत्मा कर्म के फल को जानता है, तो कर्म के फल को जानने से उस कर्म का फल आत्मा का कार्य हो—ऐसा कुछ मेल है या नहीं ? ज्ञान जानता तो है कि यह शरीर सुन्दर है, यह निरोग है, यह रोगयुक्त है; यह स्त्री-पुत्रादिक परिवार अनुकूल या प्रतिकूल मिला, इतना पैसा मिला, इतना चला गया, मकान ऐसा है आदि पुद्गलकर्म के फल को जानने से वह पुद्गलकर्म आत्मा का कार्य हो और आत्मा उसका कर्ता हो—ऐसा कर्ताकर्म सम्बन्ध है या नहीं ? उसका उत्तर गाथारूप में कहते हैं:—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गल-कम्मप्फल-मणंतं ॥७८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गल-कर्म-फल-मनन्तम् ॥७८॥

अर्थः—ज्ञानी, पुद्गलकर्म के अनन्त फल को जानता है, तथापि परमार्थ से

परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न भी नहीं होता।

धर्मी अर्थात् वीतराग का भक्त, वीतराग का दास। वह कर्म के अनन्त फल को जानता है परन्तु कर्ता नहीं होता। शरीर में रोग आये या निरोग हो, वाणी बराबर बोली जाती हो या नहीं—वह सब कर्म के फल हैं। एक-दूसरे के घर में अन्तर, पैसे में अन्तर, शरीर के आकार में भी अन्तर—वैसे कर्म के फल अनन्त प्रकार के हैं; उन अनन्त प्रकार के फलों को ज्ञान जानता है, इससे ज्ञाता भी अनन्त-सामर्थ्यवाला है।

इस समय अच्छा पुण्य का योग प्रवर्तमान है; पैसा अच्छा है, प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, स्त्री-बच्चे भी अच्छे हैं—आदि सब ओर से अनुकूलता है—इस प्रकार अज्ञानी जीव कर्म के फल में तन्मय हो जाता है, कर्ता हो जाता है। परन्तु ज्ञानी सभी पुण्य के फलों को जानते हुए भी उनमें तन्मय नहीं होते। ज्ञानी अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रसंगों को जानते हैं, तथापि उनके कर्ता-हर्ता नहीं होते। जब जैसा कर्म का फल आता है तब वैसा ही ज्ञानी जानते हैं; फिर भी उनका आत्मा के साथ कुछ भी कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। धर्मी जीव कर्म के फल को अपना नहीं मानते। पुण्य या पाप के जो भी फल आते हैं वे सभी पुद्गल में आते हैं—जड़ में आते हैं; आत्मा में पुण्य का फल नहीं आता इसलिए आत्मा का उसके साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है।

हर्ष-शोक के जो-जो प्रसंग बनते हैं उनमें जड़कर्म फलित हुआ है, जड़ उनमें प्रविष्ट हो जाता है; उन्होंने जड़ को ग्रहण किया है और जड़ उनमें उत्पन्न होता है। जो जिसे ग्रहण करे, जो जिसमें परिवर्तित हो, जो जिसमें उत्पन्न हो वह कार्य उस पदार्थ का ही होता है। पुद्गल कर्म का फल आये वह पुद्गलद्रव्य का ही कार्य है; अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में जड़ स्वयं अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् जड़ स्वतः विस्तृत होकर-व्याप्त होकर प्रसरित होता है। पुद्गलकर्म के फल की आदि में पुद्गल, उसके मध्य में पुद्गल और अन्त में भी पुद्गल उसे ग्रहण करता है, उसरूप होता है और उसरूप उत्पन्न होता है तथा सुख-दुःखादिरूप पुद्गलकर्मफल को करता है।

सर्दी के मौसम में सालमपाक खाने को मिले, मूसलीपाक खाने को मिले—वह सब कर्म का फल है; शरीर में गर्मी या ठण्ड से बुखार रहे—वह भी कर्म का फल है।

कितने ही लोग कहते हैं कि सर्दी के दिनों में सालमपाक खायें तो शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे, परन्तु भाई! शरीर का परिणमन तेरे हाथ की बात नहीं है, सर्दी में सालमपाक खाता हो तो भी दो दिन में मर जाता है; शरीर आयु के अनुसार रहता है, उसमें तू कहता है कि 'मेरे रखने से रहा' वह तेरा भ्रम है। कदाचित् सालमपाक खाने से शरीर में शक्ति भी आ जाये तथापि जो शक्ति आयी वह पुण्यकर्म का फल है, किन्तु सालमपाक से शक्ति नहीं आयी है; उस समय शरीर में शक्ति आने की योग्यता थी इससे उसे अनुकूल निमित्त मिलता है। कितने ही लोगों को पक्वान्न खाने से कफ पैदा हो जाता है, वह सब पुद्गलकर्म का फल है; सालमपाक खाने का और पक्वान्न खाने का राग विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा जीव की पर्याय में होता है किन्तु सालमपाक और पक्वान्न का शरीर में कफरूप अथवा पुष्टिरूप परिणमित होना पुण्य-पाप के उदयानुसार होता है, जीव उसका कर्ता नहीं है।

शरीर में जब रोग का उदय हो, पाचनशक्ति मन्द हो जाये उस समय सैकड़ों दस्त हो जाते हैं; फिर यदि आत्मा उन्हें रोकना चाहे तो नहीं रोक सकता, इसलिए वह जड़ रजकण का परिणमन है। उस रोग के आदि-मध्य और अन्त में जड़ रजकण ही व्याप्त होते हैं, आत्मा उसमें व्याप्त नहीं होता।

शरीर की स्थिति अधिक या अल्प रहना भी कर्म का फल है। सुख-दु:खादि रूप जो कार्य आता है, वह सब पुद्गलकर्म का फल है, उसमें पुद्गलकर्म ही व्याप्त होकर उसका कर्ता होता है।

जैसे मिट्टी स्वत: ही घड़े में उसके आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर उसे ग्रहण करती है, उसरूप परिणमित होती है, उत्पन्न होती है; वैसे ही ज्ञानी बाह्यस्थित पुद्गलकर्म के फल में व्याप्त नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उत्पन्न भी नहीं होता।

प्रश्न:—शरीर में असाध्य रोग हो जाये तो फिर रोग की अवस्थारूप आत्मा परिणमित होता है या नहीं?

उत्तर:—नहीं भाई! शरीर के रोगरूप आत्मा परिणमित नहीं होता। शरीर में कैसा भी भयंकर रोग हो जाये, उस समय वैसे परिणमनरूप कर्म फलित हुआ है, उसमें आत्मा फलवान नहीं हुआ किन्तु पुद्गल फलवान हुआ है। शरीर में चाहे जैसा रोग हो तो भी

आत्मा उस रोग की अवस्थारूप परिणमित नहीं होता, क्योंकि दोनों पदार्थ भिन्न हैं।

जैसे घड़े में मिट्टी व्याप्त होती है, किन्तु कुम्हार व्याप्त नहीं होता; वैसे ही जो बाह्यस्थित अनुकूलता और प्रतिकूलता के प्रसंग हैं उनमें ज्ञानी व्याप्त नहीं होता। अनुकूलता या प्रतिकूलता के प्रसंग सुख-दु:ख होने के बाह्य कारण हैं, परन्तु वे राग-द्वेष नहीं करा देते; राग-द्वेष तो अपने पुरुषार्थ की मन्दता से होते हैं, परन्तु ज्ञानी उनमें भी एकत्वबुद्धि से व्याप्त नहीं होते; जो अल्प अस्थिरता होती है उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग पुद्‌गलकर्म का फल है और राग-द्वेष भी पुद्‌गलकर्म का फल है—दोनों को एक ही में ले लिया है। एक ओर समस्त जड़ का दल और दूसरी ओर समस्त शुद्ध चैतन्य का दल लिया है। पुद्‌गलकर्म के सुख-दु:खादिरूप कर्मफल को जानते हुए भी ज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करते, उसरूप होते नहीं और उसरूप उत्पन्न नहीं होते।

कितने ही लोगों को ऐसा लगता है कि ऐसी महँगाई-अनाज महँगा, कपड़े महँगे, अन्य सभी वस्तुएँ महँगी है; इसलिए ऐसे समय में तो कहीं दूसरी जगह जाकर रहें तो अच्छा हो-वैसा मानते हैं, परन्तु जिस क्षेत्र में और जिस संयोग के द्वारा तेरे शरीर का पोषण होना हो वैसे ही होता है, उसमें कुछ करना तेरे हाथ की बात नहीं है। यहाँ न होऊँ और किसी अन्य स्थान पर होऊँ तो अच्छा हो—ऐसे भाव जीव कर सकते हैं, परन्तु भाई! जिस कर्म के फलरूप ग्रहण होना, परिवर्तित होना, और उत्पन्न होना होता है, वह तेरे हाथ की बात है ही नहीं।

ज्ञानी जानते हैं कि जिस प्रकार शरीर की पुष्टि के प्रसंग बनते हैं, वह सभी कार्य जड़ के हैं, मैं उनका कर्ता-हर्ता नहीं हूँ, मैं तो अपने ज्ञानस्वरूप का कर्ता हूँ—ऐसा ज्ञान होने पर पर का अभिमान दूर हो जाता है और जितने प्रमाण में स्वत: ज्ञाता हो जाता है उतने ही प्रमाण में राग-द्वेष भी रुक जाते हैं। ज्ञानी अनुकूलता और प्रतिकूलता के प्रसंगों को जानते अवश्य हैं, किन्तु मैंने ऐसा किया इसलिए ऐसी अनुकूलता या प्रतिकूलता हुई—वैसा नहीं मानते और उसमें दु:ख-सुख की कल्पना भी नहीं करते। मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा ही हूँ, उस स्वभाव के कार्य के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य मेरा है ही नहीं—ऐसा ज्ञानी मानते हैं इसलिए वे सदा सुखी हैं। ज्ञानी के जो अल्प हर्ष-शोक होता है, वह परसंयोग के कारण नहीं होता, कर्म के कारण नहीं होता, अपने स्वभाव के कारण नहीं होता

किन्तु अपने पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण होता है—वैसा ज्ञानी समझते हैं। अल्प हर्ष-शोक को यहाँ नहीं गिना है।

दुनिया कहती है कि समझदार व्यक्ति सदा सुखी! अनाज, पैसा इत्यादि वस्तुओं का संग्रह करें तो सुखी होते हैं, किन्तु भाई! वह सब तेरे हाथ की बात नहीं है। संग्रह किया हुआ पैसा अथवा अन्नादि रहेंगे या नहीं रहेंगे—उसका क्या भरोसा? तू उन वस्तुओं के संग्रह का राग कर सकता है, परन्तु जड़ के कार्य कैसे होना चाहिए वह तेरे हाथ की बात नहीं है। आत्मा जड़ का ग्रहण नहीं कर सकता और न उसे रख ही सकता है। मिथ्या मान्यतारूप अहंकार कर सकता है।

अनुकूल राज्य में रहूँ तो धर्म हो—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु भाई! अनुकूल राज्य या प्रतिकूल राज्य कहीं आत्मा के धर्म को नहीं रोकते। पुण्य का उदय हो तो अनुकूल राजा मिलता है और पाप का उदय हो तो प्रतिकूल राजा मिलता है; परन्तु उससे कहीं आत्मा का धर्म नहीं रुकता। यदि राजा अनुकूल हो तो धर्म कर सकूँ वह बात बिल्कुल मिथ्या है; अपने पुरुषार्थ की मन्दता से स्वत: रुकता है और पुरुषार्थ की उग्रता से आगे बढ़ता है, परन्तु अज्ञानी निमित्त का दोष बतलाते हैं कि मुझे निमित्त ने आगे नहीं बढ़ने दिया।

अज्ञानी कहते हैं कि पूर्व में जो पुण्य-पाप किये थे उनका फल हमें मिल रहा है—ऐसा मानकर पुण्य-पाप के फल के स्वामी होते हैं, उन्हें स्वतन्त्र आत्मा की खबर नहीं है। पुण्य-पाप के फल अपने करने से मिलते हैं—ऐसा माननेवाले आत्मा की शान्ति का घात करनेवाले हैं। ज्ञानी तो जानता है कि पुण्य-पाप के फल मेरे नहीं हैं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ, मेरी शांति मुझमें है, पर से मुझे शान्ति नहीं है। जो भगवान का भक्त-दास है वह कर्म के फल को अपना नहीं मानता; जीव का स्वभाव ज्ञाता होने से ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं।

इस प्रकार शिष्य ने तीन प्रकार से पूछा था—एक तो, कर्म की जो-जो अवस्था होती है, उसे आत्मा जाने तो उससे उसके साथ कुछ कर्ता-कर्म का मेल होता है? दूसरे, अपने परिणामों को जानने से आत्मा का पर के साथ कुछ कर्ता-कर्म का मेल है? और तीसरे बोल में, कर्म के फल को जानने से आत्मा पर का करे—ऐसा कोई सम्बन्ध है? इन तीन प्रश्नों के उत्तर आचार्यदेव ने दिये हैं। अब शिष्य चौथा प्रश्न करता है।

शिष्य कहता है कि प्रभो! यह शरीर अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं जानता—ऐसे

पुद्गल का जीव के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं? प्रभो! ज्ञाता तो कदाचित् जानकर पृथक् रह सकता है परन्तु जिसे कुछ भी खबर नहीं है—ऐसे पुद्गल द्रव्य का, जो कि आत्मा को नहीं जानता, उसके कार्य को नहीं जानता; अपने कार्य को नहीं जानता और अपने फल को नहीं जानता, आत्मा के साथ कुछ कर्ताकर्म सम्बन्ध है या नहीं?

तीन गाथाओं में यह बात आ गयी है कि चैतन्य-पदार्थ कर्ता हो और जड़ की अवस्था उसका कार्य हो-ऐसा कभी होता ही नहीं। जो वस्तु परिणमित हो वह कर्ता, और उसमें जो कार्य हो वह कर्म। आत्मा स्वत: अपने स्वभाव का कर्ता है और अपना स्वभाव ही उसका कार्य है।

अब, चौथी गाथा में पूछता है कि जो जीव के परिणामों को, अपने परिणामों को और अपने परिणामों के फल को नहीं जानता है—ऐसे पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पोग्गल-दव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं।।७९।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गल-द्रव्य-मपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः।।७९।।

अर्थ:—इस प्रकार पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह अपने ही भावों से (भावोंरूप) परिणमन करता है।

जड़द्रव्य भी जीवद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता। जड़ जो पुद्गलद्रव्य है वह चैतन्य को धर्म कराये, मोक्ष कराये—इस प्रकार वह चैतन्यद्रव्य की पर्याय को ग्रहण नहीं करता; उस रूप परिणमित नहीं होता और न उस रूप उत्पन्न होता है। जीव कर्म से भिन्न है, इसलिए वह कर्म की अवस्था को नहीं करता और जड़कर्म आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराते।

प्रश्न:—प्रभो! आप कहते हो कि कर्म आत्मा का कुछ कर नहीं सकते, परन्तु वे आत्मा को हैरान तो करते हैं? केवलज्ञानी के भी चार अघाति कर्म हैं, इससे कर्म उन्हें भी शरीर में रोक रखते हैं—उसका क्या अर्थ है?

उत्तर:—ऐसा कहनेवाला वीतराग के मार्ग से बाहर है। क्या किया जावे! जो स्वत: नहीं समझे उसे कौन समझा सकता है? अरे भाई! केवली तो अपने शरीर में अपने योग गुण तथा अन्य गुण के अशुद्ध परिणमन के कारण रह रहे हैं। असिद्धत्व को स्वतत्त्व औदयिक भाव सूत्रजी में कहा है। अत: योग, असिद्धत्व, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, क्रियावती शक्ति, वैभाविक, ऊर्धगमनत्व, अव्याबाध, अगुरुलघु, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व वगैरह गुण की अशुद्धि के कारण रह रहे हैं, किन्तु अघातिकर्मों के कारण से नहीं। कर्म को कारण कहना वह तो व्यवहारनय के कथन हैं किन्तु ऐसा नहीं है।

जिस प्रकार सर्वज्ञ भगवान अपने जोग वगैरह गुण की योग्यता के कारण शरीर में रहे हैं, वैसे ही यहाँ निम्न दशा में भी स्वत: राग-द्वेष और भ्राँति करता है, उस अपनी योग्यता के कारण से हैरान होता है किन्तु जड़कर्म आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराते, हैरान भी नहीं करते।

कोई भी परवस्तु कभी भी आत्मा की अवस्था में परिणमित नहीं होती, उत्पन्न नहीं होती। कर्म में तो नयी-नयी अवस्था होती है, वह अपने कारण से ही होती है, आत्मा के कारण नहीं होती। आत्मा में जो नवीन अवस्था होती है, वह आत्मा के कारण होती है किन्तु कर्म के कारण नहीं होती। दोनों द्रव्य स्वतन्त्र भिन्न हैं।

जीवों को भ्रम हो गया है कि कर्म हमें हैरान करते हैं, किन्तु भाई! कर्म कभी हैरान करते होंगे? यह बेचारे जड़ हैं, इन्हें यह भी खबर नहीं है कि हम कौन हैं! इन कर्मों को, शरीरादि किसी को यह खबर नहीं हैं कि हम कौन हैं, किस रंग में परिणमित हुए हैं, फिर वे बेचारे तुम्हें कैसे हैरान कर सकते हैं? तुम वहाँ रुके इससे उनने तुम्हें स्पर्श किया और उसमें तुम मान बैठे कि कर्म हमें हैरान करते हैं। कर्म आत्मा को न तो कोई लाभ ही करते हैं और न हानि भी पहुँचा सकते; जब स्वत: राग-द्वेष करे तब कर्मों को निमित्त कहा जाता है, व्यवहार कहा जाता है।

जैसे मिट्टी स्वत: घड़े में अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य, अन्त में व्याप्त होकर घड़े को ग्रहण करती है, घड़ेरूप में परिणमित होती है, और घड़ेरूप उत्पन्न होती है; वैसे ही जो जीव के परिणामों को, अपने परिणामों को और अपने परिणामों के फल को न जाननेवाला पुद्गल द्रव्य है, वह स्वत: परद्रव्य के परिणामों में अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य,

अन्त में व्याप्त होकर उन्हें ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और न उत्पन्न ही होता है।

मिट्टी में से घड़े की जो अवस्था क्रमशः प्रगट होती है, वह अवस्था मिट्टी ने ग्रहण की है, मिट्टी उसरूप हुई है और उसरूप उत्पन्न हुई है। आत्मा में जो अवस्थाएँ होती हैं उन्हें नहीं जानता और अपनी अवस्था को भी नहीं जानता, तथा फल देकर खिरने की अपनी अवस्था को नहीं जानता—ऐसा जो कर्म है, वह आत्मा की अवस्था को ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उत्पन्न भी नहीं होता।

आत्मा का अपूर्व भान होकर जो अवस्था पर से भिन्न स्वतः में ही रहती है, वह अवस्था कर्म ने ग्रहण नहीं की है—पकड़ी नहीं है, कर्म उसरूप हुआ नहीं है और न उत्पन्न हुआ है।

पुद्‌गल द्रव्य स्वतः अपनी पर्याय को ग्रहण करता है—पकड़ता है—प्राप्त होता है, उसरूप होता है, उत्पन्न होता है। पुद्‌गलद्रव्य स्वतः अपने में प्रसरित होकर अपनी पर्याय के आदि में, मध्य में और अन्त में भी स्वतः ही उसे ग्रहण करता है—उसरूप होता और उत्पन्न होता है; इसलिए पुद्‌गलद्रव्य का जीव द्रव्य के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है। जीवों ने शास्त्र में यह सुना कि कर्म हैं वहाँ युक्त हुआ और कुतर्क खड़ा किया कि कर्म मुझे हैरान करते हैं; परन्तु भाई! आठ कर्मों की जो सूक्ष्म रज है, वह आत्मा के भाव को पकड़कर नहीं रखती। कोई कहे कि दर्शनमोह दूर होता है, तब आत्मा के गुण प्रगट होते हैं—इस प्रकार जो पर से गुण की पर्याय का प्रगट होना मानता है, वह महामूढ़ है। जब स्वतः आत्मा का भान करता है तो कर्म अपने आप हट जाते हैं, तब सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट होती है और कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं; वस्तु का स्वभाव ऐसा पराधीन नहीं है कि जब दर्शन-मोह दूर हो जायेगा तब सम्यग्दर्शन प्रगट होगा।

कोई यह कहे कि पुद्‌गल द्रव्य तो जड़ है, इससे वह नहीं जानता कि जीव के साथ उसका कर्ताकर्मपना है या नहीं? घर का समझदार व्यक्ति भले ही पर-दूसरों से सम्बन्ध न रखे, किन्तु जो अजान है वह तो सम्बन्ध रखता ही है न? उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भले ही सम्बन्ध न रखे परन्तु अजान तो जड़ है, वह तो सम्बन्ध रखेगा न? किन्तु भाई किसी द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है ही नहीं, प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव में परिपूर्ण

स्वतन्त्र है; किसी भी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ, किसी भी पक्ष से, किसी भी प्रकार-ज्ञानरूप से अथवा अजानरूप से कर्ताकर्म सम्बन्ध है ही नहीं; एक द्रव्य की अवस्था का कार्य दूसरे द्रव्य की अवस्था करे—ऐसा तीन काल और तीन लोक में भी नहीं हुआ है, होता नहीं है और न होगा ही। द्रव्य तो किसी का कार्य नहीं करता किन्तु पर्याय भी नहीं करती—यह अखण्ड सिद्धान्त है। जहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की बात आती हो वहाँ इस बात को अखण्ड रखकर उस बात को समझना चाहिए।

कोई कहे कि कर्म की प्रबलता हो तो राग-द्वेष होता है या नहीं? भाई! बिल्कुल मिथ्या बात है। अपने पुरुषार्थ की मन्दता से स्वत: विभाव में युक्त होता है इससे राग-द्वेष होता है। कर्म रंचमात्र राग-द्वेष नहीं कराता, कर्म राग-द्वेष कराता है—यह बात जैन सिद्धान्त में कहीं पर है ही नहीं।

पुनश्च कोई कहे कि निकाचित कर्मबन्ध किया हो तब तो भोगना ही पड़ता है न? किन्तु भाई! जितनी मात्र में कर्म बाँधे हो उतनी ही मात्रा में सीधा पुरुषार्थ करे तो निकाचित कर्म भी दूर हो जाते हैं। अपना पुरुषार्थ जितना मन्द हो उतना ही कार्य रुकता है, न कि कर्मों के बल से कार्य रुकता है। कर्म के बल से कार्य रुकता है—ऐसी बात तीन काल और तीन लोक में कहीं है ही नहीं; यह बात सम्यक् एकान्तरूप से सत्य है।

कोई व्यक्ति कहता था कि आत्मा परमाणु को नहीं हिला सकता परन्तु स्कन्ध को हिला सकता है क्योंकि वस्तुस्वभाव स्याद्वाद है। अरे भाई! तूने स्याद्वाद का ऐसा अर्थ ग्रहण किया है? स्याद्वाद किसे कहते हैं? स्याद्वाद तो वस्तुस्वरूप का रहस्य है; श्री समयसार के ४८८ पृष्ठ पर शक्तियों का विस्तार आता है, उसमें कहा है कि—एक वस्तु में वस्तुत्व (वस्तुपना) को प्रसिद्ध करनेवाली अस्ति, नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। आत्मा, आत्मारूप है और पररूप नहीं है—ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ एक साथ एक द्रव्य में हैं, उसे अनेकान्त कहा जाता है, यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है।

आत्मा स्वत: अपना कर सकता है किन्तु दूसरे आत्मा का कुछ नहीं कर सकता; जड़ का कुछ नहीं कर सकता। जड़, जड़ का कर सकता है, प्रत्येक परमाणु स्वत: अपना कर सकता है, किन्तु आत्मा का कुछ नहीं कर सकता और दूसरे परमाणु का भी वह कुछ

नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, आत्मा अपना कर सकता है परन्तु दूसरे आत्मा या परमाणु का अथवा स्कन्ध का कुछ नहीं कर सकता—ऐसा अस्ति-नास्ति स्वभाव वस्तु में है, उसी का नाम अनेकान्त है। वस्तु को वस्तुरूप से स्थिर रखनेवाली दो विरुद्ध शक्तियों का नाम अनेकान्त है।

आत्मा, आत्मा के भावों का कर्ता है और जड़ के भावों का भी कर्ता है—ऐसा मानना तो एकान्त हुआ, परन्तु दो विरुद्ध शक्तियाँ नहीं हुईं क्योंकि दोनों बातों में अस्ति आयी, दोनों में मिथ्या एकत्व करना ही आया, इसलिए वह एकान्त हुआ।

आत्मा, आत्मा का करता है और पर का कुछ भी नहीं करता वह सम्यक् अनेकान्त है; जड़, जड़ का कर्ता है और आत्मा का कुछ नहीं करता वह भी सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा, आत्मारूप है और पररूप भी है—ऐसा माने सो एकान्त है; दो द्रव्यों को मान्यता में एक किया इसलिए वह एकान्तदृष्टि है। दोनों में 'है' ऐसा माना है इससे अकेली अस्ति आयी किन्तु नास्ति नहीं आयी, विरुद्ध धर्म नहीं आया, अस्ति-नास्ति दोनों गुण नहीं हुए इससे एकान्त हुआ। उसी प्रकार जड़, जड़रूप से है और आत्मारूप से भी है—वैसा मानना भी एकान्तदृष्टि है। कर्म के दो अस्ति-नास्ति गुण भिन्न हैं और आत्मा के भिन्न हैं; सभी द्रव्यों के अस्ति-नास्ति दो गुण स्वतन्त्र भिन्न हैं, उन गुणों को यथार्थरूप से समझना सो अनेकान्त है। अनेकान्त तो वस्तु का त्रिकालिक स्वभाव है, अनेकान्त वह कहीं परिस्थितिवश कल्पना नहीं है, कुदड़ीवाद=संशयवाद नहीं है। एक वस्तु में एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सत-असत् इत्यादि परस्पर विरोधी दो स्वभाव होते हैं, उसे अनेकान्त कहा जाता है। अनेकान्त का स्वरूप समझने पर तो मोक्षमार्ग खुल जाता है, वीतराग का अन्तरंग जाना जा सकता है; वह कहीं बातें करने के लिये नहीं है किन्तु उसे समझे तो भेदज्ञानी होकर आत्मा की शान्ति-समाधि प्रगट होती है।

शुभभाव करते-करते पुण्यबन्ध होता है, धर्म भी होता है, और मोक्ष भी होता है, वैसा मानना सो एकान्त है; परन्तु शुभभावों से पुण्यबन्ध होता है किन्तु धर्म और मोक्ष नहीं होते—ऐसा मानना सो अनेकान्त है; उसी प्रकार शुद्धभाव से आत्मा का धर्म होता है—मोक्ष होता है परन्तु पुण्यबन्ध नहीं होता और कर्मों की निर्जरा होती है—ऐसा मानना भी अनेकान्त है, इस प्रकार अनेकान्त का स्वरूप अद्भुत अमृत-रसायन है।

कोई कहे कि केवलज्ञानी को मोक्ष जाने की इच्छा है परन्तु कर्म उसे रोकते हैं; किन्तु भाई वे तो वीतराग हैं, वीतराग के यदि इच्छा हो तो वीतराग कैसे ? इच्छा तो राग है और राग वीतराग के नहीं होता। केवली भगवान को कर्म शरीर में नहीं रोके रखता, अपने योग वगैरह गुण की योग्यता के कारण वे शरीर में रह रहे हैं। कर्म, कर्म की अवस्था करे और केवली भगवान को शरीर में रोकने की अवस्था करे—ऐसे दो कार्य नहीं करता। कर्म अपनी अवस्था स्वत: करता है किन्तु परद्रव्य की अवस्था नहीं करता। केवलज्ञानी पूर्ण वीतराग हैं उनके प्रदेश का जो कम्पन होता है, वह योग नामक गुण का विकार शेष रह गया है, उसके कारण होता है। केवली भगवान अपने वैभाविक गुण योग गुण आदि की अपनी योग्यता के कारण शरीर में रुके हैं; चार अघाति कर्म तो जड़ हैं वे केवलज्ञानी को नहीं रोक सकते। किसी की अवस्था किसी को रोक दे—ऐसा होता ही नहीं। केवली भगवान के योग का जो कम्पन है वह व्यवहार है किन्तु अशुद्ध व्यवहार है और सिद्ध भगवान के भी प्रतिसमय पर्याय होती है वह भी व्यवहार है, परन्तु वह शुद्ध व्यवहार है। केवली भगवान के प्रति समय शुद्ध पर्याय होती है वह शुद्ध व्यवहार है और योग का कम्पन अशुद्ध व्यवहार है। सभी द्रव्य स्वत: अपनी अवस्था को करते हैं, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की अवस्था को नहीं करता।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रम-मति-रनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ।।५०।।

अर्थ:—ज्ञानी तो अपनी और पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तन करता है और पुद्गलद्रव्य स्व और पर की परिणति को न जानता हुआ वर्तन करता है; इस प्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों पृथक् द्रव्य होने से) वे दोनों परस्पर अन्तरंग में व्याप्य-व्यापक भाव की प्राप्ति करने में असमर्थ हैं। जीव-पुद्गल के कर्ताकर्मपना है—ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण तब तक भासित होती है (-होती है) जब तक कि (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति करवत की भाँति निष्ठुर रीति से (उग्र रीति से) जीव-पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती।

ज्ञानी अर्थात् वीतराग का भक्त, वीतराग का दास। वह अपनी और पर की अवस्था को जानता तो है, किन्तु वह जड़ का भक्त नहीं होता; जो अल्प राग-द्वेष होता है, उसे जानता अवश्य है तथापि वह जड़ का दास नहीं होता।

जिसे संसार की भक्ति अर्थात् चौरासी लाख में परिभ्रमण करने की भक्ति करना है, वह ऐसा मानता है कि राग-द्वेष मेरा स्वरूप है और वह मुझसे होता है। शरीर की क्रिया—खाना, पीना, लेना, देना इत्यादि अपने से होता है वह ऐसा मानता है परन्तु भगवान का भक्त-सम्यक्त्वी उसे अपना स्वरूप नहीं मानता।

भगवान का भक्त अर्थात् जिसके हृदय में भगवान की भक्ति प्रगट हुई है, वह ऐसा मानता है कि राग-द्वेष मेरे ज्ञाता के जानने योग्य हैं; शरीर की हलने-चलने की क्रिया मेरे ज्ञाता का ज्ञेय है, मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, वह मेरा स्वरूप नहीं है; जड़, जड़ से प्रवर्तमान होता है। और आत्मा, आत्मा से—इस प्रकार दोनों द्रव्य स्वतन्त्ररूप से भिन्न प्रवर्तन करते हैं—ऐसा ज्ञानी जानता है।

जड़ पदार्थ स्वतः अपनी और आत्मा की-दोनों की अवस्थाओं को न जानता हुआ प्रवर्तन करता है; यह शरीर ऐसे चलता है, ऐसे बैठता है उसकी उसे कुछ भी खबर है? कुछ भी नहीं बिल्कुल अपरिचित है। आत्मा का और जड़ का कहीं भी किसी स्थान पर मेल नहीं है; आत्मा बिल्कुल ज्ञाता है और पुद्गल एकदम जड़ है, इससे दोनों का कुछ भी मेल नहीं है।

इस प्रकार जड़ और आत्मा में सदा अत्यन्त भेद होने से वे दोनों परस्पर अन्तरंग में व्याप्यव्यापक भाव को प्राप्त करने में असमर्थ हैं अर्थात् आत्मा स्वतः व्यापक (कर्ता) और जड़कर्म की अवस्था आत्मा का व्याप्य; (कार्य) और जड़कर्म व्यापक अर्थात् जीव के भावों का कर्ता तथा आत्मा की अवस्था कर्म का व्याप्य-वैसी व्याप्यव्यापकता होना बिल्कुल असम्भव है।

जड़ के कार्य आत्मा के हैं और आत्मा उनका कर्ता है—ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञान के कारण तब तक भासित होती है जब तक कि भेदज्ञान करनेवाली विज्ञानज्योति करवत की भाँति निर्दय रीति—उग्र रीति से जीव-पुद्गल का तत्काल भेद प्रकट करके प्रकाशित नहीं होती।

स्व और पर को पृथक् करनेवाली ज्ञानज्योति प्रकट होने से, जैसे करवत लकड़ी के दो टुकड़े कर डालता है, निर्दयतापूर्वक दोनों को पृथक् कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानज्योति स्वभाव और परभाव को पृथक् कर देती है, भेद कर देती है। जो सन्धि अनादि से नहीं टूटती थी उसे तोड़कर दोनों को भिन्न कर डालती है, किंचित् भी दया रखे बिना, निर्दयता से दोनों के भेद करके आत्मधर्म प्रकट करती है; भेदज्ञान स्व-पर को उग्र रीति से पृथक् करता है।

रागद्वेषादि भाव मेरे हैं, शरीरादि मेरे हैं; में उनका कर्ता हूँ—ऐसी भ्रमबुद्धि जब तक रहती है, तब तक भेदज्ञानज्योति प्रकाशित नहीं होती अर्थात् वहाँ तक अज्ञान और मूढ़ता रहती है। दुनिया में कहा जाता है कि इस मनुष्य ने बहुत परोपकार किये हैं—आम बोये हैं; किन्तु पर का कार्य कोई कर ही नहीं सकता फिर आम बोने की बात ही कहाँ रही? दुनिया को पर का भला कर देने की सबको पराधीन मानने की बात बहुत अच्छी-मीठी लगती है परन्तु वह मीठा विष है, उस मीठे विष से तेरे आत्मा की हत्या हो रही है।

कितने ही तो कहते हैं कि परोपकार के लिये भले ही अपने को अधिक भव धारण करना पड़ें, यदि पर का भला हो तो वह परमार्थ है—वैसा माननेवाला बिल्कुल मूढ़ है, वैसा कहनेवाले के भव ग्रहण की रुचि दूर ही नहीं हुई है, ऐसे मनुष्य के लिये भव का अन्त था ही कहाँ? उसे तो चौरासी में परिभ्रमण करने के लिये अनन्त भव प्रस्तुत ही हैं। जहाँ, पर का कुछ कर ही नहीं सकता वहाँ, पर का कर सकता हूँ—यह मान्यता ही मूढ़ता है और उसके लिये अधिक भव धारण करूँ, ऐसा अभिप्राय बड़ी मूढ़ता है। वहाँ भव का अन्त था ही कहा? वह तो चौरासी में परिभ्रमण को ही आनन्द मानता है।

प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र है, सब द्रव्यों की अवस्था अपने-अपने आधार से होती है, किसी द्रव्य की अवस्था किसी अन्य द्रव्य के आधार से नहीं होती। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का तीनों काल अत्यन्त अभाव है, परस्पर अभावपना दूसरों में क्या करें? एक आत्मा की अवस्था अपने आत्मा के आधार से होती हे, दूसरे आत्मा की अवस्था उसके अपने आत्मा के आधार से होती है; उसी प्रकार परमाणु-पुद्गल की अवस्था भी प्रत्येक के अपने ही परमाणु के आधार से होती है। प्रत्येक वस्तु निज शक्ति से परिपूर्ण है अनादि-अनन्त काल से प्रत्येक वस्तु की अवस्था वस्तु के ही

आधार से होती है—ऐसा वस्तु का स्वभाव सर्वज्ञदेव के ज्ञान में ज्ञात हुआ है, वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है; तब फिर आत्मा को शरीरादि का कर्ता मानना भ्रम ही है, और वह भ्रम वस्तुस्वभाव का ज्ञान करने से अर्थात् सम्यग्ज्ञान होने से नाश को प्राप्त होता है।

सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा समझता है कि अरे! मैं कौन हूँ? मैं तो 'ज्ञान वस्तु' हूँ; फिर मैं किसको करूँगा, किसको ग्रहण करूँगा? मैं अपनी ज्ञानस्वरूप चेतना के अतिरिक्त किसी को नहीं कर सकता, किसी का ग्रहण त्याग नहीं कर सकता। मैं तो अपने अनन्त गुणस्वरूप आत्मा का स्वामी हूँ, मैं पर का स्वामी होता ही नहीं इसलिए मैं परद्रव्य का अथवा राग-द्वेषादि परभावों का कर्ता नहीं हूँ—ऐसी पहिचान सम्यग्ज्ञानी जीव को होती है। सम्यग्ज्ञान हुआ अर्थात् वह भगवान का भक्त होता है। पहले पर के स्वामित्व से अज्ञान अवस्था में जितनी अधिकता से राग-द्वेष होते थे वे अब सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् नहीं होते, परन्तु अपने पुरुषार्थ की मन्दता के कारण अल्प राग-द्वेष होते हैं, वे रहने के भाव में नहीं किन्तु नष्ट करने के भाव में रहे हैं, इससे उन्हें गिनती में नहीं लिया है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मुझे पर के कारण राग-द्वेष होते हैं; इसने मुझे ऐसे कठोर शब्द कहे, प्रतिकूलता की इससे मुझे द्वेष हुआ; और इस घर के मनुष्य बहुत अनुकूल हैं, बच्चे बहुत आज्ञाकारी, विनयशील हैं, इस कारण मुझे इन पर राग आता है; इस प्रकार राग-द्वेष होने का कारणपना वह पर के ऊपर डालता है अथवा उसे अपना स्वभाव मानकर राग-द्वेष करता है। अज्ञानी और ज्ञानी की दृष्टि में एकदम अन्तर होता है। ज्ञानी अभी पूर्ण वीतराग न हुआ हो और गृहस्थाश्रम में हो तो उसके भी अल्प राग-द्वेष होता है तथापि वह ऐसा समझता है कि यह राग-द्वेष मुझे किसी परपदार्थ के कारण नहीं होता, अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों के कारण नहीं होता, और वह राग-द्वेष को अपना स्वभाव भी नहीं मानता किन्तु ऐसा समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण ही मुझे राग-द्वेषादि भाव होते हैं, अन्य कोई भी कारण नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में उदय-अस्त जितना अन्तर होता है। जो पर का दोष बताये, उसका राग-द्वेष कब दूर होता है? परन्तु जो स्वत: की भूल को देखता है उस ज्ञानी के स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ द्वारा रागद्वेषरूपी दोष दूर हो जाता है। जैसे प्रकाश करने से अन्धेरा हटाना नहीं पड़ता-स्वयं उत्पन्न होता नहीं ॥७९॥

आत्मा के परिणामों का और पुद्‌गल के परिणामों का अन्योनय निमित्तमात्रपना है, तथापि उनके कर्ताकर्मपना नहीं है; निमित्त में निमित्त की क्रिया परिपूर्ण होती है और आत्मा राग-द्वेष करे वह अपनी पर्याय में पूरा-पूरा करता है, किन्तु उस राग-द्वेष में कुछ भाग आत्मा का और कुछ जड़ का, इस प्रकार दोनों का थोड़ा-थोड़ा भाग मिलकर राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष होने में आत्मा भी भाग लेता है और जड़ भी भाग लेता है—ऐसा नहीं है। आत्मा का शत-प्रतिशत आत्मा में और कर्मरूप निमित्त का शत-प्रतिशत निमित्त में है। आत्मा के साथ परकर्म के संयोगरूप अन्य वस्तु है, तथापि कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, मात्र एक दूसरे का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है—ऐसा निम्नोक्त गाथाओं में कहते हैं।

जीव-परिणाम-हेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल-कम्म-णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८०॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण-णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गल-कम्म-कदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीव-परिणाम-हेतुं कर्मत्वं पुद्‌गलाः परिणमन्ति।
पुद्‌गल-कर्म-निमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८०॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्य-निमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥८१॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्‌गल-कर्म-कृतानां न तु कर्ता सर्व-भावानाम् ॥८२॥

अर्थः—पुद्‌गल, जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप परिणमित होते हैं, वैसे ही जीव भी पुद्‌गलकर्म के निमित्त से परिणमन करता है। जीव, कर्म के गुणों को नहीं करता और कर्म जीव के गुणों को नहीं करता; परन्तु परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम को जानो! इस कारण आत्मा अपने ही भावों से कर्ता (कहा जाता) है, परन्तु पुद्‌गलकर्म द्वारा किये गये सर्व भावों का कर्ता नहीं है।

पुद्‌गल जड़ हैं, वे जगत में एक भिन्न वस्तु हैं, रूपी हैं, कर्मरूप से परिणमन करते हैं। आत्मा दया, दान, हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि जैसे-जैसे भाव करे उन भावों का निमित्त प्राप्त करके पुद्‌गल स्वयं (स्वत:) परिणमित होते हैं। इस प्रकार जब आत्मा विपरीत पुरुषार्थ द्वारा स्वत: राग-द्वेष करता है, उस समय कर्म का निमित्त होता है। उपादान का अर्थ है—स्वत: उस पर्याय में परिणमित होनेवाला पदार्थ, और सहकार अर्थात् साथ में रहनेवाला। सहकार का अर्थ मदद देना या साथ देना नहीं है, परन्तु साथ में रहनेवाला।

जब स्वयं काम, क्रोध, वासना के भाव करे तो उस समय कर्म साथ में निमित्तरूप है—उपस्थितिरूप है, उसे निमित्त कहा जाता है। जीव स्वाश्रय के बल से रागरूप न हो तो कर्म को निमित्तरूप नहीं कहा जाता। शुभाशुभभाव होने में यदि कर्म का निमित्त न हो तो वे भाव आत्मा का स्वरूप हो जायें, वैसे ही यदि कर्म ही आत्मा को राग-द्वेष करा देता हो तो आत्मा पराधीन हो गया, कर्म और आत्मा एक हो गये, कर्म निमित्तरूप न रहा किन्तु उपादानरूप हो गया, इसलिए इससे ऐसा सिद्ध होता है कर्म आत्मा के राग-द्वेष होने में धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्ररूप है किन्तु वह बलात् राग-द्वेष नहीं करा देता, और उसी प्रकार कर्म बाँधने में आत्मा का राग-द्वेष निमित्तमात्ररूप है परन्तु आत्मा का राग-द्वेष कर्म को नहीं बाँध देता।

आत्मा कर्मरूप पुद्‌गल के गुणों को नहीं करता; पुद्‌गल के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आकार, स्थिति, अनुभाग इत्यादि को आत्मा नहीं करता, उसी प्रकार जड़कर्म आत्मा के राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-वासना, रति-अरति, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि शुभाशुभ परिणामों को नहीं करता परन्तु दोनों को परस्पर निमित्तरूप सम्बन्ध है—वैसा जानो। इसलिए आत्मा अपने जो भी भाव करता है, उनका कर्ता है परन्तु जो प्रारब्ध-कर्म बँधते हैं, उन्हें आत्मा नहीं बाँधता; वे कर्म स्वत: अपने कारण से बँधते हैं। अपने गुणों का विकास न करके आत्मा स्वत: विपरीत भावों में बँधता है अर्थात् उनमें रुकता है, किन्तु जड़कर्मों को आत्मा नहीं करता।

जीवपरिणाम को निमित्त करके पुद्‌गल, कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्‌गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमन करता है। आत्मा जितने पूजा-भक्ति आदि के शुभभाव करे उतना ही पुण्यकर्म बँध जाता है; परन्तु आत्मा पुण्य के भाव भी करे और

पुण्यरूप कर्म भी आत्मा स्वत: करे—वैसा नहीं है, किन्तु आत्मा भाव करे उन्हीं के प्रमाण में नवीन कर्म होने योग्य रजकण कर्म की अवस्थारूप परिणमित हो जाते हैं। पुण्यभाव अल्प करे और पुण्यकर्म अधिक बँध जाये—ऐसा हो सकता है ? नहीं हो सकता। उसी प्रकार पापभाव अल्प करे और पापकर्म अधिक बँध जाये, ऐसा भी नहीं हो सकता; किन्तु आत्मा जितने प्रमाण में पुण्य-पाप के भाव करे उतने ही प्रमाण में, कर्म होने योग्य जो अजीव रूपी जड़वस्तु है, वह आत्मा के भावों का निमित्त प्राप्त करके कर्मरूप परिणमित होती है। जब आत्मा विपरीत वीर्य के द्वारा राग-द्वेष करता है तब कर्म का उदय उसे निमित्त होता है, इस प्रकार शास्त्र में भीतर ही भीतर निमित्तपने का उल्लेख होने पर भी, जीव और पुद्गल के परस्पर व्याप्यव्यापक भाव का अभाव होने के कारण जीव को पुद्गलपरिणामों के साथ और पुद्गल को जीवपरिणामों के साथ कर्ताकर्मपने की असिद्धि होकर मात्र निमित्तनैमित्तिक भाव का निषेध न होने से, अन्योन्य निमित्तमात्र होने से ही दोनों के परिणाम हैं; एक-दूसरे द्रव्यों के व्याप्यव्यापक भाव का अभाव है इससे कहीं निमित्तनैमित्तिकपने का अभाव नहीं है; यदि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध न हो तो संसार ही न हो; निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के कारण ही संसार-मोक्ष दोनों बने हुए हैं। निमित्त अर्थात् पर और नैमित्तिक अर्थात् स्वत: उपादान। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी कर्ताकर्मपना नहीं है; निमित्त-नैमित्तिकपना है और कर्ताकर्मपना नहीं है—वैसा चारों पक्षों का सम्पूर्ण स्वरूप समझने से ही संसार के नाश का उपाय प्राप्त हो और उस प्रकार का पुरुषार्थ करने से तत्काल मोक्ष होता है।

आत्मा के परिणाम का कर्ता जड़ नहीं है, और न जड़ का यह कार्य है। जड़ के परिणाम का कर्ता आत्मा नहीं है और न आत्मा का यह कार्य है; इस प्रकार परस्पर कर्ताकर्मपने की असिद्धि है, तथापि आत्मा के राग-द्वेष परिणाम के समय पुद्गलकर्म की उपस्थिति होती है और राग-द्वेष की उपस्थिति में पुद्गलकर्म बँधते हैं—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे मिट्टी द्वारा घड़े की रचना होती है, वैसे ही अपने भाव द्वारा अपना भाव होता होने से जीव कदाचित् अपने भाव का कर्ता है; कदाचित् अर्थात् अपने राग-द्वेष परिणाम का कर्ता आत्मा अज्ञानभाव से है; जहाँ तक गुणों का भान नहीं है वहाँ तक अज्ञानभाव से कर्ता है; ज्ञानभाव से नहीं। ज्ञानभाव से तो ज्ञान का कर्ता है।

अपने भाव द्वारा अपना भाव होता होने से अर्थात् पर को अपना मानता है वैसे मिथ्यात्वभाव द्वारा राग-द्वेष का भाव होता होने से जीव मिथ्यात्व भाव द्वारा राग-द्वेष का कर्ता है, परन्तु पुद्गल का कर्ता कभी भी नहीं है।

जैसे मिट्टी द्वारा कपड़ा नहीं किया जा सकता, वैसे ही अपने भाव के द्वारा परभावों का करना अशक्य होने से पुद्गल भावों का कर्ता तो कभी है ही नहीं, यह निश्चय है।

जीव का अपने भावों से जड़ का कुछ भी करना अशक्य होने से आत्मा जड़ की अवस्था को नहीं कर सकता—कर्म की अवस्था को नहीं कर सकता। आत्मा कदाचित् अपने दया, दान, हिंसा, झूठ इत्यादि पुण्य-पाप के भावों का कर्ता हो, परन्तु स्वत: जड़कर्म को करे—ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। विकारी भावों का कर्ता जीव को कदाचित् अर्थात् अज्ञानभाव से कहा है परन्तु जड़ का कर्ता तो कभी भी नहीं है, ऐसा कहा है।

मैं दूसरे का बिगाड़ देता हूँ—बना देता हूँ, मेरे बिना एकदम अव्यवस्था हो जायेगी, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। कोई किसी का कुछ भी करने में कभी भी समर्थ नहीं है। सबको पुण्य-पाप के उदयानुसार निमित्त बनते हैं।

कितने ही मनुष्य कहते हैं कि पुण्यवन्त प्राणी हो तो अच्छा कार्य कर सकता है, किन्तु भाई! उपस्थित वस्तु की यदि अनुकूल अवस्था होना हो तो तब पुण्यवन्त प्राणी का निमित्त बनता है, इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि यह कार्य पुण्यवन्त प्राणी ने किया है, परन्तु वास्तव में किसी का कुछ भी करने में कोई समर्थ नहीं है, उपस्थित वस्तु स्वतन्त्र है, उसकी जो अवस्था होना होती है, वह उसी से होती है, उसमें जो अनुकूल निमित्त बनता है, उसे निमित्त कहा जाता है, शेष कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। जीव या तो अभिमान करता है, नहीं तो जानता है कि इसकी अवस्था इसी से होती है इसमें इस शरीर की उपस्थिति है। जीव स्वत: अभिमान करता है कि मैं पर का कर सकता हूँ और ज्ञान होने पर जानता है कि ज्ञान अतिरिक्त कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता।

घड़ा बनना हो उस समय कुम्हार का निमित्त होता है, किन्तु न्यायालय में कुम्हार नहीं होता घड़ा बनने में वकील नहीं होता, इस प्रकार जिस कार्य में जो निमित्त अनुकूल पड़े उस निमित्त की उस कार्य के समय उपस्थिति होती है। मैं किसी को समझा दूँ ऐसा अभिप्राय बिल्कुल मिथ्या है। जब सामनेवाले जीव में समझने की योग्यता हो तब तेरा

निमित्त मिलता है। यह बात सर्वज्ञ भगवान के घर की है, कोई इसमें परिवर्तन करना चाहे तो नहीं हो सकता।

कितने ही लोग कहते हैं कि मैंने बीमार के लिये दवा ला दी, वैद्य को बुला दिया, रक्षा का प्रबन्ध कर दिया, इसलिए ठीक हो गया तो वैसा अभिप्राय बिल्कुल मिथ्या है। बीमार को दवा मिलना थी, वैद्य को आना था, इसलिए तेरा निमित्त उसे मिला। कहीं बीमार के पुण्योदय ने तुझे शुभ इच्छा और तेरे शरीर की क्रिया नहीं करा दी है; दवा लाने का विकल्प तुझे स्वत: से ही अपने राग के कारण आया है, परन्तु सामनेवाले के पुण्योदय का और तेरे राग का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है, इससे ऐसा कार्य बन जाता है।

जाति को, देश को अथवा किसी भी बाह्य को व्यवस्थित रखना तेरे हाथ की बात नहीं है; उन सबको व्यवस्थित रहना हो तो अपने आप ही रहते हैं, उसमें यदि तेरा निमित्त बनना हो तो बनता है। मकान का बन्दोबस्त करना रक्षण करना तेरे हाथ की बात त्रिकाल में नहीं है, तुझे उन पर राग है इसलिए उनकी रक्षा का विकल्प आता है, परन्तु रक्षा होना-न होना तेरे हाथ की बात नहीं है; घर में सब व्यवस्थित रहना हो तब तेरे विकल्प को निमित्त कहा जाता है, किन्तु उनकी व्यवस्था पुद्गलद्रव्य के स्वतन्त्र परिणमन के कारण ही रहती है उसमें तेरी ममता कुछ करती हो—ऐसा तीन काल-तीन लोक में भी नहीं है। तेरे ममत्व के भाव तुझमें और पुद्गल का परिणमन उसमें, दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र परिणमित होते है।

पुनश्च, अज्ञानी जीव कहता है कि यदि हम बाल-बच्चों की अच्छी तरह से सार-सँभाल करें तो वे अच्छे होते हैं, घर में अच्छी गाय या भैंस रखकर बच्चों को घर का दूध-दही खिलाएँ तो शरीर तन्दुरुस्त हो—ऐसा अज्ञानी मान रहा है किन्तु यह उसकी मूढ़ता है। किसी के अवस्था किसी के आधार से रहती होगी? बच्चों का शरीर अगर स्वस्थ-सुन्दर होना हो तो अनुकूल निमित्त प्राप्त होते हैं, निमित्त कहीं शरीर को स्वस्थ नहीं बना देते। वही दूध प्रतिदिन खाता हो किन्तु असाता का उदय हो तो वे निमित्त उसे प्रतिकूल परिणमित होते हैं, इसलिए दूध-दही कहीं शरीर को मजबूत नहीं कर देते, परन्तु जैसा साता या असाता का उदय हो वैसा होता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि एक द्रव्य का कर्ता दूसरा द्रव्य नहीं है। इस प्रकार किसी द्रव्य का कर्ताकर्म सम्बन्ध किसी दूसरे द्रव्य में नहीं है ॥८०-८२॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव को अपने ही परिणामों के साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव है—ऐसा अब कहते हैं:—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।।८३।।

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम्।।८३।।

अर्थ:—निश्चयनय का ऐसा मत है कि आत्मा स्वत: को ही करता है और फिर स्वत: को ही भोगता है; हे शिष्य! तू ऐसा जान।

निश्चयनय अर्थात् सच्ची दृष्टि का ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा अपने राग-द्वेष, हर्ष-शोक के भावों को करता है और भोगता है, परन्तु शरीर-दूध-दही आदि को नहीं भोग सकता—जड़ को नहीं भोग सकता—ऐसा हे शिष्य तू जान। यहाँ 'जानने' पर भार दिया है। मैं पर का कर्ता भोक्ता हूँ ऐसास मानना अज्ञानी जीवों का भ्रम है।

हर्ष-शोकादि के शुभाशुभ भावों को स्वत: करता है, कर्म नहीं करा देते। कोई कहे कि तृष्णा कम करने का भाव हमारे पुण्य में होगा तो तृष्णा कम होगी, यह बात बिल्कुल मिथ्या है। वर्तमान में पुरुषार्थ करके तृष्णा कम कर सकता है। तृष्णा को घटाना पुण्य के आधार से नहीं है किन्तु अपने ही आधार पर है। जिनके स्वत: को पैसा रखने की ममता लगी हो और एक पैसा भी न छूट सकता हो वे ऐसी पुण्य की ओट लेकर बचाव करते हैं, जो कंजूस का पुतला हो वह कर्म का दोष निकालता है; तथापि जब घर में स्त्री को सिंगारने का भाव होता है उस समय कर्म का दोष क्यों नहीं निकालता? परन्तु जो वह माँगे उसे जल्दी जाकर रुचिपूर्वक लाता है; क्योंकि वहाँ पर उसे रुचि है और देव, गुरु, शास्त्र में रुचि नहीं है इससे पुण्य की ओट लेता है। जिनके देव, गुरु, शास्त्र की रुचि है, भक्ति है, वे उनकी शोभा में वृद्धि करने के लिये अपनी तृष्णा घटाने को उत्साहित हो जाते हैं। अशुभपरिणामों से शुभपरिणाम करना अपने हाथ की बात है।

कितने ही लोग कहते हैं कि जब सत्समागम होना होगा तब हमें शुभविकल्प आयेगा, परन्तु भाई! वैसा नहीं है। सत्समागम अपने को शुभविकल्प नहीं ला देता क्योंकि

दोनों द्रव्य स्वतन्त्र-भिन्न हैं। स्वत: पुरुषार्थ के द्वारा अशुभपरिणामों में से शुभपरिणाम कर सकता है। विनय, भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, सत्समागम के शुभपरिणाम जब स्वत: पुरुषार्थ करता है तब होते हैं, जब स्वत: सत्समागम की जिज्ञासा करे तब पुण्योदय से सत्समागम की प्राप्ति होती है। या तो पूर्व के उदय से प्राप्ति होती है या वर्तमान में स्वत: सत्समागम के भाव किये इससे पुण्यबंध होता है अर्थात् तू इसलिए भाव कर जिससे सत्समागम की प्राप्ति हो; भावों का और पुण्योदय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इससे शुभभाव करना तेरे हाथ की बात है; पूर्व कर्म शुभभाव नहीं करा देते।

अनेक जीव मार्ग को जाने बिना मिथ्याध्यान में लीन रहते हैं और फिर कहते हैं कि हमारे शुभकर्म का उदय हो तब शुभपरिणाम आते हैं और जब अशुभकर्म का उदय हो उस समय अशुभपरिणाम आते हैं परन्तु यह बात बिल्कुल मिथ्या है। अशुभपरिणाम भी अपने विपरीत पुरुषार्थ से होते हैं और शुभपरिणाम भी, यदि अशुभ में से शुभपरिणामों में आने का पुरुषार्थ स्वत: करे तब होते हैं।

ज्ञानी शुभाशुभ परिणामों का कर्ता नहीं, किन्तु मात्र ज्ञाता है; तथापि अशुभपरिणामों से बचने के लिये पुरुषार्थ द्वारा शुभपरिणामों में रहता है, इससे पर्यायदृष्टि से उसे शुभपरिणामों का कर्ता भी कहा जाता है। कर्तृत्वबुद्धि नहीं—स्वामित्व बुद्धि नहीं है, तथापि अस्थिरता के कारण अशुभपरिणामों से बचने के लिये शुभपरिणामों में वीर्य युक्त होता है इससे परिणमन अपेक्षा दृष्टि से अस्थिरता का कर्ता ज्ञानी को कहा जाता है। बाह्य में व्यापार-धन्धा, मकान बनवाना, मन्दिर स्थापित करना-इत्यादि कार्यों सम्बन्धी विकल्प ज्ञानी को आते हैं इससे असद्भूत व्यवहारनय से उसे उन सभी कार्यों का कर्ता कहा जाता है, तथापि द्रव्यदृष्टि से ज्ञानी उनका कर्ता नहीं है; जो-जो विकल्प उठते हैं और कार्य होते हैं, उनका मात्र ज्ञाता ही है। श्रद्धा और ज्ञान का परिणमन अकर्ताभाव से होता ही रहता है।

ज्ञानी को अस्थिरता का कर्ता कहना और जड़ का कर्ता कहना उन दोनों में अंतर है, क्योंकि अस्थिरता तो चैतन्य की पर्याय में होती है इसे वह तो किसी अपेक्षा से चैतन्य की की हुई कही जा सकती है परन्तु जड़ का कर्ता कहना सो बिल्कुल उपचार है। असत्यार्थ है।

कितने ही मनुष्य कहते हैं कि पूर्व संस्कार हों तो धर्म कर सकते हैं; तो पूर्व भव

में भी धर्म का प्रारंभ करनेवाला तो तू ही था न? और वर्तमान में पूर्व संस्कारों को याद करनेवाला भी तू ही है न? इससे सिद्ध हुआ कि पुरुषार्थ करनेवाला जब पुरुषार्थ करता है तो वर्तमान में ही करता है, पुरुषार्थ वर्तमान में ही होता है। पूर्व संस्कारों को प्रगट करनेवाला वर्तमान नये पुरुषार्थ से ही उन संस्कारों को प्रगट करके आत्मा की शुद्ध निर्मल पर्याय को प्रगट करता है।

यह नासमझ तो सभी जगह पूर्व-पूर्व ही ले बैठा है। धर्म की बात में भी यदि पूर्व संस्कार हों तो धर्म होता है, और अशुभपरिणामों में भी अगर पूर्व का पुण्य हो तो शुभपरिणाम होते हैं—इस प्रकार पुरुषार्थ का आलसी सभी जगह पूर्व-पूर्व लेकर बैठा है। किन्तु भाई! धर्म, पुण्य और पाप जो भी होते हैं, वे सब तेरे पुरुषार्थ से ही होते हैं, कर्म बलात् नहीं करा देते।

वीतराग देव कहते हैं कि हे शिष्य! तू परवस्तु को नहीं भोग सकता परन्तु परवस्तु की ओर के राग को भोगता है अथवा तो परवस्तु की ओर के द्वेष को भोगता है। कोई कहे कि हम मिष्टान्न और फलादि खा सकते हैं। सुन भाई! क्या तेरे आत्मा में मिष्टान्न और फल घुस गये हैं? यदि वे आत्मा में प्रवेश कर गये हों और आत्मा उनमें एकमेक हो गया हो तो आत्मा ने मिष्टान्न और फल खाये हैं—ऐसा कहा जाये, परन्तु आत्मा में तो वे प्रवेश करते नहीं हैं, वे तो मुँह से पेट में जाते हैं और पेट से विष्टारूप में बाहर निकल जाते हैं, फिर इसमें तूने क्या उपभोग किया? तूने मिष्टान्न और फलों के राग को ही भोगा है परन्तु तू परवस्तु को भोग ही नहीं सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि तेरी दृष्टि पर के ऊपर है इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि मैं पर का उपभोग करता हूँ; किन्तु तुझमें रस नहीं है, गन्ध नहीं है, स्पर्श नहीं है, वर्ण नहीं है, तथापि परोन्मुखता के कारण तुझे भ्रम हो गया है कि मैं इस वस्तु को भोगता हूँ। परन्तु भाई! रूपीवस्तु तेरी अरूपी वस्तु में प्रवेश कर भी सकती है? तीन काल और तीन लोक में प्रवेश नहीं कर सकती, और इसीलिए रूपीवस्तु को अरूपी भोग ही नहीं सकती, मात्र परवस्तु के प्रति होनेवाले अपने राग का ही स्वत: उपभोग कर सकता है।

जैसे समुद्र की तरंगित और निस्तरंग अवस्थाओं को पवन का बहना और न बहना निमित्त होने पर भी पवन के और समुद्र के व्याप्यव्यापक भाव के अभाव के कारण कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है।

तरंगित अर्थात् जिसमें तरंगें उठती हैं—समुद्र में जो लहरें उठती हैं वह, और निस्तरंग अर्थात् जिसमें लहरें विलीन हो गयी हों—समुद्र में लहरों का समा जाना। उस समुद्र में लहरों के उठने में पवन का निमित्त है और लहरों के समा जाने में पवन का न होना अभावरूप निमित्त है; पानी पवन में प्रवेश नहीं करता और पवन पानी में प्रवेश नहीं करती। पवन यदि पानी में लहरों को उठाती है तो इस धरती में भी लहरों को उठा दे, किन्तु वैसा नहीं होता, इसलिए लहरों का उठना—वह समुद्र की अपनी योग्यता है, पवन ने लहरों को उत्पन्न नहीं किया किन्तु लहरें उठने के समय पवन की मात्र उपस्थिति है। पानी में लहरों के उठने और समा जाने में पवन का निमित्तमात्रपना है तथापि समुद्र में और पवन में व्याप्यव्यापकपने की असिद्धि होने से कर्ताकर्मपना नहीं है।

कोई कहे कि जब तूफान आता है तो पेड़ और मकान गिर पड़ते हैं? तूफान ने मकान को अथवा वृक्ष को नहीं गिराया है; उस मकान या वृक्ष में जब गिरने की योग्यता हो गयी हो उस समय उसे निमित्त मिल जाता है, मकान का गिरना या स्थिर रहना मकान के स्वतन्त्र स्वभावानुसार होता है, उसमें अन्य कोई कुछ नहीं कर सकता।

जब भूकम्प आता है तब एक ही साथ अनेक मनुष्य मर जाते हैं यह कैसे? यह इस प्रकार है कि जब सभी की आयु एक ही साथ पूर्ण होना हो उस समय भूकम्प होता है, जहाज डूब जाता है, निमित्त कुछ करता ही नहीं फिर क्या? उन प्रत्येक की आयु पूर्ण होने का उपादान तैयार हो गया हो तो निमित्त मिल जाता है।

इस प्रकार जब समुद्र स्वत: अपने में हिलोरें मार रहा हो उस समय पवन का मात्र निमित्तपना होता है। देखो 'मात्र' कहा है, अर्थात् निमित्त पर में बिल्कुल अकिंचित्कर है—कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। समुद्र स्वत: ही अपने में अन्तर्व्यापक होकर तरंगित अथवा निस्तरंग अवस्था के आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर अपने को उस अवस्थारूप करता हुआ—स्वत: को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है किन्तु अन्य को करता प्रतिभासित नहीं होता।

समुद्र अपने में ही हिलोरें लेता हुआ प्रतिभासित होता है परन्तु पवन लहरों को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। समुद्र स्वत: अपने में व्याप्त होकर, स्वत: अपने में ही परिणमित होकर, अपनी हिलोरेंरूप अवस्था को करता दिखायी देता है; समुद्र अपनी

अवस्था को उत्पन्न करता हुआ और उसे विलीन करता हुआ दिखायी देता है किन्तु अन्य किसी की अवस्था करता दिखायी नहीं देता।

पुनश्च, वही समुद्र, भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन करता अशक्य होने से, स्वत: का तरंगित अथवा निस्तरंगरूप अनुभवन करता हुआ स्वत: एक का ही अनुभवन करता हुआ प्रतिभासित होता है परन्तु अन्य का अनुभवन करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।

आचार्यदेव ने दृष्टान्त में भी कैसा कर्ता-भोक्ता भाव अवतरित कर दिया है कि— समुद्र भी अपनी उत्पाद और व्यय की अवस्था को भोगता है, भोगता हुआ दिखायी भी देता है, वह पर की अवस्था को नहीं भोगता; तब फिर जीव तो पर को भोगेगा ही कैसे ? आचार्यदेव ने अबाधित न्याय ही कर दिया है कि परभाव का पर के द्वारा भोगना अशक्य है अर्थात् भोगा ही नहीं जाता; पश्चात् चाहे जो वस्तु दृष्टान्त में अथवा सिद्धान्त में आये किन्तु पर को पर नहीं भोग सकता—यह न्याय सभी में अखण्ड रहा और स्वत: अपनी अवस्था को भोग सकता है—यह न्याय सिद्ध हुआ।

उसी प्रकार संसार और नि:संसार अवस्थाओं को पुद्गलकर्म के विपाक का सम्भव और असम्भव निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म को और जीव को व्याप्यव्यापक भाव के अभाव के कारण कर्ताकर्मपने की असिद्धि है।

चौरासी लाख में परिभ्रमण करने का भाव सो संसारभाव और चौरासी लाख में परिभ्रमण के भाव का अभाव सो नि:संसार अर्थात् मोक्ष की निर्मल अवस्थारूप भाव। जब आत्मा क्रोध-मान-माया-लोभादि के भाव करता है तब पुद्गलकर्म के उदय का निमित्त होता है। जैसे पवन के निमित्त से पानी में हिलोरें नहीं उठतीं वैसे ही कर्म के निमित्त में संसार नहीं है। दुनिया कहती है कि कर्म हैरान करते हैं; संसार में जो अनादि से भटक रहे हैं, वह कर्मों का ही कारण है; उस बात को आचार्यदेव यहाँ निकाल रहे हैं कि कर्मों का तो मात्र निमित्तपना है किन्तु तू अपने भावों के कारण ही भटका है। 'हाँ', आत्मा में जब राग-द्वेष भाव हों, उस समय कर्म के फल का आना निमित्त है और जब आत्मा में वीतरागदशा प्रगट हो उस समय कर्म का अभावरूप निमित्तपना है।

स्त्री-बच्चे अथवा कुटुम्ब को संसार नहीं कहा जाता किन्तु शुभाशुभ परिणामों को

अपना माने और यह माने कि उनसे मेरा हित होगा, तो वह मिथ्या भाव ही संसार है। संसारदशा कर्मों के कारण है—ऐसा नहीं है और कर्मों का अभाव होने से मोक्षदशा होती हो—वैसा भी नहीं है; परन्तु आत्मा की पर्याय में मिथ्या अभिप्रायरूप मिथ्यात्वभाव ही संसार है और विकार रहित सर्वथा निर्मलता का नाम मोक्षदशा है। जब मोक्षदशा प्रगट हो उस समय कर्मों का अभाव होता ही है परन्तु कर्मों का अभाव उनके अपने कारण से होता है और आत्मा की मोक्षदशा अपने कारण से होती है। उसी प्रकार मिथ्यात्वभावरूप संसार-अवस्था में कर्मों का उदय होता ही है परन्तु कर्मों का उदय उनके अपने कारण से और आत्मा में विकारी अवस्थारूप संसारभाव आत्मा के कारण होता है। एक दूसरे के निमित्त-नैमित्तिकपना होने पर भी कर्ताकर्मपना नहीं है।

पुद्गलकर्म को और जीव को व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, जीव ही स्वत: अन्तर्व्यापक होकर संसार अथवा मोक्ष अवस्था के आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर ससंसार अथवा नि:संसार अपने को ही करता हुआ प्रतिभासित हुआ।

आत्मा स्वत: ही परपदार्थ को अपना मानकर रुका है, ऐसा मानने में भी आत्मा का अपना ही व्यापकपना है, कर्म का व्यापकपना उसमें नहीं है। उसी प्रकार मोक्ष अवस्था के होने में भी आत्मा का ही व्यापकपना है; स्वत: सम्यक्‌श्रद्धा की, उसमें स्थिरता की और पूर्णदशा प्रगट की उसमें भी आत्मा का ही व्यापकपना है, कर्म के अभाव का व्यापकपना उसमें नहीं है, कर्म के अभाव का व्यापकपना कर्म में है, आत्मा में नहीं है; दोनों के कार्य भिन्न हैं।

अपने अवगुण के अभाव से मोक्ष, और अवगुण के सद्भाव से संसार है। कामराग, दृष्टिराग, मानराग इत्यादि समस्त राग जब स्वत: करता है तब होते हैं इसलिए वह कर्म का कार्य नहीं है किन्तु आत्मा अज्ञानभाव से उसका कर्ता है, और संसारदशा उसका कार्य है। ज्ञानदशा में निर्मल अवस्था का कर्ता आत्मा है और मोक्षदशारूप उसका कार्य है।

कर्म का सद्भाव सो कारण और राग-द्वेष के भाव होना सो कार्य—ऐसा नहीं है, किन्तु स्वत: अज्ञानभाव से शुभाशुभ भावों का कर्ता हुआ और शुभाशुभभाव कार्य हुआ। उसी प्रकार जड़कर्म का अभाव होने से मोक्षदशारूपी कार्य नहीं हुआ है किन्तु ज्ञानभाव से मोक्ष की निर्मल पर्याय का कर्ता आत्मा है और मोक्ष की निर्मल पर्याय हुई वह आत्मा का कार्य है।

आत्मा ने जब स्वत: राग-द्वेष के भाव किये तब कर्म का सम्भाव कहलाया और स्वत: जब राग-द्वेष को दूर किया तब कर्म का असम्भाव कहलाया। भगवान आत्मा स्वत: ही अपने को भूलकर संसार भाव करता है और स्वयं ही अपने को जानकर संसारभावों को दूर करके नि:संसारभाव करता है, इसलिए आत्मा स्वयं को—एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हुआ, किन्तु अन्य को करता प्रतिभासित नहीं हुआ।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! तू ऐसा समझ कि अपने भावों का कर्ता मैं हूँ—ऐसा मुझे प्रतिभासित हुआ है किन्तु कर्म ने मेरे भाव किये हैं—वैसा मुझे प्रतिभासित नहीं हुआ है; मैं स्वत: ही अपने भावों को अनुकूल-प्रतिकूल करता हूँ, ऐसा ही मुझे प्रतिभासित हुआ है परन्तु कर्म मुझे अनुकूलता-प्रतिकूलता कराते हैं, यह प्रतिभासित नहीं हुआ है।

यहाँ पर आचार्यदेव कहते हैं कि तू ऐसा समझ कि मैं पृथक् हूँ, यदि ऐसा नहीं समझा तो निवृत्त नहीं हो सकेगा। तेरे ही हाथ में संसार है और तेरे ही हाथ में मोक्ष है; संसार अथवा मोक्ष तेरे हटाने से हटते हैं और तेरे ही स्थित रखने से रहते हैं, उसमें कर्म-फर्म कुछ भी नहीं कर सकते।

अन्ध श्रद्धा से हाँ मत कहना, किसी की हाँ में हाँ मिलाने से वह हाँ स्थिर नहीं रहती इसलिए यथार्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिए। अरे! यदि एक यही बात पकड़ ले कि अपने अवगुणों और गुणों का कर्ता मैं ही हूँ तो भी कितनी ही अकुलाहट दूर हो जाये। जैसे आत्मा पर का कर्ता नहीं है, उसी प्रकार पर का भोक्ता भी नहीं है—अब कहते हैं।

जैसे कर्ता नहीं है, उसी प्रकार यह जीव भाव्यभावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन करना अशक्य होने से, अपने को संसार अथवा मोक्षरूप अनुभव करता हुआ अपना-एक का ही अनुभवन करता हुआ प्रतिभासित हुआ, परन्तु अन्य का अनुभवन करता प्रतिभासित नहीं हुआ।

तू भावक और जड़ की अवस्था तुझे भाव्य हो अर्थात् भोगने में आये-ऐसा नहीं होता, क्योंकि पर के द्वारा पर का भोगना अशक्य है अर्थात् नहीं बन सकता। इसमें सारी बात आ गयी कि खाना-पीना, कपड़े, गहने इत्यादि को भोगना—परवस्तु से परवस्तु का उपभोग कराना कभी बन ही नहीं सकता। संसार अवस्था में जीव राग-द्वेष, हर्ष-शोक, विकारी विभाव भावों को भोगता है और मोक्षदशा में अपनी पवित्र, निर्मल वीतरागता को

भोगता है—ऐसा अनुभवन करता हुआ अपना-एक का ही अनुभवन करता प्रतिभासित हुआ परन्तु अन्य का अनुभव करता प्रतिभासित नहीं हुआ।

आत्मा शुभभावों को करता है और उन्हें भोगता है; आत्मा जड़कर्मों को न तो कर सकता है और न भोग ही सकता है। जड़कर्म आत्मा में भिन्न वस्तु है इसलिए आत्मा न तो उनका कर्ता है और न भोक्ता ही।

जब राग-द्वेष और हर्ष-शोक हो उस समय बाह्य वस्तु अर्थात् कर्म निमित्त होते हैं; इससे ऐसा कहना कि कर्मों को भोगता हूँ—बाह्य वस्तु को भोगता हूँ वह व्यवहारी लोगों का व्यवहार है।

छींक अपने लेने से नहीं आती, जम्हाई अपने करने से नहीं होता, जम्हाई खाने की शक्ति चैतन्य में नहीं है। छींक, खाँसी या आलस्य आना, वह अनंत रजकणों के पिण्ड की पर्याय है। खाँसी आये या आलस्य आये उस समय जीव की मात्र उपस्थिति होती है किन्तु वह क्रिया रजकण की होती है; रजकण खाँसीरूप में और आलस्यादि के रूप में परिणमित होते हैं उस समय जीव की मात्र उपस्थिति होती है इससे उसे ऐसा लगता है कि मैंने आलस्य खाया है, मुझे खाँसी आयी है; किन्तु भाई! वह तो रजकण की क्रिया है, वह क्रिया तेरी नहीं है। कोई कहेगा कि मुर्दे को खाँसी या जम्हाई क्यों नहीं आती? तो उसका समाधान यह है कि उसके पास कर्म नहीं हैं। जो छींक-जम्हाई आती थीं वह शरीर के रजकण के स्वतन्त्र कारण से आती थीं परन्तु कर्म का उनमें निमित्तपना था; वह निमित्तपना भी गया और शरीर के रजकणों की योग्यता भी उस समय वैसी नहीं रही ॥८३॥

चैतन्य भगवान अरूपी वस्तु है, वह अपने अज्ञान भाव से राग-द्वेष के भावों को भोगता है किन्तु राग-द्वेष के निमित्त को भोगता है—ऐसा व्यवहारनय का कथन है। अब, व्यवहार दर्शाते हैं:—

ववहारस्स दु आदा पोग्गल-कम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गल-कम्मं अणेय-विहं।।८४।।

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम्।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गल-कर्मानेक-विधम्।।८४।।

अर्थ:—व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्‌गलकर्मों को करता है और फिर उन्हीं कर्मों को भोगता है।

अनादि के अज्ञानियों का यह प्रसिद्ध व्यवहार है कि जड़ की क्रिया होने में और जड़ के उपभोग में जीव स्वत: है, इससे स्वत: ही उसका कर्ता-भोक्ता है। पराश्रयदृष्टिवालों का ऐसा मत है कि पुद्‌गलकर्म को और बाह्य परवस्तु को मैं करता हूँ तथा मैं भोगता हूँ; किन्तु वैसी दृष्टि सत्य की हत्या करनेवाली है। आत्मा विकारी या अविकारी भावों को भले ही करे किन्तु उससे जड़ का कुछ करे या भोगे—ऐसा नहीं हो सकता। गादी-तकिया लगा हो, ऊपर से पंखा फिर रहा हो, उस समय कहते हैं कि गादी-तकिया और पंखा का उपभोग हो रहा है; किन्तु उन्हें कोई नहीं भोग सकता, मात्र अपने राग-द्वेष को भोगते हैं। जैसे पंखे में चार पाँखड़े होते हैं वैसे ही चारगतिरूप चार पाँखड़े हैं। उन चार गतियों में भटकने का वह आनन्द मानता है।

जैसे, मिट्टी स्वत: घड़े के अन्तर में प्रवेश करके घड़े की रचना करती है, उसे उत्पन्न करती है, बनाती है और भाव्यभावक भाव से मिट्टी ही घड़े का उपभोग करती है। कुम्हार न तो घड़े को बनाता है और न उसका उपभोग ही करता है। जैसे मिट्टी रूप धूल उसमें प्रवेश करके—व्याप्त होकर घड़ारूप उत्पन्न होती है, वैसे ही कुम्हार कहीं घड़ारूप होकर उत्पन्न नहीं होता। जब घड़े की रंगत एक सी नहीं रहती तब कहते हैं कि घड़ा घिस गया है, अर्थात् मिट्टी के रजकण नये-पुराने होते हैं, इससे ऐसी अवस्था होती है, नये में से जो पुरानी अवस्था होती है, वह मिट्टी की ही है और घड़े में ही वह अवस्था होती है अर्थात् मिट्टी ही घड़े को भोगती है; तथापि बाह्य में कुम्हार घड़े के होने में अनुकूल था; मिट्टी के रजकणों में कुम्हार के हाथ प्रवेश नहीं कर गये थे। हाथ के स्वभाव से-गुणों से घड़ा नहीं हुआ है किन्तु मिट्टी के गुणों में घड़ा हुआ है। कुम्हार का निमित्त है इससे कुम्हार ने घड़ा बनाया है—ऐसा अनादि के अज्ञानी का प्रसिद्ध व्यवहार है। अज्ञानी को ऐसा हो गया है कि कुम्हार हो तो घड़ा हो सकता है। हाँ, कुम्हार घड़ा बनाने की इच्छा करता है और हस्तादि की क्रिया करता है, वह कुम्हार में अपने में ही होती है; यहाँ पर कुम्हार का शरीर और आत्मा सबको एकत्रित करके बात की है क्योंकि यहाँ तो दृष्टान्त जितनी बात है, कुम्हार को मिट्टी के घड़े से पृथक् करने का ही प्रयोजन है, कुम्हार के शरीर की और

आत्मा की बात यहाँ नहीं लेना है। कुम्हार के आत्मा ने घड़ा बनाने की इच्छा की और प्रवेश का कम्पन हुआ उसका वह कर्ता है, इच्छानुकूल हस्तादि की क्रिया हुई वह कुम्हार के आधार से हुई किन्तु मिट्टी के आधार से नहीं हुई। इस प्रकार कुम्हार और मिट्टी दोनों भिन्न हैं—ऐसा इस गाथा में बतलाया है।

घड़ा होने में अनुकूल इच्छारूप क्रिया और हाथ के चलने की क्रिया कुम्हार में स्वत: में होती है; निमित्त की अवस्था निमित्त में होती है और मिट्टी की अवस्था मिट्टी में होती है, घड़े के सम्भव को अर्थात् होने को अनुकूल वह निमित्तमात्र है किन्तु उसका कर्ता कुम्हार नहीं है। जब घड़ा बनना हो उस समय कुम्हार की उपस्थिति होती है, वह उसे अनुकूल निमित्त कहलाता है, और जब घड़ा फूटने की अवस्था उसके अपने कारण से होना होती है तब कोई पत्थर आदि निमित्त समीप हों वे घड़ा फूटने के अनुकूल हैं।

आचार्यदेव कुम्हार का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि हे भाई! तू पर का स्वामी मत हो! तू कुम्हार मत बन, किन्तु स्वतन्त्र हो! वैसा स्वतन्त्र होना कहते हैं। यदि तू पर का कर्ता हुआ तो तेरी अवस्था का कर्ता भी कोई अन्य हुआ और वे अन्य का कर्ता तीसरा कोई हुआ इससे तू पराश्रित हुआ और अन्य सब पराश्रित हुआ क्योंकि जब तू पर की अवस्था करता है तो फिर तेरी अवस्था भी कोई दूसरा करेगा, दूसरे की क्रिया कोई तीसरा करेगा, इसलिए पर का कर्तृत्व छोड़ दे और स्वतन्त्र हो जा! समस्त वस्तुएँ सदा स्वतन्त्र ही हैं।

कुम्हार, घड़े के सम्भव को अनुकूल अपने व्यापार को करता हुआ और मिट्टी के व्यापार को न करके, घड़े द्वारा किये गये पानी के उपयोग से उत्पन्न हुई अपनी तृप्ति को भाव्यभावक भाव द्वारा भोगता है परन्तु घड़े को नहीं भोगता। घड़े में भरे हुए पानी के उपयोग से अपनी तृप्ति को भोगता है, तथापि कुम्हार घड़े को भोगता है, घड़े का कर्ता है—ऐसा रूढ़ि-व्यवहार कथन लोगों को अनादि से है। निमित्त की मुख्यता से कथन होते हैं परन्तु कार्य कभी नहीं होते कार्य तो स्वतन्त्र कर्ता के आश्रय से होते हैं; यह त्रिकाल नियम है।

घड़ा तो मिट्टी ने ही किया है परन्तु उसमें कुम्हार के हस्तादि की क्रिया अनुकूल निमित्तरूप हुई वहाँ लोगों की निमित्ताधीन दृष्टि होने से, कुम्हारे ने घड़ा बनाया—ऐसा कथन रूढ़िव्यवहार अनादि से चला आ रहा है। पुनश्च, घड़े को तो मिट्टी ही भोगती है

परन्तु घड़े के द्वारा कुम्हार ने पानी पीने के तृप्ति भाव का उपभोग किया वहाँ निमित्ताधीन दृष्टिवाले अज्ञानियों का व्यवहार ऐसा हो गया कि कुम्हार ने घड़े का उपभोग किया ऐसा रूढ़िव्यवहार चला आ रहा है।

जब अज्ञानी जीव असाध्य हो जाता है उस समय उसके मुँह में कोई भी खाने की अच्छी वस्तु डालो तो भी वह असाध्य होने से-उसे कुछ भी खबर न होने से तृप्ति नहीं होती, परन्तु यदि स्वस्थ मनुष्य के मुँह में वह वस्तु डालें तो उसे तृप्ति होती है। उसे होश था इसलिए राग से तृप्ति हुई वैसा जाना। तृप्ति होने-न होने में ज्ञान को खबर हो तो राग से सन्तुष्ट होता है, किन्तु किसी अन्य वस्तु से सन्तुष्ट होता है—ऐसा नहीं है। उसी प्रकार कुम्हार भी अपने राग से सन्तुष्ट हुआ है किन्तु घड़े के ठण्डे पानी से उसे सन्तोष नहीं हुआ है।

इस प्रकार पुद्‍गलद्रव्य स्वतः व्याप्यव्यापकभाव से कर्म को करता है, और वही कर्म को भोगता है, अर्थात् पुद्‍गल द्रव्य स्वतः कर्मरूप परिणमित हुआ, वह उसका कर्तृत्व है और पुद्‍गल कर्म उदय में आकर खिर जाता है वह उसका भोक्तृत्व है; तथापि बाह्य में व्याप्यव्यापकभाव से अज्ञान के कारण पुद्‍गलकर्म के सम्भव को अनुकूल (अपने रागादिक) परिणामों को करता हुआ और पुद्‍गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई जो विषयों की निकटता है उससे उत्पन्न हुई (अपनी) सुख-दुःखरूप परिणति का भाव्यभावक -भाव द्वारा अनुभव करता-उपभोग करता हुआ जीव पुद्‍गलकर्मों को करता है और भोगता है—ऐसा व्यवहार अज्ञानियों का अनादि संसार से है।

कोई भी आत्मा अज्ञानभाव के कारण भी पुद्‍गलद्रव्य में व्याप्त नहीं हो सकता किन्तु पुद्‍गल द्रव्य मेरी वस्तु है—ऐसी परवस्तु में अपनेपन की बुद्धिरूप विपरीत मान्यता स्वयं करता है सो व्यापक और जो राग-द्वेष की अवस्था हुई वह व्याप्य है। अज्ञान—पर के ग्रहण का भाव व्यापक है और उसके कारण से होनेवाली राग-द्वेष की अवस्था व्याप्य है। ज्ञानी के स्व की पकड़ है इसलिए उसमें से निर्मल पर्यायरूप व्याप्य प्रगट होता है।

पुद्‍गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई विषयों की जो निकटता है उससे उत्पन्न हुई सुख-दुःखरूप परिणति भोगता हुआ अर्थात् इसमें ऐसा है कि पुद्‍गलकर्म द्वारा बाह्य सामग्री एकत्रित हुई वह विषयों की निकटता हुई; धन, कुटुम्बादि अनुकूल सामग्री का संयोग हुआ। उससे मुझे सुख-दुःख होता है ऐसा मानता है इसलिए विषयों से उत्पन्न हुई

सुख-दुःखरूप परिणति—ऐसा यहाँ कहा है। अज्ञानी को बाह्य अनुकूल वस्तुएँ देखकर कल्पना होती है कि यह वस्तु ठीक है, यह अच्छा है इससे मुझे सुख होता है, और अपनी इच्छा से विरुद्ध बाह्य वस्तु देखकर ऐसी कल्पना करता है कि यह मुझे ठीक नहीं है, इससे मुझे दुःख होता है। परन्तु भाई! यह तो कर्म का फल है, वह कर्म का फल कर्म में रहा है, तुझमें नहीं है। यह सुख-दुःख कर्म के फल में से नहीं आता किन्तु अपनी अज्ञानता के कारण तू ऐसी कल्पना करके, सुख-दुःख बाह्य वस्तु में से आता है, ऐसा मानकर, सुख-दुःख का वेदन करता है।

कर्म के फल के कारण बाह्य शरीर, कुटुम्बादि सामग्री एकत्रित हुई है, उसे आचार्यदेव ने 'विषयों की निकटता' कहा है। उन विषयों की निकटता से मुझे सुख-दुःख होता है ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तव में तो अज्ञानी अपनी भाव्यभावकभाव की अवस्था को ही भोगता है और करता है, तथापि उसकी दृष्टि बाह्य होने से अनादि अज्ञानियों का रूढ़ि व्यवहार है कि जड़ की अवस्था हम करते हैं।

आचार्यदेव यहाँ यह बतला रहे हैं कि जड़ की-पर की अवस्था को हम करते हैं—ऐसा मानने और कहनेवाले इसी समय ही हैं—ऐसा नहीं है, किन्तु अनादि काल से हैं; अज्ञानियों का अनादि संसार में परिभ्रमण करने के भाव से निमित्त को कर्ता मानने का निश्चित् हुआ व्यवहार है; यह व्यवहार निमित्ताधीनदृष्टि का है।

आठ प्रकार के कर्मों के रजकणों को करना अथवा टालना आत्मा के हाथ की बात नहीं है किन्तु अपने राग को दूर करने से कर्म उनके अपने कारण से दूर हो जाते हैं। दोनों के कार्य स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं। यह बात कहकर यहाँ यह कहते हैं कि तू अपने भावों को देखना सीख; तूने जैसे विपरीत भाव किये हैं, वैसे ही सीधे भाव कर। दुनिया में कहावत भी है कि इस हाथ से बाँधा और इस हाथ से छोड़ता है—ऐसा उसका अर्थ है। दुनिया में भी कितने ही वास्तविक बोलते हैं किन्तु उन्हें उसके अर्थ की खबर न होने से मात्र बोलते ही जाते हैं। धर्म के बहाने अपने आप धर्म किया मानते हैं।

जीव रागादि करता है जिससे पुद्गलकर्म का बन्ध हो और राग करते समय पुद्गलकर्म की उपस्थिति होती है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसे देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि जीव पुद्गलकर्म को करता और भोगता है; किन्तु

वास्तव में जीव पुद्गलकर्म को करता और भोगता नहीं है परन्तु अपने राग-द्वेष को ही करता और भोगता है। यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान करके उसमें स्थिरता करे तो कर्म टल जाते हैं।

कितने ही जीव कहते हैं कि कर्म के साथ सम्बन्ध अनादि से चला आ रहा है, उसे कैसे तोड़ा जा सकता है ? किन्तु परमात्मप्रकाश में कहा है कि कर्म अनादि के बन्धुरूप हैं उन्हें मुनिजन जलाकर भस्म कर देते हैं। जिन्हें आत्मा का हित करना हो उन्हें कर्म सम्बन्ध को तोड़कर आत्मा का भान करके, उसमें लीन होकर कर्मों का क्षय करना चाहिए। ऐसा श्री गुरु का उपदेश है।

जड़ की और आत्मा की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न ही हैं, परन्तु जहाँ तक भेदज्ञान न हो वहाँ तक बाहर से एक समान ही दिखायी देती हैं। अज्ञानी को भान न होने से उसे जैसा ऊपर से दिखायी देता है वैसा ही मान लेता है। वास्तव में प्रत्येक पदार्थ की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है तथापि बाह्य से निमित्त की उपस्थिति होती है, उसे कर्ता और भोक्ता मान लेता है; स्वतन्त्र वस्तुस्थिति को भूलकर स्थूल संयोगमात्र को देखनेवाली बाह्यदृष्टि से अर्थात् मिथ्यादृष्टि से जैसा दिखायी दे वैसा ही मान लेता है, उसे श्रीगुरु भेदज्ञान कराके अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं।

जीवों ने बाह्य में धर्म मान लिया है किन्तु 'धर्म वाडीअे न नीपजे, धर्म हाटे न वेचाय, धर्म विवेके नीपजे, जो करीअे तो थाय' लोग यह पद कहते हैं, उसमें भी ऐसा आया कि धर्म सम्यक्ज्ञान द्वारा विवेक से प्रगट होता है, बाह्यक्रियाओं से धर्म नहीं होता। विवेक अर्थात् पर से पृथक्त्व का यथार्थ ज्ञान; देव-गुरु-शास्त्र से, कर्म से, मन से, वाणी से, शरीर से और शुभाशुभपरिणामों से अन्य सर्व जीवों से आत्मा का पृथक्पने का भान; विवेक अर्थात् परपदार्थ और मेरा आत्मा त्रिकाल भिन्न है, मेरा और परपदार्थों का त्रिकाल में मेल नहीं है। ऐसा जानकर ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय कर स्वसन्मुख होना उसका नाम विवेक है, ऐसे विवेक द्वारा धर्म प्रगट होता है।

आचार्यदेव अज्ञानी के प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं, उस व्यवहार का फल चौरासी में परिभ्रमण करना है। श्रीगुरु भेदज्ञान कराके, जीव का स्वरूप बतलाकर अज्ञानी के अभिप्राय को दोष देते हैं ॥८४॥

अब इस व्यवहार को दोष देते हैं:—

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरिया-वदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं।।८५।।

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रिया-व्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतम्।।८५।।

अर्थः—यदि आत्मा इस पुद्गलकर्म को करे और उसी को भोगे तो वह आत्मा दो क्रियाओं से अभिन्न सिद्ध हो—ऐसा प्रसंग आता है—जो कि जिनेन्द्र भगवान से सम्मत नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई सुन! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव, परमात्मस्वरूप को प्राप्त देवाधिदेव का ऐसा मत है कि दो द्रव्यों की क्रिया को एक आत्मा नहीं करता। दो द्रव्यों की क्रिया को करने का अभिप्राय वीतराग के मार्ग से बाहर है। आत्मा अपने भाव को करे और जड़ की अवस्था को भी करे तो वह एक आत्मा दो क्रियाओं से एकमेक हो गया है।

कोई मनुष्य ऐसा कहे कि मैं परद्रव्य का कर सकता हूँ, तब उससे पूछते हैं कि जब तू शरीरादि जड़ की अवस्था को कर सकता है और भोग सकता है तो तेरी अवस्था में तेरा हाथ है या नहीं? क्या तेरी अवस्था निराश्रित पड़ी है? तू अवस्था से रहित है? यदि तू परद्रव्य की अवस्था को करता है तो परद्रव्य तुझमें तन्मयरूप हो जाना चाहिए; यदि तू और जड़ एकमेक नहीं होते तो फिर तू जड़-शरीरादि का कुछ भी नहीं कर सकता। और यदि तू अपनी वैभाविक या स्वाभाविक परन्तु चैतन्य की ही अवस्था का कर्ता होता है तो परद्रव्य की अवस्था का किसी प्रकार कर्ता न हो, क्योंकि एकद्रव्य एक ही क्रिया का कर्ता होता है परन्तु कोई द्रव्य इस जगत में दो क्रियाओं का कर्ता हो ही नहीं सकता। आतमा अपनी अवस्था करे और पर की अवस्था को भी करे तो वह दो क्रियाओं से अभिन्न हुआ वह बात वीतरागदेव के मान्य नहीं है किन्तु अज्ञानी को मान्य है। जिन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ है, राग-द्वेष का सर्वथा नाश हो गया है, जड़-चैतन्य का परिपूर्ण स्वरूप जिनके ज्ञान में प्रत्यक्षरूप से ज्ञात हुआ है—ऐसे सर्वज्ञ वीतरागदेव को वह बात मान्य नहीं है।

प्रथम तो, जगत में जो क्रियाएँ हैं, वे सब परिणामस्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं हैं। जगत् में जो कोई भी शब्द बोला जाता है, वह किसी का भाव तो होता ही है, या तो उस शब्द जैसी वस्तु होती है, या वस्तु का गुण होता है, अथवा किसी वस्तु

की अवस्था होती है। वैसे ही जो क्रिया है वह वस्तु, गुण और अवस्था में से क्या है? वस्तु की अवस्था ही है, परिणामस्वरूप है। अवस्था कोई भ्रम नहीं है किन्तु वह किसी वस्तु का परिणाम है—भाव है इसलिए क्रिया द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकती। जैसे खरगोश के सींग नहीं होते वैसे ही वस्तु में क्रिया नहीं होती—ऐसा नहीं है परन्तु क्रिया परिणामस्वरूप होने से वस्तु की अवस्था ही है।

परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न नहीं हैं, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं; पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ नहीं हैं। जिसमें से अवस्था होती है उससे वह वस्तु भिन्न नहीं होती। सोना और सोने के आभूषण क्या भिन्न होते हैं? नहीं होते। सोने में से अँगूठी की अवस्था हुई, परन्तु अँगठीरूप अवस्था कहीं रह जाये और स्वर्ण कहीं चला जाये—ऐसा हो सकता है? नहीं हो सकता। अँगूठीरूप अवस्था स्वर्णरूप वस्तु में से ही हुई है इसलिए स्वर्ण और उसकी अवस्था—दोनों पृथक् नहीं होते, किन्तु परिणाम-परिणामी अभेद ही होते हैं।

कोई कहे कि अँगूठी तो सुनार ने बनायी है, परन्तु सुनार ने अँगूठी नहीं बनायी है मात्र उसे बनाने की इच्छा ही सुनार ने की है। इच्छा का कर्ता सुनार है परन्तु अँगूठी का कर्ता नहीं है, उसका तो मात्र निमित्त है, उसने अँगूठी नहीं बनायी है। अँगूठी का कर्ता स्वर्ण है, स्वर्ण में से ही अँगूठी हुई है। इस प्रकार जो अवस्था चैतन्य की हो वह चैतन्यद्रव्य से अभिन्न होने के कारण उसका कर्ता चैतन्य है, और जो अवस्था जड़ की हो वह जड़द्रव्य से अभिन्न होने के कारण उसका कर्ता जड़ है; इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि जो भी क्रियाएँ हैं, वे क्रियावान से अर्थात् द्रव्य से भिन्न नहीं हैं। जड़ की क्रिया जड़ क्रियावान से भिन्न नहीं है और चैतन्य की क्रिया चैतन्य क्रियावान से पृथक् नहीं है। सारे विश्व में, त्रिकाल में वस्तुस्थिति की ऐसी मर्यादा होने से क्रिया और कर्ता का अभिन्नत्व निरन्तर प्रतापवन्त होता है, अर्थात् निरन्तर गुण का परिणमनरूप वर्तती क्रिया का द्रव्य में कभी भी भंग नहीं पड़ता; त्रिकाली वस्तु के बिना उसकी वर्तमान अवस्था नहीं होती और वर्तमान अवस्था से रहित वस्तु नहीं हो सकती। निमित्त न मिले तो वस्तु का परिणमन प्रवाह रुक जाये ऐसा नहीं है।

आत्मा अपने भाव को भी करता है और जड़ की क्रिया को भी करता है—वह अभिप्राय अज्ञान है, यह बात यहाँ करते हैं।

क्रिया और कर्ता का अभिन्नत्व सदा स्व सामर्थ्य से, प्रतापवन्त होने से, जीव व्याप्यव्यापक भाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्यभावक भाव से उसी का अनुभवन-उपभोग करता है।

आत्मा व्यापक है और अवस्था व्याप्य है। जैसे अपने राग-द्वेष भाव को आत्मा करता है उसी प्रकार पुद्गल कर्म में व्याप्त होकर पुद्गलकर्म को करे और भाव्यभावक भाव से पुद्गल के हर्ष-शोक को भोगे तो जीव को अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओं से अभिन्नत्व का प्रसंग आये। इस प्रकार यदि दोनों की एकता हो तो स्व-पर का पृथक्पना, स्वतन्त्रपना नाश हो जाता है, जड़-चैतन्य के पृथक्-सत्ता का नाश होता है। इस प्रकार आत्मा और समस्त जड़द्रव्य एक हैं—ऐसा माननेवाले महा मिथ्यादृष्टि हैं, वे त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवान के मत से अलग हैं।

आत्मा शुभाशुभभाव करता है और जड़ की क्रिया भी करता है—इस प्रकार जो एक आत्मा का दो क्रियाओं को करना और भोगना मानते हैं वे सर्वज्ञ के मत से बाहर है। जैसे कोई उच्च कुल और उच्च जाति का मनुष्य हो और उसका पुत्र शराब पीता हो, माँस भक्षण करता हो या दुराचार करता हो तो उसका पिता उससे कहता है कि तू मेरा लड़का नहीं भंगी की औलाद है; वैसे ही यहाँ पर वीतरागदेव कहते हैं कि मैं शुभाशुभभाव करता हूँ, शरीरादि जड़ की क्रिया मैं करता हूँ—ऐसा माननेवाला जैन नहीं है, हमारी आज्ञा में नहीं है, हमारे मार्ग में नहीं है किन्तु अधर्म के मार्ग में है।

थैले के अन्दर चिरायता भरा हो, और ऊपर मिश्री का नाम पड़ा हो तो कहीं चिरायता मिश्री हो जाता है ? वैसे ही वस्तु का जो स्वभाव है वैसा न मानकर अन्य प्रकार से माने तो क्या वस्तुस्वभाव बदल जायेगा ? वस्तु तो वस्तुरूप रहेगी लेकिन मिथ्या अभिप्राय से वह दु:खी होगा। आत्मा ज्ञानमूर्ति है—स्व-पर को सर्व प्रकार स्वतन्त्र पृथक् जानने के स्वभाववाला है उसे भूलकर वह औंधा पड़ा हुआ अपने अज्ञानभाव को करता है और सीधा पड़ा हुआ अपने ज्ञानभाव को करता है परन्तु उसका स्वामित्व किसी भी परवस्तु ऊपर है ही नहीं। राग-द्वेष करता हूँ, हर्ष-शोक को भोगता हूँ और जड़ को भी करता हूँ—भोगता हूँ—ऐसा माननेवाला दो पदार्थों का कर्ता-भोक्ता हुआ; उसने असत्य-झूठ का सेवन किया।

मैं पर का नहीं कर सकता परन्तु स्वयं अपना ही कर सकता हूँ—ऐसा माननेवाले ने अपने को अनन्त पर-आत्मा और अनन्त जड़ से पृथक् किया, पुनश्च, मैं उनका कुछ नहीं कर सकता—ऐसा मानने से उसका अनन्त कषाय दूर हो गया जिससे अनन्त जन्म-मरण दूर हो गये, त्रिकाल की विपरीत दृष्टि हट गयी और अनन्त गुनी निर्मल स्वभाव पर्याय प्रगट हुई। अन्य पदार्थ की अवस्था को मैं अच्छा-बुरा कर सकता हूँ, वैसा माननेवाला त्रिकाल के अनन्त पदार्थों का अभिमानी है, उसके अनन्त जन्म-मरण शेष हैं; जगत का मैं कर दूँ—वैसा माननेवाला महामूढ़ है। दो बातें हैं—या तो त्रिकाल के पदार्थों का स्वामी हो जाये अथवा अपने स्वपदार्थ का ही स्वामी बन जाये, परन्तु दो द्रव्यों की पर्याय को एक द्रव्य करता है—ऐसा माननेवाला महा अज्ञानी, महा कषायी है; वह अनन्त संसार का बीज साथ लेकर बैठा है।

जड़ की क्रिया चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता; चेतन, चेतन की क्रिया भी करे और जड़ की क्रिया भी करे—इस प्रकार दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य करे ऐसा नहीं हो सकता। आत्मा राग-द्वेष की क्रिया करे और हर्ष-शोक को भोगे, वैसे ही पुद्गल-कर्म को करे और उसी को भोगे—इस प्रकार दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य नहीं कर सकता—ऐसी वस्तुस्थिति की मर्यादा है। चेतन, चेतन की क्रिया करता है और जड़-जड़ की क्रिया करता है—इस प्रकार सब अपनी-अपनी क्रिया करते हैं, किसी की क्रिया कोई नहीं कर सकता। कर्ता और क्रिया दोनों अभिन्न हैं—ऐसी वस्तुस्थिति निरन्तर सर्वत्र रहती है इससे कोई किसी को कर नहीं सकता और न भोग ही सकता है। सिर्फ व्यवहार से घी का घड़ा कह देने जैसा उपचार से किसी का कर्ता भोक्ता कहने का व्यवहार है जो असत्यार्थ है।

तीन काल-तीन लोक में प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है—ऐसी वस्तुस्थिति है, परन्तु सत्य को असत्य माने और असत्य को सत्य माने तो यह मिथ्या अभिप्राय अनन्त संसार का मूल है।

प्रत्येक द्रव्य द्रव्यदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से स्वतन्त्र परिणमन करनेवाला है ऐसा स्वयं समझकर विपरीत मान्यता की गाँठ को तोड़े बिना आत्मतत्त्व के स्वरूप की गन्ध भी नहीं आती। स्वतन्त्रता माने बिना अंशमात्र धर्म की शुरुआत भी नहीं होती।

कर्म की जो अवस्था होती है, उसे मैं परिणमित कर देता हूँ—ऐसी दृष्टि बिल्कुल मिथ्या है। जो परद्रव्य है, जिसकी क्रिया स्वत: नहीं कर सकता उसे करना माने तो वह बिल्कुल झूठा अभिप्राय है। जो ऐसा मानता है कि दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य करता है, वह पदार्थ को स्वाधीन नहीं मानता किन्तु पराधीन मानता है।

कोई किसी का कुछ भी नहीं कर सकता, मात्र स्थूल व्यवहार से, आरोप से कहा जाता है कि इसने इसका किया। जैसे घी के उपचार से घी का घड़ा कहलाता है परन्तु उससे कहीं घड़ा घी का नहीं हो जाता; वैसे ही सब सबके भाव को करते हैं किन्तु कोई किसी का कुछ भी नहीं कर सकता तथापि घी के घड़े की भाँति आरोप से कहा जाता है किन्तु वास्तव में कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता; किसी ने किसी की निन्दा भी जगत में नहीं की है और न किसी ने किसी की प्रशंसा भी की है। सब अपने-अपने भावों से जो जिसे अनुकूल हो उसी का गुणगान करता है और जो प्रतिकूल हो उसकी निन्दा करता है, अर्थात् सभी अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता की निन्दा-प्रशंसा कर रहे हैं; पर की निन्दा-प्रशंसा त्रिकाल में न तो किसी ने की है, कोई करता नहीं है, और न करेगा।

किसी ने किसी को त्रिकाल में भी नहीं ठगा है, कपट के भाव करके स्वत: ही अपने को ठगता है। कोई कहे कि मैंने अमुक को कैसा ठगा? परन्तु भाई! उसमें वह नहीं किन्तु तू ही मायाचार से ठगा गया है। सामनेवाले जीव का पुण्य अल्प है कि उसे तुझ जैसा वंचक कपटी मिला; परन्तु कपट के या धोखे के भाव करके तूने स्वत: को ही धोखा दिया है। कोई किसी को ठग नहीं सकता, अपने भावों को कर सकता है।

कोई किसी का बुरा करने के लिये चिन्तवन करे तो उससे किसी का बुरा नहीं होता, हानि नहीं होती; और कोई अच्छा करने को चिन्तवन करे, कोई किसी की भक्ति करे तो दूसरे का भला नहीं हो जाता, किन्तु जैसा जिसके पुण्य-पाप का उदय हो उसी प्रकार संयोग-वियोग बनता है, कर्म के उदय अनुसार जीव में किसी प्रकार लाभ-हानि नहीं है। लेकिन जो भले-बुरे भाव करता है, उनका फल उसे उसी समय ही मिलता है।

करना, कराना और अनुमोदन करने का भाव तो अपना है और उसमें जो निमित्त आये उस निमित्त की ओर का भंग है। स्वत: अपने भाव करता है। स्वत: अपने भाव से दूसरे से कहता है कि तू ऐसा कर—उस प्रकार अपने भाव में दूसरे का निमित्त आया परन्तु

भाव तो स्वत: ही किया है। अपने भावानुसार पुण्य-पाप का बन्ध होता है। सामनेवाला निमित्त उस प्रकार समझे करे या न करे उसका इसे कुछ भी पुण्य-पाप नहीं लगता। अपने भाव का पुण्य-पाप अपने पास है और सामनेवाले के भाव का पुण्य-पाप उसके पास है। अपना अपने पास शतप्रतिशत है और दूसरे का उसके पास है। दूसरे का और अपना किंचित् मेल जोल नहीं है; अपना भाव किसी भी अन्य को हानि-लाभ करे ऐसा त्रिकाल में न तो हुआ है, न होता है और न होगा ही।

अब शिष्य फिर से पूछता है कि भगवान! मैं अपने भाव को भी करता हूँ और पर के भाव को भी करता हूँ—इस प्रकार दो परिणामरूप क्रिया को करता हूँ—ऐसा माननेवाला पुण्य मिथ्यादृष्टि किस प्रकार है? उसका समाधान:—

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरिया-वादिणो हुंति॥८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गल-भावं च द्वावपि कुर्वन्ति।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रिया-वादिनो भवन्ति॥८६॥

अर्थ:—जिससे आत्मा के भावों को और पुद्गल के भावों को दोनों को आत्मा करता है—ऐसा वे मानते हैं; उससे एक द्रव्य के दो क्रियाएँ होना माननेवाले मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा के भावों को अर्थात् राग-द्वेष के भावों को मैं करता हूँ और जड़ के भावों को भी मैं करता हूँ—वैसा माननेवाला एक वस्तु की दो अवस्थाओं का होना मानता है, इससे वह मिथ्यादृष्टि है।

निश्चय से द्विक्रियावादी (अर्थात् एक द्रव्य के दो क्रियाएँ माननेवाले) ऐसा मानता है कि आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वत: (आत्मा) करता है, इससे वे मिथ्यादृष्टि ही है—ऐसा सिद्धान्त। एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणामों का किया जाना प्रतिभासित न हो।

एक आत्मा के जड़ की और चैतन्य की-दो अवस्थाएँ नहीं हो सकतीं, तथापि मिथ्यादृष्टि मानता है कि आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को मैं करता हूँ, वह दृष्टि बिल्कुल मिथ्या है। एक वस्तु दो परिणाम नहीं कर सकती—ऐसा वस्तुस्वभाव

है, इसलिए एक वस्तु दो क्रियाओं की कर्ता प्रतिभासित न हो।

जैसे कुम्हार घड़े के सम्भव को अनुकूल अपनी इच्छारूप और हाथ की क्रियारूप व्यापार परिणामों को-जो कि अपने से अभिन्न हैं और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किये जाते हैं, उन्हें करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घड़े को बनाने के अहंकार से युक्त होने पर भी वह कुम्हार, मिट्टी के व्यापार को अनुरूप जो मिट्टी का घट परिणाम जो मिट्टी से सदैव अभिन्न है तथा मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है—उसे करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। मिट्टी घड़ा होने में अनुरूप है और कुम्हार अनुकूल है। कुम्हार घट होने में अनुरूप हो, तो कुम्हार का नाश होकर मिट्टीरूप हो जाये।

मिट्टी से घड़ा होता है, मिट्टी परिवर्तित होकर घड़े की उत्पत्ति करती है, कुम्हार की तो मात्र उपस्थिति है। घड़ा होने की शक्ति मिट्टी में है किन्तु कुम्हार में नहीं है। घड़े की अवस्था कुम्हार के आधार बिना मिट्टी की शक्ति से होती है। कुम्हार अपनी इच्छा और हाथ के व्यापार को करता दिखायी देता है, परन्तु उसके हाथ या पैर घड़े में आधाररूप होकर मिल गये हों—ऐसा दिखायी ही नहीं देता; मिट्टी में से क्रमानुसार परिवर्तित होते-होते घड़ा होता है। घड़ा होने में बाह्यकारण कुम्हार के हाथ का और इच्छा का व्यापार है और अन्तरंग कारण स्वत: मिट्टी ही है; कुम्हार तीन काल और तीन लोक में घड़ा नहीं बना सकता। वस्तु में ही अवस्था उत्पन्न होती है। क्या वस्तु में शक्ति नहीं है कि दूसरा कोई उसकी अवस्था को उत्पन्न कर दे? ऐसा है ही नहीं।

उसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलकर्म के अनुकूल अपने परिणामों को करता है। जो परिणाम राग-द्वेष और अज्ञानमय हैं वे आत्मा से पृथक् नहीं हैं, उन परिणामों को ही स्वत: करता है, शेष आठकर्म जो कि पुद्गल की अवस्था है—उसे आत्मा करता हो यह नहीं हो सकता। अज्ञानी पुद्गल की अवस्था को करने के अभिमान से भरा हुआ है तथापि वह शरीर और कर्म की अवस्था को कर ही नहीं सकता; अपने ही अज्ञान और राग-द्वेष के परिणामों को करता दिखायी देता है किन्तु कभी भी पुद्गलकर्मों को करता-बाँधता दिखायी नहीं देता। अपने परिणाम अपने से एकरूप हैं इसलिए आत्मा उन्हें कर सकता है, परन्तु पुद्गल-परिणामों को तो कर ही नहीं सकता। पुद्गल में जो कर्मबन्ध होता है वह पुद्गल स्वत: परिणमित होकर अपनी कर्मरूप अवस्था को करता है; पुद्गल अपने

परिणामों के अनुरूप अपने ही कर्म को करता है, उसे कर्मरूप होने में आत्मा के विकारी परिणाम निमित्त रूप से अनुकूल होते हैं तथापि आत्मा उन कर्मों का कर्ता नहीं है। आत्मा अपने ही परिणामों को करता हुआ प्रतिभासित हो, पुद्‌गल-परिणामों को करता कभी भी प्रतिभासित न हो।

आत्मा की और पुद्‌गल की—दोनों क्रियाएँ, एक आत्मा ही करता है, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। यदि जड़-चैतन्य की क्रिया एक हो तो समस्त द्रव्य पलट जाने से उनका लोप हो जाये—यह एक महान दोष उत्पन्न हो। एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाये ऐसा त्रिकाल में कभी न बना है, न बनता है और न बनेगा ही। प्रत्येक वस्तुस्वभाव तो जैसा है, वैसा ही त्रिकाल है—स्वतन्त्र है परन्तु अज्ञानी विपरीत मानकर अपने गुणों की हिंसा करते हैं। पर का मैं कर सकता हूँ—ऐसे मिथ्या अभिप्राय से चौरासी में भटक-भटक कर हैरान हुआ, परन्तु पर के कर्तृत्व का अभिमान दूर होने पर भी सुख का उपाय हाथ में आ सकता है; दूसरे किसी भी प्रकार से सुख का उपाय हाथ नहीं लग सकता।

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।।

अर्थः—जो परिणमित होता है वह कर्ता है, (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है सो कर्म है और परिणति है वह क्रिया है; यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

जो होनेवाला है वह कर्ता है, वस्तु परिवर्तित होते-होते होनेवाले का जो कार्य होता है, वह कर्म है और होनेवाले की जो क्रिया है सो परिणति है। जो स्वतन्त्ररूप से करे वह कर्ता है; प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्ररूप से परिवर्तित होता है परिवर्तित होनेवाला स्वतन्त्र है।

जब नवीन जड़कर्म बँधते हैं उस समय रागी जीव का राग निमित्त है किन्तु जो ऐसा माने कि मैंने जड़कर्म को किया है वह मिथ्यादृष्टि है; निमित्त कहीं उपादान के आश्रित होकर उपस्थित नहीं होता। कर्म बँधते हैं उसमें कौन परिवर्तित होता है ? कर्म या आत्मा ? उसमें कर्म ही परिवर्तित होते हैं, आत्मा परिवर्तित नहीं होता; इसलिए जो जिससे परिवर्तित होता है वही उसको करेगा कि दूसरा कोई ? जो द्रव्य परिवर्तित होता है वही अपना परिणामों का कर्ता है, अन्य कोई नहीं।

परिवर्तित होनेवाले का जो कार्य हुआ वह कर्म है, और अवस्थान्तर होने में जो क्रिया हुई वह परिणति है। प्रत्येक रजकण पृथक् है। एक रजकण को लेकर दूसरा रजकण परिवर्तित होता है—वैसा त्रिकाल में नहीं है; स्कन्ध में भी सभी रजकण पृथक्-पृथक् परिणमित होते हैं।

पवन के रजकणों में पानी होने की योग्यता होना हो तो होती है, उसे दूसरा कोई कर दे वैसा नहीं है। दो प्रकार की पवन एकत्रित होकर पानी बनता है—ऐसा नहीं है; यह तो मात्र निमित्त बना, किन्तु वास्तव में तो उन रजकणों में उस समय पानीरूप होने की योग्यता ही थी।

पानी का जो एक बिन्दु दिखायी देता है वह अनन्त रजकणों का पिण्ड है; उन प्रत्येक रजकणों का परिणमन पृथक्-पृथक् है।

जड़ की अवस्था जड़ से परिवर्तित होती है और आत्मा की अवस्था आत्मा से। विकारी अवस्था का कर्ता तो आत्मा अज्ञानभाव से है किन्तु जड़ का कर्ता किसी भी प्रकार नहीं है, द्रव्यदृष्टि से और पर्याय दृष्टि से स्वतन्त्रता ही है इतना स्वीकार करे तो आँगन में (व्यवहारशुद्धि में) आया है, जो पुण्यपरिणाम के भाव हैं। वास्तव में तो वस्तुदृष्टि से विकारी परिणाम का कर्ता भोक्ता जीव नहीं है। पुण्य परिणामों से भी अपना स्वरूप पृथक् है—ऐसे स्वरूप का भान करे और उसमें स्थित हो तो शुद्धता और निर्जरा है और उसने अन्तरंग में शुद्धात्म घर में प्रवेश किया है।

आत्मा नित्य निरन्तर परिवर्तनशील है, और बदलनेरूप कार्य है वह क्रिया है तथा परिवर्तित होकर जो कार्य आया सो कर्म है।

वस्तुदृष्टि से परिणाम और परिणामी अभेद हैं; शरीर की अवस्था और शरीर दोनों एक हैं, पुद्गल और पुद्गल की अवस्था दोनों एक हैं, राग-द्वेष की अवस्था और आत्मा दोनों अज्ञानभाव से एक हैं परन्तु सम्यक्भाव से एक नहीं हैं। यहाँ तो यह दर्शाया है कि जड़ का कर्ता नहीं है परन्तु वास्तव में तो विकारी भावों का भी कर्ता नहीं है। किन्तु अपना ज्ञान भाव का कर्ता और स्व-परप्रकाशक ज्ञातारूप आत्मा है।

अवस्थायी और अवस्था—दोनों द्रव्य दृष्टि से एक हैं और पर्यायदृष्टि से दोनों में भेद है। कर्ता-कर्म और क्रिया तीनों भेददृष्टि से कहे गये हैं।

जैसे चन्दन की लकड़ी सुगन्धित है, चौड़ाईवाला है, भारी है; वैसे ही भंग दृष्टि से कहा जाये तो द्रव्य और पर्याय लक्षणादि भेद से पृथक् हैं तथापि वस्तुदृष्टि से अभेद हैं। सुगन्ध और लकड़ी दोनों एक हैं-अभेद हैं—उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। परिणाम और परिणामी दोनों अभेद हैं। इस शरीर की अवस्था शरीर से पृथक् नहीं है, शरीर और उसकी अवस्था - दोनों एक है। आत्मा की अवस्था और शरीर की अवस्था—दोनों कभी भी किसी प्रकार भी एकमेक नहीं हुईं हैं। अज्ञानी दोनों की खिचड़ी बनाकर मानता है कि जड़ को मैं ऐसा करता हूँ—वैसा करता हूँ, व्यवहार से तो पर का कर सकता हूँ किन्तु पर का कोई नहीं कर सकता; अपने ही विपरीत भावों का ग्रहण करता है और उन्हें त्यागता है, किन्तु पर का ग्रहण और त्याग त्रिकाल में नहीं है।

परिणाम और परिणामी अभेद हैं। गुड़ और मिठास अभेद हैं, उनमें क्षेत्रभेद नहीं है—प्रदेशभेद नहीं है; चन्दन की लकड़ी और उसकी सुगन्ध में प्रदेशभेद नहीं है। प्रत्येक वस्तु, उसका परिणाम और परिणति में प्रदेशभेद नहीं है। वस्तु स्वत: कर्ता, परिवर्तित हुई वह परिणति और परिवर्तन में जो कार्य आया वह पर्याय—उन तीनों में क्षेत्र भेद-प्रदेशभेद नहीं है। वैसे ही शरीर की क्रिया के साथ शरीर का प्रदेश भेद नहीं है, और आत्मा की क्रिया के साथ आत्मा को प्रदेश भेद नहीं है। आत्मा में जो राग को कम करने का भाव हुआ वह आत्मा में, और अशुभभाव हुआ वह आत्मा में, आत्मा का भान करके स्थिर हुआ सो आत्मा में और जो शुभाशुभ कर्मबन्ध पुद्गल द्रव्य में हुआ वह पुद्गल द्रव्य में—इस प्रकार दोनों द्रव्य पृथक् हैं; दोनों द्रव्यों के कर्ता, क्रिया और कर्म पृथक् हैं।

कर्ताकर्म का अधिकार चल रहा है; कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु का कर्ता नहीं है। कर्ताकर्म अधिकार की ७६ गाथाओं की सर्वोत्तम रचना आचार्यदेव ने की है, उनमें कर्ताकर्म को अत्यन्त विस्तृत किया है और तीन काल-तीन लोक की वस्तुस्थिति को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है, इतना स्पष्ट है तब लोगों के ध्यान में बड़ी कठिनाई से बैठता है।

यह निश्चित हुआ कि पर का कर्ता नहीं है अर्थात् स्वत: को अपने ही भाव का कर्तापना रहा।

कोई कहे कि तुम्हीं तो बोलते हो और तुम्हीं कहते हो कि बोला नहीं जा सकता। यह तो मनुष्यों को ऐसा लगता है कि यह बोलता है परन्तु आत्मा बोल ही नहीं सकता, एक

'हाँ' भी आत्मा नहीं कर सकता; जो बोला जाता है वह सब पुद्गल की पर्याय है; उसका कर्ता पुद्गल ही है। पुद्गल में शब्दरूप परिणमित होने की योग्यता हो तब आत्मा उपस्थित होता है और कर्म का निमित्त भी उपस्थित होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का मेल हो जाता है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की जो ॐकार ध्वनि समवसरण में खिरती है, वह भी पुद्गल की पर्याय है, वह आत्मा में से नहीं निकलती। जब वाणी उसके अपने कारण से निकलती है तब अज्ञानी यह अभिमान करता है कि मैं वाणी बोलता हूँ। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि जब मैं इच्छा करता हूँ, तब वाणी बोली जाती है किन्तु ऐसा नियम नहीं है कि इच्छा हो और वाणी निकले। उसके चार भंग हैं—इच्छा हो और वाणी निकले, इच्छा हो और न निकले, इच्छा न हो और निकले, इच्छा न हो, और न निकले। इच्छा हो और वाणी का उदय हो इससे बोली जाती है, वाणी, वाणी के कारण से निकलती है, तथापि इच्छा के समय वाणी का उदय हो तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है, वह पहला भंग। बोलने की इच्छा हो परन्तु लकवा जग जाये तो भी नहीं बोली जा सकती; इच्छा हो किन्तु वाणी का अनुकूल उदय न हो तो नहीं निकलती—वह दूसरा भंग हुआ। केवलज्ञानी को तेहरवें गुणस्थान में इच्छा न हो और वाणी का उदय हो तो ध्वनि खिरती है-वह तीसरा भंग है, कोई मूक केवली होता है, उसके इच्छा भी नहीं होती और वाणी भी नहीं होती; केवलज्ञान हो जाये परन्तु वाणी नहीं खिरती। इस प्रकार चार भंग हुए। दोनों द्रव्य पृथक् परिणमित होते हैं, इसलिए आत्मा वाणी बोलता ही नहीं है। सबके कर्ताकर्म स्वतः अपने-अपने में ही हैं। पुनः कहते हैं:—

(आर्या)

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्या-दनेक-मप्येक-मेव यतः ।।५२।।

अर्थः—वस्तु सदा एक ही परिणमित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्थाएँ एक की ही होती हैं) और एक की ही परिणति क्रिया होती है; कारण कि अनेक दशारूप होने पर भी वस्तु अपने गुण-पर्यायों से अभेद-एक ही है, भेद नहीं हैं।

वस्तु सदा एक ही परिणमित होती है, वह सम्पूर्ण सिद्धान्त है। जो परिणाम होते हैं,

वे एक के ही होते हैं, एक अवस्था से दूसरी अवस्था होती है वह एक की ही होती है; आत्मा में अनेक अवस्थाएँ होने पर भी भेद नहीं है अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनों पृथक् नहीं हैं एक ही वस्तु के हैं; आत्मा के कर्ता-कर्म-क्रिया आत्मा में हैं और जड़ के जड़ में हैं।

एक आत्मा में अनन्त गुण हैं, एक परमाणु में भी अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणों में प्रति समय जो अवस्था होती है, उसे परिणाम कहते हैं। वस्तु और परिणाम में नामभेद, लक्षणभेद है किन्तु वस्तुभेद नहीं है। जैसे गुड़ और मिठास में लक्षणभेद और संज्ञा भेद है किन्तु वस्तुभेद नहीं है।

उसी प्रकार शरीर और उसकी अवस्था भिन्न नहीं हैं। पुद्गल, पुद्गल के गुण और उसकी अवस्था में नामभेद, लक्षणभेद है परन्तु वस्तुभेद नहीं है—प्रदेशभेद नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्व में एकमेक है किन्तु अन्य वस्तु से एकमेक नहीं होती, सबके परिणाम पृथक्-पृथक् होते हैं। वस्तु में कर्ता-क्रिया और कर्म होते हैं—उनमें लक्षण भेद है, नामभेद है किन्तु वस्तुभेद नहीं है। अनेक परिणाम होने पर भी वस्तु एक ही है, उसमें भेद नहीं है।

जैसे स्वर्णरूप वस्तु और उसके पीलापन, चिकनाहट आदि गुण तथा कंगन, कुण्डल आदि उसकी पर्यायें—उन तीनों में नामभेद, संख्याभेद और लक्षणभेद है किन्तु वस्तुभेद नहीं है। जो अवस्था का और गुणों का क्षेत्र है वही वस्तु का क्षेत्र है। वैसे ही आत्मा में जानना, मानना और स्थिर होना आदि अनन्त गुण हैं और उनका धारण करनेवाला गुणी एक है। इस प्रकार वस्तु अपने अनन्त गुण से अनन्त और वस्तु से एक—इस प्रकार संख्याभेद है, परन्तु वस्तुभेद नहीं है, क्षेत्र भेद नहीं है। गुण कहीं रहे और द्रव्य कहीं रहे—ऐसा नहीं है; इससे वस्तुभेद नहीं है। यदि द्रव्य और गुण पृथक् हों तो जो पृथक् हो वह पृथक् हो सकता है किन्तु जो अभेदरूप से एकत्र हो वह भिन्न नहीं हो सकता। आत्मा और गुण—इस प्रकार नाम पृथक् हैं, वह नामभेद से भेद है। अनन्त गुणों का पिण्ड द्रव्य का लक्षण है और प्रत्येक गुण का, जानना-मानना-स्थिर होना इत्यादि पृथक्-पृथक् कार्य हैं। इस प्रकार गुण और द्रव्य में लक्षणभेद से भेद है। द्रव्य का प्रयोजन गुणों के कार्यों को धारण कर रखना है और गुणों का प्रयोजन अपने-अपने स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करना है।

द्रव्य का प्रयोजन प्रत्येक गुण और उसकी अवस्था को धारण कर रखना है और अवस्था का प्रयोजन प्रतिक्षण अनुभव कराना है।

प्रत्येक वस्तु और वस्तु की प्रतिक्षण होनेवाली अवस्था—उसमें लक्षणादि भेद है, तथापि वस्तु में भेद नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा, परमाणु, कालाणु, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय—इन सभी पदार्थों में वस्तु और अवस्था के नामभेद और लक्षण भेदादि हैं किन्तु वस्तुभेद से भेद नहीं है।

जिस भाव से संसार है, उससे विपरीत भाव से मोक्ष है। सांसारिक विद्या पढ़ने के लिये पाठशाला में मास्टर के पास जाना पड़ता है, वैसे ही मोक्षमार्ग का स्वरूप समझने के लिये, संसार का अभाव करने के लिये गुरु के पास अभ्यास करने जाना पड़ता है। सांसारिक विद्या उदर पोषण के लिये है और आत्मा की विद्या मोक्ष प्राप्ति के लिये है; संसार और मोक्ष—दोनों के विपरीत भाव हैं। जिस भाव से संसार फलता है, उस भाव से कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और आत्मा के शुद्ध स्वभाव से मोक्ष फलता है, उससे संसार नहीं फलता किन्तु संसार का नाश ही होता है।

पुनश्च कहते हैं कि:—

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्यादनेक-मनेक-मेव सदा।।५३।।

अर्थ:—दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति-क्रिया नहीं होती; क्योंकि अनेक द्रव्य अनेक ही हैं, वे पलटकर एक नहीं हो जाते।

आत्मा की अवस्था आत्मा में होती है और जड़ की अवस्था जड़ में होती है। अरे! प्रत्येक रजकण की अवस्था स्वतः अपने में ही होती है। छाछ के रजकण पृथक् हैं और दूध के रजकण भी पृथक् हैं, दोनों एकमेक होकर कार्य नहीं करते। कोई कहेगा कि दूध में छाछ पड़ी इसलिए दही जमा, किन्तु भाई! दही अर्थात् क्या? दही किसे कहा जाये? अमुक काल तक एक संयोगी वस्तु रहे उसका नाम लोगों ने दही रखा; दूध के रजकणों की मीठी अवस्था पलटकर खट्टी अवस्था होने की योग्यता तैयार हुई उस समय उसे छाछ का निमित्त मिला, इसलिए दूध में से दही रूप अवस्था हुई, तथापि दही के लोथे में जो

अनन्त रजकण हैं उन सबका कार्य भिन्न-भिन्न है, किसी रजकण का कार्य कोई रजकण नहीं करता।

परमाणु में रस नाम का गुण है, उसकी मिठास और खटास आदि अवस्था में होती हैं, रस गुण स्थायी रहकर अवस्थायें बदलती हैं।

दूध में जब मीठी अवस्था बदलकर खट्टी अवस्था होने की योग्यता हो उसी समय अवस्था बदलती है; किन्तु लोगों में ऐसी विपरीत मान्यता बैठी है कि छाछ ही दूध में से दही बनाती है। दूध के परमाणु खटाई के सन्मुख होकर परिणमित हों तभी खट्टी अवस्था होती है, उसके स्वतन्त्र परिणमन के बिना छाछ की शक्ति नहीं कि दूध को दही बना दे। प्रत्येक परमाणु का परिणमन स्वतन्त्र है, कोई किसी का कर्ता नहीं है।

कोई कहे कि अमुक वस्तुएँ शरीर को सर्दी करती हैं, परन्तु प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र भिन्न है। कोई पुद्‌गल किसी अन्य पुद्‌गल में सर्दी कर ही नहीं सकता। शरीर में जब सर्दी होने की योग्यता हो उस समय उसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं; अन्य द्रव्य मात्र साथ रहते हैं, वहाँ अज्ञानी कहते हैं कि इस साथवाले द्रव्य ने इसका कार्य कर दिया—वह मान्यता बिल्कुल मिथ्या है। जिन्हें तत्त्व की खबर नहीं वे तत्त्व का खून करनेवाले हैं; अज्ञान कोई बचाव नहीं है; अदालत के कानून में भी आता है कि—अज्ञान कोई बचाव नहीं है। उसी प्रकार वस्तु का जो स्वभाव अर्थात् नियम है, उसे न जाने और कहे कि हमें खबर नहीं थी, तो वीतरागदेव कहते हैं कि परिभ्रमण कर! जड़-चैतन्य का जो स्वभाव है उसे न जाने और कहे कि ऐसे स्वभाव की हमें खबर नहीं थी तो वीतरागदेव कहते हैं कि जा, चौरासी में परिभ्रमण कर, बचाव-फचाव काम में नहीं आयेगा।

आत्मा का स्वतन्त्र स्वभाव कैसा है—वह समझने का अवसर आ गया है, और जो नहीं समझता उससे आचार्यदेव कहते हैं कि—हे भव्यात्मा! सत् को समझ और अज्ञान को दूर कर! दो द्रव्यों का एक परिणमन नहीं होता—ऐसा स्वतन्त्रता का ज्ञान कर।

आत्मा राग भी करे और जड़ द्रव्य की बोलने और चलने की क्रिया भी करे—वैसा नहीं होता। कोई वस्तु बदलकर दूसरों के साथ एक हो ऐसा नहीं हो सकता। एक रजकण का दूसरा रजकण कुछ भी नहीं करता, एक आत्मा को अन्य आत्मा कुछ नहीं करता, एक भी आत्मा का कार्य रजकण कुछ नहीं करता और एक भी रजकण का आत्मा कुछ नहीं

करता—इस चौभंगी से ऐसा समझ लेना कि कोई किसी का कुछ नहीं करता, नहीं करा सकता, न प्रेरक बनता। प्रत्येक वस्तु का क्षेत्र पृथक् है इसलिए दो द्रव्य एक नहीं होते, दो द्रव्यों का एक कार्य नहीं होता और दो द्रव्यों की एक क्रिया नहीं होती।

कितने ही लोग कहते हैं कि जब आत्मा सिद्ध में जाता है उस समय एक आत्मा दूसरे में मिल जाता है, 'ज्योति माँ ज्योत मिलाय' ऐसा कहते हैं, किन्तु यह बात बिल्कुल मिथ्या है, तीन काल और तीन लोक में भी ऐसा नहीं होता। आत्मा संसार में भी पृथक् है और मोक्ष में भी पृथक् ही रहता है, जो भिन्न है, वह त्रिकाल भिन्न ही रहता है। दो द्रव्य कभी भी एक नहीं होते, उनका कार्य एक नहीं होता और न उनकी क्रिया भी एक होती है दो द्रव्य में प्रदेशभेद होने से परस्पर आधार आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। इस सत्य नियम को भूलकर यथार्थ प्रतीति के बिना व्यवहारज्ञान भी मिथ्या है, शास्त्रज्ञान भी कुज्ञान है।

प्रत्येक द्रव्य का स्वक्षेत्र भिन्न है, और स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न हैं उसमें निमित्त कुछ नहीं कर देता यह नियम का निश्चय प्रथम करना पड़ता है।

प्रश्न:—यदि वस्तु में स्वत: से ही कार्य होता हो तो फिर निमित्त की क्या आवश्यकता है?

उत्तर:—जब कार्य होता है, उस समय निमित्त की उपस्थिति होती है किन्तु निमित्त कुछ कर नहीं देता। जब सूर्य-विकासी कमल विकसित हो उस समय सूर्योदय होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु सूर्य ने कमल को विकसित नहीं किया है। जब कमल स्वत:—अपनी योग्यता के काल में अपने आप विकसित होता है, उस समय सूर्य की उपस्थिति होती है—ऐसा स्वतन्त्र सम्बन्ध है; उसी प्रकार जब चन्द्र-विकासी कमल खिले उस समय चन्द्रमा का उदय हो—ऐसा सम्बन्ध है तथापि चन्द्र-विकासी कमल को चन्द्रमा ने नहीं खिलाया किन्तु कमल खिलने के समय चन्द्रमा की उपस्थिति होती है।

स्वत: में जब अवस्था होने की योग्यता हो तब निमित्त की उपस्थिति होती है; उपादान को निमित्त की बाट (राह) देखना पड़े ऐसा नहीं है; किन्तु जिस समय उपादान में वह अवस्था होने की योग्यता हो उस समय उसके अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा सम्बन्ध है। उपादान और निमित्त आगे-पीछे नहीं किन्तु दोनों साथ ही होते हैं।

घटरूप कार्य में मिट्टी अनुरूप है, उपादान कारण है और वह सच्चा कारण है और

घड़े की उत्पत्ति में कुम्हार अनुकूल है निमित्त कारण है, व सच्चा कारण नहीं है। अतः कुम्हार घड़े को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता, परन्तु अपने अभिमान के परिणाम को करता प्रतिभासित होता है। कोई कहे कि निमित्त और उपादान युगपद् है इसलिए भूल हो जाती है किन्तु वैसा कहनेवाले की बात बिल्कुल मिथ्या है। स्वतः अपनी मान्यता के कारण भूल करता है, युगपद् है इसलिए भूल हों तो सबको होनी चाहिए किन्तु परसंयोग के कारण किंचित् भी भूल नहीं होती। स्वयं भूल करे तो निमित्त कहा जाता है।

दो वस्तुएँ बिल्कुल भिन्न ही हैं, दोनों के आधाररूप प्रदेश भी पृथक् ही हैं, इसलिए दो द्रव्य एकरूप परिणमित नहीं होता, दो चीज़ का एकरूप परिणाम, अर्थात् परिणति भी नहीं होती। यदि दो द्रव्य एकरूप परिणमित हों तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाये, परन्तु ऐसा होता ही नहीं, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के आधीन है ही नहीं, इसलिए लोप होने का प्रसंग ही नहीं है।

इसी अर्थ को पुनः दृढ़ करते हैं:—

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एक-मनेकं यतो न स्यात्।।५४।।

अर्थः—एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होतीं; क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

इस शरीर की अवस्था शरीर करे और शरीर की अवस्था आत्मा भी करे—इस प्रकार एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते। अपना गुण स्वतः भी प्रगट करे और देव-गुरु-शास्त्र भी अपने गुण को प्रगट करें—इस प्रकार एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते; अपने गुणों की अवस्था प्रगट होने में देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त है किन्तु देव-गुरु-शास्त्र अन्य के गुणों के कर्ता नहीं हैं। उसी प्रकार दो द्रव्यों के कर्म भी पृथक् हैं। आत्मा अपना कार्य करे और पर का कार्य भी करे—जैसे कि-तीर्थंकरदेव अपने गुणों को प्रगट करें और पर के गुणों की पर्याय को भी प्रगट करें—इस प्रकार एक द्रव्य के दो कार्य नहीं होते। तीर्थंकरदेव अपने गुणों की पर्याय को प्रगट करते हैं किन्तु दूसरे के गुणों की पर्याय प्रगट नहीं करते; क्योंकि सामनेवाला जीव स्वतः पुरुषार्थ से प्रगट करे तो हो, इसलिए एक द्रव्य के दो कार्य नहीं होते। एक वस्तु की दो क्रियाएँ नहीं होतीं। जैसे कि-आत्मा आत्मा की अवस्था को

भी परिवर्तित करे और शरीर की अवस्था को भी परिवर्तित करे, अथवा आत्मा राग-द्वेष की अवस्था प्रतिक्षण परिवर्तित करे और द्रव्यकर्म की अवस्था भी प्रतिक्षण परिवर्तित करे—ऐसा नहीं हो सकता। इस प्रकार एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होतीं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय को, और कर्ताकर्म को अभेददर्शक द्रव्यार्थिकनय से वस्तुस्थिति का नियम कहा अर्थात् मर्यादा बतायी। पर्यायार्थिकनय से परस्पर एक-दूसरे का कर सकते हैं ऐसा त्रिकाल में नहीं है व्यवहार से कथन होता है।

अब कहते हैं कि—आत्मा को अनादि काल से परद्रव्य के साथ माना हुआ कर्ता-कर्मपने का अज्ञान है, यदि वह परमार्थनय के ग्रहण से एक बार भी विलीन हो जाये तो पुनः नहीं आये।

अनादि अज्ञान से जीव मिथ्यादृष्टि है। वह सब विपरीत ही मानता है, वीतराग कथित स्वरूप को नहीं मानता इससे उसको कर्ता-कर्मपने का अज्ञान है; किन्तु यदि यथार्थ परमार्थदृष्टि से वस्तुस्वभाव को ग्रहण करे और एक बार कर्तापने का नाश करे तो वह पुनः उत्पन्न न हो।

अज्ञानता से जीव ऐसा मानते हैं कि अमुक भाई ने तो दूसरों के लिये बड़े अच्छे कार्य किये हैं, उन्होंने जीवित रहना भी जाना और मरना भी जाना। हरी-भरी फुलवारी छोड़कर मरे हैं; हरी-भरी फुलवारी अर्थात् क्या? लड़के, बहुएँ, धन, मकान इत्यादि हरी-भरी फुलवारी कहलाती होगी? वह तो इनका मोह लेकर मरा है, इसमें क्या तो मरना जाना और क्या जीना?

जीवित अवस्था में दूसरों के कार्य करने का अभिमान करता था—वह भाव लेकर मरा अर्थात् कर्ताभाव को साथ लेकर गया और उसके प्रशंसक उसके कर्तापने का बखान करते हैं अर्थात् दोनों अनादि से कर्ताकर्म के अज्ञान में डूबे हैं, किन्तु ज्ञानभाव से उस कर्ता-कर्मपने का नाश करे कि मेरे स्वभाव में पर का कर्तृत्व त्रिकाल है ही नहीं—इस प्रकार यदि एक बार भी कर्तृत्व विलय को प्राप्त हो तो वह मिथ्याबुद्धि पुनः न आये। यहाँ तो अप्रतिहत धारा की ही बात है। अब ५५वाँ कलश कहेंगे—

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽह-मित्युच्चकै-
दुर्वारं ननु मोहिना-मिह महाहंकार-रूपं तमः।

तद्भूतार्थ-परिग्रहेण विलयं यद्येक-वारं व्रजेत्,
तत्किं ज्ञान-घनस्य बन्धन-महो भूयो भवे-दात्मनः ।।५५।।

अर्थ:—इस जगत में मोही (अज्ञानी) जीवों का 'परद्रव्य को मैं करता हूँ'—ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार—जो कि अत्यन्त दुर्निवार है—वह अनादि संसार से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो! परमार्थनय का अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण करने से यदि वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो जाये तो ज्ञानघन आत्मा को पुनः बन्धन कैसे हो? (जीव ज्ञानघन है इसलिए यथार्थज्ञान होने के पश्चात् ज्ञान कहाँ चला जायेगा? नहीं जायेगा। और यदि ज्ञान न जाये तो फिर अज्ञान से बन्ध कैसे होगा? कभी नहीं होगा।)

आचार्य भगवान जगत के जीवों से कहते हैं कि—इस जगत में पर का मैं करता हूँ और पर मेरा करता है, मैं पर का अच्छा-बुरा करता हूँ और पर मेरा—ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार जीवों के अनादि-संसार से चला आ रहा है, जो कि अत्यन्त दुर्निवार है, उस अज्ञान को सत्यार्थ प्रकाशक अभेदनय का ग्रहण करके यदि एक बार भी नष्ट कर दे तो पुनः बन्धन न हो किन्तु मोक्ष ही हो।

कोई कहे कि हम परद्रव्य के कर्तृत्व का अहंकार न करें किन्तु अनासक्ति भाव से पर का कार्य करें तो?

उत्तर:—जहाँ पर का करने की इच्छा है वहाँ अनासक्ति भाव ही नहीं है किन्तु अनन्ती आसक्ति है। पर का मैं कर सकता हूँ—ऐसा जहाँ जीव ने स्वीकार किया वहाँ तो वह पापी है—मोही है, मूढ़ है, अनन्त आसक्ति का स्वामी है। ज्ञानी के परद्रव्य के कर्तृत्व की बुद्धि नहीं होती, सर्वत्र ज्ञाता ही हूँ स्वतन्त्र अपनी-अपनी योग्यता (-सामर्थ्य से) ही सबका कार्य होता है ऐसा मानना यथार्थ अनासक्ति है, परन्तु परद्रव्य के कार्य का मैं कर्ता हूँ—प्रेरक हूँ—ऐसी बुद्धि हुई वहाँ अनन्ती आसक्ति है। प्रश्न-व्यवहारनय से तो पर का कुछ कर सकते हैं? उत्तर—नहीं, कारण कि—प्रत्येक वस्तु नित्य परिणामी है, वह अन्य द्रव्य के कारण से नहीं है स्वतः है, 'उपादान निश्चय जहाँ तहँ निमित्त पर होय' ऐसा नियम होने से निमित्त को उपचार कारण कब माना जाये उपादान स्वयं कार्य परिणत हो—तब तो हरेक द्रव्य निरन्तर परिणत होते ही हैं इसमें दूसरा कोई व्यवहार कर्ता मानना अज्ञानी जीवों

का मिथ्या विकल्प है।

जगत के मोही जीव को आसक्ति अनासक्ति की खबर नहीं है, संयोग में एकता बुद्धि होने से यह मान रहे हैं कि हम पर का कुछ कर सकते हैं, पर हमारा कर सकते हैं वही कर्ताबुद्धि महा मोह है। वह अज्ञान अन्धकार सम्यग्भान के बिना नाश नहीं होता, सम्यग्ज्ञानरूपी बोध की किरणों के बिना वह अज्ञान अन्धकार नाश नहीं हो सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! पर का मैं नहीं कर सकता, और पर मेरा नहीं कर सकता—ऐसा परमार्थनय का ग्रहण करके देख! शुद्ध द्रव्यार्थिकनय अर्थात् पराश्रय रहित पवित्र द्रव्य सो शुद्ध है। आर्थिक अर्थात् उस पर से पृथक् निर्मल वस्तु को देखने का प्रयोजन और नय अर्थात् उसका ज्ञान। शुद्ध द्रव्य को देखने का जिसका प्रयोजन है, उस ज्ञान के अंश को शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि—शुद्धस्वभाव का इच्छुक होकर देख! तो परद्रव्य का अकर्तृत्व ही ज्ञात होगा और अपने स्वभाव का कर्ता ही प्रतिभासित होगा। शुद्धस्वभाव का ग्रहण करने से परद्रव्य का कर्तृत्व छूट जाता है।

कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। आत्मा का मात्र स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव है पर को जानने पर भी पर का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। जिस प्रकार आँख बर्फ और अग्नि की क्रिया को ऊँचा-नीचा करने में समर्थ नहीं है। उसी प्रकार आत्मा पर को जानते हुए पर का कुछ भी करने में असमर्थ है।

पाँच हजार मनुष्य एकत्रित होकर ॐकार का जाप जपें और मानें कि इससे क्लेश या रोगादि की शान्ति हो जाती है। हमारे शुभभावों का प्रभाव दूसरों को हो वैसा मानकर वे जप करते हैं किन्तु वैसा माननेवाले निरे मूढ़ हैं। कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता; सामनेवाले के पुण्य-पाप का जैसा उदय और उसकी योग्यता हो वैसा बनता है। सम्यक् और मिथ्या अभिप्राय किसे कहना यह बात चलती है।

कोई बाप ऐसा कहता है कि हम लड़के को बीड़ी पीना छुड़ाते हैं, किन्तु लड़के ने बीड़ी छोड़ी तो अपने भाव से है न? लड़के ने बीड़ी पीना छोड़ दिया तो तू उसमें निमित्त कहलाया, यदि लड़का बीड़ी पीना न छोड़े और क्लेश करे तो बाप क्लेश का निमित्त कहलाये। कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि हमारी शिक्षा अच्छी थी इसलिए बाल-बच्चे भी अच्छे और संस्कारी हुए और यदि आज्ञा न माने तो कहते हैं कि हमारी शिक्षा का ही

प्रभाव नहीं होता, किन्तु ऐसे अभिमान और खेद दोनों को छोड़ दे और यह मान कि मैं अपने भावों का ही कर्ता हूँ, परभाव का कर्ता मैं हूँ ही नहीं; इसलिए सर्व प्रथम कर्तापने की भ्रान्ति का नाश कर और ज्ञानघन आत्मा का आश्रय करके उसी में स्थिर हो जा। ज्ञानघन आत्मा ऐसा निर्भेद्य है कि उसमें अज्ञान और राग-द्वेष विकल्प प्रवेश नहीं कर सकते-उसी का भान कर और उसमें स्थिर हो।

अभेददृष्टि गुण-पर्याय के भेद को स्वीकार नहीं करती, अपने शुद्धस्वभाव को स्वीकार करती है—वह शुद्धद्रव्यार्थिक अभेददृष्टि है। एक बार ही उस भूतार्थनय को ग्रहण कर! परमार्थनय द्वारा जब क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उस समय दर्शनमोह का नाश होता है। परमार्थदृष्टि अपने पुरुषार्थ द्वारा होती है, काल पके तब होती है—ऐसा नहीं है, परन्तु जब स्वत: स्वाश्रय निश्चय का पुरुषार्थ करे तब स्वकाल की पक्वता होती है; भ्रान्ति का नाश हुआ वह पुन: उत्पन्न नहीं होती। वह तो अल्पज्ञानी गृहस्थदशा में हों उसी को सम्यग्दर्शन की बात है, तेरहवें गुणस्थान की नहीं। विपरीत मान्यता दूर हो गयी उसके पुन: मिथ्यात्व की उत्पत्ति नहीं होगी—संसार का उदय नहीं होना है। वृक्ष की जड़ नष्ट हो गयी, उसके पुन: डालें और पत्ते आदि नहीं उगते हैं।

(अनुष्टुप्)

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।५६।।

आत्मा तो निरन्तर अपने भावों को ही करता है और परद्रव्य पर के भावों को करता है; क्योंकि जो अपने भाव हैं वह तो स्वत: ही है और जो पर के भाव हैं, वह पर ही है। (ऐसा नियम है)।

आत्मा सदैव-त्रिकाल अपने भावों को करता है। ज्ञानभाव से अपने भावों को करता है और अज्ञानभाव से विकार भावों को करता है, परन्तु आत्मा जड़ की अवस्था को तो करता ही नहीं।

जो शुभाशुभ परिणाम हो वह आत्मा की विकारी पर्याय है, और यदि आत्मा पवित्र भावों को प्रगट करे वह भी अपनी अवस्था है, अपनी अवस्था पृथक् नहीं है। शरीरादि जड़ की अवस्था जड़ में होती है।

प्रश्नः—आप कहते हो कि पर का कुछ नहीं कर सकता, तो उसका प्रमाण क्या है?

उत्तरः—जड़ और आत्मा—दोनों वस्तुएँ स्वशक्ति सम्पन्न है स्वतन्त्र है; वस्तु में से स्वत: में से अपने गुणों की अवस्था आती है या पर में से? जो वस्तु है वह गुणयुक्त होती है या गुण से रहित? कोई वस्तु गुणरहित नहीं होती। गुण स्थायी रहता है अथवा अमुक समय तक? गुण तो स्थायी ही रहता है। अब यदि गुण स्थायी रहता है तो फिर गुण की अवस्था भी गुण में से ही आती है, प्रत्येक वस्तु में निजशक्ति से निरन्तर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् का यह क्रम बना रहेगा इसलिए किसी भी पर का कुछ नहीं कर सकता। किसी के गुण की अवस्था अन्य कारण से नहीं होती और न सामनेवाले के गुण की अवस्था इसके कारण से होती है, इसलिए सब अपने-अपने भावों को ही करते हैं।

पुण्य-पाप के भाव आत्मा के अस्तित्व में होते हैं, कहीं वे जड़ में नहीं होते; परन्तु उस विकार को द्रव्यदृष्टि अपना नहीं मानती। आत्मा सदाय अरूपी ज्ञानमूर्ति है—ऐसा भान होने से स्वभाव की दृष्टि से तीव्र रागादि दूर हुए हैं और अल्प रहे हैं, उन्हें भी टालना चाहता है; जिन भावों को दूर करना चाहता है, वे भाव अपने नहीं इससे जड़ हैं।

अज्ञान भाव से जीव विकार को रखना चाहता है। जहाँ तक विपरीत दृष्टि है, वहाँ तक अज्ञानभाव से विकार का उत्पादक होता है इसलिए विकार भाव उसके हैं। यथार्थदृष्टि का भान नहीं है वहाँ पुरुषार्थ करेगा किसका? वहाँ तक जो भी भाव हों उनका वह कर्ता होता है। विपरीत मान्यता ही संसार है; यदि विपरीत-मान्यता न हो तो संसार न हो।

जो ऐसा मानता है कि शरीर का, कुटुम्ब का, जाति का, संघ का, देश का मैंने किया; मैं था इससे सब कार्य भलीभाँति पूर्ण हो गया। होता है उसके अपने आप और वह मानता है कि मैं था इससे संस्था अच्छी तरह चली, नहीं तो अव्यवस्था फैल जाती—इस प्रकार जड़ का मैं करता हूँ, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है॥८६॥

परद्रव्य के कर्ताकर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहकर ऐसा कहा है कि जो ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है; वहाँ आशंका पैदा होती है; शिष्य जानने के लिये आशंका करके पूछता है, शंका से नहीं पूछता। शंका और आशंका में अन्तर होता है:—शंका अर्थात् सन्देह—कि यह वस्तु ऐसी होगी या नहीं और आशंका अर्थात् इसमें यह किस प्रकार होगा

वह जानने की जिज्ञासा; इस प्रकार शंका और आशंका में अन्तर है। शिष्य यहाँ जानने के लिये आशंका से पूछता है कि प्रभो! यह जो विपरीत मान्यतारूप मिथ्या भाव हैं सो क्या वस्तु है? प्रभो! पहले तो आपने कहा था कि विपरीत माननेवाला सर्वज्ञ के मत से बाहर है; आत्मा और जड़ की-अवस्था प्रतिक्षण होती है, उसमें आत्मा की अवस्था को जड़ का कार्य माने या जड़ द्वारा उत्पन्न होनेवाली माने और जड़ की अवस्था को आत्मा का कार्य माने या आत्मा द्वारा उत्पन्न होनेवाली माने—इस प्रकार तत्त्व को विपरीत माननेवाला सर्वज्ञ के मत से बाहर है।

वे मिथ्यात्वभाव, पुण्य-पाप के भाव, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि के भाव वस्तु क्या हैं? उन भावों को यदि जीव का कहा जाये तो पहले उन रागादि भावों को पुद्गल के परिणाम कहा था, उस कथन के साथ विरोध आता है; वे विपरीत मान्यता और राग-द्वेषादि के भाव यदि पुद्गल के कहे जायें तो जिसके साथ जीव को कोई प्रयोजन नहीं है उसका फल जीव कैसे पाये? जीव कैसे भोगे? शिष्य कहता है कि—प्रभो! आप कहीं तो रागादि जीव के परिणाम कहते हो और किसी समय वे पुद्गल के परिणाम कहते हो, बात को कहीं ठिकाने पर नहीं लाते जैसे घर में पाँच मनुष्य हों और सभी सम्मिलित होकर किसी बात का निर्णय करते हों उसमें कुछ निश्चित न हो सके तो घर का समझदार मनुष्य कहता है कि बात को तय करो ना? पक्का करो! हिलाते-डुलाते क्यों हो? उसी प्रकार शिष्य कहता है कि—प्रभो! बात को तय करो, अन्तिम निर्णय दो; यदि राग-द्वेष को जीव परिणाम कहोगे तो पहले आपने उन्हें पुद्गल का कहा है, और यदि जड़ का कहोगे तो जो अवस्था पुद्गल की हो उससे हमें क्या लेना-देना है? जिसके साथ हमें कोई सरोकार नहीं है, उसका फल हम क्यों भोगें? कर्म के घर यदि राग-द्वेष हों तो उसके घर रहे, उससे हमें क्या? भंगी के घर में भंगी झगड़ा करे इससे हमें क्या मतलब? इस प्रकार आशंका करके समझना चाहता है। शिष्य की आशंका दूर करने के लिये अब गाथा कहते हैं:—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीव-मजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।।८७।।

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम्।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः।।८७।।

अर्थः—पुनश्च, जो मिथ्यात्व कहा वह दो प्रकार से है—एक जीवमिथ्यात्व और दूसरा अजीवमिथ्यात्व; और इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि कषाय—यह भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार से हैं।

मिथ्यात्व के दो प्रकार हैं; परपदार्थ को अपना माननेरूप विपरीत-अभिप्राय सो जीवमिथ्यात्व है, उसका बाह्य निमित्त पाकर रजकण मिथ्यात्व-कर्मरूप परिणमित हों वह अजीवमिथ्यात्व है। जीव विपरीत भाव करे तो उस समय पूर्व कर्म निमित्त होता है। विपरीत मान्यता के भावों के समय दर्शनमोहनीयकर्म का उदय निमित्तरूप है।

अपने स्वज्ञेय ज्ञायकस्वभाव को भूलकर मात्र पर को ज्ञेय करे और उस परज्ञेय को अपना माने—वह जीव अज्ञान है। उस जीव अज्ञान के उल्टे भावों के समय ज्ञानावरणीय कर्म के उदय जो निमित्तमात्र हैं—वह अजीव अज्ञान है। जड़कर्म आत्मा को विपरीत भाव नहीं करा देता किन्तु जब जीव स्वतः विपरीत भाव करता है, उस समय जड़कर्म के उदय का निमित्त होता है।

परपदार्थ के प्रति जो आसक्ति है, उसका अत्यागभाव सो जीव अविरति; अपने स्वरूप में स्थिर न रहकर अस्थिर हो जाये वह अविरति। सम्यग्दर्शन होने पर परपदार्थ की आसक्ति का श्रद्धा में से त्याग हो गया हो, जो-जो राग-द्वेष के परिणाम आयें उनसे पृथक् भान प्रवर्तमान हो, तथापि अस्थिरता में से आसक्ति न छूटी हो उसका नाम जीव अविरति है; उस जीव अविरति के समय अप्रत्याख्यानावरणीयादि चारित्रमोह का उदय निमित्त है—वह अजीव अविरति है।

आत्मप्रदेशों का कम्पन सो जीवयोग है। मनयोग, वचनयोग, और काययोग की प्रकृति का उदय सो जड़योग है।

आत्मा का असावधानरूप भाव—वह जीवमोह है; और उस भाव के समय मोहनीयकर्म का उदय निमित्त है, सो अजीवमोह है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक इत्यादि कषायभाव जीव के परिणाम में होते हैं—वह जीवक्रोधादि है। उन भावों के समय द्रव्यकर्मरूप क्रोधादि कर्म उदय में है—वह जड़क्रोधादि है।

इस प्रकार समस्त विकारीभावों में जीव-अजीव दो-दो प्रकार हैं। सम्यग्दर्शन की

भूल मिथ्यात्व, ज्ञान की भूल सो अज्ञान, चारित्र की भूल अस्थिरता; मोह और क्रोधादि चारित्र की भूल में समावेश हो जाता है।

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं वे प्रत्येक, मयूर और दर्पण की भाँति, अजीव और जीव द्वारा भाया जाने से अजीव भी हैं और जीव भी हैं।

जैसे—नीला, पीला, हरा आदि भाव (वर्ण का अस्तित्व) जो मोर द्वारा भाया जाता है—बनते हैं—होते हैं, वह मोर ही है। मोर के शरीर में और पंखों में जो नीला, हरा, पीला आदि रंग हैं वह मोर ही है और दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से दिखायी देता नीला, पीला, हरा, सुनहरी,आदि भाव—वह दर्पण की विकारी पर्याय है, दर्पण की स्वच्छता का वह विकार है। इसलिए दर्पण में पड़नेवाला मोर का प्रतिबिम्ब और मोर—दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। दर्पण में मोर के आकार की जो विकारी पर्याय होती है, वह दर्पण का मूलस्वभाव नहीं किन्तु विकारी-पर्याय है; मोर का जो रंग दर्पण में दिखायी देता है, वह दर्पण की विकारी पर्याय है, दर्पण की योग्यतानुसार ही उसकी पर्याय होती है। दर्पण के सामने मोर पंखों को रखा जाये तो दर्पण की अपनी योग्यता को लेकर उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, परन्तु निमित्त को लेकर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। निमित्त तो मात्र निमित्त ही है; यदि निमित्त को लेकर प्रतिबिम्ब पड़ता हो तो लकड़ी में भी प्रतिबिम्ब पड़ना चाहिए, किन्तु उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। इससे यह सिद्धान्त हुआ कि निमित्त को लेकर प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु दर्पण की अपनी योग्यता नीले, पीले, हरे, सुनहरी आदि रंग की अवस्था होने की थी इससे उस समय मोर पंखों का निमित्त बन जाता है। दर्पण की स्वच्छता परिवर्तित होकर नीले, पीले, हरे आदि अनेक प्रकार की हो जाती है, तथापि उसकी स्वच्छता का नाश नहीं होता। विकारी अवस्था स्थायी नहीं, किन्तु क्षणिक है।

सामने अग्नि जल रही हो तो क्या दर्पण उससे गर्म हो जायेगा? नहीं होगा। लाल अग्नि सामने है, वैसा प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है—दिखायी देता है, वह दर्पण की योग्यता है, दर्पण की स्वच्छता का विकार है, विकार है अवश्य, किन्तु विकार नहीं ही है—ऐसा नहीं है, विकार भ्रम है-ऐसा नहीं है, किन्तु विकार का पर्यायरूप क्षणिक अस्तित्व है।

जैसे मोर के लाल, पीले आदि रंग मोर में हैं और दर्पण के रंग दर्पण में हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्वभाव जीव की पर्याय में होते हैं वह जीवमिथ्यात्व है, वह जीव की विकारी

अवस्था है और मिथ्यात्वभाव होने में उपस्थित निमित्त-कारण जड़ मिथ्यात्व है, यह शरीर मेरा है, यह राग मेरा भाव है, मैं उस राग, शरीर, मकान आदि का कर्ता हूँ—वैसी विपरीत मान्यता का भाव जीव का है और जैसे दर्पण के प्रतिबिम्ब के सम्मुख मोर है। उसी प्रकार जीव का मिथ्यात्व भाव होने के समय जड़कर्म में मिथ्यात्व नाम की प्रकृति का उदय है—वह निमित्तरूप है।

कोई कहे कि आत्मा में अज्ञानभाव से भी विकार नहीं होता, तो वह बात बिल्कुल अयथार्थ है; अवस्था में विकार होता है, अवस्था में विकार का अस्तित्व है। यदि पर्याय में विकार न हो तो संसार ही न हो, और जब संसार न हो तो मोक्ष भी न हो। यदि अवस्था में विकार न हो तो फिर उसे दूर करने के लिये पुरुषार्थ करने का प्रयोजन क्या? सत्य समझने का कारण क्या? देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति भी अशुभभावरूप विकार को दूर करने के लिये है, यदि पर्याय में शुभ-अशुभ विकार न हो तो फिर देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति करना उपदेश आदि का कारण क्या? इसलिए पर्याय में शुभाशुभभावरूप विकार है, और उसे दूर करने का उपाय भी है। आत्मा पर से तीनों काल निराला, परमपवित्र, शुद्ध, चिदानन्द है, उसकी पहिचान करके, श्रद्धा करके, उसमें स्थिर होना सो शुभाशुभ विकार को नष्ट करने का उपाय है।

जिस प्रकार दर्पण की अपनी योग्यता के कारण मोर का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा की अपनी योग्यता के कारण मिथ्यात्वरूप अवस्था होती है। जड़ मिथ्यात्वप्रकृति कहीं चैतन्य की मिथ्यात्वरूप अवस्था को नहीं कर देती किन्तु चैतन्य की अपनी योग्यता के कारण वह स्वत: ही विपरीत वीर्य द्वारा विकार में युक्त होता है—इससे मिथ्यात्व अवस्था होती है। विपरीत मान्यता होने का निमित्त सम्मुख उपस्थित है, उस ओर यदि स्वत: झुकाव करे तो अपने में विपरीत अवस्था होती है; उस ओर झुकाव न करे और अपने नित्य स्वभाव की ओर लक्ष्य दे तो सम्यक् अवस्था होती है किन्तु मिथ्यात्व-अवस्था नहीं होती।

स्व-पदार्थ कौन है उसे न जाने परन्तु मात्र पर को ही जाना करे—वह अज्ञान आत्मा की अवस्था में होता है। वैसी अज्ञान अवस्था होते समय सम्मुख ज्ञानावरणीय कर्म का उदय निमित्तमात्र उपस्थितिरूप होता है—वह जड़ अज्ञान है।

सम्यग्दर्शन होने पर चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है, उस चतुर्थ भूमिका में पर-पदार्थ के प्रति रुचि छूट जाती है, किन्तु अल्प आसक्ति रहती है, वह अविरति है। जो आसक्तिरूप परिणाम चैतन्य की पर्याय में होते हैं, वह चैतन्य अविरति है और अविरति का निमित्त जो अप्रत्याख्यानावरणीय प्रकृति का उदय है—वह जड़ अविरति है। अविरति के पश्चात् पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान में अल्प क्रोधादिकषाय होती है—उसमें चैतन्य की अवस्था में होनेवाले क्रोधादि चैतन्य विकार है और उस समय सामनेवाले निमित्त में जड़कर्म का उदय हो—वह जड़कषाय है। आत्मा के प्रदेशों का कम्पन सो चैतन्ययोग है और उस समय निमित्त में नामकर्म की प्रकृति के योग का उदय है—वह जड़योग है।

अज्ञान और अस्थिरता चैतन्य के विकार मात्र से भाया जाता है अर्थात् बनते हैं। पर का मैं कर्ता हूँ, पर मुझे मुक्ति दे देगा; मैं उसे मुक्ति दे दूँगा—वैसे मिथ्याज्ञानमय विकल्पों का विकार चैतन्य की पर्याय में होता है, जीव द्वारा वह बनाया जाता है और उस भाव का निमित्त जो अजीव प्रकृति है, वह जड़ द्वारा बनाने में आती है।

जड़ की अवस्था जड़ में होती है और आत्मा की भूलरूप अवस्था आत्मा में होती है। दृष्टान्त में मोर को जड़कर्म प्रकृति की उपमा दी है और दर्पण को आत्मा की उपमा दी है।

आत्मा में विकार होता है, वह स्वत: में होता है या पर में? स्वत: में ही होता है। चैतन्य की अवस्था में कहीं परवस्तु विकार नहीं करा देती, विकार होने में सम्मुख अन्य वस्तु की उपस्थिति है अवश्य, किन्तु वह कहीं विकार नहीं करा देती। यहाँ तो दो वस्तुएँ सिद्ध करना है 'इकना एक और दूनी दो' दो हों तो बिगड़ती है, दो चूड़ियाँ एकत्रित हों तो खड़खड़ाहट होती है, उसी प्रकार आत्मा यदि अकेला हो और स्वसन्मुख हो तो भूल नहीं होगी, किन्तु परवस्तु पर दृष्टि डालता है, तब भूल होती है। जैसे कोई पुरुष परस्त्री पर दृष्टि डाले तो भूल होती है; वैसे ही आत्मा अपने स्वभाव पर दृष्टि डाले तो भूल नहीं होती किन्तु पर के ऊपर दृष्टि डाले तो भूल होती है, इसलिए आत्मा को विकार होने में परवस्तु सामने होती है, परन्तु परवस्तु विकार नहीं करा देती।

जब आत्मा राग-द्वेष के भाव करे उस समय सम्मुख जड़कर्म का बाह्य निमित्त कारण है। यदि स्व में दृष्टि करे तो अपने स्वभाव में रहा और यदि पर में दृष्टि की तो तुझमें

विकार हुआ। आत्मा में जो मिथ्यात्व और अस्थिरता की अवस्था होती है, वह आत्मा की है और जड़कर्म की अवस्था जड़कर्म में है।

दर्पण मूलद्रव्य नहीं, किन्तु अनन्त परमाणु द्रव्य की पर्याय है, तथापि सम्मुख निमित्त हो तो प्रतिबिम्ब का परिणमन उसमें अपने द्वारा होता है—ऐसा स्वभाव है। रजकण में परिवर्तन हो वह उसकी अपनी योग्यता है। खाते हैं स्वच्छ चावल और उसका रक्त लाल हो जाता है, विष्टा बन जाता है; उसी प्रकार एकदम पुद्गल की अजीव शक्ति से पुद्गल का परिणमन हो जाता है—वह पुद्गल का अपना स्वतन्त्र परिणमन है। जिस प्रकार पुद्गल का परिणमन स्वतन्त्र है वैसे ही आत्मा का परिणमन भी स्वतन्त्र है; जड़ की अवस्था जड़ में होती हे और आत्मा की आत्मा में। वस्तु स्वरूप जैसा है, उसी प्रकार उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिर हो तो मोक्ष हुए बिना न रहे।

आत्मा में जो क्रोधादि होते हैं वह आत्मा का अरूपी विकार है और उसी प्रकार जो जड़प्रकृति मिथ्यात्वादि हैं, वह जड़ का विकार है, आत्मा और कर्म—दोनों एक स्थान में रहते हैं किन्तु जड़ का भाव जड़ में है और चैतन्य का चैतन्य में; दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं।

दर्पण के सम्मुख यदि मोर खड़ा हो तो उसमें मोर ही दिखायी देता है, इससे जगत के जीवों को भ्रम हो जाता है कि बाहर का मोर दर्पण में कैसे प्रवेश कर गया होगा! उसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष, हर्ष-शोक के भाव हो उस समय सम्मुख उसी प्रकार के कर्म का निमित्त उपस्थित होता है, इससे जीवों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि कर्म ने मुझे राग-द्वेष, हर्ष-शोक कराया; परन्तु वह कर्म नहीं कराता; स्वतः विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकार में युक्त होता है इससे विकार होता है।

यह शरीर स्थूल मिट्टी है, वैसे ही कर्म भी सूक्ष्म रज है, वह आत्मा में विकार होने में निमित्त है। जैसे दर्पण में स्वच्छता है, उसी प्रकार आत्मा की ऐसी निर्मलता है कि कर्म का उदय आने पर यदि स्वतः उसमें युक्त होता है तो उससे विकार होता है। यदि उस प्रकार की निर्मलता होगी तभी तो विकार होगा न? ऐसी योग्यता न हो तो फिर विकार भी क्या होगा? आत्मा में ऐसी निर्मलता है इससे विकार होता है।

जिस प्रकार दर्पण के सम्मुख मोर के आने पर उसका रंग नीला, पीला आदि हो

जाता है वैसे ही आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा आदि निर्मल स्वभाव है लेकिन उसी का भान नहीं है, इसलिए जो उदय में आता है, उसमें युक्त होने पर स्वच्छ उपयोग उस आकार का हो जाता है। चैतन्यमूर्ति आत्मा पृथक् है, उसका भान नहीं है, इसलिए अज्ञानी ऐसा मानता है कि आत्मा क्रोध-मान-माया आदि रूप हो गया है। जैसे दर्पण में मोर प्रविष्ट हो गया हो ऐसा अज्ञानी को लगता है, उसी प्रकार विकार आत्मा में प्रविष्ट हो गया हो—ऐसा अज्ञानी को प्रतिभासित होता है; परन्तु विकार आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गया है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

पौद्‌गलिक कर्म का उदय तो निरन्तर होने पर यदि जीव मोहभावरूप परिणमें तो अपने में मलिनदशा होती है, मिथ्यात्वादि कर्म का उदय तो ज्ञेय है, उसका स्वाद तो पुद्‌गल में उत्पन्न होता है परन्तु स्वभाव परभाव का अज्ञान होने से अज्ञानी मान बैठता है कि यह स्वाद मेरा है। कर्म जड़ अचेतन है उसके कारण जीव में मिथ्यात्वादि नहीं होता। स्वत: पर की ओर झुकाव करे उससे विकार का परिणमन होता है, वहाँ अज्ञानी मान लेता है कि विकार मेरा स्वभाव है, यह मुझमें से उत्पन्न होता है। विकार ज्ञान में ज्ञात होता है, वहाँ अज्ञानी मान लेता है कि यह विकार मेरा स्वभाव है।

पर जीवों की दया, भक्ति, पूजा, दान आदि पुण्यभाव और हिंसा, चोरी आदि पापभाव—वे दोनों विकार हैं; वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा कार्य नहीं, वह मेरा स्वरूप नहीं है मैं ज्ञायक स्वरूप ही हूँ—ऐसा जब स्वत: जान लेता है तब उसरूप परिणमित नहीं होता, जब उसका भेदज्ञान होता है तब जीवभाव को जीव जानता है और अजीवभाव को अजीव जानता है; मैं तो ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ—ऐसा भान होने पर अजीव कर्म भाव कर्म का जानता है और आत्मा का भाव आत्मा का जानता है।

मोर दर्पण में नहीं है, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब दर्पण की स्वच्छता का विकार है; परद्रव्य दर्पण में कुछ कर नहीं सकता, दर्पण की ही अवस्था उसरूप होती है। मोर का प्रतिबिम्ब दर्पण में कहा है, अर्थात् कहीं मोर का स्वभाव दर्पण में प्रविष्ट नहीं हो गया है। मोर में दर्पण की नास्ति है और दर्पण में मोर की नास्ति है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। दर्पण में जब उस प्रकार की अवस्था होना हो उस समय मोर उपस्थित होता है—इतना सम्बन्ध है, इससे मोर का प्रतिबिम्ब दर्पण में है—ऐसा उपचार से कहा है।

दर्पण अनन्त रजकणों का पिण्ड है, अखण्ड-पूर्ण द्रव्य नहीं है, किन्तु स्कन्ध है, इसलिए क्षण-क्षण में सफेद, नीला, हरा, पीला आदि भंगवाला परिणमित दिखायी देता है; वह पूर्ण द्रव्य नहीं है इससे वैसे भंग दिखायी देते हैं। जब दर्पण में मोर की अवस्था होना हो उस समय मोर उपस्थित होता है।

कोई कहे कि मोर उपस्थित न हो तो अवस्था नहीं होती, किन्तु भाई! द्रव्य में क्रमानुसार त्रिकाल की अवस्थाएँ होने की शक्ति भरी हुई है। वह क्रमबद्ध अवस्था होने की योग्यता हुई, वह समय आया वहाँ मोर उपस्थित होता है, यदि योग्यता न हो तो उस समय मोर उपस्थित नहीं होता; किन्तु योग्यता के समय मोर उपस्थित होता ही है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि निमित्त न हो तो उतने समय तक दर्पण की योग्यता उसकी बाट देखे ऐसा पराधीन वस्तुस्वभाव नहीं है। दर्पण की योग्यता मोर के वश में नहीं है और मोर दर्पण के वश में नहीं है किन्तु जब योग्यता होती है, उस समय मोर उपस्थित होता ही है—ऐसा सम्बन्ध है। दर्पण की अवस्था सफेद से नीली हुई, वह दर्पण स्वतः परिणमित हुआ है या मोर परिणमित हुआ है? दर्पण स्वतः परिणमित हुआ है मोर नहीं। वह दर्पण की पर्याय है किन्तु मोर की नहीं, वह दर्पण का विकार है किन्तु उसका मूल स्वभाव नहीं है।

उसी प्रकार आत्मा में जो विकार होता है, वह आत्मा की पर्याय है, उस समय कर्म के उदय का निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा सम्बन्ध है। विकार आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है किन्तु स्वतः कर्म के निमित्त के आधीन होने से अपने में विकार होता है; द्रव्यदृष्टि से वह विकार अपना नहीं है किन्तु पर्यायदृष्टि से अपना है। भेदज्ञान होने से सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्यदृष्टि से उस विकार को पर का जानते हैं, क्योंकि वह क्षणिक-नाशवान होने से अपना स्वभाव नहीं है, और पर्यायदृष्टि से अपनी वर्तमान पर्याय में होता है इसलिए क्षणिक अवस्था पर्यन्त को अपना जानते हैं।

जब स्वतः राग-द्वेष करता है, उस समय ऐसा कहा जाता है कि कर्म का विपाक निमित्त है और जब स्वतः राग-द्वेष और अज्ञान को दूर करे अर्थात् वह कर्म को अभावरूप निमित्त-निर्जरा का निमित्त है—वैसा कहलाया। होनेयोग्य राग-द्वेष को स्वतः दूर किया वहाँ निमित्त का अभाव हुए बिना नहीं रहता। कर्म उसके अपने कारण से स्वतः दूर हो

जाता है, जीव उसे दूर नहीं करता, उसे दूर करने को स्वतः कर्ता नहीं है। एक वस्तु में अन्य वस्तु की नास्ति है; नास्ति है इससे परवस्तु का कुछ कर ही नहीं सकता। कर्म का उदय अपने को राग-द्वेष और अज्ञान नहीं कराता; जब स्वतः राग-द्वेष और अज्ञान करता है उस समय अजीव कर्म के उदय की उपस्थिति होती है।

वस्तु में स्वभाव भरा हुआ है, राग-द्वेष अवस्था को दूर करने का पुरुषार्थ स्वतः करे तो होता है, मलिन अवस्था स्वतः करता है और स्वयं ही उसे दूर करता है।

प्रश्न:—पुरुषार्थ करने में कर्म आड़े नहीं आते?

उत्तर:—नहीं!

प्रश्न:—तो फिर अभी तक पुरुषार्थ क्यों नहीं हुआ?

उत्तर:—द्रव्य अकारण पारिणामिक है, उसे कोई कारण लागू नहीं पड़ता। स्वतः अपने में पुरुषार्थ की गति करे तो स्वभाव का कार्य हो और पुरुषार्थ की गति परोन्मुख भावों की ओर करे तो पराश्रयरूप विकार का कार्य आये।

प्रश्न:—पुरुषार्थ जागृत न होने में पूर्व कर्म का कोई कारण तो होता है न?

उत्तर:—पूर्व के परिणमन का वर्तमान में अभाव है, अभाव में से लाभ-हानि नहीं हो सकती स्वतः ही पूर्व में वीर्यशक्ति को हीन किया है और वर्तमान में सशक्त-उग्र भी स्वतः कर सकता है। निमित्त को और अपनी पूर्व पर्याय को तो मात्र आरोप लगाया जाता है। अपनी परिणमन शक्ति स्वतः उग्र करने से होती है; वर्तमान ताकत द्वारा हीन और उग्र करने की शक्ति स्वतः में है, उसमें कर्म का कारण नहीं है।

मैं पर से निराला, अखण्ड ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्व में स्थिर नहीं हुआ, इसलिए अपना परिणमनचक्र हीन हुआ, उसमें कर्म का कारण नहीं है; परिणमन चक्र को उग्र करने की शक्ति भी स्वतः में ही है। कर्म की आत्मा में नास्ति है, वह आत्मा का कुछ नहीं कर सकता, वह तो धर्मास्तिकाय की भाँति मात्र निमित्तरूप है। अपनी परिणमन शक्ति को स्वतः हीन बनाया, इससे ऐसा आरोप लगाया जाता है कि कर्म का उदय निमित्त है। द्रव्य में वीर्य भरा हुआ है, परन्तु पर्याय में स्वतः वीर्य प्रगट नहीं किया इससे वह प्रगट नहीं होता; कर्म को मात्र आरोप दिया जाता है। अपनी परिणमन शक्ति को

स्वत: उग्र करे तो कर्म का उदय दूर हो जाता है और वह कर्म को निर्जरा का निमित्त कहलाता है। औंधा गिरे तो अपने भाव से और सीधा बैठे तो अपने भाव से, कोई उसे प्रेरक, सहायक नहीं है। वस्तु, गुण और पर्याय स्वत: अपने से हैं; उन्हें कोई अन्य आधार, सहायक नहीं है।

जब स्वत: जितना अंशरूप क्रोध में युक्त हुआ तब सम्मुख कर्म के उदय को उतना अंश मात्ररूप क्रोध का निमित्त कहा, और यदि अपने स्वभाव में युक्त हुआ इससे वह कर्म को निर्जरा का निमित्त कहा। स्वत: युक्त हो अथवा न हो, किन्तु कर्म का उदय तो प्रतिसमय खिर ही जाता है।

कर्म का उदय तो उत्पाद रूप से है, क्रोध में युक्त हो तो वह उत्पाद को उदय कहलाता है और अपने स्वरूप में जागृत हो तो वह उत्पाद को निर्जरा हुई अर्थात् व्यय हुआ कहलाता है।

जिस समय जड़ कर्म का उदय है, उस समय जीव उसमें युक्त हुआ तो वह मोहादि कर्म के उदय को विपाकरूप उदय अर्थात् बन्ध का निमित्त कहलायेगा और उसी समय स्वयं यदि स्वसन्मुख ज्ञाता रहे—ज्ञान में युक्त हुआ—राग में युक्त न हुआ तो उसी समय वह जड़कर्मों की उदयरूप अवस्था को निर्जरा कह दिया, जीव ने मोहभाव उत्पन्न न किया तो सामने कर्म का उदय जो उत्पादरूप अस्ति पर्याय है उसी को उस समय व्ययरूप-नास्तिरूप कहने में आया, जीव की पर्याय में योग्यतानुसार कर्म में उपचार किये जाते हैं। जीव के परिणाम अनुसार सामने अजीव कर्म में नाम पड़ते हैं, जड़ कर्म के अनुसार 'डिग्री टू डिग्री' जीव को विकार करना पड़ता है ऐसी मान्यता मिथ्या है।

जिसने यह माना कि मैं परवस्तु के आधीन हूँ, उस समय उसे राग-द्वेष और मिथ्यात्व हुए बिना नहीं रहता; यदि उसी क्षण ऐसा भेदज्ञान करे कि मैं नित्य ज्ञानमूर्ति हूँ, स्वाधीन हूँ, स्व में ज्ञातारूप सावधान रहूँ—तो जितनें अंश में रागादि में युक्त नहीं होता उतनी निर्जरा होती है। [आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि की हानि **निर्जरा** है] जितने अंश में युक्त नहीं होता—अर्थात् राग में अल्प जुड़ता है वह भी न हो तो उत्कृष्ट वीतरागता हो जाये, स्वद्रव्य स्वभाव का उग्र आलम्बन के बल द्वारा उत्कृष्टरूप से अपने में स्थिर-निश्चल हो जाये तो जैसी पूर्णता की श्रद्धा थी वैसा ही पूर्ण चारित्र हो जाये-पूर्ण वीतरागता

प्रगट हो जाये। यदि पूर्ण वीतरागता न हो तथापि सम्यग्भान और आंशिक वीतरागभाव होता है, उसके जो अल्प राग-द्वेष होता है, वह अपनी निर्बलता के कारण होता है; कर्म के कारण पुरुषार्थ मन्द नहीं है, किन्तु अपनी कमजोरी-च्युति के कारण पुरुषार्थ मन्द है। राग-द्वेष चैतन्य का रूप नहीं है, मेरे अस्तित्व में रागादि है ही नहीं—ऐसी दृढ़ श्रद्धा होते ही उतना राग-द्वेष उत्पन्न होता नहीं।

कर्म के कारण मुझे रागादि होते हैं, ऐसा माननेवालों को जड़कर्म की गाँठ बढ़े बिना नहीं रहती—संसार की वृद्धि हुए बिना नहीं रहती, राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जैसे ब्याह हो रहा हो उस समय मृत्यु का समाचार देना ब्याह के उत्सव में हानि पहुँचाना है। इस प्रकार जागृत चैतन्य स्वभाव अपने कारण से अपने कार्य-पर्यायरूप प्रवाहित-परिणमित होता है, उसे जड़कर्म के कारण बिगड़ना बताना तत्त्व की मृत्यु बताना है।

ज्ञानी भेदज्ञान द्वारा अपने पूर्ण सामर्थ्य को सम्हालकर चैतन्य स्वभाव में दृष्टि रखकर स्वाधीनता की शोभा में वर्तता है, उसे बन्धन की शंका ही नहीं-जड़कर्म की ओर दृष्टि देता ही नहीं। अपने स्वभाव को यदि इसी क्षण प्रगट करना चाहे तो मोक्ष हो सकता है—स्वभाव अपने से दूर नहीं है, किन्तु हमारे पुरुषार्थ की निर्बलता से देर लगती है, उसमें कर्म का कोई कारण नहीं है।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि आपने मिथ्यात्वादिक को जीव और अजीव कहा है—वह कौन है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु।।८८।।

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञान-मविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु।।८८।।

अर्थः—जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव है वह तो पुद्गलकर्म है; और जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीव है, वह उपयोग है।

८७वीं गाथा में जीवमिथ्यात्वादि और अजीवमिथ्यात्वादि इस प्रकार दो भेद किये, उस समय शिष्य ने पूछा कि प्रभो! अजीव, मिथ्यात्व कौन है ? क्या धर्मास्तिकाय है ?

अधर्मास्तिकाय है? पुद्गलास्तिकाय है? आदि अजीव पदार्थों में से कौन है? और जीवमिथ्यात्वादि कौन है? उसका उत्तर इस ८८वीं गाथा में देते हैं कि—अजीवमिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म है और जो जीवमिथ्यात्वादि है वह जीव का उपयोग है—इस प्रकार दोनों गाथाओं में इस प्रकार का अन्तर है।

मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता; अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान, और अविरति अर्थात् चारित्रगुण का विकार यह तीनों अवस्थाएँ हैं, तीनों उपयोगरूप हैं और तीनों चैतन्य का अरूपी विकार है।

निश्चय से जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति, इत्यादि अजीव है वह तो अमूर्तिक चैतन्य परिणाम से अन्य—ऐसा मूर्तिकपुद्गलकर्म है; और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव है, वह मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य—ऐसा चैतन्य परिणाम का विकार है।

आत्मा राग-द्वेषरहित तत्त्व है, वह पुद्गल की अवस्था से अन्य ऐसा चैतन्यद्रव्य है। मैं रागी-द्वेषी आत्मा हूँ वैसी मान्यता जीव का विकार भाव है, मिथ्यात्व है। जो ज्ञान एकमात्र परद्रव्य को ही जाने किन्तु अपने स्वद्रव्य को न जाने वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है, और वीतरागस्वरूप न रहकर राग-द्वेषरूप अस्थिर हो वह जीव का अविरतिरूप विकारभाव है ॥८८॥

अब पुन: प्रश्न करता है कि मिथ्यादर्शनादि चैतन्य-परिणामों का विकार कहाँ से हुआ? उसका उत्तर देते हैं:—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोह-जुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि-भावो य णादव्वो।।८९।।

उपयोगस्यानादय: परिणामास्त्रयो मोह-युक्तस्य।
मिथ्यात्व-मज्ञान-मविरति-भावश्च ज्ञातव्य:।।८९।।

अर्थ:—अनादि से मोहयुक्त होने के कारण उपयोग के अनादि से लेकर तीन परिणाम हैं; वह मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव (यह तीन) जानना।

अनादि से मोहयुक्त अर्थात् स्वरूप को भूलकर, उपयोग अर्थात् चैतन्य के व्यापार

के तीन परिणाम हैं; मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति—यह तीन हैं।

यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं का, अपने स्वभावभूत ऐसे स्वरूपपरिणमन में सामर्थ्य है, तथापि (आत्मा की) अनादि से अन्य-वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता होने से, आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति—ऐसा तीन प्रकार का परिणामविकार है।

यथार्थ दृष्टि से देखने पर प्रत्येक का अपने स्वरूपपरिणमन में ही सामर्थ्य है, उसी प्रकार आत्मा में भी अपनी निर्मल अवस्था होने का ही बल है, अपनी शक्ति से स्वयं ही परिणमन करता रहता है; द्रव्य-गुण और उसकी नित्य कारणपर्याय से द्रव्य स्वत: में ही परिणमित होता रहता है, अपने रस से ही स्व-स्वभावभूत अर्थात् अपने त्रिकाल स्वत: स्वभावभूत स्वरूप में परिणमन करने का ही सामर्थ्य है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य से, गुण से और पर्याय से स्वभावभूत परिणमित होने की सामर्थ्ययुक्त है। आत्मा में दया की, अथवा भक्ति इत्यादि की कोई भी वृत्ति उठे वह आत्मा की स्वभावभूत पर्याय नहीं है; आत्मा में राग-द्वेषरूप होने का स्वभाव है ही नहीं। समस्त पदार्थों में अपने-अपने स्वभावानुकूल ही अवस्था होने का सामर्थ्य है। प्रत्येक वस्तु का जैसा स्वभाव है वैसी ही उसकी अवस्था द्रव्यरूप ही होती है, उसमें वैसी ही स्वभावरूप अवस्था होने का सामर्थ्य है। पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह आत्मा का गुण नहीं है, आत्मा में तो स्व-स्वभावभूत स्वरूपपरिणमन होने का सामर्थ्य है। समस्त आत्माओं में पवित्र स्वभाव है और उनकी त्रिकाल अवस्था भी पवित्र है—वह कारण-पर्याय नित्य शुद्ध है।

प्रत्येक आत्मा का अपने स्वभाव में ही परिणमनपना है तथापि अनादि से अन्य वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता होने से आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान अविरति—ऐसा तीन प्रकार का परिणाम विकार है।

आत्मा पर से निराला ज्ञायकमूर्ति है—वैसा न मानकर राग-द्वेष मेरा स्वभाव है और मैं उसका कर्ता हूँ—ऐसा मानना सो मिथ्यादर्शन है। आत्मा परिपूर्ण है—वैसे स्वसामर्थ्य को न जानकर, स्वपूर्वक परज्ञेय को जानने का सामर्थ्य आत्मा में है—वह न जानकर मात्र परज्ञेय को जानना सो अज्ञान है, स्वरूप में स्थिर होने के बदले अस्थिरता में युक्त होना सो अचारित्र है। चैतन्य परम स्वाभाविक वस्तु है—परमपारिणामिक वस्तु है। वस्तु शुद्ध है;

अनादि से मोह के साथ संयुक्त अर्थात् मोह के साथ सम्बन्ध होने से विकार के ऐसे तीन प्रकार हैं। स्व में युक्त हो तो अपनी निर्मल अवस्था हो, अपने स्वभाव में युक्त हो तो ऐसा सामर्थ्य है कि उसमें से वीतरागता ही हो; किन्तु यदि अपने स्वभाव से रहित मोह में युक्त हो तो विकारमय अवस्था होती है। उपयोग का तीन प्रकार का परिणाम विकार स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति पर के कारण-पर की उपाधि के कारण उत्पन्न होता दिखायी देता है।

निश्चय से स्वभाव सामर्थ्य के कारण से रागादि उत्पन्न हो ही नहीं सकता।

जैसे स्फटिक की स्वच्छता का स्वरूप—परिणमन में अर्थात् अपने उज्ज्वलतारूप स्वरूप में परिणमित होने का सामर्थ्य होने पर भी, कदाचित् स्फटिक को काले, हरे, पीले—ऐसे तमाल, केल और स्वर्ण के पात्ररूपी आधार का संयोग होने से स्फटिक की स्वच्छता का काला, हरा, पीला—ऐसा तीन प्रकार का परिणमन विकार दिखायी देता है।

स्फटिक में लाल, हरा, पीला फूलों का रंग दिखायी देता है वह परनिमित्त के संग के कारण दिखायी देता है; स्फटिक की निर्मलता का परिणमन तो स्वच्छ-सफेद ही होता है। अवस्था स्वच्छ ही होती है, विकार तो पर के सम्पर्क के कारण दिखायी देता है।

जीव और परमाणु—वह दो द्रव्य ही विभावरूप परिणमित होते हैं और शेष चार द्रव्य स्वभावरूप परिणमित होते हैं। परमाणु में दो प्रकार की वैभाविक पर्याय होती है—एक स्कन्धरूप होने की और दूसरी कर्मरूप होने की—ऐसी दो प्रकार होने की शक्ति है, (परमाणु कर्मरूप होते हैं, उसमें आत्मा की विभाव पर्याय का निमित्त है) आत्मा में तो राग-द्वेषरूप एक ही प्रकार से विकार होता है।

स्फटिक का स्वभाव तो उज्ज्वल है किन्तु अवस्था में भी उज्ज्वलतारूप परिणमित होने का सामर्थ्य है। देखो, दृष्टान्त में भी ऐसा कहा है कि पर्याय शुद्ध है; परन्तु कदाचित् निमित्त के संग में हो उस समय काले, हरे आदि रंगों के विकाररूप होने की योग्यता स्फटिक में है। उसी प्रकार अनादि से, चैतन्य परम पारिणामिक, परम स्वभावरूप है—उसे न मानकर पर को अपना माननेरूप विपरीत मान्यता, पर को अपना जाननेरूप अज्ञान और पर में स्थिर होनेरूप अविरति—इस प्रकार आत्मा की अनित्य पर्याय में तीन प्रकार का परिणाम विकार देखना; आत्मा की विकारी अवस्था आत्मा से होती है—वैसा देखो।

निर्मल अवस्था होने का सामर्थ्य होने पर भी उसे भूलकर शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर आत्मा में तीन प्रकार का परिणाम विकार होता है तथापि विकार को दूर करने का सामर्थ्य निरन्तर स्वत: में भरा हुआ है—उसे जानकर उसमें स्थिर हो तो विकार का नाश हो जाये और मोक्ष की शुद्ध पर्याय प्रगट हो।

आत्मा के उपयोग में तीन प्रकार का परिणामविकार अनादि अजीव कर्म के संग के कारणसे है; आत्मवस्तु तो अनादि-अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसी का आलम्बन छोड़कर अपने विपरीत पुरुषार्थ से वर्तमान पर्याय में कर्म के संग में जुड़ने से विकार होता है। विकार होने में कर्म की तो मात्र उपस्थिति है; कर्ता स्वत: आत्मा है।

विकार होने में निमित्त की उपस्थिति है—ऐसा कहने से यह आ जाता है कि स्वभाव से अन्य रीति से है; आत्मा में विकार व्यवहार से है—ऐसा कहने से यह आ जाता है कि निश्चय से है—अन्य रीति से है अर्थात् निश्चय से आत्मा में विकार नहीं है। निमित्त के पक्ष से विकार है उसी प्रकार स्वद्रव्य के पक्ष से भी विकार हो—ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि निमित्त के आलम्बन बिना यदि स्वयं उपादान के आश्रय करने से ही विकार होता हो तो विकार कभी छूट ही नहीं सकता और निर्मलता भी प्रगट नहीं हो सकती। इससे ऐसा नहीं समझना कि निमित्त विकार कराता है, निमित्त कहीं विकार नहीं कराता किन्तु स्वत: निमित्त की ओर लक्ष्य करता है, इससे विकार होता है, विकार होने के समय कर्म की मात्र उपस्थिति होती है—इतना सम्बन्ध है। विकार होने में कर्म निमित्त है—ऐसा कहने से यह ज्ञात हो जाता है कि—उपादान का पक्ष पूर्ण पृथक् ही है।

पानी वर्तमान अवस्था से तप्त है, किन्तु मूल स्वभाव से शुद्ध है, शीतल है; वैसे ही आत्मा की वर्तमान पर्याय में परिणाम विकार दिखायी देता है किन्तु उसके स्वभाव में वह विकार नहीं है, स्वभाव तो शुद्ध है। पानी जिस समय तप्त है उसी समय स्वभाव से शीतल है, वैसे ही आत्मा की पर्याय में जिस समय विकार है, उसी समय अन्तर में शुद्धता भरी हुई है।

आत्मा पहले शुद्ध था और अब अशुद्ध हो गया हो वैसा नहीं है परन्तु एक-एक समय होकर अनन्त काल से आत्मा की पर्याय में नया नया विकार स्वत: करते हैं। शरीर मेरा, इन्द्रियाँ मेरी, राग-द्वेष मेरे, निमित्त व्यवहार चाहिए—ऐसी अपनत्व की मिथ्या

मान्यता नवीन नहीं की है; यदि पहले शुद्ध हो और फिर अशुद्ध हो जाये तो सिद्धों के भी विकार होना चाहिए।

कोई कहे कि बोरिंग में से तो तप्त जल ही निकलता है? किन्तु भाई! वह जल वर्तमान अवस्था से तप्त है नित्य स्वभाव से तो शीतल है। बोरिंग में से पानी बाहर निकालकर ठण्डा करो तो ठण्डा हो जायेगा; तो फिर जब वह स्वभाव से शीतल होगा तभी तो शीतल होगा; नहीं तो कैसे होगा? कोई कहे कि बोरिंग में नीचे गन्धक है इससे पानी तप्त रहता है; यदि गन्धक पानी को गर्म करता हो तो आकाश को गर्म क्यों नहीं करता? यह तो जब पानी में गर्म होने की योग्यता हो उस समय गन्धक उपस्थित होता है, इसी प्रकार जब आत्मा में विकार की योग्यता हो उस समय कर्म की उपसिथति को निमित्त कारण कहा जाता है ॥८९॥

अब, आत्मा में तीन प्रकार के परिणाम विकार का कर्तृत्व दर्शाते हैं:—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।९०।।

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरञ्जनो भावः।
यं स करोति भाव-मुपयोगस्तस्य स कर्ता।।९०।।

अर्थ:—अनादि से यह तीन प्रकार के परिणामविकार होने से, आत्मा का उपयोग यद्यपि (शुद्धनय से) शुद्ध, निरंजन (एक) भाव है, तथापि तीन प्रकार का होता हुआ वह उपयोग जिस (विकारी) भाव को स्वतः करता है, उसी भाव का कर्ता होता है।

अनादि से आत्मा में तीन प्रकार की अवस्था है—विपरीत मान्यता, विपरीत ज्ञान और विपरीत एकाग्रता—यह तीन प्रकार का विकार है; यद्यपि आत्मा के उपयोग तो शुद्धनय से तीनों काल शुद्ध है।

भूतकाल की अवस्था और भविष्य की अवस्था का सामर्थ्य द्रव्य में ध्रुवरूप से है।

वस्तु स्वतः अनन्त गुण और पर्यायों का पिण्ड है। भूतकाल में जो पर्यायें हो गयी हैं और जो भविष्य में होंगी—उन सभी पर्यायों के सामर्थ्यरूप द्रव्य है, जो मोक्षपर्याय प्रगट होती हे, वह सब शक्ति द्रव्य में भरी पड़ी है।

पर से पृथक् वस्तु को अपेक्षा लागू नहीं होती। वस्तु, वस्तु का गुण और उसकी पर्याय—यह तीनों अपेक्षारहित निरपेक्ष हैं।

द्रव्य से, गुण से और पर्याय से—तीनों प्रकार से वस्तु अनादि-अनन्त एकरूप है, किन्तु उसमें बन्ध-मोक्ष की अपेक्षा लें तो वह निमित्त के ओर की अपेक्षा है, बन्ध-मोक्ष की पर्याय व्यवहार से सापेक्ष पर्याय है।

प्रति समय उत्पाद-व्यय होता है, वह व्यवहार है; बन्ध का व्यय और मोक्ष का उत्पाद सो व्यवहार है; परिणामी वस्तु के निश्चय से द्रव्य, गुण और उसका वर्तमान अंश शक्तिरूप नित्य एक ही प्रकार से हैं, ध्रुवरूप हैं, तथापि व्यवहार से तीन प्रकार से विकारी परिणमित होता हुआ वह उपयोग स्वतः विकारी भाव को करता है; उस भाव का वह कर्ता होता है।

आत्मा द्रव्य से, गुण से और पर्याय से अनादि-अनन्त शुद्ध है, तथापि वर्तमान पर्यायदृष्टि से अनादि से अन्य वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता के कारण अर्थात् उपयोगरूप से—अपने में उत्पन्न होनेवाले परिणाम विकार तीन प्रकार के हैं। विपरीत मान्यता का अर्थ है पर शरीरादि को अपनेरूप मानना; रागी-द्वेषी मैं हूँ—ऐसा मानना। और अज्ञान का अर्थ है पर को अपने रूप जानना। अविरति अर्थात् स्व से च्युतिरूप पर में उपयोग को स्थिर करे वह। इस प्रकार तीन प्रकार से परिणाम-विकार होते हैं।

यद्यपि परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादि-निधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावरूप एक ही प्रकार का है।

देखो! इसमें आचार्यदेव ने क्या अलौकिकता ली है। परमार्थदृष्टि से तो उपयोग वास्तव में शुद्ध है। मोक्षमार्ग की अवस्था और मोक्ष अवस्था वे दोनों अवस्थायें व्यवहारनय से सापेक्ष हैं, वस्तु तो शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध उपयोगरूप है, वह निरंजन है अर्थात् उसमें मलिनता बिल्कुल नहीं है, उसमें राग-द्वेष की या पर की अपेक्षा की गन्ध मात्र नहीं है; वस्तु अनादि-अनन्त है, अर्थात् जिसका आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं है; जिस प्रकार वस्तु त्रिकाली है वैसे ही उसका भाव भी त्रिकाल है और वह उपयोग स्वभाव वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावरूप एक ही प्रकार का है।

निगोद से लेकर सिद्ध तक सभी आत्माओं में यह उपयोग शुद्धनय से शुद्ध ही है,

एक ही प्रकार है, विकारी पर्याय, मोक्षमार्ग की पर्याय और मोक्ष की पर्याय—वे सभी पर्यायें भी आत्मा में ही होती हैं वे पर्याय व्यवहारनय से सापेक्ष हैं, निमित्त की अपेक्षा रखनेवाली हैं; परन्तु जो अनादि-अनन्त शक्ति है, वह ध्रुव है, वस्तु स्वतः शुद्ध, उसके गुण शुद्ध और उसकी वर्तमान शक्ति भी शुद्ध है। द्रव्यदृष्टि से देखें तो द्रव्य का और गुण का वर्तमान अंश शक्तिरूप में परिपूर्ण है, ध्रुवरूप है, परिपूर्ण शुद्ध है और वह त्रैकालिक स्व स्वभाव में अभेद है—वह एक; और पर्यायदृष्टि की अपेक्षा से देखें तो राग-द्वेष की अशुद्ध अवस्था, मोक्षमार्ग और मोक्ष की शुद्ध अवस्था उनमें से एक इस प्रकार दोनों (त्रिकालिक शक्ति अंश और वर्तमान व्यक्तिरूप प्रगट पर्याय अंश वह दोनों) एक साथ हैं। अशुद्ध अवस्था, मोक्षमार्गरूप अपूर्ण शुद्ध अवस्था और मोक्षरूप परिपूर्ण शुद्ध अवस्था वे जीव के स्वतत्त्व होने से निश्चय दृष्टि की अपेक्षा निरपेक्ष हैं और व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा से सापेक्ष कही जाती है। [यह सापेक्ष पर्याय भी निश्चयनय से तो निरपेक्ष ही है। देखो, पंचास्तिकाय गाथा ६२ और उनकी टीका।]

स्वभावभाव में देखने पर परमार्थ से, द्रव्य से, गुण से और पर्याय से ऐसा शुद्ध आत्मा है, तथापि अपनी विपरीत योग्यता के कारण अशुद्ध, सांजन अनेक प्रकार को प्राप्त करता हुआ अर्थात् राग-द्वेष, हर्ष-शोक, शुभाशुभभाव इत्यादि अनेक प्रकार का होकर, तीन प्रकार का होकर, स्वतः अज्ञानी होता हुआ कर्तापने को प्राप्त होता है, मिथ्यादृष्टिरूप, अज्ञानरूप और अविरतिरूप परिणमित होता है। दोषरूप—जो-जो भाव करता है, उन-उन भावों का वह मलिन अवस्थारूप उपयोग कर्ता होता है; स्वतः मोह में युक्त होकर परभावों को अपना कर्तव्य मानकर विभावरूप उपयोग होकर विभाव का कर्ता होता है। स्वतः विभाव में युक्त होता है वहाँ परान्मुखपने में निमित्त की अपेक्षा है, वहाँ कर्म के सद्भावरूप व्यवहार है और उस विभाव के योग को दूर करके मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट करना भी व्यवहार है, वह कर्म के अभाव की अपेक्षा रखनेवाला व्यवहार है।

अरे भाई! यह बात हमारी समझ में नहीं आती—ऐसी शल्य को मस्तिष्क में प्रथम निकाल देना चाहिए। तभी आत्मा स्वशक्ति से पूर्ण भगवान हैं, प्रभु हैं; यह बात भी भगवान आत्मा की ही चलती है, अपने घर की ही बात चलती है; उसमें जिज्ञासा से, ध्यान रखकर सुने तो समझ में न आये—ऐसा कैसे हो सकता है? 'मुझे समझ में नहीं आयेगा'—ऐसी

जो कल्पना कर रखी है, वह भी एक महान शल्य है। मैं स्वत: ज्ञायक स्वभाव हूँ, मेरी समझ में न आये ऐसी कौन सी बात है? यह ऐसी वस्तु है जो समझ में आ सकती है, इसलिए समझ में नहीं आती—ऐसी शल्य को निकाल देना चाहिए।

जितना केवलज्ञानियों ने जाना है उतना ही ज्ञाता-सामर्थ्यरूप तू है; केवली के ज्ञान में आत्मा का स्वरूप जितना ज्ञात हुआ है उतना उनकी वाणी में नहीं कहा गया है; केवली भगवान का सामर्थ्य अनन्त-अपार है। जितना केवलीभगवान का आत्मा है, उतना ही सामर्थ्यवान् तेरा चैतन्य भगवान आत्मा है, तो फिर तू अपने को क्यों नहीं जान सकता? तेरी जाति यदि तुझे समझ में न आयेगी तो फिर उसे कौन समझेगा? विनाशीक घर की सम्पत्ति की क्यों पूरी खबर होती है? तो फिर नित्यानन्द स्वभाव-घर की सम्पत्ति समझ में नहीं आयेगी—वैसी शल्य निकालकर समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

वस्तु द्रव्य से, गुण से, और पर्याय से शुद्ध है, निरंजन है, एक ही प्रकार से है। वह शुद्ध कारणपर्याय अपूर्ण नहीं है, विकारी नहीं है किन्तु परिपूर्ण है; पर्यायदृष्टि से वह पर्याय अप्रगट है और द्रव्य दृष्टि से प्रगट है। जो वस्तु होती है उसका वर्तमान भी होता है, वस्तु का सहज वर्तमान सो उसकी शुद्धपर्याय है।

पहले कहा था कि जो परिणमित हो वह कर्ता है। यहाँ उपयोग अज्ञानरूप होकर परिणमित हुआ, इससे वह जिस भावरूप परिणमित हुआ उस भाव का उसे कर्ता कहा। इस प्रकार उपयोग को कर्ता जानना। यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्ता नहीं है तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होने से अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा को भी कर्ता कहा जाता है। परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध, निरंजन है, तथापि अशुद्ध, सांजन अनेकत्व को प्राप्त होता हुआ जिन-जिन भावों को स्वत: करता है, उन भावों का वह उपयोग कर्ता होता है।

इस प्रकार उपयोग को कर्ता जानना चाहिए। उपयोग में मलिनता होती है, वह अज्ञानभाव से है। स्वभावदृष्टि से, शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टि से आत्मा राग-द्वेष और भ्रान्ति का कर्ता नहीं है। अशुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से आत्मा विकार का कर्ता होता है; उपयोग और आत्मा एक ही हैं पृथक् नहीं हैं, इसलिए आत्मा को भी विकार का कर्ता कहा जाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिक शुद्धदृष्टि संसारभाव की नाशक है किन्तु कर्ता नहीं है।

यह कर्ताकर्म अधिकार चल रहा है। कर्ता अर्थात् होनेवाला कौन है और उसमें क्या

होता है ? यह बात चल रही है। मिट्टी होनेवाली है और घड़ा होता है, होनेवाला कर्ता है और जो होता है, वह कर्म है। कुम्हार कर्ता है और घड़ा कार्य है—ऐसा कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है; मिट्टी उपादान है और कुम्हार निमित्त है। (कर्म अर्थात् कार्य-क्रिया।)

आत्मा स्वत: अपने कार्यरूप होनेवाला कर्ता है और आत्मा का यथार्थ कार्य सो स्वभावकार्य है। विकल्परहित श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना वह आत्मा का वास्तविक कार्य है। निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, स्वभावकार्य है। अज्ञान अवस्था कर्ता और पुण्य-पाप के भाव वह कर्म—वह विभावकार्य है। आत्मा जड़ का कर्ता और जड़ आत्मा का कार्य हो—उस प्रकार कर्ता-कार्य (कर्म) नहीं हैं। आत्मा करनेवाला अर्थात् होनेवाला है और वीतरागभाव उसका वास्तविक कार्य है। कारणपर्याय कारण है और जो निर्मल पर्याय प्रगट हो वह कार्य है।

द्रव्य-गुण और शुद्ध कारणपर्यायरूप पूर्ण शक्ति पर अभेद दृष्टि डालने से स्वाश्रय के बल से निर्मल उत्पादरूप कार्य प्रगट होता है। निर्मल सम्यग्ज्ञान, सम्यक्प्रतीति और सम्यग्चारित्र वह स्वभाव कार्य-पर्याय है। वस्तु प्रवर्तन करते-करते त्रिकाल प्रवर्तमान रहती है, वह स्वभाव कारणपर्याय है-अनादि-अनन्त है। वस्तु ध्रुव है, वस्तु का गुण और उसकी शक्तिरूप कारण शुद्ध पर्याय हर समय अनादि-अनन्त ध्रुव है, इसका मनन करने से स्वभावपर्याय प्रगट हो वह सादि-सांत कार्य-पर्याय है।

द्रव्य, गुण और उसकी कारणपर्याय सो निश्चय है; उन तीनों पर अभेददृष्टि डालने से और उनमें एकाग्र होने से निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र प्रगट होता है, वह सद्भूत व्यवहार है। वस्तु स्वभावरूप जैनदर्शन की यह सर्वोत्कृष्ट मूल बात है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—वे सभी वस्तुएँ, उनके गुण और उनकी पर्याय भी निर्मल ही है। परमाणु स्वत: वस्तु, उसका गुण और उसकी वर्तमान पर्याय भी निर्मल ही है। परमाणु स्वत: सर्व प्रकार से निर्मल है, परन्तु उसमें दो प्रकार के विभाव भी होते हैं—परमाणु की स्कन्धरूप अवस्था होती है, वह एक प्रकार का विभाव है और परमाणु एकत्रित होकर आत्मा की विभावपर्याय को निमित्त करके कर्मरूप परिणमित होते हैं, वह दूसरे प्रकार का विभाव है। स्वाधीन परमाणु में वस्तु, वस्तु का गुण और उसकी पर्याय—तीनों निर्मल हैं। पाँचों द्रव्यों की स्वाभाविक पर्याय निर्मल

है तो फिर शुद्धनय से आत्मा की ध्रुव शक्ति में कारणशुद्धपर्याय क्यों निर्मल नहीं होगी ? होगी ही। आत्मा में जो राग-द्वेष की और भ्रान्ति की मलिन पर्याय होती है, वह पर्याय मूल स्वभावरूप नहीं है, किन्तु विकारी है; संसार और मोक्षमार्ग-मोक्षपर्याय भी अनित्य है सापेक्ष है-व्यवहार है। इसलिए आत्मा में मूलस्वभावरूप निर्मल कारणपर्याय नित्य निश्चय से होना चाहिए।

पुनश्च, अन्य द्रव्यों में पर्याय की प्रगटरूप निर्मलता है, उसी प्रकार यदि आत्मा में भी प्रगट निर्मलता हो तो संसार कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा की कारणशुद्धपर्याय में जो निर्मलता है, वह प्रगट नहीं है किन्तु अनादि-अनन्त स्वभावाकार से है, जैसे सापेक्ष पर्याय प्रगट है उसी प्रकार यह निरपेक्ष पर्याय प्रगट नहीं है, न प्रगट होगी किन्तु अप्रगट शक्ति है।

वस्तु स्वतः सामान्य है। जो सामान्य हो उसका विशेष भी होना चाहिए; वस्तु का विशेष वस्तु की जाति का होता है, अन्य जाति का नहीं होता; सामान्यविशेष मिलकर वस्तु का परिपूर्ण अखण्डस्वरूप होता है। वस्तु हो और उसकी पर्याय पूर्ण निर्मल न हो तो वस्तु ही निर्मल नहीं हो सकती। दूसरे पदार्थों की अवस्था निर्मल है और आत्मद्रव्य का द्रव्यस्वभाव में क्या अपराध ! कि आत्मा की कारणपर्याय निर्मल न हो ? होगी ही। पुनश्च, वे पर्यायमात्र प्रगट निर्मल हो तो संसार-मोक्ष होगा ही नहीं; परन्तु संसार-मोक्ष दिखायी देता है और है, इसलिए आत्मा में स्वभावाकार पर्याय अप्रगट शक्तिरूप है, शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय है।

यह विषय सूक्ष्म है आत्मा में यह वर्तमान पूर्ण निर्मल शक्तिरूप-कारणशुद्ध पर्यायरूप अंश विद्यमान न हो तो चैतन्य वस्तु पूर्णस्वरूप नहीं हो सकती।

लेकिन उसमें खण्ड पड़ जाते हैं। द्रव्य, गुण शुद्ध और उसका स्वाकार पर्याय विशेष भी (शुद्धनय से) शुद्ध वे तीनों मिलकर अखण्ड-सम्पूर्ण वस्तु है, वह आध्यात्मिक शैली का शुद्धनय का विषय है—सम्यग्दर्शन का विषय भी ऐसा पूर्ण स्वरूप है।

कारणपर्याय स्वाकार परिणामी होने से किसी अपेक्षा से परिणामी है; द्रव्य और गुण भी कथंचित् परिणामी हैं। पर्यायदृष्टि से सापेक्ष पर्याय प्रगट है और निरपेक्ष पर्याय अप्रगट है। द्रव्यदृष्टि से प्रगट-अप्रगट का भेद नहीं है; द्रव्यदृष्टि में वस्तु, वस्तु का गुण और उसकी

कारण पर्याय प्रगट ही है। स्वरूप से प्रत्यक्ष ही है-शुद्ध द्रव्यदृष्टि का विषय है और वही पूर्णरूप शुद्ध आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है—सापेक्ष पर्याय-गौण है, वह व्यवहारनय का विषय है।

हीरा सान पर चढ़ता है; उसकी रज भी यदि कोई ले जाये तो लाभ का ही कारण है। इस प्रकार यह बात अपूर्व है।

जैसे, चार अरूपी पदार्थ और पुद्गलपरमाणु—इन पदार्थों में वर्तमान प्रवर्तित पर्याय प्रगट न हो तो परिणमन न हो; इसलिए वर्तमान परिणमित शुद्ध पर्याय इन पदार्थों में प्रगट ही है, क्योंकि इन पदार्थों में अशुद्धता नहीं है। उसी प्रकार आत्मा में यदि उत्पाद-व्ययरूप प्रगटरूप से निर्मलता हो तो गुरु और शिष्य साधकदशारूप मोक्षमार्ग आदि कुछ भी नहीं रहते। उपदेश देना, समझाना-समझना आदि कुछ भी नहीं रहता। उत्पादरूप पर्याय में मलिनता है इसलिए उसे दूर करने के लिये उपदेश दिया जाता है और इसीलिए शिष्य भी समझने का प्रयत्न करता है; इसलिए मलिनता है, पर्याय अपेक्षा-एकदम प्रगटरूप से निर्मलता नहीं है। और यदि वस्तु सत्ता में वस्तु के पूर्ण स्वरूप आकार से विद्यमान-वर्तमान अंशरूप निर्मल कारणपर्याय न हो तो पूर्ण द्रव्यार्थिक दृष्टि नहीं होती, पूर्ण निरपेक्ष वस्तु सिद्ध नहीं होती।

आत्मा में मलिन पर्याय होती है, वह व्यवहार से सापेक्ष है। क्षयोपशम भाव में कर्म के अल्प-अधिक विकास की अपेक्षा है, क्षायिकभाव में कर्म टालने की अपेक्षा है, उपशम भाव में कर्म का उपशम होने की अपेक्षा है—वे सभी पर्यायें अनित्य, सापेक्ष हैं; मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय ज्ञान की पर्यायें भी सापेक्ष हैं। यह कारणपर्याय तो मात्र पारिणामिकभाव की बात है।

आत्मा द्रव्य से, गुण से और कारण शुद्धपर्याय से निर्मल है। इन तीनों की अभेददृष्टि करके मनन करने से स्वभावपर्याय प्रगट होती है। यदि द्रव्य-गुण निरपेक्ष हैं तो ऐसी पर्याय भी निरपेक्ष होना चाहिए; कारणपर्याय न हो तो वस्तु न हो और सापेक्ष पर्याय न हो तो संसार-मोक्ष न हों। यदि कारणपर्याय निर्मल न हो तो मोक्ष की निर्मल पर्याय प्रगट ही न हो; द्रव्य-गुण और कारणपर्याय तीनों निर्मल न हों तो मोक्ष की निर्मल पर्याय प्रगट ही न हो और वस्तु की अखण्डता नहीं होती। यह कारणपर्याय भगवान आत्मा के विषय में

अनादि-अनन्त है, यह अंश ध्रुव है, ध्रुव स्वरूप में एकमेक है।

अनादि अन्य वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तरूप अर्थात् उसमें युक्त होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिरूप भाव उत्पन्न होते हैं। पर को अपनेरूप मानने का मिथ्याभाव, स्वत: को जानना छोड़कर मात्र पर का ही विषय करे वह अज्ञान, स्व में एकाग्रता से च्युत होकर पर में एकाग्रता करे वह अस्थिरता—यह तीनों विकारी परिणाम मोह में युक्त होने से उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि परमार्थ से तो उपयोग अर्थात् आत्मा की निर्मल अवस्था, उपयोग अर्थात् चैतन्य व्यापार शुद्ध है, निरंजन है, मलिन नहीं है; द्रव्य-गुण में तो मैल नहीं है, परन्तु अवस्था में भी मैल नहीं है। अनादि निधन वस्तु, उसके गुण और उसकी ऐसी कारणपर्याय—तीनों शुद्ध हैं। इस कारण शुद्ध अंश को परिणति कहा जाता है, किन्तु वह अप्रगट है, तथापि लब्ध जैसा नहीं; लब्ध तो उसे कहा जाता है कि पहले प्रगट नहीं था और पश्चात् प्रगट हुआ। इस कारणपर्याय में ऐसा नहीं है, यह पर्याय तो अनादि-अनन्त वस्तुदृष्टि से प्रगट ही है।

द्रव्य और गुण भी किसी अपेक्षा से परिणामी हैं। द्रव्य में प्रतिक्षण जो उत्पाद-व्यय होता है, वह द्रव्य-गुण स्वत: ही परिणमित होकर उत्पाद-व्यय होता है; ऐसा नहीं है कि द्रव्य-गुण पृथक् रह जायें और उत्पाद-व्यय उनके आधार के बिना उत्पन्न हों। द्रव्य-गुण के ही आधार से उत्पाद-व्यय होता है, इसलिए द्रव्य-गुण भी किसी अपेक्षा से परिणामी हैं। द्रव्य और गुण को सदृश-एक समान परिणमन की अपेक्षा से परिणामी कहा है। इस प्रकार द्रव्य-गुण भी कथंचित् परिणामी हैं। वस्तु का वर्तमान में प्रवर्तित ध्रुव अंश उसकी कारणपर्याय है।

जिस प्रकार द्रव्य की कारणपर्याय है वैसे ही ज्ञानदर्शनादि अनन्त गुणों की कारणपर्याय है। द्रव्य का वर्तमान अंश द्रव्याकार से परिपूर्ण है, वह द्रव्य की कारणपर्याय है और ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों का वर्तमान अंश गुणाकार से परिपूर्ण है, वह गुण की कारणपर्याय है। और वे शुद्ध निश्चयनय के विषय हैं।

शुद्ध पर्याय को निरंजन कहा है और अशुद्ध पर्याय को सांजन कहा है; शुद्धपर्याय एक प्रकार से कही है और अशुद्ध पर्याय अनेक प्रकार कही है वह उपयोग अनेक प्रकार

से-तीन प्रकार से होता हुआ, अज्ञानी होता हुआ, कर्तृत्व को प्राप्त करता हुआ विकार रूप-दोषरूप-मलिनरूप-बन्धनभावरूप जिन-जिन अवस्थाओं को करता है, उनमें स्वभावदृष्टि से च्युत होकर उन भावों का कर्ता होता है।

अब, एक दूसरी बात लेते हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति और काल—वे चार द्रव्य तो स्वतन्त्र हैं, एक ही प्रकार से हैं, उनमें विकार नहीं होता और पुद्गलपरमाणुओं में दो प्रकार का विकार होता है। एक प्रकार तो यह कि परमाणु, परमाणु के साथ एकत्रित होकर स्कन्ध होता है, वह विकार है और जीव के विकार भाव को निमित्त करके पुद्गल परमाणु कर्म स्कन्धरूप परिणमित होता है। वह दूसरे प्रकार का विकार है। वैसे ही आत्मा में कर्म की अपेक्षा की ओर के दो प्रकार के भाव होते हैं, (१) पर्याय अपेक्षा स्वत: कर्म निमित्त की ओर झुकाव करने से औदयिक भाव विभाव होते हैं। (२) दूसरे भाव में आंशिक या सर्वांश कर्म के अभाव की अपेक्षा है—वह क्षयोपशमिक, औपशमिक, और क्षायिकभाव है। वह है उस भावों को कर्म के अभाव की अपेक्षा से निश्चय में विभाव कहा है, व्यवहारनय से सापेक्ष पर्याय है। जिस प्रकार पुद्गल में दो प्रकार का विभाव है, उसी प्रकार आत्मा में भी इस प्रकार दो जाति का विभाव है; पुद्गल की अपेक्षा आत्मा का स्वभाव विरुद्ध जाति का है इसलिए दूसरे प्रकार के दो विभाव लिये हैं; आत्मा में जो दो विभावभाव लिये हैं, उनमें से एक में कर्म के निमित्त के सद्भाव की अपेक्षा है और दूसरे में कर्मनिमित्त के अभाव की अपेक्षा है। एक में अस्ति की और दूसरे में नास्ति की अपेक्षा है। यहाँ क्षायोपशमिक, उपशम और क्षायिकभाव है तो स्वभाव परन्तु अपेक्षा से विभाव कहा है और अनित्य उत्पाद-व्यय पर्यायरूप होने से उसके आलम्बन से राग की उत्पत्ति होती है। इस अपेक्षा से उसे विभाव कहा है और त्रिकालिक परम पारिणामिक द्रव्य को स्वभावभाव कहा है क्योंकि उसी का आश्रय करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है और मलिनता का नाश होता है।

उदय-उपशमादि चार भाव हैं, वे अपेक्षित भाव हैं, इसलिए उस भाव का पर्यायार्थिकनय में समावेश होता है। द्रव्य, गुण और निरपेक्ष कारण पर्याय—उन तीनों पारिणामिक स्वभाव का द्रव्यदृष्टि में समावेश होता है। द्रव्यार्थिकदृष्टि और पर्यायार्थिकदृष्टि वे दोनों मिलकर सम्पूर्ण प्रमाण होता है।

उदयभाव, उपशमभाव, क्षायोपशमभाव, क्षायिकभाव—इन चार को नियमसार शास्त्र में कहीं-कहीं विभावभाव कहा है। उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव को गौण करके पर की अपेक्षा से रहित मात्र स्वभावभाव है, उसे शास्त्र में पारिणामिकभाव कहा है—ज्ञायकभाव कहा है। जो परिणमित हो वह कर्ता है; जो अवस्था में परिवर्तित होनेवाला है, वह स्वत: आत्मा है; राग-द्वेष और विकारी भावरूप होनेवाला अज्ञानी आत्मा है। उपयोग अभानरूप होकर परिणमित हुआ है; दृष्टि विपरीत है, इससे पर्याय मलिन हो जाती है, उसका अज्ञानी कर्ता होता है। बन्ध-मोक्ष भी व्यवहार से हैं, परन्तु परमार्थ से तो बन्ध-मोक्ष भी नहीं हैं। व्यवहारनय का ज्ञान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनय को आदरणीय जानकर उसके विषय पर आरूढ़ होने से क्रमश: अशुद्ध परिणति का अभाव होता है।

अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय अर्थात् अशुद्ध अवस्था आत्मा में होती है, उस अपेक्षा से अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहा है। उस अपेक्षा से आत्मा को विकार का कर्ता भी कहा है। वर्तमान उपयोग की अवस्था विकारी होने से उस वस्तु का अंश वस्तु में गिनकर आत्मा को अशुद्धनय से विकार का कर्ता कहा जाता है; अज्ञानदशा में तीन प्रकार के परिणाम विकार का कर्तृत्व जिस जीव को हो उस समय, जड़कर्म के रजकण अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होते हैं; आत्मा उसका कर्ता नहीं है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय में राग-द्वेष का करना या उसे टाल देना, कुछ नहीं आता। यद्यपि द्रव्यार्थिक का विषय शुद्धद्रव्य का आलम्बन करने से राग-द्वेष दूर अवश्य हो जाते हैं, किन्तु शुद्धद्रव्यार्थिनय के विषय में राग-द्वेष को दूर करना नहीं है परन्तु अखण्ड द्रव्य को लक्ष्य में लेना है। शुद्धद्रव्यार्थिक अर्थात् शुद्धद्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, किन्तु पर्याय उसका प्रयोजन नहीं है; पर्याय तो पर्यायार्थिकनय का प्रयोजन है। यह बात सूक्ष्म है परन्तु इसे चिन्तन पूर्वक समझना चाहिए। जिस प्रकार मिश्री का स्वाद लेनेवाला मिश्री की एक डली को मुँह में रखकर एक गाल से दूसरे गाल में लेता रहता है, उसी प्रकार यदि यह बात कठिन प्रतीत हो तो भी अभ्यास रखना चाहिए, उसका विचार और मनन करना चाहिए, अन्तरंग से रुचि होना चाहिए, तब यह बात समझ में आये—ऐसी है।

अब, ऐसा कहते हैं कि—जब आत्मा को तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तृत्व हो उस समय पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं।।९१।।

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम्।।९१।।

अर्थ:—आत्मा जिन भावों को करे उनका वह कर्ता होता है; कर्ता होने पर पुद्गलद्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणमता है।

आत्मा पुण्य-पाप के भाव करे उनका वह कर्ता होता है तथा वे भाव उसका कार्य होते हैं; और कर्ता हो वहाँ कर्म के रजकण अपने आप ही कर्म की अवस्थारूप होते हैं; कर्म की जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं, वह सब आत्मा के भावों को निमित्त करके अपने आप ही परिणमित हो जाती हैं।

जैसे—जहाँ आम बोया हो वहाँ पानी सींचने से आम अपने आप आमरूप परिणमित होता जाता है, पानी उसे परिणमित नहीं कर देता; यदि पानी आम को परिणमित कर देता हो तो जिन-जिन वृक्षों में पानी सींचा जाये वहाँ सब जगह आम ही उगना चाहिए; किन्तु जिसका जिस प्रकार का बीज हो उसी प्रकार वह परिणमता है; इससे सिद्ध हुआ कि पानी उसे परिणमता नहीं। उसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष के परिणामों का निमित्त पाकर जो रजकण कर्मरूप होने योग्य हों वे अपने आप ही तुरन्त कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं।

यह कर्ताकर्म का अधिकार है। आत्मा क्या कर सकता है? आत्मा अपना करता है कि जड़ का कुछ करता है? जड़ का तो आत्मा कुछ कर ही नहीं सकता। यदि होगा तो अज्ञान भाव से अपने विकारी भावों का कर्ता होता है। आत्मप्रदेश के साथ एक क्षेत्रावगाही कर्म के रजकण पड़े हैं, उनका भी आत्मा कर्ता नहीं है तो फिर स्थूल देहादि बाह्यपदार्थों का कर्ता तो होगा ही कहाँ से?

कर्म कहीं आँखों से दिखायी नहीं देते, शास्त्र ने कहा है कि कर्म हैं; तू जैसे भाव करेगा उसी प्रकार के कर्म बँधेंगे। दया, भक्ति, पूजादि के शुभभाव करने से पुण्यकर्म का बन्ध होता है और हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि अशुभभाव करने से पापकर्म बँधते

हैं—वैसा शास्त्रों में कहा है वह माना, तो अब, शास्त्रकार दूसरी ओर से ऐसा भी कहते हैं कि तू जड़कर्म का और देहादिक बाह्य पदार्थों का कर्ता नहीं है तो फिर उसे भी मान।

क्रोधादि के भाव करे तो नवीन कर्मबन्ध हो, उन कर्मों के फल में भविष्य में प्रतिकूलता के साधन मिलते हैं; उन प्रतिकूलता के संयोगों के समय यदि तीव्र क्रोधादि भाव न करे किन्तु मन्द कषाय करे तो शुभभाव हों, पुण्यबन्ध हो; और यदि तीव्र क्रोधादि भाव करे तो पुन: पापबन्ध होता है। अनादि काल से ऐसे का ऐसा कर्मों का चक्र चला आ रहा है। क्रोधादि भाव किये उनका फल वास्तव में तो उसी क्षण आ जाता है; आकुलता की और क्षमागुण का हनन हुआ, उस आकुलता का वेदन उसे उसी क्षण हो जाता है। कषाय और भ्रान्ति होने में घातिकर्म का निमित्त है, प्रतिकूलता होने में अघातिकर्म का निमित्त है।

अवगुण का भाव बढ़ाता रहे तो प्रतिकूलता के संयोग के समय उसे द्वेष होता है; प्रतिकूलता के संयोग के समय उपचार से ऐसा कहा जाता है कि यह प्रतिकूलता दु:ख का कारण है किन्तु स्वत: अवगुण का भाव न छोड़े तो प्रतिकूलता में उसे दु:ख होता रहेगा। पूर्व में किसी को इष्ट अनिष्ट माना हो इसलिए राग-द्वेष अज्ञान नहीं है क्योंकि पूर्व का तो वर्तमान में अभाव है। स्वत: वर्तमान में सम्यक् पुरुषार्थ नहीं करता इससे प्रतिकूलता के संयोग के समय द्वेष करता है तो होता रहता है।

परद्रव्य के आलम्बन से राग-द्वेष, क्रोध-मानादि के अशुद्धभाव होते हैं। स्वत: रागादिभाव किया, उसके निमित्त से जो कर्म योग्य पुद्गल हैं, वे स्वयमेव बँधते हैं, आत्मा उनका कर्ता नहीं है। कर्म परवस्तु है, किसी वस्तु का कर्ता कोई परवस्तु नहीं हो सकती।

तू अपना ज्ञान कर और पर का ज्ञान कर—ऐसा तेरा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है; स्व-पर प्रकाशन स्वभाव का ज्ञान कराने के लिये परवस्तु का कथन किया है, परन्तु पर की अवस्था का जीव कर्ता है ऐसा नहीं कहा है। जड़कर्म है—ऐसा कहाँ से जाना? शास्त्र से जाना कि कर्म है; तो फिर शास्त्राकार कहते हैं कि कर्म को तू कर नहीं सकता; तो अब, इस बात को मान और अपनी बात को बदल दे।

कोई कहे कि यदि कर्म बाधक न हो तो जीव जहाँ तक असंज्ञीरूप से है, वहाँ तक पुरुषार्थ क्यों नहीं होता? वहाँ भी स्वत: अपने वीर्य के द्वारा अशुद्ध भाव को ही तीव्र-मन्द करता जाता है, इससे अपूर्व पुरुषार्थ नहीं होता, किन्तु पुरुषार्थ करने में जड़ कर्म आड़े नहीं

आते; जीव असंज्ञीपने में से ऊपर आता है वह भी अपने रागादि कम करने के पुरुषार्थ द्वारा ही आता है। कर्म उसे ऊपर नहीं ला देते; अपना वीर्य (-पुरुषार्थ) कषाय की मन्दता करने में युक्त होता है इससे ऊपर उच्च गति में आता है; किन्तु न तो कर्म उसे बाधा करते हैं और न ऊपर लाते हैं; अपनी अशुभ परिणति से नीची गति में जाता है और शुभ परिणति से उच्चगति प्राप्त होती है। शुभ से पुण्यबन्धन है, धर्म नहीं है लेकिन वे कर्म के अनुसार नहीं हैं।

भाई! यह बात समझने योग्य है; दुकान पर बैठा हो तो ऊँघ नहीं आयेगी उत्साहवान रहेगा और यहाँ समझने के उत्तम समय में कुछ भी उत्साह क्यों नहीं है, किन्तु भाई! यहाँ अनन्त काल के चक्कर को दूर करने का समय है इसलिए सत्स्वरूप की तीव्र जिज्ञासा कर! मनन कर! विचार कर! पुरुषार्थ कर! वैराग्य प्रगट कर! और अन्तर में नि:शंक स्थिर हो—तभी यह मनुष्य भव सफल है। यदि इस जीवन में कुछ नवीन नहीं किया, अपूर्वता न की तो यह जीवन न मिलने के ही बराबर है; कुत्ते और कौवे सभी पैदा होते और मरते हैं, परन्तु इस जीवन में यदि कोई अपूर्वता हुई, अन्तरोन्मुखता हुई तभी इसकी सफलता है।

जब आत्मा अज्ञान भाव से हिंसा-झूठ, पूजा-भक्ति के भाव करे उस समय कर्म अपने आप बँधते हैं; किन्तु उनका कर्ता आत्मा नहीं है।

जिस प्रकार मन्त्र साधक स्वत: मन्त्र के भावरूप परिणमित होता हुआ मन्त्र के भाव को करता है, सर्प विष उतारने का मन्त्र इस प्रकार जपना चाहिए, बिच्छू का मन्त्र ऐसा है—उस भाव में स्वत: ही परिणमित होता है, सामनेवाले मनुष्य का विष उतारने की क्रिया स्वत: नहीं करता, परन्तु मन्त्र के भाव स्वत: करता है। मन्त्र के भाव करे और सामनेवाले व्यक्ति के पुण्य का उदय हो तो तुरन्त सर्प का विष दूर हो जाता है, और पाप का उदय हो, असाता का उदय हो तो मन्त्र को निमित्त नहीं कहा जाता; यदि पुण्य का उदय हो तो मन्त्र को उपचार से निमित्त कहा जाता है। स्वत: भाव कर सकता है कि इसके सर्प का विष दूर हो जाये, किन्तु वह भाव सामनेवाले का विष दूर करने की क्रिया का कर्ता नहीं है; परन्तु विष दूर करने के मन्त्र का भाव सामनेवाले का विष दूर करने में मात्र बाह्यकारण-निमित्तमात्र होने पर भी सामनेवाले का विष दूर हो जाता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। सामनेवाले के पुण्य का उदय हो तो उसकी वैसी योग्यता के कारण विष उतर

जाता है, निमित्त समीप हो या दूर हो निमित्त कुछ नहीं कर सकता, निमित्त का निमित्तपना सौ प्रतिशत निमित्त में कार्य करनेवाला है। इस प्रकार स्व-पर को स्वतन्त्र जानकर स्वसन्मुख द्वारा ज्ञान-ध्यान में एकाग्र हो वहाँ कर्म का विष तत्काल दूर हो जाता है, कर्म अपने आप खिर जाते हैं।

मन्त्र साधक अपने भावों को करता है परन्तु सामनेवाले के विष को उतारने की क्रिया नहीं करता, स्वतः भाव करे वहाँ सामनेवाले का विष उतरने योग्य हो तो स्वयमेव उतर जाता है—ऐसा लगभग निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। किसी के मन्त्र साधन के निमित्त पाकर स्त्रियाँ स्वयं विडम्बना को प्राप्त होती हैं सिर धुनने लगती हैं; जो स्त्रियाँ ऐसी योग्यतावाली हों उनके वह विडम्बना होती है, जिनके पाप का उदय हो उन स्त्रियों को वैसी विडम्बना होती है। मन्त्र साधक जब मन्त्र की साधना करे उस समय वे स्त्रियाँ स्वयमेव धुनने-पीटने लग जाती हैं, मन्त्र साधक उनसे वह नहीं कराता; और फिर मन्त्र साधने से तो कभी बन्धन भी टूट जाते हैं।

भक्तामर से भगवान की स्तुति करने पर मानतुंग आचार्य की बेड़ियाँ कट गयीं; जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करने लगे कि हे प्रभु! तुम सर्व पापों के नाशक हो, ज्ञान के सागर हो; वीतरागकता के पिण्ड हो। हे नाथ! जिसने आपका स्वरूप देख लिया है, उसका मन जन्म-जन्मान्तर में भी कहीं जानेवाला नहीं है, हे प्रभो! आपको देखने से जिसका मन मोहित हो गया उसका मन हरने के लिये जगत में कोई पदार्थ समर्थ नहीं है।

हे देव! जो आपका दर्शन एकाग्रचित्त से करता है, उसके हृदय में सन्तोष होता है, वैसा सन्तोष उसे अन्यत्र नहीं मिलता; हे प्रभु! देवेन्द्रों और नरेन्द्रों के मणि-रत्नों के मुकुट आपके चरण कमलों में झुक रहे हैं, हे प्रभु! आप देवाधिदेव हो—आदि प्रकार से भगवान के ऊपर बहुमान आने से, स्तुति का शुभभाव होने से बेड़ी के बन्धन टूट गये; शुभभाव का और पुण्य के उदय का मेल होने से निमित्तनैतित्तिक सम्बन्ध का मेल हुआ और बन्धन टूट गये। धर्मात्मा-गुणी हो उसके बन्धन टूट ही जाते हैं—ऐसा कोई नियम नहीं है; गुणी हो या न हो किन्तु पुण्य का उदय हो तो शुभभावों का मेल होने से बन्धन टूट जाते हैं—प्रतिकूलता हट जाती है।

उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शनादिभावरूप स्वतः ही परिणमित

होता हुआ, मिथ्यादर्शनादि भावों का कर्ता होता है। परवस्तु मुझे लाभ करे, मैं पर को लाभ कर सकता हूँ—पर मुझे हानि पहुँचा सकते हैं और मैं पर को हानि पहुँचा सकता हूँ—ऐसी विपरीत श्रद्धा विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण—ऐसे भावों का कर्ता अज्ञानी होता है। वे विपरीत श्रद्धा-ज्ञान-आचरण के भाव पुद्गल द्रव्य को कर्मरूप परिणमित होने में अनुकूल होने से निमित्तभूत होने से, आत्मा कर्ता हुए बिना, पुद्गलद्रव्य मोहनीयादि कर्मरूप स्वतः परिणमित होता है।

विपरीत श्रद्धा आदि के भाव कर्मों के बन्धन होने में अनुकूल हैं किन्तु तेज धूप हो वह कहीं कर्म को परिणमित होने में अनुकूल निमित्त नहीं है; राग-द्वेष करे तो कहीं शरीर की सुन्दरता नष्ट नहीं होगी किन्तु रागभाव जड़कर्म के परिणमित होने में अनुकूल निमित्त है। भ्रान्ति और राग-द्वेष करे उससे कर्म स्वतः ही परिणमित हो जाते हैं; भ्रान्ति और राग-द्वेष कर्म को परिणमित होने में अनुकूल हैं, किन्तु यदि रोटी खा रहा हो और राग-द्वेष भ्रान्ति करे तो कहीं रोटी के रजकण कर्मरूप परिवर्तित नहीं हो जायेंगे। कर्म के योग्य रजकण स्वयमेव परिणमित होते हैं, उसमें आत्मा के विकारी भावों का निमित्त है तथापि आत्मा उसका कर्ता नहीं है। कर्म के सूक्ष्म रजकण परद्रव्य हैं उन्हें बदल देना परिवर्तित कर देना तेरे हाथ की बात नहीं है, तू अपने भावों को बदल। दूसरे परद्रव्यों को तू नहीं बदल सकता; सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं।

भाई या लड़कों के साथ ममत्व करे कि यह मेरे हैं और मैं इनका हूँ; हम सब तो एक ही हैं—ऐसा मानता है, किन्तु भाई! तेरे शरीर का प्रत्येक रजकण भिन्न है, कोई नखरूप परिणमित हुए हैं, कोई रक्त रूप परिणमित हुए हैं, कोई दूसरे रंग में परिणमित हुए हैं। आँख के गटे के रजकण काले रंगरूप परिणमित हुए हैं और शरीर की चमड़ी के रजकण दूसरे रंगरूप परिणमित हुए हैं; इस प्रकार कोई रजकण काले रंग में कोई सफेद कोई लाल रंग में परिणमित हुए हैं—इस प्रकार एक ही शरीर में कितने रंग हैं; देखो न! प्रत्येक रजकण का रंग भिन्न है तो फिर दो भाईयों का तो कैसे एक रंग हो सकता है? दो भाई कैसे एक हो सकते है? बाप और लड़का दो हैं वे एक कैसे हो सकते हैं? इसलिए भाई ममत्व को छोड़! सभी द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं।

अज्ञानी जीव राग-द्वेष का कर्ता होता है; अनुकूलता में राग का कर्ता होता है और

प्रतिकूलता में द्वेष का। वे भाव निमित्तभूत होने से कार्माणवर्गणा को जीव के विकार का बाह्य कारण मिलने पर वह अपने आप अपने भाव से कर्मरूप परिणमित हो जाती है। कोई कहेगा कि जड़ में भाव होते हैं? हाँ, जड़ में भाव होते हैं; पुद्‌गल का गुण उसका भाव है, पुद्‌गल की अवस्था उसका भाव है; पुद्‌गल स्वतः अपने भाव से परिणमित होता है।

बाह्य में अनुकूलता मिलना, पैसा, स्त्री, कुटुम्बादि सारी सुविधाएँ मिलना और प्रतिकूलता का संयोग मिलना वह सब कर्म का कार्य बाह्य फलरूप दिखायी देता है; कर्म के सूक्ष्म रजकण कर्मरूप बँधते हैं, उनका फल बाह्य में अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप दिखायी देता है।

अपने भाव में राग हुआ वह नैमित्तिक भाव है, और उस समय कर्म की उपस्थिति है, वह निमित्त है; और जब कर्म का बन्ध होता है तब कर्म उसके अपने भाव से परिणमित होता है—वह कर्म का नैमित्तिकभाव है और आत्मा के विकारभाव का उस समय निमित्त है। ऐसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से कर्म स्वयमेव परिणमित होते हैं; कोई किसी का कर्ता नहीं है ॥९१॥

अब, ऐसा कहते हैं कि—अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होते हैं:—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाण-मओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ।।९२।।

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ।।९२।।

अर्थः—जो पर को अपने रूप करता है और अपने को पररूप करता है—वह अज्ञानमय जीव कर्मों का कर्ता होता है।

नवीन जड़कर्म बँधते हैं ऐसा शास्त्र के उपचारमात्र के कथन को निश्चय मानकर उनका कर्ता अज्ञानी अपने को मानता है, परन्तु परद्रव्य की अवस्था का कर्ता नहीं हो सकता—हाँ नवीन भाव कर्मों का कर्ता अज्ञानी होता है; परद्रव्य को अपने रूप मानता है और अपने को पररूप मानता है। जड़ द्रव्य की अवस्था जीव नहीं करता क्योंकि दोनों द्रव्य सदाय पृथक्-पृथक् हैं।

आज नूतन वर्ष का दिवस है, प्रात: काल व्याख्यान में सुप्रभात का मांगलिक हुआ था। वर्ष तो अनेक प्रारम्भ होते हैं, और समाप्त भी होते हैं किन्तु आत्मा में अनादि काल से नहीं प्रगट हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सुप्रभात प्रगट हो वही यथार्थ सुप्रभात है, वही यथार्थ मांगलिक है और यथार्थ नूतन वर्ष है; जो वह प्रभात प्रगट हुआ कि केवलज्ञान प्राप्त होगा ही। स्वत: अपनी ही शरण और अपना ही आशीर्वाद लेने से सुप्रभात प्रगट होता है। नूतन वर्ष के दिन दौड़-धूप करता है और मानता है कि दूसरों का आशीर्वाद मिले तो मैं सुखी होऊँ, वर्ष सानन्द समाप्त हो—ऐसी पराश्रय की मान्यता मूर्खतारूप अज्ञान में होती है।

अज्ञान से यह आत्मा पर का और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) न जानता हो उस समय पर को अपने रूप और अपने को पररूप करता हुआ, स्वत: अज्ञानी होता हुआ कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है।

अज्ञान से अर्थात् जैसा अपना स्वरूप है वैसा नहीं मानता, पर का अपना अन्तर नहीं जानता इससे वह राग-द्वेष का कर्ता होता है। पर को अपनेरूप करता है कि—यह राग का भाव आया इससे अच्छा हुआ; राग से मुझे सुख सन्तोष हुआ; इस प्रकार राग में सन्तोष मानता हुआ और अपने स्वरूप को न जानता हुआ विकार भावों को अपनेरूप मानता है, अपने निर्मल स्वरूप को विकाररूप मानता है, शुभराग रूप विकार से-व्यवहार से लाभ मानता है, पुण्य-पाप, शरीर, मन, वाणी—उन सबको अपनेरूप मानता है और अपने को शरीरादिरूप मानता है—ऐसा अज्ञानरूप हुआ कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है। मेरा स्वरूप अनादि-अनन्त भिन्न है, मैं ज्ञाता तत्त्व हूँ, यह राग-द्वेष के विकारी भाव क्षणिक हैं—वैसा नहीं जानता इससे उसे ऐसा प्रतिभासित होता है कि कर्म को मैं करता हूँ। वह बात अब और स्पष्टता से समझायी जाती है:—

जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ, शीत-उष्ण पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नत्व के कारण आत्मा से निरन्तर अत्यन्त भिन्न है, और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव (ज्ञान) आत्मा से अभिन्नत्व के कारण पुद्गल से निरन्तर अत्यन्त भिन्न है।

शीत और उष्ण अवस्था है, वह पुद्गल की है। अग्नि के अंगारे में उष्णता है, वह

अग्नि से पृथक् नहीं है किन्तु उसमें एकमेक है, बर्फ की ठण्डी अवस्था है, वह बर्फ से पृथक् नहीं किन्तु उसमें एकमेक है। बर्फ ठण्डा है और अग्नि उष्ण है—ऐसा ज्ञान कराने में समर्थ जो पुद्गल की अवस्था है, वह पुद्गल से अभिन्न है; पुद्गल आत्मा को ज्ञान नहीं करा देता किन्तु पुद्गल में ज्ञात होने योग्य ज्ञेय शक्ति है, इसलिए ज्ञान कराने में समर्थ कहा है; परन्तु वह ठण्डी-उष्ण अवस्था आत्मा से अत्यन्त भिन्न है।

शरीर में शीत-ज्वर या उष्ण-ज्वर आये—वह सब पुद्गल के स्पर्शगुण की अवस्था है, वह पुद्गल से अभिन्न है—एकमेक है; आत्मा से अत्यन्त भिन्न है; अपनी भिन्न सत्ता का ज्ञान कराने में समर्थ है। आत्मा भिन्न ज्ञाता रहकर ज्ञान करनेवाला है और परद्रव्य की अवस्था ज्ञेय है। जिस प्रकार की अवस्था सम्मुख हो वैसा ही ज्ञान होता है परन्तु उल्टा-सीधा ज्ञान नहीं होता—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।

ठण्डी-गर्म अवस्था पुद्गल से एकमेक है और आत्मा से सदैव भिन्न है। ठण्डा बर्फ, गर्म भजिये आदि शीत और उष्णत्व, पुद्गल से एकमेक है। ठण्डी और उष्ण अवस्था के निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव अर्थात् उसका ज्ञान भी वैसा ही होता है; ठण्डी अवस्था हो तो ज्ञान में ठण्डी अवस्था ज्ञात होती है और उष्ण अवस्था हो तो ज्ञान में उष्ण अवस्था ज्ञात होती है परन्तु अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि—मेरा ज्ञान ठण्डा अथवा उष्ण हो गया है। इस प्रकार स्व-पर को पृथक् न करके एक करता है। अज्ञानी कहता है कि ठण्डी-गर्म अवस्था हमारे शरीर में असर न करे तो समझें कि ठण्डी और कर्म अवस्था ज्ञान से पृथक् है; किन्तु वैसा तो नहीं होता। ठण्डी और उष्ण अवस्थाएँ असर तो करती हैं सुख-दुःख देती हैं। अरे भाई! ठण्डा या गर्म तेरे ज्ञानस्वभाव में प्रवेश नहीं कर जाता; ठण्डी और उष्ण तो पुद्गल की अवस्थाएँ हैं और ज्ञान उन्हें जाननेवाला है। आत्मा सदाय अरूपी ज्ञानस्वभावी है, शरीर से सदा भिन्न है, रागादि से कथंचित् भिन्न है और बाह्य पुद्गल द्रव्यों से भी पृथक् है; उसे शीत या उष्णता असर नहीं कर सकती।

जब ज्ञान की योग्यता शीत अवस्था को जानने की हो उस समय पुद्गल की शीत अवस्था सम्मुख उपस्थित होती है और जब उष्ण अवस्था को जानने की योग्यता हो उस समय पुद्गल की उष्ण अवस्था की उपस्थिति होती है। जब शीत अवस्था की उपस्थिति

होगी उस समय ज्ञान में शीत ही ज्ञात होगा और जब उष्ण अवस्था की उपस्थिति होगी उस समय उष्ण ज्ञात होगा। शीत के समय उष्ण ज्ञात नहीं होगा और उष्ण के समय शीत ज्ञात नहीं होगा—ऐसा ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है; इससे अज्ञानी को ऐसा लगता है कि सामनेवाली वस्तु से मेरा सम्बन्ध है, मैं और वह वस्तु दोनों एक हैं; किन्तु भाई! शीत-उष्ण वस्तु का ज्ञान के साथ मेल है, कहीं वस्तु के साथ मेल नहीं है; परवस्तु के साथ एकमेक नहीं है। शीत-उष्ण का उस प्रकार का अनुभव अर्थात् ज्ञान—वह आत्मा से पृथक् नहीं किन्तु एकमेक है। वह ज्ञान आत्मा के साथ अत्यन्त एकमेक होने से पुद्गल से अत्यन्त भिन्न है, शीत-उष्ण अवस्था का पुद्गल के साथ मेल है, परन्तु शीत-उष्ण पदार्थ ज्ञात हो उससे ज्ञान शीत-उष्ण नहीं होता।

वैसे ही, उस प्रकार का अनुभव कराने में समर्थ राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नत्व के कारण आत्मा से सदैव अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव (ज्ञान) आत्मा से अभिन्नत्व के कारण पुद्गल सदैव अत्यन्त भिन्न है।

जो राग-द्वेष और सुख-दुःख की अवस्था है, वह पुद्गल से अभिन्न-एकमेक है, वैसा कहा। ९१वीं गाथा में कहा था कि राग-द्वेष भाव का कर्ता आत्मा अज्ञानभाव से है और यहाँ राग-द्वेष के विकारी भावों को जड़ में डाल दिया; उसका कारण यह है कि यहाँ दो द्रव्यों को पृथक् बतलाना है। परोन्मुखता के कारण अपने में विकारी पर्याय होती है किन्तु वह पराश्रय है—क्षणभंगुर होने से अपना स्वभाव नहीं है, इसलिए वह जड़ की है—ऐसा कह दिया है। यहाँ दो द्रव्यों को पृथक् बतलाते हैं। पर को पाप में स्थित रहने से रागादि नहीं होते किन्तु अपने को भूलकर संयोग में एकत्वबुद्धि; और पराश्रय की श्रद्धा से विकार भाव करता है, रागादि स्व से विरुद्ध भाव है इसलिए वह पर ही है। विकारभाव से उत्पन्न होनेवाला कार्य जड़ का है और उससे मुक्त हो जाना वह चैतन्य का कार्य है; कर्म के निमित्तरूप, ज्ञान भाव से विपरीत भाव का होना चैतन्य का स्वभाव ही नहीं है और चैतन्य के स्वभावरूप रहना वह चैतन्य की स्वभाव पर्याय है।

जैसे बर्फ या अग्नि को जानने के समय ज्ञान कहीं ठण्डा या उष्ण नहीं होता, उसी प्रकार राग-द्वेष और सुख-दुःख की अवस्था को जानने के समय ज्ञान रागी-द्वेषी,

सुखमय या दु:खमय नहीं होता। उस प्रकार का अनुभव अर्थात् राग हो तब राग को जानता है, शोक हो तब शोक को जानता है; शोक को कहीं राग जानता है ? अथवा राग को शोक जानता है ? नहीं; वैसा नहीं जानता। जो जैसी अवस्था हो वैसा राग जानता है—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, ऐसा स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का स्वभाव है।

राग के समय राग का ही ज्ञान होता है; वहाँ अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि मैं रागमय हो गया; मैं द्वेषमय हो गया; किन्तु भाई! ज्ञान का जानने का स्वभाव है; करुणा का भाव आये उस समय वैसा ही जानता है और हर्ष या शोक का भाव आये उस समय वैसा ही जानता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, पर को अपना बनाने का स्वभाव नहीं है, किन्तु पर का प्रकाशक अर्थात् प्रकाशित करनेवाला है। हर्ष के समय शोक नहीं जानता और न शोक के समय हर्ष जानता, किन्तु जैसा हो उसे वैसा ही जानता है—ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य है-स्वभाव है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की बात है, सम्यग्दृष्टि के जो अल्प राग-द्वेष होते हैं, उनका वह ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है, राग-द्वेष और क्रोध को जाननेवाला सदैव पुद्गल से पृथक् है, ज्ञान की निर्मलता राग-द्वेष से सदैव भिन्न है। जैसे शीत और उष्ण अवस्थायें जड़ हैं और जड़ के साथ एकमेक हैं परन्तु अज्ञानी उन्हें अपना मानता है परन्तु मेरे ज्ञान का सामर्थ्य स्व-पर को जानना है—वैसा न जानने से और राग-द्वेष मेरे हैं, वह मानने से नवीन कर्म बँध जाते हैं।

ज्ञान सूक्ष्म, आत्मा सूक्ष्म, उसका कारण सूक्ष्म, और उसका कार्य भी सूक्ष्म है, इसलिए स्वत: सूक्ष्म होकर जाने तो समझ में आये कि स्वत: भी सूक्ष्म है। अपने ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, वैसा न जानकर पर को अपना करता है, इससे नवीन कर्मबन्ध होता है।

यहाँ कर्ताकर्म की बात चल रही है। ज्ञानी पर का कर्ता नहीं होता और अज्ञानी होता है।

जैसे पुद्गल में जो शीत-उष्ण अवस्था है, वह पुद्गल से अभिन्न है, आत्मा उसका ज्ञान करता है किन्तु उस शीत या उष्ण अवस्था में आत्मा प्रविष्ट नहीं हो जाता, उससे आत्मा अत्यन्त पृथक् है। उसी प्रकार राग-द्वेष और क्रोधादिक के भाव आत्मा के नहीं हैं क्योंकि वे भाव क्षणिक हैं, विकारी हैं और आत्मा तो निर्विकार त्रिकालस्थायी है इसलिए

वे विकारी भाव आत्मा से पृथक् हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और यह जो विकारी भाव हैं, सो मैं नहीं हूँ—ऐसा भेदज्ञान हो जाये उस समय विकारी भावों को अपना नहीं मानता। बाह्य के मकानादि की बात तो दूर रही परन्तु यह तो अन्तर के शुभाशुभ विकारी भावों को भी भिन्न जानने की बात है। ज्ञानी उन्हें भिन्न मानता है, किन्तु अज्ञानी भिन्न नहीं मानता, भला मानता है। अज्ञानी विकारी भावों का और आत्मा का अन्तर नहीं जानता इससे राग-द्वेष-सुख-दु:ख के भाव और ज्ञान को एकमेक मानता है।

अज्ञान के कारण जब आत्मा उन राग-द्वेष-सुख-दु:खादि का और उनके अनुभव का (ज्ञान का) परस्पर विशेष न जानता हो उस समय एकत्व के अध्यास के कारण, शीत-उष्ण की भाँति (अर्थात् जैसे आत्मा द्वारा शीत-उष्णरूप परिणमित होना अशक्य है उस प्रकार) जिसके रूप में आत्मा द्वारा परिणमित होना अशक्य है, ऐसे राग-द्वेष-सुख-दु:खादिरूप अज्ञानात्मा द्वारा परिणमित होता हुआ (अर्थात् परिणमित होना मानता हुआ), ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वत: अज्ञानमय होता हुआ, 'मैं रागी हूँ (अर्थात् मैं राग करता हूँ)' इत्यादि प्रकार से रागादि कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है।

जब अज्ञान के कारण आत्मा राग-द्वेष और सुख-दु:खादि का और उनके अनुभवन का अर्थात् ज्ञान का परस्पर अन्तर न जानता हो तब, अर्थात् अज्ञानभाव से एक जानता हो उस समय एकत्व के अध्यास के कारण रागादि कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि राग-द्वेष की अवस्था चैतन्य में होती है, उसके साथ परस्पर भेद नहीं जानता—ऐसा कहकर व्यवहार कहा, और राग-द्वेष पुद्गल के हैं—ऐसा कहकर दो द्रव्यों को पृथक् कहा। अज्ञानी को राग-द्वेष के ज्ञाता का और राग-द्वेष का अन्तर पाड़ना नहीं आता है, भेद करना नहीं आता है, इससे वह ऐसा न मानकर कि—मैं ज्ञायकमात्र स्वरूप जितना ही हूँ, और राग-द्वेष मैं नहीं हूँ, मैं तो उसका दृष्टा हूँ। त्रैकालिक ज्ञान और क्षणिक रागादि का भेदविज्ञान नहीं होने से राग को भला मानता है। अपने को राग-द्वेषरूप ही मानता है, उसे आचार्यदेव तो कहते हैं कि जिस प्रकार शीत-उष्ण की भाँति जिसके रूप में परिणमित होना अशक्य है अर्थात् जैसे आत्मा शीत-उष्ण अवस्थारूप नहीं होता वैसे ही राग-द्वेष और सुख-दु:खादि की अवस्थारूप नहीं होता। यहाँ ऐसा कहा है कि आत्मा उसरूप होता ही नहीं, आत्मा का राग-द्वेषरूप होना अशक्य

है जो ज्ञानवान आत्मा है वह रागवान नहीं होता, तो फिर कौन होता है ? अज्ञानात्मा द्वारा राग-द्वेष-सुख-दु:खादिरूप परिणमित होता हुआ अज्ञानभाव से उस अवस्थारूप होता है, परन्तु आत्मभाव से उस अवस्थारूप होना अशक्य है।

जिसके रूप में आत्मा द्वारा परिणमित होना अशक्य है, अशक्य अर्थात् शक्य ही नहीं है। दुर्लभ नहीं कहा परन्तु अशक्य कहा है। दुर्लभ अर्थ होता है—दु:ख उठाकर प्राप्त भी हो जाये, परन्तु यह तो अशक्य कहा है। उसका तात्पर्य है किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रश्न:—राग-द्वेष तो आत्मा में होते हैं न ?

उत्तर:—राग-द्वेष अज्ञानभाव से आत्मा में होते हैं किन्तु ज्ञानभाव से आत्मा में नहीं होते; गौणरूप अल्प अस्थिरता होती है, उसकी यहाँ बात नहीं है; यहाँ तो द्रव्यदृष्टि की बात है।

जो राग-द्वेषरूप अवस्था होती है, वह ज्ञेय होने से आत्मा को ज्ञान कराने में समर्थ है, अर्थात् वह अवस्था ज्ञाता का ज्ञेय होती है और ज्ञान में वृद्धि करके छूट जाती है। अवस्था ज्ञेय हे और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव वह ज्ञान है।

अज्ञानी की दृष्टि अज्ञानमय हो जाती है—तन्मय हो जाती है, ज्ञानी की भाँति उसकी दृष्टि पृथक् नहीं रहती। अज्ञानी ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता है।

अज्ञानी राग-द्वेष-सुख-दु:ख और उस प्रकार का अनुभव अर्थात् उस प्रकार के ज्ञान का अन्तर न जानने से एकत्व के अध्यास के कारण ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वत: अज्ञानमय होता हुआ 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ' इत्यादि प्रकार से रागादि कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे आत्मा शीत-उष्ण नहीं हो सकता उसी प्रकार राग-द्वेष और हर्ष-शोक द्वारा आत्मा का परिणमित होना अशक्य है। राग-द्वेष क्षणिक हैं और आत्मा तो त्रिकाल स्थायी है, इससे आत्मा का राग-द्वेषमय होना स्वभावदृष्टि से अशक्य है; हर्ष-शोकरूप होना आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसके द्वारा आत्मा का परिणमित होना अशक्य है, तथापि अज्ञानात्मा द्वारा परिणमित होता हुआ, परिणमित होना मानता हुआ क्षणिक भाव के समय जैसे मैं ही उसभावरूप हो गया हूँ—ऐसा मानता हुआ अपने ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता है।

शरीर-मन-वाणी का कार्य मैं कर देता हूँ ऐसा भाव तो अज्ञान ही है, परन्तु अन्दर जो हर्ष-शोक होता है, उसे मैं करता हूँ, वह मेरा स्वभाव है—वैसा मानना भी अज्ञान है। अज्ञानी आत्मा, हर्ष-शोक, सुख-दु:खादि के भाव और मेरा स्वभाव—वे सब एक हो गये हैं—वैसा मानता हुआ परिणमित होता है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ज्ञाता हूँ—दृष्टा हूँ—ऐसा भान न रखकर अज्ञानता प्रगट करता हुआ अज्ञानी होता है। आत्मा शरीरादिरूप और रागादिरूप नहीं होता, तथापि आत्मा का जो ज्ञानधर्म है उसमें अज्ञानी अज्ञानता प्रगट करता हुआ—'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ' इस प्रकार मानता हुआ रागादि का कर्ता होता है।

प्रश्न:—अज्ञानता को इतनी गालियाँ दीं, उसकी अपेक्षा तो जो हरामखोर हो उसे गालियाँ देना चाहिए न?

उत्तर:—अज्ञान जैसी कोई हरामखोरी नहीं है; आत्मा का निर्मल स्वभाव जैसा है, उसे जब तक वैसा न समझे तब तक उसके समान कोई हरामखोरी नहीं है। स्वतन्त्र ज्ञाता स्वभाव का तिरस्कार करके जगत के अनन्त सत्पदार्थ को अनन्त आत्मा को पराधीन मानकर आत्महत्या करते हैं। अपनी चतुराई से मैं पैसा इकट्ठा करता हूँ, मेरी चतुराई से मैं शरीर-समाज, पैसा, प्रतिष्ठादि का ठीक कर सकता हूँ ऐसी कर्तृत्व की बुद्धि है, वह अज्ञान है। वर्तमान में भले नीति के शुभपरिणाम करता हो, परन्तु शुभाशुभ दोनों विकार अशान्ति है आकुलित हैं, वह मुझे सुखरूप नहीं हैं, किन्तु मेरा ज्ञानमात्र स्वभाव ही मुझे सुखरूप है—ऐसी सम्यक् प्रतीति जहाँ तक नहीं हुई वहाँ तक भले ही नीति के शुभपरिणाम करता हो, तथापि संसार बन्धन का पात्र है—मुक्तानन्द स्वभाव का पात्र नहीं है क्योंकि इन परिणामों का कर्ता मैं हूँ, यह रागादि परिणाम मुझे सुखरूप हैं, यह मेरा स्वभाव है—ऐसी अज्ञानबुद्धि है, इससे भविष्य में वह अज्ञान विकसित होकर महाअनीति करेगा, महाहिंसा और झूठ का सेवन करेगा। अपने आत्मतत्त्व को न समझने जैसा कोई पाप नहीं है।

साधारण दया पाले, सत्य बोले उसे लोग नीति कहते हैं, वह शुभपरिणाम हैं, आत्मा का स्वभाव नहीं है। पंच महाव्रत का पालन करता हो, तो वह शुभपरिणाम से पुण्य है, और उन परिणामों से मुझे धर्म होता है, लाभ अथवा सुख होता है—वैसी मान्यता सो अज्ञान है। भले ही नग्न मुनि होकर पंच महाव्रत आदि के शुभपरिणामों का सेवन करता हो, परन्तु यदि अज्ञान का शल्य साथ में है तो भविष्य में वह अज्ञान प्रगट होकर महा हिंसा -झूठ में प्रवर्तन करेगा।

हराम का अर्थ यह है कि आत्मा के स्वभाव में राग-द्वेष हराम हैं, अर्थात् आत्मस्वभाव में राग-द्वेष नहीं खपते।

हरियाली की दया पाली, कच्चे पानी के एक बिन्दु का उपयोग न किया, शरीर को काटकर नमक छिड़का तथापि आँख का कौना भी लाल नहीं हुआ, ऐसा सहन किया, इतना करने पर भी यदि ऐसा माने कि मैं पर की दया पालन करता हूँ, पर का सहन करता हूँ, पर से मुझे लाभ है, दया, अहिंसा के शुभराग से, या पर से मुझे धर्म है—ऐसी विपरीत मान्यता अज्ञान है।

अपने ज्ञाता स्वभाव में जागृत रहना ही निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म है, वही सुखरूप है, मेरा स्वभाव ही साम्यस्वरूप-समतास्वरूप है—ऐसा न मानकर, पर का मैं सहन करता हूँ, पर की दया से मुझे लाभ होता है, वैसा माननेवाला वर्तमान में अपने चैतन्य की हत्या करता है और भविष्य में अनन्त जन्म-मरण धारण करनेवाला है।

धर्मात्मा जीव राग-द्वेष का नाशक है, किन्तु उत्पादक नहीं है; आत्मा में राग-द्वेष, हर्ष-शोक का होना वह पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है, उसे जानने से आत्मा उसरूप नहीं होता। जैसे काली जीरी को जाननेवाला काली जीरीरूप कड़वा नहीं होता और गुड़ का जाननेवाला गुड़रूप मीठा नहीं होता, उसी प्रकार पुण्य-परिणाम गुड़ और पाप परिणाम काली जीरी; पुण्य-पाप के परिणामों को जानने से आत्मा उसरूप नहीं होता। पाप के परिणाम तो हलाहल विष समान हैं, परन्तु पुण्य-परिणाम भी विष हैं; जहाँ तक वीतराग न हो वहाँ तक बीच में अपूर्णदशा में पुण्य के परिणाम आते अवश्य हैं, किन्तु वह विकार है, किंचित् मददरूप नहीं है। आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिए विष हैं, उस विष को जानने से आत्मा उसरूप नहीं होता।

अपने त्रिकाल अविनाशी स्वभाव की अनभिज्ञता के कारण, राग-द्वेष और अपने अविनाशी स्वभाव के पृथक्त्व का भान न होने से, यह राग-द्वेष की विकारी पर्याय मेरी है—ऐसा अज्ञानी मानता है। उसे ऐसा लगता है कि जो यह विकारी भाव ज्ञात होते हैं, उस स्वरूप ही मेरा सम्पूर्ण आत्मा है। मैं त्रिकाल रागी-क्रोधी हूँ, मानी हूँ, दम्भी हूँ, इत्यादि विकारभाव युक्त अपने को मानता है। आत्मस्वभाव की खबर नहीं है, इससे पुण्य करना मेरा कर्तव्य है, विकारी भाव करना मेरा कर्तव्य है—ऐसा वह मानता है।

आत्मा के त्रैकालिक ज्ञान स्वभाव की वर्तमान पर्याय में हर्ष-शोक की क्षणिक अवस्था ज्ञात होती है। जिस ज्ञान के सामर्थ्य में ठण्डा-गर्म ज्ञात होता है, उसी ज्ञान के सामर्थ्य में राग-द्वेष, हर्ष-शोक भी ज्ञात होते हैं। ज्ञान शीत-उष्ण को जानता है तथापि शीत-उष्ण नहीं होता। शीत-उष्ण से मैं पृथक् हूँ—ऐसी पृथक् दृष्टि न करने से अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं शीत-उष्ण हो गया हूँ; तथापि कहीं वह शीत-उष्ण नहीं हो जाता। उसी प्रकार मैं चैतन्य राग-द्वेष से भिन्न हूँ, वैसी भिन्न दृष्टि स्वतः नहीं करता इससे अपने को राग-द्वेषरूप मानता है। अज्ञानभाव से अपने को राग-द्वेषरूप मानता है, तथापि स्वतः सम्पूर्ण आत्मा कहीं राग-द्वेषरूप नहीं हो जाता। यदि सम्पूर्ण आत्मा राग-द्वेषरूप हो जाता हो तो सम्यग्भान द्वारा राग-द्वेष को दूर किया ही नहीं जा सकता।

बहुत बुखार आया हो, तथापि आत्मा गर्म नहीं हो जाता। बुखार अधिक बढ़ जाये और कदाचित् देह छूट जाये, आत्मा निकल जाये, तो भी शरीर में दो घण्टे गर्मी रहती है; यदि आत्मा गर्म हो गया हो तो जहाँ आत्मा जाये वहाँ साथ ही उष्णता भी जाना चाहिए; परन्तु उष्णता तो मुर्दे में रह जाती है और आत्मा चला जाता है; इसी प्रकार आत्मा की अवस्था में हर्ष-शोकादि क्षणिक भाव होते हैं वे शीत-उष्ण बुखार जैसे हैं; केवलज्ञान होने पर वह राग-द्वेषरूप मुर्दा छोड़कर आत्मा निकल जाता है।

जिसकी दृष्टि शरीर पर है, जिसे ऐसा लग रहा है कि शरीर मेरा है, शरीर अच्छा हो तो मैं सुखी-लेकिन अतीन्द्रिय चैतन्य के ऊपर दृष्टि नहीं डाली उसे शरीर के जाने पर ज्ञान दब जाता है—अज्ञानी शरीर के साथ अपना नाश मानते हैं। शरीर पर-दबाव पड़ने से असाध्य हो जाता है; राग-द्वेष और हर्ष-शोक को अपना माना है, चैतन्य की प्रतीति की ओर लक्ष्य नहीं किया, उसे भिन्न जानने की आकांक्षा भी नहीं की, उसका अन्त समय बिगड़ ही जायेगा। जिसने आत्मा की पहिचान की, आत्मा में दृष्टि डाली, आत्मा की शान्ति-समाधि का अनुभवन किया है उसका मरण समाधिरूप उज्ज्वलतापूर्वक होगा, महोत्सवपूर्वक होगा, वह शान्ति-समाधि में झूलता हुआ, आनन्द की डकार लेता हुआ देह को त्यागेगा।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं होता—ऐसा अब कहते हैं:—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माण-मकारगो होदि।।९३।।

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति।।९३।।

अर्थ:—जो पर को अपने रूप नहीं करता और अपने को भी पररूप नहीं करता वह ज्ञानमय जीव कर्मों का अकर्ता होता है अर्थात् कर्ता नहीं होता।

धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो पर—राग-द्वेष, हर्ष-शोक, मन, वाणी, देह, कुटुम्ब, मकानादि बाह्य पदार्थों को अपना नहीं मानता, स्वत: उन भावों का कर्ता-हर्ता नहीं होता और अपने को उन परभावों रूप नहीं करता अर्थात् नहीं मानता। जानना-देखना और स्थिर रहना, उसके अतिरिक्त अपने जीवन का अन्य कर्तव्य स्वीकार नहीं करता।

ज्ञान से यह आत्मा स्व और पर का परस्पर विशेष जानता हो उस समय पर को अपनेरूप नहीं करता और अपने को पररूप नहीं करता, स्वत: ज्ञानमय होता हुआ कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

ज्ञान द्वारा यह आत्मा पर का और अपना परस्पर विशेष अर्थात् अन्तर जानता हो तब वह—विवेकी ज्ञान और विवेकी पहिचान हो तब—परभाव को अपनेरूप न करता हुआ अर्थात् अपना नहीं मानता हुआ, स्वत: ज्ञानमय होता हुआ कर्मों का तथा रागादि मलिन भावों का अकर्ता प्रतिभासित होता है। ज्ञान में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसमें एकाग्र होता हुआ पर का कर्ता नहीं होता। पुण्य-पाप का कर्तव्य मेरा है ही नहीं, मैं उसका अकर्ता हूँ, ज्ञाता हूँ—इस प्रकार ज्ञानमय होता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है, अल्प अस्थिरता होती है किन्तु उसका कर्ता नहीं होता।

जिस प्रकार पुद्गल की शीत-उष्ण की अवस्था पुद्गल से एकमेक है और आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। पुद्गल की शीत-उष्ण अवस्था का बाह्यकारण प्राप्त करके उस प्रकार का ज्ञान आत्मा से सदैव अत्यन्त अभिन्न है, एकमेक है, शीत-उष्ण का ज्ञान आत्मा से एकमेक है और पुद्गल से सदैव अत्यन्त भिन्न है।

वैसे ही उस प्रकार का अनुभव कराने में समर्थ, ऐसी राग-द्वेष, सुख-दु:खादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नत्व के कारण आत्मा से सदैव अत्यन्त भिन्न

है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव (ज्ञान) आत्मा से अभिन्नत्व के कारण पुद्गल से सदैव अत्यन्त भिन्न है।

राग-द्वेष और काम-क्रोधादिक के जैसे विकल्प आते हैं वैसा ही ज्ञान होता है; जैसे विकल्प हों वैसा ही जानता है किन्तु उससे विपरीत नहीं जानता। जैसे कि—क्रोध को मान नहीं जानता और मान को क्रोध नहीं जानता; हर्ष के भाव को शोक का भाव नहीं जानता और न शोक के भाव को हर्ष का; उन भावों में ज्ञेयशक्ति है और आत्मा उस प्रकार का अनुभव अर्थात् ज्ञान करनेवाला है। राग-द्वेष और सुख-दु:ख पुद्गलकर्म के परिणमन की अवस्थाएँ हैं; जड़ का परिणमन होते-होते, उसमें से परिवर्तित होते-होते राग-द्वेष, सुख-दु:ख की अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं किन्तु आत्मा की अवस्था परिवर्तित होते-होते वे अवस्थाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। क्योंकि वे अवस्थाएँ नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा से सदैव अत्यन्त भिन्न हैं और पुद्गल से अभिन्न हैं; अशुद्ध अवस्था आत्मा की पर्याय में होती है, वह बात यहाँ गौण है क्योंकि यहाँ नित्य स्वभावदृष्टि से बात है। जितने परोन्मुखता के भाव होते हैं, वे सब पुद्गल के हैं—ऐसा कहा है। पर्यायदृष्टि से वह विकारी पर्याय आत्मा की है, परन्तु स्वभावदृष्टि से अपना वह स्वभाव नहीं है इसलिए पुद्गल की है।

क्षण में राग होता है, क्षण में द्वेष होता है, उसका आत्मा ज्ञाता है; जैसे विकारी परिणाम हों उस प्रकार का अनुभव अर्थात् उस प्रकार का ज्ञान करनेवाला है। ज्ञान पुद्गल से भिन्न है और आत्मा से अभिन्न है।

कोई कहेगा कि क्षण में राग-द्वेष को आत्मा का कहते हो, और क्षण में पुद्गल का बनाते हो ? भाई ! एक की एक बात कहने में अनेक पक्ष होते हैं; जिस प्रकार एक के एक मनुष्य को पुत्र की अपेक्षा से पिता कहा जाता है; पिता की अपेक्षा से पुत्र कहा जाता है, काका की अपेक्षा से भतीजा कहा जाता है, भतीजे की अवस्था से काका कहा जाता है, इस प्रकार एक ही मनुष्य को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न प्रकार से पहिचानने में आता है। वैसे ही पर्यायदृष्टि से विकार आत्मा का कहा जाता है, और स्वभावदृष्टि से विकार पर का कहलाता है। जैसे-भतीजे की अपेक्षा से स्वत: काका है, परन्तु अपने काका की अपेक्षा से भी वह काका है—ऐसा नहीं हो सकता। उसी प्रकार पर्यायदृष्टि से विकार आत्मा का है और स्वभावदृष्टि से भी विकार आत्मा का है—वैसा नहीं हो सकता।

आत्मा जब अज्ञानी होता है, उस समय स्व-पर की भिन्नता नहीं जानता, जब तक रागादि का स्वामी और कर्ता बनता है। किन्तु जब ज्ञान हो तब राग-द्वेष-सुख-दु:खादि का और उनके अनुभव का अर्थात् ज्ञान का पारस्परिक अन्तर स्पष्टतया जानता है, इससे विकारी भाव और आत्मा दोनों एक नहीं हैं किन्तु भिन्न हैं। यद्यपि अज्ञानी को भी भिन्न ही हैं परन्तु अज्ञानी ने एक माना है और ज्ञानी ने पारस्परिक भेद जाना है, दोनों का पारस्परिक भेद जानने में सम्यक्त्व का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

स्व-पर के विवेक के कारण, शीत-उष्ण की भाँति जिसके रूप में परिणमित होना आत्मा द्वारा अशक्य है—ऐसे राग-द्वेष, सुख-दु:खादिरूप अज्ञानात्मा द्वारा किंचित् परिणमित न होता हुआ, ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वत: ज्ञानमय होता हुआ, 'मैं राग का ज्ञाता ही हूँ, रागी तो पुद्गल है'—इत्यादि विधि से, ज्ञान से विरुद्ध—ऐसे समस्त रागादि कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे शीत-उष्णता की अवस्थारूप होने की आत्मा में असमर्थता है, वैसे ही ज्ञान होने से पुण्य-पाप के भावरूप होने की भी आत्मा में असमर्थता है, परन्तु उन विकारी भावों का अभाव करने का आत्मा में सामर्थ्य है। ज्ञान होने के पश्चात् राग-द्वेष में किंचित् परिणमित न होता हुआ अपने स्वभाव में परिणमित होता है; अल्प अस्थिरता होती है, उसकी यहाँ गणना नहीं है; अनन्त संसार दूर हो गया, अनन्त बल प्रगट हुआ। पहले अज्ञानदशा थी तब विकार में अनन्त बल से युक्त होता था और अब ज्ञान होने से स्वभाव में भी अनन्त बल से युक्त होता है। विभाव की अपेक्षा स्वभाव में अनन्त गुना बल अधिक है; अस्थिरता में अब अल्प बल से युक्त होता है, इससे अल्प-स्थिरता होती है। और नित्य स्वभाव आश्रय से होनेवाली वर्तमान साधकदशा की ताकत विकार से, बाधकभाव से अनन्त गुणी अधिक है।

अज्ञानी को अनुकूलता में सुख का मजा आता है, और दु:ख में बेचैन हो जाता है। यह ऐसा परदेश में लड़ाई का समय है, इससे कितनों को तो कुछ का कुछ हो जाता है; परन्तु भाई! ऐसे समय के प्रवाह तो अनेक आये और चले गये परन्तु धर्मात्मा उनके द्वारा किंचित् भी चलायमान नहीं होता। ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ अर्थात् आत्मा का आत्मत्व प्रगट करता हुआ राग को भिन्न जानता है। वह समझता है कि मैं तो इस राग का

ज्ञाता हूँ, किन्तु कर्ता नहीं हूँ, राग तो पुद्गल की अवस्था है। रागी तो पुद्गल है, राग मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए राग पुद्गल है; मैं तो एक प्रकार से हूँ, ज्ञाता हूँ। विकारी पर्याय चैतन्य की अवस्था में होती है, उस बात को यहाँ गौण किया है। देखो, यहाँ किंचित् भी रागादिमय परिणमित न होता हुआ कहा है; अल्प राग-द्वेष होते हैं किन्तु उनका कर्ता नहीं है, विकारी भावों का ज्ञाता है परन्तु कर्ता नहीं होता। इस प्रकार की मार्ग की विधि से, ज्ञान से विरुद्ध—ऐसे समस्त हर्ष-शोकादि विकारी भावों का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

यह वस्तु समझे बिना अन्त समय में किसी की शरण नहीं है; एक रजकण भी कार्य नहीं करता, एक अँगुली भी कार्य नहीं करती, अन्दर बैठे हुए चैतन्य की तीव्र इच्छा होती है कि अँगुली से संकेत करके दूसरे से अपने भाव प्रगट करूँ, खाँसकर कफ को बाहर निकाल दूँ, परन्तु वह जड़ की क्रिया आत्मा के हाथ में है ? इच्छा और शरीर की क्रिया पृथक् हैं—ऐसा इस सम्यग्ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। परन्तु जो जीव वस्तु के स्वभाव को नहीं समझता और जड़ के कर्तृत्व के अहंकार में ही रहता है, उसे मरण समय कौन शरणभूत हो ? वास्तव में अपना ही शरण अपने को है, स्वतः यदि वस्तु स्वभाव को समझे तो उसे शान्ति-समाधि का शरण स्वतः से, स्वतः में, स्वतः को मिले ऐसा है। देव, गुरु, शास्त्र का शरण कहना भी व्यवहार-उपचार से है। देव, गुरु, शास्त्र का कहा हुआ भाव यदि स्वतः समझे तो उपचार से उनका शरण कहलाता है।

यदि आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं कर सकता ? नव बरस के बालक-राजकुमार मुनि होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। ऐसे एक-दो नहीं परन्तु अनन्त जीव केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं, भविष्य में प्राप्त होंगे और वर्तमान में विदेहक्षेत्र में प्राप्त कर रहे हैं। नव बरस की आयु में केवलज्ञान होने के पश्चात्, कितनों की तो करोड़ों बरस तक शरीर की स्थिति रहती है। देह, देह के कारण स्थित रहती है—आत्मा के कारण नहीं। करोड़ों बरस तक आहार का कण भी केवलज्ञानी के नहीं है, तथापि शरीर महान तेजस्वीरूप से यथावत् स्थिर रहता है। भोजन की वृत्ति नहीं है इसलिए भोजन नहीं है। छद्मस्थ को आहार लेने के राग, वीर्य की कमी, असाता कर्म के उदय का और उसकी क्रिया का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। केवलज्ञानी के रागादि कारण नहीं होता इसलिए आहार लेने की क्रिया भी केवली भगवान को कभी भी नहीं होती।

जब आत्मा राग-द्वेष, सुख-दु:खादि अवस्थाओं को अपने स्वरूप से पृथक् जाने-भिन्न जाने अर्थात् वह अवस्था मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टारूप से स्थिर रहना है—ऐसा भेदज्ञान हो तब अपने को ज्ञाता जानता है। मैं ज्ञायकस्वरूप ही हूँ और राग-द्वेषादि पुद्गल के हैं—वैसा जानता है इससे स्वत: रागादि का कर्ता नहीं होता और ज्ञाता ही रहता है, भेदज्ञान होने से अपना ज्ञायकस्वरूप स्वत: को स्पष्टरूप-निश्चयरूप से ज्ञात होता है, अर्थात् राग-द्वेषादि मेरे नहीं हैं—ऐसा स्पष्टरूप से ज्ञात हो जाता है। यह भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय है, इस भेदज्ञान द्वारा ही पुरुषार्थ करके स्वत: मुक्ति प्राप्त करता है। त्रिकाल में यही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है।

अब पूछते हैं कि अज्ञान से कर्म किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? अज्ञान अर्थात् आत्मा के निर्मल स्वभाव के भान बिना कर्म किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, उसका उत्तर कहते हैं:—

तिविहो एसुवओगो अप्प-वियप्पं करेदि कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्त-भावस्स।।९४।।

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्म-भावस्य।।९४।।

अर्थ:—तीन प्रकार का यह उपयोग 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प करता है; इससे आत्मा उस उपयोगरूप अपने भावों का कर्ता होता है।

मैं क्रोध हूँ, क्रोध मेरा स्वरूप है, इस प्रकार क्रोध को अपने से पृथक् न करते हुए मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिरूप विकार के परिणाम आत्मा करता है, अत: उन भावों का कर्ता होता है।

वास्तव में सामान्यत: अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष रति से स्व-पर के समस्त भेदों को छुपा करके अपने सविकार चैतन्य परिणाम का कर्ता होता है।

आत्मा में अज्ञान होता है वह अवस्था आत्मा में नहीं होती—ऐसा नहीं है, परन्तु वह अवस्था आत्मा में होती है, इससे 'वास्तव' शब्द आचार्यदेव ने लिया है। संक्षेप में—

आत्मा में तीन प्रकार का विकार होता है; विपरीत मान्यता, विपरीत ज्ञान और विपरीत चारित्र। अपना और पर का अविशेष अर्थात् एकरूप परिणाम, सामान्य आधार उसके द्वारा अपना और पर का समस्त भेद छुपाकर पर का कर्ता होता है। पर को और अपने को एक मानना सो मिथ्यादर्शन है, पर को और अपने को एक जानना सो मिथ्याज्ञान है, और पर के साथ एकरूप लीनता करना सो मिथ्याचारित्र है।

मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा पृथक् हूँ, यह विकारीभाव मैं नहीं हूँ, ऐसा न मानकर, यह विकारी भाव और मैं—दोनों एक हैं, ऐसा मानना-जानना और एकरूप लीन होना वह संसार का कारण है।

अन्तरंग में अरुचि आयी वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, तथापि आत्मस्वभाव को और अरुचि को एक मानने में, दोनों का पृथक्त्व न जानने से, मैं और विकार दोनों एक हैं—ऐसी लीनता से स्व-पर के समस्त भेदों को छुपा करके विकार परिणामों का कर्ता होता है। त्रिकालिक ज्ञाता स्वभाव को और क्रोध के परिणामों को एक मानने से, ज्ञाता को और क्रोध को एक जानने से, ज्ञाता और क्रोध एक हैं ऐसी लीनता से अपने और पर के समस्त भेदों को ढँककर विकारी भावों का कर्ता होता है।

भगवान आत्मा पृथक् है, और विकारी भाव पृथक् क्षणिक है, विरुद्ध हैं—ऐसा न मानकर, दोनों एक हैं यह मानने से, जानने से और लीनता से स्व-पर के समस्त भेदों को ढँककर भाव्यभावकभाव को प्राप्त ऐसे चेतन और अचेतन के सामान्य अधिकरण से (जैसे उनका एक आधार हो इस प्रकार) अनुभवन करने से 'मैं क्रोध हूँ'—ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है। इससे 'मैं क्रोध हूँ'—ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सविकार (विकार युक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उन सविकार चैतन्यपरिणामरूप भावों का कर्ता होता है।

ज्ञाता आत्मा और विकारी भावों को एकरूप मानने से, जानने से और लीनता से स्व-पर के समस्त भेदों को ढँककर भाव्यभावकभाव को प्राप्त चैतन्य और जड़ का एकरूप अनुभवन करता है, अर्थात् भाव्य का अर्थ क्रोधादि का विकारी परिणाम होना, और भावक का अर्थ क्रोध के निमित्त जो द्रव्यकर्म-जड़कर्म हैं वह। इस प्रकार भाव्यभावकभाव को प्राप्त ऐसे—चेतन-अचेतन का सामान्य अधिकरण से अनुभव करने

से विकारी भावों का कर्ता होता है। क्रोध के परिणाम और ज्ञानस्वभावी आत्मा के परिणाम—दोनों एक ही स्थान से आते हों, क्रोध और ज्ञान—दोनों जैसे एक ही आधार से आते हों—ऐसा अनुभवन करने से 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा मानता है। 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा भूलकर 'मैं क्रोध हूँ' इस प्रकार अपना विकल्प उत्पन्न करता है। स्वतन्त्र ज्ञातामात्र के प्रति अरुचिरूप क्रोध है वह मोहकर्मरूप भावक का भाव्य है, फल है, परन्तु कहीं वह आत्मा के स्वभाव का फल नहीं है—इसलिए भिन्न है, वैसा न मानने से (मैं ज्ञाता हूँ-निर्दोष हूँ—ऐसा न जानने से) मैं क्रोध हूँ—ऐसी भ्रान्ति के कारण विपरीत मानता हुआ, चैतन्य स्वत: विकारी परिणामरूप परिणमित होता हुआ विकारी भावों का कर्ता होता है। मैं क्रोध का कर्ता हूँ और क्रोध मेरा कार्य है—ऐसा मानता है।

अज्ञान से ऐसा क्रोध करता है, क्रोध में आकर बोलता है कि मेरे जैसा कोई बुरा नहीं है, मुझसे कोई बोलना मत, अगर कोई बोलेगा तो उसका सत्यानाश कर दूँगा; परन्तु वास्तव में पर का बुरा तो कोई कर ही नहीं सकता, मात्र अपना ही बुरा होता है।

अनेक मनुष्यों का तो ऐसा अभिप्राय ही होता है कि क्रोध करना ही चाहिए, घर में रोबदाब रखना ही चाहिए, स्त्री या लड़कों पर यदि सख्ती न रखें तो वे अपना कहना नहीं मानेंगे, इसलिए सख्ती रखना चाहिए—ऐसा माननेवाले के अभिप्राय में यह आया कि क्रोध ही मेरा कर्तव्य है, मैं भी जाने क्रोध ही हूँ, क्रोध और मैं दोनों एक हैं, ऐसी मान्यता होने से अज्ञानभाव से कर्म बँधते ही हैं। आत्मा और क्रोध—दोनों का अभान ही कर्म की उत्पत्ति का कारण है; क्रोध संसार की उत्पत्ति का कारण नहीं किन्तु क्रोधादि करना चाहिए ऐसा मिथ्या अभिप्राय अज्ञान ही उसका कारण है—ऐसा कहा है। ज्ञान होने के पश्चात् अल्प कषाय रहती है किनतु उसकी गिनती नहीं है, उससे भव नहीं बढ़ते; मिथ्यात्व टलने से अनन्त संसार दूर हो जाता है; पश्चात् अल्प कषाय रहती है उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके स्वरूप स्थिरता को बढ़ाकर एक-दो भव में मुक्ति प्राप्त करेगा।

प्रश्न:—आप कहते हैं कि—आत्मभान होने के पश्चात् अल्प कषाय होती है, और जिसे वैसा भान है, वह युद्ध भी करता है; तो फिर जिसे अल्प कषाय हो वह युद्ध में कैसे खड़ा रहेगा?

उत्तर:—आत्मा का भान होने के पश्चात् अल्प-कषाय रहती है; अल्प अर्थात्

किंचित् कषाय होती है, परन्तु बाहर से दूसरों को अधिक मालूम होती है; कारण कि युद्ध में होता है, भृकुटी चढ़ाकर दूसरों पर बाण छोड़ता दिखायी देता है, इसलिए बाहर से देखने में क्रोध तीव्र मालूम होता है, परन्तु अन्तरंग में अनन्त कषाय टल गया है। मैं नित्य अकषाय ज्ञाता हूँ, मैं सर्व रागादि से पृथक् हूँ, मेरा ज्ञायक स्वभाव सदा पर से पृथक् है—ऐसा नि:शंक भान प्रवर्तमान है, परन्तु अभी सम्पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है इससे अल्प कषाय है, अल्प कषाय है इससे गृहस्थाश्रम में है और युद्ध की क्रिया में लगा हुआ है। एक अज्ञानी युद्ध की क्रिया में हो और एक ज्ञानी युद्ध की क्रिया में हो, दोनों की बाह्य क्रिया समान दिखायी देती है परन्तु अन्तरंग भावों में अन्तर है, इसलिए फल में भी अन्तर होता है। जैसे बिल्ली अपने मुँह से चूहे को पकड़ती है और अपने बच्चों को भी पकड़ती है, तथापि पकड़-पकड़ में अन्तर है; बच्चों को रक्षा के भाव से पकड़ती है और चूहे को मारने के भाव से पकड़ती है, एक ही प्रकार की क्रिया होने पर भावों में अन्तर होता है; उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की बाहरी क्रिया समान होने पर भावों में अन्तर होता है।

तालाब के पानी का माप करना हो, और उसे बाहर खड़े रहकर मापे तो बाहर और अन्दर से समान माप मालूम देता है, परन्तु अन्दर पानी में लकड़ी डालकर माप करे तो पानी की गहराई का पता लगता है, माप आता है; वैसे ही ज्ञानी और अज्ञानी की बाह्यक्रिया पर से मापे तो समान दिखायी दें, परन्तु अन्तरंग की परीक्षा करे तो अन्तर भावों की खबर पड़े।

श्रीकृष्ण वासुदेव जब जरासंध से युद्ध करने गये तब नेमिनाथ भगवान को रथ में बैठाकर साथ ले गये। श्रीकृष्ण वासुदेव को युद्ध के समय भी आत्मा का भान प्रवर्तमान है, अनन्त भान प्रगट हुआ है, परन्तु राज्य का अल्प राग है इससे युद्ध में लगे हैं। जरासंध और श्रीकृष्ण वासुदेव के बीच घनघोर युद्ध हुआ, उसमें जरासंध की शक्ति बढ़ गयी इससे श्रीकृष्ण वासुदेव श्री नेमिनाथ भगवान से पूछते हैं कि—प्रभो! इस जरासंध का इतना अधिक बल क्यों? यह इतनी अधिक विद्याएँ चला रहा है, इससे यदि अपनी हार हो गयी तो? नेमिनाथ भगवान श्रीकृष्ण से कहते हैं कि—अरे वासुदेव! तुम चिन्ता मत करो, तुम वासुदेव पद पर हो तुम्हारी हार कभी न होगी, तुम्हें ही जीतना है। नेमिनाथ भगवान को अभी वीतरागपना, मुनिपना नहीं हुआ है इससे युद्ध में साथ गये हैं, परन्तु वह अल्प राग है, आत्मा का पृथक् अनन्त भान वर्त रहा है, अनन्त कषाय दूर हो गये हैं, अल्प राग ही

शेष रहा है, इससे नेमिनाथ भगवान भी युद्ध में गये हैं; अन्तर का माप बाह्य क्रिया से नहीं हो सकता।

ज्ञानी पर को अपना नहीं मानता; पर से लाभ-हानि नहीं मानता इससे अल्प कषाय है और अज्ञानी पर को अपना मानता है, पर द्वारा अपना भला बुरा मानता है, इससे अनन्त कषायवान है। तालाब की सपाटी ऊपर से समान दिखायी देती है परन्तु अन्दर से फेर है, उसी प्रकार अज्ञानी के भावों में अन्तर होता है।

शरीर की क्रिया अधिक हो तो अधिक कषाय और शारीरिक क्रिया न करता हो, सीधा सादा बैठा हो तो अल्प कषाय है—ऐसा नहीं समझना है; कषाय का माप बाहर से नहीं है, परन्तु अन्तर से कितना रस कम हो गया है, उस पर से कषाय का माप है। बिल्ली चुपचाप चूहे को पकड़ने के लिये बैठी हो या सो रही हो इससे अल्प कषाय है—ऐसा नहीं है परन्तु अन्तर की क्रूरता से कषाय का माप है बाह्यक्रिया से नहीं। ज्ञानी के युद्ध प्रसंग में शरीर की क्रिया अधिक होती है, इससे उसके अधिक कषाय है—ऐसा नहीं समझना और अज्ञानी चुपचाप ध्यान में बैठ गया हो इसलिए अल्प कषाय है—ऐसा भी नहीं समझना है। अज्ञानी को ऐसा भान नहीं है कि मैं क्रोध से भिन्न हूँ, किन्तु मैं क्रोधस्वरूप ही हूँ—ऐसा मानकर करने योग्य मानकर क्रोध करता है; इससे उसे रागादि में कर्ता बुद्धिवान को ज्ञाता स्वभाव की अरुचिरूप अनन्तानुबन्धी क्रोध होता है उसके भेदज्ञान नहीं रहता, अनन्त क्रोध होता है। मैं क्रोधस्वरूप ही हूँ—करना चाहिए, ऐसा मानकर क्रोध करता है, इससे क्रोध में ही अर्पित हो जाता है। आत्मा का अपार वीर्य और अपार ज्ञान है, वह सब विकार में ही जोड़ देता है, इससे अज्ञानी का क्रोध अनन्त है। ज्ञानी को ऐसा भान है कि मैं क्रोध से पृथक् हूँ, क्रोधादि मेरा स्वरूप नहीं है। अपने अपार स्वभाव के भान में पूर्ण स्वभाव की सीमा में रहते हुए विकार में कितना वीर्य युक्त होगा? अल्प ही होगा।

जैसे कुलीन पुत्र को ऐसा भान होता है कि मैं कौन हूँ? मैं कुलीन पुत्र! अमुक तो मुझे नहीं ही करना चाहिए, इस प्रकार अपनी कुलीनता को याद करके तीव्र कषायवाली अनीति में अर्पित नहीं होता। वैसे ही ज्ञानी को भान हुआ है कि मैं नित्य परमात्मस्वभाव से कुलीन हूँ; अनित्य पुण्यादि विकार मेरा स्वभाव नहीं है, विकार मेरी जाति नहीं है, इससे विकार में युक्त हो जाना मुझे शोभा नहीं देता, इस प्रकार अपनी कुलीनता को याद करके

पुरुषार्थ की मन्दता के कारण बाह्य से वह युद्ध की क्रिया में लगा हो तथापि अन्तर में कषाय की ओर अल्प वीर्य युक्त होता है। अज्ञानी को ऐसा भान नहीं है कि मैं निर्विकारी हूँ, इससे वह मानता है कि मैं ही विकारी हूँ, और इसी से अनन्त वीर्य विकार में युक्त होता है। यह तो एक क्रोध की बात है, उसी प्रकार मान, माया इत्यादि सभी में समझना चाहिए।

जमींदार को ऐसा मान होता है कि उसे दो नामों से ही बुलाना चाहिए तभी अच्छा रहे; जैसे कि—'कक्का जू' और 'राजा साहेब' इन दो नामों से बुलायें तभी खुश होते हैं। वे कहते हैं कि 'हम कौन हैं ? हम हैं जमींदार! इसलिए हमें इन दो नामों से ही पुकारना चाहिए।' एक जमींदार थे, वे पहले तो बहुत मालदार थे और फिर निर्धन हो गये, परन्तु मान और शान तो वैसे ही रहे, इससे जहाँ पर बैठने जायें, वहाँ गादी साथ में ही रखते थे; एक दिन किसी ने कहा क्यों नम्बरदार! यह गादी साथ में क्यों लिये फिरते हो ? इस पर वे बोले कि भाई! जमींदार मिट चुके हैं, इससे जहाँ जाते हैं यह गादी साथ रखते हैं और जब कोई बैठने के लिये आसन न डाले तो इस पर बैठते हैं; साधारण स्थिति हो गयी है इससे कोई अब आदर नहीं करता। जीव को ऐसा मान हो जाता है कि कोई आदर न करे तो स्वत: अपना आदर करता है; हम बड़े आदमी के लड़के हैं इत्यादि भाव आयें वह मान है। मान और आत्मा को एकरूप जाने, माने और उसमें एकरूप लीनता करे तो वह अज्ञान है, उससे कर्म बँधते हैं।

माया अर्थात् कपट। देखो न! इस समय व्यापार-धन्धे में कैसे धोखे प्रपंच चल रहे हैं; अच्छी वस्तु होगी तो उसमें कुछ मिलाकर देते हैं, घी में, डालडा मिलाते हैं, खोपरे का तेल मिलाते हैं, गजब की धोखेबाजी चल रही है; दूध में पानी मिलाते हैं, इत्यादि धोखे देनेवाले आत्मा को ठगनेवाले हैं। वे ऐसा मानते हैं कि हम दूसरों को ठगते हैं, किन्तु दूसरे कोई ठगे नहीं जाते, वास्तव में स्वत: ही ठगे जा रहे हैं।

वे मानते हैं कि हम धोखे-प्रपंच से पैसा कमा रहे हैं, यह मान्यता ही महामूढ़ता और अज्ञान से भरी हुई है। पैसा कमाने में तो पूर्व पुण्य का कारण है, और वर्तमान में जो धोखे-प्रपंच कर रहा है उसका फल भविष्य में मिलेगा। धोखे-प्रपंच करके वर्तमान में आकुलता और दु:ख का वेदन करता है और भविष्य में उनके फलस्वरूप दुर्गति में जायेगा; माया के भाव से भविष्य में भड़ाका होगा।

वह ऐसा मानता है कि हम कैसे दांव-पेंच खेलते हैं, कितने चतुर हैं! परन्तु भाई! यह चतुराई नहीं महामूढ़ता का सेवन है। ऐसा कपटी जीव कपट के भावों को और आत्मा को एकरूप मानता है, एकरूप जानता है और एकरूप लीनता करता है—वह संसार का कारण है।

लोभ अर्थात् परपदार्थों में आसक्ति, लक्ष्मी इत्यादि पर पदार्थों को एकत्रित करने की लालसा; लक्ष्मी को लोभ से इकट्ठा करे परन्तु किसी योग्य कार्य में उसका व्यय न करे वह लोभी है-कृपण है। दान का उपदेश चल रहा हो तो लोभी के मन में ऐसा विचार आता है कि क्या घर में कुछ भी न रखें! लड़कों के लिये कुछ न बचायें! सब दान में ही दे दें! वैसा बचाव करता है। ऐसा बचाव करनेवाले मात्र लोभ की मूर्ति हैं।

आचार्यदेव ने तो जहाँ दान के प्रकार का वर्णन किया है, वहाँ ऊँचे से ऊँचा दानी उसे कहा है जो अपनी सम्पत्ति का चौथा भाग दान में निकाले और छोटे से छोटा दानी उसे कहा है जो अपनी सम्पत्ति में से दसवाँ भाग तो दान में निकाले ही।

पद्मनन्दि आचार्य ने तो ऐसा कहा है कि जो सत्मार्ग में दान नहीं करते उनका गृहस्थाश्रम पत्थर की नाव के समान है, उस गृहस्थाश्रम को गहरे जल में प्रवेश करके अंजलि दे देना; फिर कहा है कि लोग अनाज पकाकर खाते हैं, उसका कुछ जला हुआ हिस्सा निकले वह कौवों को डालते हैं तो कौवा उसे अकेला नहीं खाता परन्तु काँव-काँव करके दूसरे कौवों को बुलाता है और सब एकत्रित होकर खाते हैं; और तुझे जो यह धन मिला है उसे तू अकेला ही खाता है, किंचित् भी सत्मार्ग में व्यय नहीं करता तो कौवे से भी नीचे जायेगा, इत्यादि।

पद्मनन्दि आचार्य ने दान के अधिकार में बहुत-बहुत कहकर अन्त में कहा है कि—जिस प्रकार भौंरा गुंजार करता हुआ चमेली के फूल पर बैठे तो वह फूल तुरन्त खिल जाता है, वैसे ही हमारा यह गुंजार करता हुआ दान का उपदेश सुनकर जिनके हृदय चमेली जैसे होंगे वे खिल उठेंगे। भौंरा गुंजार करता हुआ यदि पत्थर पर जा बैठे तो वह पत्थर खिले वैसा है? उसी प्रकार जो पत्थर जैसे होंगे वे हमारे उपदेश से नहीं खिलेंगे। चन्द्रमा की किरणों से कुमुद खिलते हैं परन्तु पत्थर नहीं खिलते, वैसे ही आचार्यदेव कहते हैं कि हमारे उपदेश से कुमुद खिलेंगे परन्तु पत्थर नहीं खिलेंगे। तीव्र लोभी लोभ को और आत्मा

को पृथक् नहीं करता, परन्तु लोभ और मैं—दोनों एक हैं, ऐसा मानता है, लोभ और मैं (आत्मा) दोनों एक हैं वैसा जानता है, और वैसी ही लीनता भी करता है; वह लोभ उसे संसार में परिभ्रमण करानेवाला है।

मोह अर्थात् मूर्च्छा; परवस्तु में आसक्त हो जाना वह। मोह है वह मैं हूँ, वैसा जानना, मानना और उसमें लीन हो जाना सो अज्ञान है। यहाँ ऐसा कहा है कि अज्ञान से ही कर्म बँधते हैं।

राग अर्थात् स्नेह; स्त्री-पुत्र, मकान, लक्ष्मी का राग, शरीरादि का राग-धर्म के नाम पर राग ऐसा अनेक प्रकार का राग है। राग और आत्मा को एकरूप मानना, जानना और उसमें लीन होना वह सब अज्ञान है।

द्वेष अर्थात् अरुचि; अल्प भी प्रतिकूलता दीखे; इच्छानुसार न हो तो बिगड़े, क्षण-क्षण में अरुचि हो जाये—वह सब द्वेषभाव है। जो द्वेष है सो मैं हूँ—ऐसा जानना मानना और उसमें लीन होना सो अज्ञानभाव है, वह संसार का कारण है।

कर्म कुछ मार्ग दें तो हम धर्म करें, गुण प्रगट करें—वैसा माननेवालों ने कर्म आत्मा को एक माना है, जो कर्म हैं, सो मैं हूँ—वैसा माना, जाना और उस प्रकार लीनता की सो अज्ञान है।

नोकर्म अर्थात् मकान, दास-दासी, स्त्री, कुटुम्ब, शरीर-मन-वाणी, प्रकाश, दूध-दही, घी, बादाम, पिस्ता, अच्छे द्रव्य-क्षेत्र-काल और हास्यादि के संयोग, इत्यादि बाह्य सामग्री वह सब नोकर्म है, उसे अपने ज्ञान सुख के कारण मानना, और उसे एकत्वबुद्धि से आत्मा के साथ जानना, मानना और उसमें लीन हो जाना सो अज्ञान है।

मन-वचन-काया, तीनों मैं हूँ—वैसा मानना सो अज्ञान है। शरीर अच्छा रहे तो धर्म करूँ, शरीर मेरा है, शरीर में रोग होने से मुझे रोग हो जाता है, इस प्रकार शरीर और आत्मा को एक मानना, जानना और उसमें लीन होना सो संसार है। वाणी है सो मैं हूँ, मुझे कितना अच्छा बोलना आता है, मेरा कण्ठ कितना सुन्दर है; इस प्रकार वाणी को और अपने को एकरूप मानना-जानना और उसमें लीन होना सो संसार है। जो मन है सो मैं हूँ, मन मेरा स्वरूप है, मन के बिना मैं रह नहीं सकता—इस प्रकार मन को और आत्मा को एकरूप मानना-जानना और लीन होना सो अज्ञान है और वह बन्ध का कारण है।

श्रोत्रेन्द्रिय को अपना माने वह अज्ञान है; श्रोत्र अर्थात् कान; मैं कान से ही सुन सकता हूँ, जान सकता हूँ—ऐसा जो मानता है उसके अभिप्राय में कान ही आत्मा है—ऐसा आ गया। कान में अपनापन माना, जाना और उसमें लीन हुआ वह अज्ञान है। इसी प्रकार आँख में अपनापन मानता है कि—मैं आँख के बिना देख नहीं सकता, समझ नहीं सकता—ऐसा मानता है, परन्तु आँख से भिन्न मेरा ज्ञानस्वरूप है, उसी से मैं जान सकता हूँ, समझ सकता हूँ; अपूर्ण ज्ञान में इन्द्रियों का मात्र निमित्त होता है, परन्तु मैं अपने ज्ञान द्वारा ही जान सकता हूँ; मैं इन्द्रियों से त्रिकाल भिन्न हूँ—ऐसा न माना और आँख एवं आत्मा का एकत्व माना, उस प्रकार जाना तथा उसमें लीन हुआ वह बन्ध का कारण है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरी आँख सूक्ष्म है, तेज है, सुन्दर है, मैं और आँख एक हूँ, मैं आँख से पृथक् नहीं हूँ किन्तु जो आँख है सो ही मैं हूँ, इत्यादि आँख के विषय में अपनत्व मानता है, वह अज्ञान है।

इसी प्रकार नाक के विषय में अपनापन मानता है, सभी मनुष्यों के शरीर का कोई भी आकार समान नहीं होता, वैसे ही नाक भी सबकी एक सी नहीं होती; किसी की लम्बी, किसी की छोटी और किसी की बैठी हुई आदि कितने ही प्रकार के नाक के आकार होते हैं, उसमें अज्ञानी को जिस प्रकार की आकृति मिली होती है, उस आकृति को अपनेपन की बुद्धि द्वारा जानता है और लीन होता है, वह संसार है, बन्ध का कारण है।

इसी प्रकार जिह्वा में अपनापन मानता है; मैं जीभ से ही स्वाद ले सकता हूँ, जीभ से ही मीठे, खट्टे, चरपरे आदि रसों का ज्ञान कर सकता हूँ, यदि जीभ न होती तो मैं इन रसों को कैसे जानता? ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। मैं रसों को जानता तो हूँ अपने ज्ञान से ही, परन्तु अल्प विकास के कारण बीच में जीभ का निमित्त आता है—ऐसा न जानने से, मैं जीभ द्वारा ही जान सकता हूँ—इस प्रकार जीभ को अपना माना, जाना और उसमें लीन हुआ वह अज्ञानी है।

शरीर ठण्डा हो जाये तो मैं ठण्डा पड़ गया हूँ, शरीर गर्म हो जाये तो मैं गर्म हो गया हूँ—ऐसा मानता है; शरीर मोटा हो जाये तो मैं मोटा हो गया हूँ, और पतला हो जाये तो मैं पतला हो गया हूँ, मैं स्त्री-पुरुष, जवान-वृद्ध, काला-गोरा, बलवान-निर्बल ऐसा मानता है, उसने शरीर को ही आत्मा माना है, जाना है और उसमें लीन हुआ है, वह अज्ञान है।

इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषय ज्ञेयमात्र हैं वैसा न मानकर इष्ट-अनिष्ट मानना और उसी में एकत्व माननेवाला अज्ञानी है; ज्ञानी अपना स्वरूप पाँचों इन्द्रियों से पृथक् ज्ञातामात्र जानते हैं।

आत्मा की वर्तमान अनित्य पर्याय में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति यह तीन प्रकार का विकार है; आत्मद्रव्य तो त्रिकाल अविनाशी है, विकार की पर्याय तो उत्पन्नध्वंसी है, नाशवान है, परन्तु अज्ञानी उसे अपना मानकर उसका कर्ता होता है। अज्ञानी को पर से भिन्नत्व का विवेक नहीं है, पर को एकरूप मानता है, वही बन्धन का कारण है ॥९४॥

अब इसी बात को विशेष कहते हैं:—

तिविहो एसुवओगो अप्प-वियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्त-भावस्स।।९५।।

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्म-भावस्य।।९५।।

अर्थ:—तीन प्रकार का यह उपयोग 'मैं धर्मास्तिकाय आदि हूँ' ऐसा अपना विकल्प करता है; इससे आत्मा उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

जीव मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इस तीन प्रकार के परिणाम विकार द्वारा अपना ऐसा विकल्प करता है कि मैं धर्मास्तिकाय हूँ, मैं अधर्मास्तिकाय हूँ, मैं आकाशास्तिकाय हूँ इससे धर्मास्तिकाय आदि को भी अपना मानता है और उस भाव का कर्ता होता है।

वास्तव में यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष रति से (-लीनता से) स्व-पर के समस्त भेद को गौण करके ज्ञेयज्ञायक भाव को प्राप्त—ऐसे चेतन और अचेतन का सामान्य एक आधाररूप अनुभवन करने से, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ'—ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है।

संक्षेप से जीव के तीन प्रकार के परिणाम हैं; विपरीत ज्ञान विपरीत मान्यता और विपरीत स्थिरता। पर को और अपने को एकरूप माने वह विपरीत मान्यता है, पर को और

अपने को एकरूप जाने वह विपरीत ज्ञान है, पर में एकरूप लीन हो वह विपरीत स्थिरता है। इस प्रकार स्व और पर के समस्त भेदों को ढँक देता है। चैतन्य का पर के साथ मात्र ज्ञेयज्ञायक का सम्बन्ध है, परन्तु अज्ञानी चेतन और अचेतन का एक आधार मानने से, एकरूप अनुभव करने से ज्ञेय वह मैं हूँ—इस प्रकार परज्ञेय को अपना करता है; मैं धर्मास्तिकाय हूँ, मैं अधर्मास्तिकाय हूँ, इत्यादि विकल्पों को अपना करता है। परम उदासीन ज्ञाता स्वभाव को भूल जाता है, इसलिए विकल्पों को अपना करता है इससे परद्रव्य को भी अपना करता है। अन्य जीव को भी अपना मानता है, पुद्‌गल को भी अपना मानता है, गाँव, नगर, देश, देव, गुरु, शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, शरीरादि को अपना मानता है; वे तो सब परवस्तुएँ हैं, आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय हैं, तथापि अज्ञानी मानता है कि स्त्री, कुटुम्ब, लड़का, भाई, बहिन-आदि और हम सब एक हैं।

स्त्री है वह तो अर्द्धांगिनी है, इससे हम दोनों एक हैं—वैसी मान्यता अज्ञान है। भाई स्त्री का आत्मा भिन्न है, और तेरा आत्मा पृथक् है, स्त्री का शरीर पृथक् है और तेरा शरीर पृथक् है, दोनों द्रव्य बिल्कुल भिन्न हैं; स्त्री कहाँ से आयी और कहाँ जायेगी और तू कहाँ से आया कहाँ जायेगा, दोनों का कहीं भी मेल नहीं है, तू मोह का मारा एकत्व मानकर अज्ञानता का सेवन कर रहा है।

कितने ही कहते हैं कि—हम पिता-पुत्र दोनों एक हैं, वैसा माननेवाला पर आत्मा को और अपने आत्मा को—दोनों को एक मानता है। अरे भाई! सभी द्रव्य पृथक् हैं, कोई द्रव्य एक हो ही नहीं सकते, तूने भ्रान्तिवश एकता मान रखी है, वह संसार में परिभ्रमण करने का कारण है, परवस्तु जानने योग्य-ज्ञेय है, और तू ज्ञाता है, परन्तु भ्रान्तिवश अज्ञानी ज्ञेय और ज्ञान को एक मानता है। मेरा आत्मा और पर का आत्मा—हम दोनों एक ही वृक्ष की शाखा हैं—ऐसी मान्यता बिल्कुल अज्ञान है; पुद्‌गलद्रव्य और आत्मा दोनों का आधार पृथक्-पृथक् है—ऐसा न मानकर, दोनों का आधार एक है—वैसा मानता है, वह अज्ञानता है।

धर्मास्तिकाय तो गति में निमित्तमात्र है, वहाँ अज्ञानी मानता है कि धर्मास्तिकाय और मैं—दोनों एक हैं। जो ज्ञेय और ज्ञान को भिन्न नहीं कर सकता वह धर्मास्ति, अधर्मास्ति आकाशास्ति इत्यादि समस्त ज्ञेयों को एक मान रहा है। धर्मास्तिकाय आदि का

जो विकल्प आये उससे अपने को पृथक् नहीं जानता, इसलिए धर्मास्तिकाय को ही अपना मानता है।

कितने ही कहते हैं कि हम धर्मास्तिकाय को जानते ही नहीं, और देखते भी नहीं हैं, इसलिए उसे हम अपनेरूप नहीं मानते। परन्तु शास्त्र में से धर्मास्तिकाय का नाम जो सुना है! इससे धर्मास्तिकाय का विकल्प आता है और उस विकल्प से अपने को भिन्न ज्ञाता-साक्षीरूप नहीं जानता, विकल्प और मैं दोनों एक हैं—ऐसा मानता है, इससे धर्मास्तिकाय भी मैं हूँ—ऐसा मानता है। गति में, स्थिति में, अवकाश में, परिणमन में वे अन्य द्रव्य निमित्तमात्र हैं—ऐसा जो नहीं मानता वह धर्मास्तिकाय आदि सभी द्रव्यरूप मैं ही हूँ—ऐसा मान ही रहा है।

शरीरादि को अपना मानकर जड़ को अपना मानता है, स्त्री, कुटुम्ब को अपना मानकर अन्य जीवद्रव्य को अपना माना, स्वत: बीमार हो और स्त्री-पुत्रादि भलीभाँति सेवा करें तो ऐसा मानता है कि तुम सबने मेरी अच्छी सेवा सुश्रुषा की इससे ही मैं जल्दी अच्छा हो गया, ऐसा माननेवाले का अभिप्राय ऐसा अज्ञानमय हुआ कि परजीव और मैं दोनों एक ही हैं। अरे! अन्य जीव को अपनेरूप मानने में तो देव-गुरु सभी आ जाते हैं। देव, गुरु मेरे आत्मा के आधार हैं, मेरा आत्मा देव, गुरु में से उत्पन्न हुआ है, इसलिए देव, गुरु मेरे आत्मा के आधार हैं (आत्मा की स्वभावपर्याय प्रगट हो तब देव, गुरु का निमित्त होता है परन्तु देव-गुरु और शास्त्र अपनी स्वभावपर्याय को प्रगट नहीं कर देते) देव, गुरु मेरे आत्मा की स्वभाव पर्याय प्रगट कर देते हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है।

एक रजकण से लेकर त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर—वे सब और मैं एक ही हैं, ऐसा मानना, जानना और उसमें लीन होना सो अज्ञान है। दूसरा मुझे लाभ-हानि करता है, वैसा अभिप्राय कब आता है? कि पर और मैं—दोनों एक हैं, ऐसा माने बिना वह अभिप्राय आता ही नहीं। स्व-पर की एकतारूप विपरीत अभिप्राय के द्वारा स्व-पर को पृथक् करने का विवेक ढँक जाता है।

किसी की कृपा से मोक्ष होता है और किसी के शाप से नरक-निगोद में जाते हैं—वैसा माननेवाला पर को अपना मानता है, वह स्व-पर की एकतारूप मान्यता स्व-पर के विवेक को ढँक देती है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—वह सर्व

पदार्थ मैं हूँ, ऐसी भ्राँति के कारण जो सोपाधिक-उपाधियुक्त है—ऐसा चैतन्य परिणामों रूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उन सोपाधिक चैतन्य परिणामरूप, विपरीत भाव का कर्ता होता है। यह ज्ञेय और मैं—दोनों एक हैं, ऐसा भ्राँति के कारण मानता है। ज्ञेयज्ञायक भाव को पृथक् न रखकर एक करता है। राग-द्वेष चैतन्य के साथ निकट क्षेत्र में हैं, उन्हें अपना मानना सो सविकार परिणाम हैं—वैसा कहा था, और दूसरे ज्ञेय हैं, वे दूर हैं, इसलिए उन्हें अपना मानना वह सोपाधिक परिणाम है, उस सोपाधिक परिणाम का चैतन्य स्वत: कर्ता होता है।

चैतन्य अज्ञान भाव से अन्य जीव को अपना मानता है, उस अन्य जीव में कौन बाकी रहा ? त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव भी बाकी नहीं रहे; एक ओर स्वत: चैतन्य और एक ओर समस्त ज्ञेय आ गये; एक ओर राम और एक ओर सारा गाँव आ गया, दिव्यध्वनि और शास्त्र भी बाकी न रहे। अज्ञानी, अज्ञान से दिव्यध्वनि को तथा शास्त्रों को-सभी को अपनेरूप मानता है। अपने आत्मा को, तीर्थंकरदेव को और दिव्यध्वनि को किसी को पृथक् नहीं मानता, सबको एकमेक मानता है। जिसने एक पदार्थ को अपनेरूप माना उसने सर्व पदार्थों को ही अपनेरूप माना है।

मैं अन्य निमित्त के बिना ही गति कर सकता हूँ—ऐसा जो मानता है वह अपने को धर्मद्रव्यरूप ही मानता है। कितने ही कहते हैं कि हम धर्मास्तिकाय को नहीं देखते हैं, परन्तु भाई! शरीर की गति होती है, उसमें धर्मास्तिकाय का निमित्त है। जो शरीर की गति को अपना मानता वह उसके निमित्त को भी अपना मानता है, अर्थात् धर्मास्तिकाय को भी अपना मानता है। मैं अन्य निमित्त के बिना ही स्थिर रहता हूँ—ऐसा जो मानता है वह अधर्मास्तिकाय को अपना मानता है। शरीर स्थिर रहता है उसकी स्थिररूप अवस्था में अधर्मास्तिकाय निमित्त है; शरीर की स्थिररूप अवस्था को जो अपना मानता है, वह उसके निमित्त को भी अपना मानता है अर्थात् अधर्मास्तिकाय को भी अपना मानता है। आकाशास्ति अवगाहन देने में निमित्त है, उसे न मानकर, यह मेरी जगह है—ऐसा ममत्व करता है; उस जगहरूप अपने को मानता है अर्थात् आकाश को भिन्न स्वीकार न करके मैं स्वत: ही आकाश हूँ—ऐसा मानता है। निमित्त के कार्य मैं कर सकता हूँ, ऐसा जो मानता है, वह निमित्त को भी अपना मानता है।

उसी प्रकार कालद्रव्य को भी अपना मानता है; काल नामक पदार्थ स्वतन्त्र-भिन्न है, उसे स्वीकार न करके दिवाली के दिन अच्छे हैं; लग्न के दिन अच्छे हैं, वे मुझे सुखकर हैं—ऐसा जो काल में ममत्व करता है वह कालद्रव्य को अपना मानता है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में कालद्रव्य का निमित्त है, उसे स्वीकार न करके काल का ममत्व करता है, वह कालद्रव्य को अपना मानता है। मैं अपने से ही परिणमता हूँ, उसमें कालद्रव्य का निमित्त है—ऐसा जो नहीं मानता वह कालद्रव्य का ममत्व करता है, और कालद्रव्य तथा अपने को एकरूप मानता है।

पौद्गलिक पदार्थों की क्रिया को मैं ही करता हूँ—ऐसा जो मानता है वह अपने को पुद्गलद्रव्यरूप मानता है। वाणी की क्रिया, शरीर की क्रिया, कपड़े आदि बराबर रखने की क्रिया वह सब क्रिया मैं ही करता हूँ और करा सकता हूँ—ऐसा जो मानता है, वह पुद्गल द्रव्य को अपना ही मानता है।

कोई भी जीव पर का भला-बुरा कर ही नहीं सकता है, किन्तु वैसी इच्छा युक्त पुण्य-पाप के भाव कर सकता हैं। ऐसा न मानकर अन्य जीवों का हिताहित मैं ही करता हूँ—ऐसा जो मानता है वह अपने को अन्य जीवरूप मानता है, पर मेरा भला करे और मैं पर का हित करूँ; पर मेरा बुरा करे और मैं पर का बिगाड़ूँ—ऐसा जो मानता है वह अन्य जीव को अपना मानता है। पर मुझे लाभ-हानि करता है और मैं पर को लाभ-हानि करता हूँ—ऐसा जिसने माना है उसने स्वत: को और अन्य जीवों को एकमेक माना है। अन्य जीवों को अपने से पृथक् नहीं माना वही अज्ञान है।

जीव अपने ज्ञातापन को भूलकर पर का कुछ करूँ ऐसी इच्छा करता है लेकिन दूसरों का कुछ भी करने में कोई समर्थ नहीं है, दूसरे अपना भला नहीं कर सकते; कोई किसी का तीन काल में कुछ भी करने में समर्थ नहीं है; एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी करे तो दो तत्त्व एक हो जायें परन्तु वैसा तो कभी बनता ही नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न, स्वत: अपने में स्वतन्त्र है। किसी का उपकार कोई कर ही नहीं सकता, जब किसी जीव का हित होता है, तब सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त होता है, इससे घी का घड़ा कहने समान उपचार से ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने उपकार किया है। जो निमित्त को और अपने को भिन्न नहीं मानता वह एकमेक मानता है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलादि के विकल्प के समय स्वत: शुद्ध चैतन्यमात्र होने का भान न रखने से जो धर्मादि के विकल्प में एकाकार हो जाता है, वह अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है।

यहाँ कर्ताकर्म का अधिकार चल रहा है। आत्मा का स्वभाव निर्मल ज्ञानघन है, आत्मा की पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं, वह विकार है। विकार अपना स्वभाव नहीं है; विकार में युक्त न होकर स्वरूप में जागृत-सावधान होना वह धर्मात्मा का कर्तव्य है। परद्रव्य से, और सर्व विकल्प रागादि से, कर्तृत्व से, अपना स्वरूप पृथक् माने वह धर्मी का लक्षण है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य मुझे सहायक हैं—ऐसा मानना मिथ्यात्व है। जो पर है सो मैं हूँ—ऐसी एकत्वबुद्धि हुए बिना ऐसा भाव ही नहीं उठता कि पर मुझे सहायता करता है। उपचार मात्र से सहायक बोला जाता लेकिन बनता नहीं है। परद्रव्य पर और संयोगी भाव पर दृष्टि रखना सो धर्मात्मा की दृष्टि नहीं है, परन्तु आत्मा के निर्मल स्वभाव पर दृष्टि रखना सो धर्मी की दृष्टि है।

धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-आकाशास्तिकाय-परमाणु—असंख्य कालाणु और अन्य आत्मा—उन सभी के विकल्प में लीन हो जाये, मैं ज्ञानस्वरूप पृथक् हूँ—ऐसा भान न रखे और परद्रव्य से अपने में विपरीतता मानकर परद्रव्य-परक्षेत्र परकालादि से जो राग होता है, वही मैं हूँ—ऐसा माने वह अन्य द्रव्यों को अपनेरूप मानता है और अपने को अन्य द्रव्यरूप मानता है। सविकल्प ज्ञान में जो द्रव्य का विषय हुआ उस विकल्प में इच्छा में अपने को भूलकर एकाकार हुआ है—वही धर्मास्तिकायादि को अपनेरूप मानता है। आत्मा का निर्मल स्वभाव पर से भिन्न है, निर्विकल्प ज्ञाता दृष्टा शान्तरस है, उसे भूलकर विपरीत पुरुषार्थ के कारण जो परद्रव्य का शुभ या अशुभ जो-जो विकल्प आता है, उस-उस विकल्प को जो अपनेरूप मानता है, वह परद्रव्य को अपनेरूप मानता है।

स्त्री, कुटुम्ब का राग आये अथवा तीर्थंकरदेव का राग आये, परन्तु उस समय जो अपने आत्मा का पृथक् भान न रखे और राग को ही अपना माने उस राग को भला माने वह अपने को अन्य आत्मारूप मानता है, रागी ही मानता है। ९४वीं गाथा में ऐसा कहा था कि भावक अर्थात् मोहकर्म की प्रकृति और भाव्य अर्थात् पुण्य-पापादि के परिणाम; उन सबसे

आत्मा भिन्न है; और इस ९५वीं गाथा में ऐसा कहा कि सर्व परद्रव्यों से आत्मा भिन्न है।

दूसरे आत्मा का हित या अहित करने का विकल्प आया, उसमें कोई भी पर अवलम्बन लक्ष्य में लेकर विकल्प आता है, उस वर्तमान अवस्था में सम्पूर्ण द्रव्य रुक जाता है, अखण्ड वस्तु का पृथक् भान नहीं रहा, इससे विकारी अवस्था को अपनेरूप किया और अन्य आत्मा के हिताहित को तथा अन्य आत्मा को भी अपनेरूप किया और स्वत: उसरूप हुआ; अन्य आत्मा का हिताहित मैं करता हूँ अर्थात् मैं उसरूप हो जाता हूँ—ऐसी मान्यता की; इस प्रकार मोहवश होकर परद्रव्य को अपनेरूप करता है।

आत्मा त्रैकालिक अनन्त आनन्द से परिपूर्ण है, उसमें अपनी भूल से वर्तमान अवस्था में जो पुण्य-पाप का विकार होता है, पर के कारण रागादि नहीं हो सकते हैं लेकिन उसी विकार में जो रुक जाता है, विकार ही मैं हूँ, विकार मेरा कर्तव्य है—ऐसा मानता है वह परद्रव्य को अपनेरूप करता है। धर्मास्तिकायादि परद्रव्यों का विचार, मैं अपने स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता इसलिए आता है—ऐसा भान न रहने से मैं उससे पृथक् हूँ यह भी भान न रहने से, जो विचार आता है जिस विषय का राग आया उसी में रुक जाता है, वर्तमान अंश में ही रुक जाता है और त्रैकालिक ज्ञाता अपने को भूलकर वर्तमान अनित्य अवस्था में ही रुक जाता है, वह परद्रव्य को अपनेरूप करता है।

जिस प्रकार नट नाचते-नाचते डोरी से गिरता नहीं है, वैसे ही मैं नित्य एक ज्ञायक आत्मा हूँ, ज्ञान और ज्ञान में जागृति करनेवाला हूँ ये निश्चयरूप डोरी चूक गया तो फिर चाहे वह तीर्थंकरदेव के पास बैठा हो, व्रत में अथवा पूजा में बैठा हो, चाहे जिस शुभ क्रिया में बैठा हो, परन्तु वह परद्रव्य को अपनेरूप करता ही है, इससे उसके चौरासी का अन्त आये वैसा नहीं है।

अज्ञान से वह विकार का कर्ता होता है और विकार उसका कार्य होता है। देव, गुरु, शास्त्र की ओर के शुपरिणाम में हो, शास्त्र श्रवण में बैठा हो परन्तु मात्र शब्दों के ऊपर लक्ष्य हो तो—मात्र शब्दों में ही एकाकार हो तो—शुभपरिणाम में ही एकाकार हो तो, उसे पृथक् ज्ञायक आत्मा का भान नहीं है, इससे वह परद्रव्य का कर्ता है और उसके कारण परिभ्रमण का अभाव नहीं हो सकता। ज्ञानी के ज्ञायक आत्मा का भान प्रवर्तमान है, शुभाशुभ परिणामों से पृथक्त्व का विवेक वर्त रहा है कैसा भी राग हो वह बाधक है, दोष है ऐसा

जानता है। ऐसी दशा में भी शुभपरिणाम आते अवश्य हैं, परन्तु उन शुभपरिणामों से तो ज्ञानी का संसार नहीं बढ़ता और अशुभ परिणामों से भी संसार की वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उसको शुभाशुभ परिणामों में से एकत्वबुद्धि दूर हो गयी है, इससे संसार भी टल गया है।

कोई ऐसा कहे कि ऐसे पंचम काल में पुरुषार्थ कैसे हो ? परन्तु जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है, वह काल का बहाना बताता है। स्वत: पुरुषार्थ करे तो काल कहीं आड़े नहीं आता, अपने पुरुषार्थ की मंदता से पंचम काल में जन्म हुआ है, उसमें कहीं काल का कारण नहीं हैं, वहाँ भी तेरा अपना ही कारण है। अपना माहात्म्य नहीं आता इससे किसी पर काल की लब्धि वगैरह नाम लेकर दूसरों के बहाने निकालता है। अपने स्वभाव का माहात्म्य आये तो राग-द्वेष भी घटता है। मैं राग-द्वेष का दूर करनेवाला कैसा और कितना हूँ—इसका महात्म्य आये बिना यथार्थतया राग-द्वेष कम नहीं होता, तो फिर दूर कहाँ से होगा ? स्वरूप के भान बिना कदाचित् कषाय को मन्द करे तो पुण्यबंध हो, स्वर्ग में चला जाये परन्तु भव का अन्त नहीं होता।

चैतन्य वीतरागस्वभावी, राग-द्वेषरहित स्वतत्त्व कैसा है—इसका भान और एकाग्रता के आश्रय के बिना वास्तव में राग-द्वेष दूर किये ही नहीं जा सकते।

अपने को भूलकर अनन्त काल तक राग-द्वेष किये, फिर जागृत हुआ इससे कहता है कि अब मुझे राग-द्वेष उत्पन्न न हो इस प्रकार ज्ञाता रहना है, अब मुझे अज्ञानमय कर्तापन की बुद्धि और राग-द्वेष की आवश्यकता नहीं है। अनन्त काल तक तो राग-द्वेष अज्ञान किये और अब, क्षण भर में कहता है कि मुझे राग-द्वेष ममत्व नहीं चाहिए—ऐसा नित्य शुद्ध ज्ञाता स्वरूप का भान करनेवाला कितना महान होगा ? उसका माहात्म्य कैसा होगा ? ऐसे अचिंत्य महिमावन्त भगवान आत्मस्वभाव के भान बिना, उसके माहात्म्य बिना, दृष्टि बिना कषाय दूर नहीं होती।

वीतरागी स्वभाव के आश्रय बिना वास्तव में कषाय दूर होती ही नहीं। आत्मस्वभाव के आश्रय बिना—नित्य ज्ञायक के अस्ति के आश्रय बिना कषाय की नास्ति नहीं होती। आत्मा के भान बिना कषाय मन्द करे तो मिथ्यात्व कर्म के पाप सहित पुण्य का बन्ध हो और स्वर्ग की प्राप्ति हो, परन्तु आत्मा का भान नहीं किया इससे पापानुबन्धी पुण्यवाला भी परम्परा से निगोद में चला जायेगा। निगोद की गति और मोक्ष की गति एक-दूसरे से

विरुद्ध है—तत्त्वदृष्टि का विराधक निगोद में जाता है और तत्त्वदृष्टि का आराधक मोक्ष प्राप्त करता है।

विकार का नाशक नवीन नहीं होता, परन्तु स्वत:सिद्ध अनादि-अनन्त है। विकार का नाश करनेवाला अभी तक रहा कहाँ? किस प्रकार रहा? उसके भान बिना बन्धन से मुक्त नहीं होता, कर्ता-कर्मपना नहीं मिटता। जैसे राग-द्वेष हुए उतना ही अपने को माना, तो फिर राग-द्वेष दूर कहाँ से हों? राग-द्वेष का नाश करनेवाला मात्र शुद्ध-पवित्र अनन्त वीर्ययुक्त आत्मा कितना है? कहाँ है? कैसा है? इसके भान बिना कषाय दूर नहीं होती; कदाचित् वर्तमान काल पर्यन्त कषाय मन्द होती दिखायी दे परन्तु फिर वैसी की वैसी तीव्र कषाय होती है।

शरीर, मन, वाणी तो आत्मा में नहीं हैं, परन्तु पुण्य-पाप के परिणाम भी आत्मा में नहीं हैं। पर में एकाग्र कब होता है जब ऐसी मान्यता हो कि पर मुझे लाभ-हानि करता है, सहायता करता है; और ऐसी मान्यता कब होती है कि जब यह माने कि पर और मैं एक हूँ। दो द्रव्यों को एक माने बिना भाव ही नहीं आता कि मैं पर को लाभ-हानि कर सकता हूँ। पर में देव-गुरु-शास्त्र सभी आ गये। अज्ञान के कारण विपरीत भावों में कर्ताकर्मपना है, अज्ञान ही कर्म बन्धन को उत्पन्न करने का कारण है, अज्ञानरूप चैतन्य परिणाम अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है, इससे वह अज्ञानरूप उपाधिपरिणाम का कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है॥९५॥

'इससे कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ'—ऐसा अब कहते हैं:—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाण-भावेण।।९६।।

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मन्दबुद्धिस्तु।
आत्मान-मपि च परं करोति अज्ञान-भावेन।।९६।।

अर्थ:—इस प्रकार मन्दबुद्धि अर्थात् अज्ञानी, अज्ञानभाव से परद्रव्यों को अपनेरूप करता है और स्वत: को पर करता है।

आत्मा तो निर्विकल्प वीतरागस्वरूप है, इससे जो अनभिज्ञ है, वह मन्दबुद्धि है—

अज्ञानी है; फिर चाहे वह भले ही धाराशास्त्री हो बड़ा प्रधान हो या धर्म शास्त्र का पाठी हो परन्तु जिनको आत्माका भान नहीं है, उन सबका समावेश मन्दबुद्धि में हो गया।

अज्ञानी जीव पर को अपना मानता है और अपने को पर मानता है, पर में लीन होता है और पर को अपना बनाने का प्रयास करता है, परन्तु वह कभी अपना नहीं होता।

इस प्रकार अज्ञानी आत्मा 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि की भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादि की भाँति परद्रव्य को अपनेरूप करता है और अपने को भी परद्रव्यरूप करता है।

आत्मा क्रोधादि विकार से रहित है, पराश्रयरहित है, परन्तु अज्ञानी उसे विकार सहित और पराश्रययुक्त मानता है—इस प्रकार वह पर को अपनेरूप मानता है। मैं पुण्यपरिणामों से निभ रहा हूँ, मेरा पुण्यपरिणाम के बिना नहीं चल सकता—इस प्रकार अपने निर्विकल्प स्वभाव को भूलकर जिसने अपने को विकार परिणामों जितना ही माना है, उसने अपने को पररूप किया है और पर को अपनेरूप किया है।

छूप-छाँह की खबर पड़ती है, ठण्ड-गर्मी की खबर पड़ती है, भूख लगी है इसलिए खा लूँ, यह वस्तु मुझे अनुकूल या प्रतिकूल है—इस प्रकार समस्त पर की खबर पड़ती है, परन्तु मैं त्रिकाली अखण्ड पूर्णस्वरूप से कौन हूँ, उसकी खबर नहीं होती; स्वत: अनन्त गुणस्वरूप आत्मा है—ऐसे अपने स्वरूप का माहात्म्य नहीं, परन्तु पर का ही माहात्म्य आता है, अभानपने में पर की ही महिमा आती है। अज्ञान के कारण जिस प्रकार अज्ञानी विकारी परिणामों को अपना करता है, उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य और अन्य जीवद्रव्य को भी अपना करता है।

पर के ऊपर दृष्टि होने से—मैं अन्य जीव का हिताहित कर सकता हूँ, पर को मैं तार सकता हूँ, ऐसा वह मानता है और इससे वह अपने को उस प्रकार का राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम जितना ही मानता है। भले ही वह अपने को इतना बड़ा माने परन्तु स्वत: इतना बड़ा नहीं है, किसी का कुछ करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा समस्त परवस्तुओं के सम्बन्ध से रहित है ऐसा वस्तु का स्वभाव है—धर्मादिक द्रव्य भी आत्मा में नहीं हैं, पुण्य-पाप के परिणाम भी आत्मा में नहीं हैं, उन्हें भी परवस्तु कहा है; उन सबको अज्ञानी जीव अपना मानता है। भगवान आत्मा तो समस्त परवस्तुओं के सम्बनध से रहित अपार-अमर्यादित स्वभाववाला है, परन्तु अज्ञानी को भान नहीं है, इससे परद्रव्यों को

अपनेरूप करता है और अपने को भी परद्रव्यरूप करता है। पर से आधार आधेय मानकर परवस्तु के कारण अपने में परिवर्तन होना मानता है और अपने कारण से पर का कार्य मानता है।

इस प्रकार स्व-पर का अज्ञान के कारण ही सविकार और सोपाधिक किये हुए चैतन्य परिणाम द्वारा उस प्रकार के अपने भावों का कर्ता प्रतिभासित होता है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य ऐसे अनन्त-अनन्त सामर्थ्य से भरपूर वर्तमान में ही है। समय-समय त्रिकाली होकर आत्मा अनन्त है—ऐसी अनन्तता नहीं है परन्तु वर्तमान प्रत्येक समय में ही अविनाशी अनन्त सामर्थ्यवाले परिपूर्ण भाव से भरा हुआ है, इससे अनन्त है—ऐसा आत्मा का नित्य अपार-स्वभाव है।

वर्तमान अनित्य पर्याय में क्रोध, मान, माया और लोभ के जो परिणाम होते हैं, उनकी सीमा में तू आ जाये—इतना तू नहीं है, तू तो अपार है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय इत्यादि द्रव्यों का अवलम्बन ले—उतना तू नहीं है परन्तु तू उन सबसे रहित अपार-अमर्यादित ज्ञानानन्द स्वभाववाला है, उन सब द्रव्यों की तुझमें नास्ति है।

आत्मा शुद्ध चैतन्य धातुमय है; जो आत्मा के अनन्त-अपार पूर्ण-स्वभाव को धारण कर रखे वह नित्य चैतन्य धातु आत्मा अपार स्वभाववाला है, पर का अवलम्बन लेकर पर की ओर रुके वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा स्वत: अपने को जानता है और अपने से पृथक् सर्व परद्रव्यों को भी जानता है—ऐसा अपार स्वभाव आत्मा का वर्तमान में ही है, उतना अपार-सर्वज्ञ आत्मा को न माने परन्तु क्रोध, मानादि विकार जितना ही माने वह संसार का कारण है। यह गाथा बहुत उच्च है। आत्मा के अपार स्वभाव की प्रतीति-विश्वास महिमा लाओ, ऐसा कहती है।

आत्मा के ज्ञान-श्रद्धा-शान्ति-वीर्य इत्यादि स्वभाव का सामर्थ्य अमाप है, अपार है, त्रिकाल स्वाधीन है। आत्मा अपने असली स्वभाव से च्युत होकर किसी एक समय मात्र भी विकारमय नहीं हुआ, तथापि अज्ञान के कारण अपने को सविकार और सोपाधिक मानता है। स्वभाव के सामर्थ्य का भान न होने से वर्तमान विकार जितना ही अपने को मानता है अर्थात् अपने को सविकार मानता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ को अपना मानना सो सविकार परिणाम है और छह द्रव्यों

को अपना मानना वह सोपाधिक चैतन्यपरिणाम है, वे विकारी परिणाम चैतन्य में हुए, इसलिए उन परिणामोंवाला होता हुआ, उस प्रकार मैं होनेवाला हूँ—वैसा उसे भासित होता है, परन्तु पर को अपना मानने में मूलकारण अज्ञान है।

अज्ञानी विकारी परिणामों में एकमेक होकर ऐसा मान लेता है कि वे मेरे हैं, परन्तु ज्ञानी वैसा नहीं मानते; ज्ञानी को विकार का भय नहीं लगता कारण कि उसने नित्य अविकार स्वभाव में से निःशंक साधकदशा प्रगट की है इससे पूर्ण वीतरागता कैसे प्रगट की जा सकेगी—ऐसा उसे संशय-भय नहीं लगता; ज्ञानी ने अमुक अंश में वीतराग स्वभाव की जाति प्रगट की है, इससे वह पूर्ण वीतरागता प्रगट करते हुए भयभीत नहीं होता।

श्रीमद् राजचन्द्र ने उदाहरण दिया है कि सिंहनी को सिंह का भय नहीं होता, नागिन को नाग का भय नहीं होता, कारण कि उस प्रकार का अज्ञानभाव उसके दूर हो गया होता है। मुझे यह दुःख देगा, उस प्रकार का अज्ञानभाव उसके टल गया है; यह मुझे दुःख नहीं देगा परन्तु मेरी रक्षा करेगा—वैसी उसे समझ है, इससे सिंहनी को सिंह का और नागिन को नाग का भय नहीं लगता। वस्तु भय नहीं कराती परन्तु अज्ञान भय का कारण है। मनुष्यों को सिंह का भय लगता है, वह सिंह के कारण नहीं लगता परन्तु अपने अज्ञान के कारण लगता है। सिंह के कारण यदि भय होता हो तो सिंहनी को भी भय होना चाहिए।

कोई पुरुष किसी का खून करके आये, अथवा चोरी करके धन लाये तो उसकी स्त्री को उसका भय नहीं होता, क्योंकि उसे ध्यान है कि यह मुझे प्रतिकूलता करनेवाला नहीं है, किन्तु अनुकूलता करनेवाला है।

उसी प्रकार ज्ञानी के अपने चारित्र में गलती के कारण अल्प राग-द्वेष, क्रोध-मान आदि होते हैं, परन्तु वह समझता है कि यह विकार मेरे नित्य स्वभाव में नहीं है, किन्तु पुरुषार्थ की दुर्बलता से होते हैं, किन्तु स्वभाव की सीमा से च्युत होकर वे परिणाम होते ही नहीं। ज्ञानी का पुरुषार्थ इतना तीव्र है कि उसे विकारी परिणामों का ऐसा भय नहीं लगता कि यह परिणाम मेरे स्वभाव से च्युत कर देंगे तो! ज्ञानी अपने और विकार के स्वरूप को बराबर जानता है। वह समझता है कि मैं अनन्त सामर्थ्यवाला आत्मा हूँ, विकारी परिणामों में इतनी सत्ता नहीं है कि मुझे स्वभाव से च्युत कर दें। जहाँ तक पूर्ण वीतराग नहीं होता वहाँ तक ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष होते हैं, परन्तु उसने अंशतः वीतरागस्वभाव प्रगट किया

है, इससे पूर्ण वीतरागता प्रगट करते हुए वह भयभीत नहीं होता।

राग-द्वेष-मोह करनेयोग्य है, शुभराग चाहिए, ऐसा माननेवाला अज्ञानी अपने को पुण्य-पाप के विकार जितना ही मानता है, उस दोष का मूल अज्ञानभाव है। लोग कहते हैं कि—हम नीति करते हैं, परन्तु मैं आत्मा कौन हूँ? मेरा क्या स्वभाव है? उसे जाने बिना अभिप्राय में अनीति के ढ़ेर के ढ़ेर पड़े हैं, वस्तु का स्वभाव जैसा है उसे वैसा—यथावत् न माने और अन्य प्रकार माने वही सच्ची अनीति है।

जिस प्रकार लोक में झूठ बोले उसे अनीति कहते हैं, वैसे ही वस्तुस्वभाव जैसा है, उसे वैसा ही न मानकर विपरीत माने वह झूठा हुआ, इसलिए वही महान अनीति है। अमर्यादित ज्ञानानन्दमय अनन्त शक्ति से परिपूर्ण ऐसा चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ—उसके भान बिना विकार दूर नहीं होता और जहाँ तक भेदविज्ञान द्वारा आत्मा का भान नहीं है वहाँ तक परपदार्थ की ओर उन्मुखता का भाव दूर नहीं होता। उस विकारी परिणाम का मूल कारण अज्ञान है; विकारी-अविकारी स्वरूप का अविवेक सो अज्ञान है—वह प्रगट दृष्टान्त से समझाया जाता है:—

जिस प्रकार भूताविष्ट पुरुष अज्ञान के कारण भूत को और अपने को एक मानता हुआ, मनुष्य को अनुचित—ऐसी विशिष्ट चेष्टाओं के अवलम्बन सहित, भयंकर आरम्भ से भरे हुए अमानुषिक व्यवहारवाला होने से उस प्रकार के भावों का कर्ता प्रतिभासित होता है।

जिसके शरीर में भूत लगा हो उसे ऐसा भान नहीं रहता कि यह भूत है और मैं मनुष्य हूँ; इससे वह भूत को और अपने को एक मानता है। भूत उसके शरीर में रहकर जो चेष्टा करता है, उसे वह अपना मानता है, मनुष्यों को शोभा न दें ऐसी चेष्टाएँ करता है, सास-ससुर बैठे हों और अश्लील बोलता है, भागता है, कपड़े फाड़ता है, घर की वस्तुएँ तोड़ता-फोड़ता है—ऐसी अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करता है, और वे सब भाव मेरे हैं ऐसा उसे अज्ञान के कारण भासित होता है, इससे उन भावों का कर्ता होता है। किसी के पाप का उदय हो तो उस समय उसके भूत प्रवेश का ऐसा प्रसंग बनता है, कोई निम्न कोटि के व्यन्तरदेव होते हैं, वे किसी के पाप का उदय हो तो वहाँ प्रवेश करते हैं।

कहीं कहीं तो स्त्रियाँ व्यर्थ को ढोंग ही करती हैं, अधिकतर तो ढोंग ही दिखायी देते हैं, किन्तु कहीं सच्चा होता है। यहाँ तो आचार्य-देव ने भूत लगे हुए का सच्चा दृष्टान्त

दिया है। स्त्रियों में कपटकला बहुत होती है और घर में अपना न चलता हो, पति साधारण हो, देव अच्छा हो, सास लड़ती हो, तो अपना मान बढ़ाने के लिये व्यर्थ के ढोंग करती है। एक स्त्री थी, वह कहती थी कि मुझे देवी आती है, और यदि तुम नहीं मानते हो तो इस घर में जो सफेद और काला बैल है वह मर जायेगा, तथापि घर में कोई मानता नहीं था; एक दिन रात्रि के समय उस स्त्री ने सफेद बैल को मार डाला, और फिर सवेरे बोली कि अगर तुम अभी भी नहीं मानते, तो यह काला बैल भी मर जायेगा। उस रात्रि को सब चुपचाप सोने का बहाना करके जागते रहे; वह स्त्री रात्रि में उठी और बैल के पास गयी, इतने में सब लोग उठ बैठे और उस स्त्री को बहुत मारा, उसी दिन से सब ढोंग चले गये। इस प्रकार मान-बड़ाई के लिये दुनिया में ढोंग तो बहुत चलते हैं, परन्तु उन ढोंगियों का यह दृष्टान्त नहीं है; यहाँ तो आचार्यदेव ने उनका दृष्टान्त दिया है जिनके सच्चा भूत प्रविष्ट हो गया है।

उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ही भाव्य-भावकरूप पर को और अपने को एकमेक करता है। भावक अर्थात् मोहकर्म का निमित्त और भाव्य अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के विकार भाव; उन्हें अपना माने—वही भूत-भ्रम लगा हुआ है। आत्मा के भान बिना पागल जैसा होकर पर को अपना मानकर गहलता करता है। व्यन्तर का भूत लगे तो अमुक काल तक अथवा तो एकभव तक ही पागलपन रहे; परन्तु इन शरीरादिक को, द्रव्यकर्म और भावकर्मों को अपना माना, उसमें तो अनन्त काल से पागलपन है, वह पागलपन सम्यग्ज्ञान होने से ही दूर होता है। पर में सुखबुद्धि मानी है, इसी से पर को अपना माननेरूप भाव है, परन्तु सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप में सुखबुद्धि की मान्यता होती है, अर्थात् पर को अपना माननेरूप मिथ्याबुद्धि दूर हो जाती है।

अज्ञान के कारण पर को और अपने को एक करता हुआ, क्या करता है कि—अविकार अनुभूतिमात्र जो भावक है, अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान की अवस्था होने योग्य ऐसा जो भावक है उसे अनुचित—ऐसा विचित्र भावरूप (ज्ञातामात्र स्वभाव की अरुचिरूप) क्रोधादि विकारों से मिश्रित चैतन्य परिणाम विकारवाला होने से उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के अनुभवरूप जो निर्मल अवस्था है उसे अनुचित,

अर्थात् उसे शोभा न दें—ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी परिणामों से मिश्रित चैतन्यपरिणाम। मिश्रित अर्थात् आत्मा जैसा है वैसी अवस्था नहीं रही, परन्तु अवस्था विकारी हो गयी; इससे मिश्रित चैतन्य परिणामवाला कहा है।

शुभाशुभ विकारी परिणाम हों उनमें सम्पूर्ण आत्मा उन विकारी भावोंरूप नहीं हो जाता, परन्तु अवस्थापर्यन्त ही होता है। यदि सम्पूर्ण आत्मा क्रोधादिभावरूप हो जाता हो तो फिर क्रोधादि भावों को टालकर आत्मा निर्मलपर्याय प्रगट नहीं कर सकता; किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा क्रोधादि भावों को दूर करके निर्मल पर्याय प्रगट कर सकता है, इसलिए मात्र वर्तमान अवस्था ही उन विकारी भावोंरूप हुई है, कहीं सम्पूर्ण आत्मा विकाररूप नहीं हुआ है, परन्तु वह नित्य निर्मल है।

अज्ञानभाव से क्रोधादि विकारी भावों का कर्ता प्रतिभासित होता है, अज्ञानी को क्रोधादि भाव अपने भासित होते हैं, परन्तु मैं उन भावों से पृथक् हूँ—वैसा भासित नहीं होता। मैं तो क्रोधादि भावों का ज्ञाता हूँ, परन्तु उन भावोंरूप होनेवाला मैं नहीं हूँ; मैं तो अपने ज्ञान-सुखादि स्वरूप का अनुभव करनेवाला हूँ, निर्मल स्वभाव का स्वाद लेनेवाला हूँ, परन्तु इन विकारी भावों का स्वाद लेनेवाला नहीं हूँ—वैसा अज्ञानी को भासित नहीं होता, इससे उस प्रकार के भावों का कर्ता होता है।

यह भूत का उदाहरण देकर यहाँ ऐसा बताया है कि—जिस प्रकार भूत की चेष्टा मनुष्यों को शोभा नहीं देती, उसी प्रकार आत्मा निर्मल ज्ञानमूर्ति है, उसे तो निर्मल अवस्थारूप होना ही शोभा देता है, निर्मल अवस्था का वेदन करना ही आत्मा को उचित; परन्तु क्रोधादि के परिणाम होना तो उसे अनुचित है। मात्र चैतन्यरूप न रहा किन्तु मिश्रित हो गया कि क्रोधादि ही मेरा कार्य है और मैं उसी का कर्ता हूँ—वैसी कर्तृत्व की बुद्धि सो अज्ञान है। मैं तो उनका ज्ञाता हूँ, कर्ता नहीं हूँ, किन्तु नाशक हूँ, रक्षक नहीं हूँ, उनमें एकमेक होनेवाला नहीं हूँ—वैसा भान न रहा और कर्ता हुआ। उस कर्तृत्व का मूल अज्ञान है, और वह बन्ध का कारण है।

कर्ताकर्म के अधिकार में ९६वीं गाथा चल रही है। इसमें भूताविष्ट का दृष्टान्त पहले आ चुका है; कि जैसे—किसी को भूत लगा हो तो इस भूत से मैं पृथक् हूँ—ऐसा भान न रहने से भूत को और अपने को एक मानता है और मनुष्य को अयोग्य चेष्टाएँ करता है, उन्हें

अपना मानता है; वैसे ही कर्म के निमित्त से होनेवाले विकारी भावों को अज्ञानी अपना मानता है।

अब, आचार्यदेव दूसरा दृष्टान्त देते हैं। जिस प्रकार अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करनेवाला कोई भोला पुरुष अज्ञान के कारण भैंसे को और अपने को एक करता हुआ, 'मैं गगनचुम्बी सींगोंवाला महान भैंसा हूँ'—ऐसे अध्यास के कारण, मनुष्य को योग्य जो कमरे के द्वार से बाहर निकलना है, उससे च्युत होने से उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

कोई भोला किसान था, उसे एक मूर्ख गुरु मिल गया वह सबसे ध्यान करने को कहता होगा, इससे उस भोले किसान ने पूछा कि मुझे किसका ध्यान करना चाहिए? तब गुरु ने कहा कि तुझे जो प्यारा हो उसका तू ध्यान कर, तब किसान बोला कि मुझे तो अपना भैंसा प्यारा है इसलिए मैं उसका ध्यान करता हूँ! ऐसा कहकर वह एकान्त में बैठकर भैंसे का ध्यान करने लगा कि भैंसे का शरीर ऐसा है, मुँह ऐसा है, माथा इतना बड़ा है, सींग बहुत भारी हैं—इस प्रकार वह भैंसे के ध्यान में इतना लीन हुआ कि उस विचार में छह महीने बीत गये, और ध्यान करते-करते उसे ऐसा हो गया कि जैसे मैं ही भैंसा हूँ, मैं महान गगनचुम्बी सींगोंवाला हूँ और यह द्वार बहुत छोटा है; अब मैं इस द्वार से कैसे निकल सकूँगा? ऐसा सोचकर खड़ा हुआ और जैसे भैंसा चलता है, उसी प्रकार शरीर को इधर-उधर करके चलने लगा; भैंसे का शरीर आड़ा होता है और मेरा शरीर खड़ा है—ऐसा कुछ भी ध्यान उसे नहीं रहा; क्योंकि भैंसे का ध्यान करते-करते उसे ऐसी भ्रमबुद्धि हो गयी कि मैं ही भैंसा हूँ, ऐसा ही अभ्यास भी हो गया; वह द्वार मनुष्य के निकलने जैसा था, वह जो स्वतः प्रविष्ट हुआ था मनुष्य ही था न! यह तो भ्रम से उसे ऐसा हो गया कि मैं भैंसा हूँ, इससे उस भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है, अर्थात् मैं भैंसा ही हूँ, ऐसा भाव उसे भासित होता है, परन्तु मैं मनुष्य हूँ—ऐसा उसे भ्रम के कारण भासित नहीं होता।

उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेय-ज्ञायकरूप पर को और अपने को एक मानता हुआ—'मैं परद्रव्य हूँ'—ऐसे अध्यास के कारण मन के विषयरूप किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव को अपनेरूप करता है।

अज्ञान के कारण अज्ञानी जीव धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय,

काल, पुद्गल, अन्य जीव—जो सब परद्रव्य हैं, ज्ञेय हैं, उन ज्ञेयों को और अपने को एक करता है। छह द्रव्य में देव, गुरु और शास्त्र भी आ गये। देव, गुरु, शास्त्र का ध्यान करने से मैं देव, गुरु, शास्त्ररूप हो गया हूँ—ऐसा भ्रम अज्ञानी को हो जाता है। किसी कारण से उसे देव, गुरु का ध्यान करने को कहा तो उनरूप और रागरूप हो जाने का उसे भ्रम उत्पन्न होता है। धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि द्रव्यों का विचार करने को कहा वहाँ अज्ञानी को ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि मैं ही वह पदार्थ हूँ।

ज्ञान में परवस्तु ज्ञात हुई वहाँ पर से मेरा ज्ञान है, पर के बिना मेरा ज्ञान विकसित नहीं हो सकता—इस प्रकार पर की टेव पड़ गयी। जिस प्रकार भैंसे का ध्यान करने से ऐसा अध्यास हो गया कि मैं भैंसा हूँ, उसी प्रकार परपदार्थ का विचार करने से मैं परपदार्थ हूँ अर्थात् परद्रव्य का आलम्बनरूप राग करने योग्य है हितकर है ऐसा अध्यास अज्ञानी को हो जाता है। भूताविष्ट की भाँति, विकार भावों को अपना माननेरूप भूत लगा और ध्यानाविष्ट की भाँति, ज्ञेय को जानने से मैं ज्ञेयमय हो गया हूँ—ऐसा भ्रम हो गया; जिस प्रकार अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे के ध्यान में रुक गया, वैसे ही अज्ञानी को कोई ऐसा गुरु मिला कि आत्मा का विचार नहीं किया और धर्मादि के विचार में ही रुक गया। अपना उपादान ऐसा होता है, इससे ऐसा निमित्त मिल जाता है।

आचार्यदेव ने टीका में कहा है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—वे सब मन के विषय हैं, शुभभाव के विषय हैं अर्थात् उसका यह प्रयोजन है कि स्त्री-कुटुम्ब, देव-गुरु-शास्त्र—वे सभी मन के विषय हैं; सम्मुख त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव हों तो वह भी मन के विषय हैं। आत्मा का विषय सहजस्वभाव है; आत्मा स्व-परप्रकाशक सामर्थ्यवाला अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह आत्मा का विषय है। मन का लक्ष्य जाये तो शुभाशुभ भावों तक जाता है, मन का विषय पर तक है। पुस्तक-पाना, देव, गुरु, शास्त्र एक परमाणु से लेकर त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव—वे सभी मन के विषय हैं। मन का विषय परपदार्थ है। आत्मा के सहज स्वभाव के भान का पुरुषार्थ करते समय मन साथ होता है, परन्तु उस समय मन प्रधान नहीं है किन्तु आत्मा प्रधान है; आत्मा का भान आत्मा द्वारा होता है परन्तु मन तो साथ में उपस्थितरूप से आ जाता है। वास्तव में मन का विषय पर है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गल, अन्य जीव इत्यादि विचार

में आने से, जैसे मैं पररूप हो गया हूँ—ऐसा अज्ञानी को लगता है। आत्मा की एकाग्रता के अंश में पर के ऊपर लक्ष्य नहीं जाता, आत्मा की एकाग्रता के विषय में पर आता भी नहीं है। शुभाशुभभाव होता है तब उसका विषय परद्रव्य है। मन का विषय भी परद्रव्य है। विषय अर्थात् लक्ष्य और लक्ष्य अर्थात् ध्येय, ध्येय अर्थात् साध्य।

धर्मास्तिकाय का विचार शुभराग है; आकाशास्तिकाय का विचार शुभराग है, परमाणु का विचार भी शुभराग है, अन्य जीव का विचार भी शुभराग है, अब और क्या बाकी रहा? सभी आ गये। स्त्री, कुटुम्ब, व्यापार-धन्धा इत्यादि का विचार सो अशुभराग है और देव, गुरु, शास्त्र तथा धर्म का कोई विचार आये वह शुभराग है।

शुभाशुभभाव से आत्मा का सहजस्वभाव पृथक् है। मैं ज्ञायकमूर्ति हूँ, मेरा स्व-स्वभाव शुभाशुभ भाव से पृथक् वीतरागस्वभावरूप है, मैं अपने से ज्ञाता हूँ, सहजस्वभारूप हूँ; मैं अपने को और सम्पूर्ण लोक को जानूँ—ऐसा मेरा स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। मैं अपूर्ण हूँ इसलिए अशुभ से बचने के लिये यह शुभभाव आता है, शुभभाव में युक्त होना पड़ता है,—ऐसा भान ज्ञानी के वर्तता है। आत्मा के अपूर्व स्वभाव का भान होने पर भी अशुभभाव से बचने के लिये शुभ परिणाम आते हैं, परन्तु मेरा ज्ञान मेरे द्वारा होता है, किन्तु जानने में परज्ञेय होता है—ऐसा भान ज्ञानी के वर्तता है।

मन के विषयरूप छह द्रव्यों द्वारा शुद्ध चैतन्य धातु रुकी होने से, तथा इन्द्रियों के विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों द्वारा (अपना) केवल बोध (ज्ञान) आच्छादित होने से और मृतक कलेवर (शरीर) द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वत:) मूर्च्छित हुआ होने से उस प्रकार के भावों का कर्ता प्रतिभासित होता है।

अपने ज्ञायकस्वभाव को ज्ञान द्वारा धारण कर रखना चाहिये उसके बदले मन के विषय में शुद्ध चैतन्यधातु रुक गयी, शुद्ध चैतन्यस्वभाव मन के विषय में रुका होने से, धर्मादि के विचार में-शुभाशुभ भाव में शुद्ध चैतन्यधातु रुक गयी। मैं पर का अवलम्बन लूँगा तभी स्थित रह सकूँगा—ऐसा मानकर पर में रुका, इससे चैतन्यधातु वहाँ रुक गयी।

सिद्ध भगवान, अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय, मुनिराज यह पंच परमेष्ठी अरूपी हैं, और धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, काल—यह पदार्थ भी अरूपी हैं। वे सभी अरूपी पदार्थ मन के विषय में आ सकते हैं, परन्तु मैं उनसे भिन्न हूँ—ऐसा भान न करने से मन

को और मन के विषय को एक करता हुआ, वहाँ रुका होने से ज्ञेय-ज्ञायक को एक करता है।

अब, पाँच इन्द्रियों के विषय जो रूपी पदार्थ हैं, उनके वर्ण में, रस में, गन्ध में और स्पर्श में रुका होने से केवलबोध ढँका हुआ है; केवलबोध ढँका हुआ होने से, मृतक-कलेवर—ऐसा जो शरीर है, उसके द्वारा परम अमृत विज्ञानघन मूर्च्छित हुआ है। यह शरीर तो मृतक कलेवर ही है न! मुर्दा ही है न! जब जीव हो तब शरीर को सचेत कहा जाता है, वह मात्र चैतन्य के साथ है, उस अपेक्षा से उपचार से कहा जाता है, परन्तु वास्तव में तो जीव होने पर भी शरीर तो मुर्दा ही है। मात्र शरीर को उसके उपादान से लक्ष्य में लो तो वह मुर्दा ही है; जीव रहित मृतक कलेवर ही है; उसे जीवित कहना वह पानी के घड़े की भाँति है। घड़ा तो वास्तव में मिट्टी का ही है, परन्तु पानी के संयोग से उसे पानी का घड़ा कहा जाता है, किन्तु वास्तव में घड़ा पानी का नहीं होता। उसी प्रकार शरीर तो मरा हुआ-मुर्दा ही है परन्तु जीव के संयोग से उसे सचेत कहा जाता है, किन्तु यथार्थतया वह सचेत नहीं है, उपचार से सचेत कहते हैं।

एकेन्द्रिय या दो इन्द्रिय जीव का शरीर, मनुष्य का शरीर, देव का शरीर, नारकी का शरीर—इस प्रकार जो भी कहा जाये वह सब पानी के घड़े की भाँति है। जीव है, वह शरीरमय नहीं होता; यदि जीव शरीरमय हो तो एक शरीर में से निकलकर दूसरा शरीर कैसे धारण कर सकेगा? इसलिए जीव उन शरीरमय नहीं होता, किन्तु जीव ऐसे-ऐसे भाव करता है, इससे उस-उस प्रकार के शरीर मिलते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, तथापि जीव, जीवरूप—ज्ञानरूप ही है और शरीर मृतक कलेवर है।

परम अमृत विज्ञानघन अमृत का पिण्ड आत्मा अज्ञान के कारण शरीररूप मरे हुए-मुर्दे में मूर्च्छित हुआ है। मुर्दे की कितनी चिन्ता करता है! सवेरे उठकर शौच को जाना, दातुन करना, खाना-पीना, और शरीर में रोग हो तो घूमने जाना इत्यादि अनेक प्रकार की चिन्ता; चौबीस घण्टे का टाइम टेबल बनाकर रखता है, तो भी यह शरीर तो मुर्दा ही है। मुर्दे की कितनी चिन्ता करेगा? इसलिए भाई! शरीर की चिन्ता छोड़कर आत्मा का भान कर! परम अमृत विज्ञानघन मुर्दे में क्यों मूर्च्छित हुआ है? मर्दे में क्यों रुका है? अब जागृत होकर आत्मा का भान कर! और उसमें स्थिर हो जा! आचार्यदेव ने शरीर को मुर्दा कहा

है और उसके समक्ष आत्मा को परम अमृत विज्ञानघन कहा है।

छह पदार्थों के विचार में चैतन्यधातु रुक गयी, पाँच इन्द्रियों के विषय में केवलबोध ढँक गया और परम अमृतरूप विज्ञानघन स्वभाव मृतक कलेवर में मूर्च्छित हुआ है। पहले वाक्य में रुक गया कहा और दूसरे में ढँक गया कहा, तथा तीसरे वाक्य में मूर्च्छित हुआ कहा—इस प्रकार तीनों वाक्यों में एक से एक बढ़कर शब्द है।

इस शरीर को मुर्दे की उपमा दी है। आत्मा तो शाश्वत् शान्तमूर्ति है, पर का कुछ भी करना वह उसका स्वभाव नहीं है; पुण्य-पाप के परिणाम भी अजागृतभाव मलिनभाव होने से आत्मा का स्वभाव नहीं है; परन्तु अज्ञानी जीव अपनी भूल से ही—अज्ञान के कारण अमृतघन आत्मा को भूलकर मुर्दे में मूर्च्छित हो गया है, उलझ गया है। इस शरीर को ऐसा रखना, वैसा रखना—ऐसी माथापच्ची करता ही रहता है, शरीर की पुष्टि के साधनों की चिन्ता में ही मग्न रहता है। पेट को रोटी चाहिए है; लेकिन सिर पर पाँच-दस लाख का भार रखकर प्रसन्न होता है कि—यह अच्छा हुआ! जिसके पैसा न हो उसे मालदार होने की चिन्ता और जिसके हो उसे उससे भी अधिक इकट्ठा करने की चिन्ता; चाहे जितने लाख हो जायें तो भी सन्तोष नहीं होता, और जितना है, उसे सम्भालने की चिन्ता रहती है; इस प्रकार अमृतघन आत्मा पर में उलझ गया है।

मन के विषय में छहों पदार्थ आये; स्त्री, कुटुम्ब, देव, गुरु, शास्त्र सभी आये। मन का विषय, इन्द्रियों का विषय और मृतक कलेवर में मूर्च्छित हुआ, उन तीनों में कर्तृत्व की बुद्धि है, उन तीनों प्रकार के भावों से बन्धन होता है। मन के विषय में छह पदार्थ आये उनसे मैं पृथक् कैसे होऊँ! अर्थात् मैं उनके साथ एकमेक हूँ, परन्तु पृथक् नहीं हूँ। पाँच इन्द्रियों के विषयों से मैं पृथक् कैसे होऊँ! अर्थात् मैं उनके साथ एकमेक हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है। व्यवहाररत्नत्रय-शुभाशुभराग भी चैतन्यशक्ति रहित होने से मृतक कलेवर है—ऐसा नहीं मानता किन्तु मृतक कलेवर से मैं पृथक् कैसे होऊँगा! अर्थात् मैं उसमें एकमेक हूँ, किन्तु पृथक् नहीं हूँ—ऐसा विपरीत दृष्टि से पर का कर्ता होता है और उससे बन्धन होता है।

यहाँ क्रोधादिक के साथ एकत्व की मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझाने के लिये भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है और धर्मादिक अन्य द्रव्यों के साथ एकत्व की

मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझाने के लिये ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया। भैंसे का ध्यान करनेवाले को ऐसा हो गया कि मैं ही भैंसा हो गया; फोनोग्राफ का आविष्कार करनेवाला, रिकार्ड में शब्द कैसे उतारा जाये—उसमें इतना एकाग्र हो गया कि तीन दिन तक खाने की भी खबर नहीं रही। देखो! विपरीत ध्यान में कितना एकाग्र हुआ! इसी प्रकार आत्मा के अतिरिक्त—आत्मा को भूलकर छह पदार्थों के विषय में, पाँच इन्द्रियों के विषय में, शरीर में एकाग्र हुआ वह सब भैंसे जैसा ध्यान है। ज्ञेयरूप धर्मादिक छह द्रव्यों को ज्ञायक के साथ एकमेक करता हुआ, इन्द्रिय विषयों को और शरीर को ज्ञायक के साथ एकमेक करता हुआ पर का कर्ता होता है, और उससे बन्धन होता है ॥९६ ॥

इससे पूर्वोक्त कारण से ऐसा सिद्ध हुआ कि ज्ञान से कर्तृत्व का नाश होता है। ज्ञान में, दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। अब, ऐसा कहते हैं कि ज्ञान से ही कर्तृत्व का नाश होता है:—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्व-कत्तितं।।९७।।

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति सो मुञ्चति सर्व-कर्तृत्वम्।।९७।।

अर्थ:—इस (पूर्वोक्त) कारण से निश्चय के ज्ञाता ज्ञानियों ने उस आत्मा को कर्ता कहा है—ऐसा जो निश्चय से जानता है वह (ज्ञानी होता हुआ) सर्व कर्तृत्व को छोड़ता है।

इस पूर्वोक्त कारण से निश्चय के जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान ने उस आत्मा को कर्ता कहा है; जिस आत्मा को अपने स्वरूप का भान नहीं है, वही पर का कर्ता होता है। कर्ता का ऐसा स्वरूप है—ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी होता हुआ पर के कर्तृत्व का भाव छोड़ता है। वह ऐसा जानता है कि पर विकार मुझमें है ही नहीं, परवस्तु भी मुझमें नहीं है; पुण्य-पाप के भाव में अज्ञानता से एकरूप हो जानेवाला मैं, पुण्य-पाप के भावों से बिल्कुल पृथक् ही हूँ, मैं किसी काल में पुण्य-पाप के भावरूप हुआ ही नहीं तो फिर परवस्तुरूप हुआ होऊँ—ऐसा कैसे हो सकता है? मैं अनादि-अनन्त ज्ञायक स्वरूप से, एकरूप से हूँ, पुण्य-पाप के भाव जो पराश्रय से उत्पन्न होने से क्षणभंगुर होने से, और परिवर्तित होने

से मेरा चैतन्यद्रव्य किसी काल उस अवस्थारूप हुआ ही नहीं—ऐसा जाननेवाला भगवान का भक्त-दास, सकल कर्तृत्व को छोड़ता है।

यह आत्मा अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व का विकल्प करता है, इससे वह निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है—ऐसा जो जानता है वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ता है; इससे वह निश्चय से अकर्ता प्रतिभासित होता है।

अज्ञानी मूढ़, आत्मा का विरोधी—भगवान का विरोधी ऐसा मानता है कि पर और मैं—दोनों एक हैं; वैसा आत्मविकल्प करता है इससे पर का कर्ता होता है। विकार और मैं दोनों एक हैं—ऐसा अज्ञानी को भासित होता है, राग को भला माना वह विकाररूप हुआ इससे अब उसे दूर करना नहीं रहा, पररूप हुआ, इससे स्वत: भिन्न नहीं रहा, पर के साथ एकत्वबुद्धि के कारण कर्तृत्व बना रहता है। इस प्रकार के अज्ञान के स्वरूप को जो जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ता है। सच्ची आत्मा की भक्ति करनेवाला—सच्ची भगवान की भक्ति करनेवाला ऐसा मानता है कि विकार मेरे नहीं होते, परपदार्थ मेरे नहीं होते, मैं तो समस्त पदार्थों से भिन्न ज्ञाता हूँ—ऐसा जिसको ज्ञान है वह पर का अकर्ता ही है।

यह आत्मा अज्ञानी होता हुआ अज्ञान के कारण अनादि-संसार से लेकर मिश्रित (मानों एकमेक हो गये) स्वाद का स्वादन-अनुभवन होने से (अर्थात् पुद्गल कर्म के और अपने स्वाद का मिश्रितरूप से एकरूप से अनुभवन होने से), जिसकी भेदसंवेदन की (भेदज्ञान की) शक्ति अस्त हो गयी है—ऐसा अनादि से ही है।

सम्पूर्ण त्रैकालिक स्वभाव का अभान ही अज्ञान है। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसी अज्ञान की भूल कहीं इस समय की नहीं है, परन्तु अनादि संसार से ऐसी भूल जीव करता ही आया है, किसी बार सीधी-सच्ची दृष्टि की ही नहीं, दृष्टि को बदला ही नहीं, स्वभाव सन्मुख देखा ही नहीं इससे स्वभाव का अमृतस्वाद नहीं लिया, परन्तु विकार मिश्रित स्वाद लिया है। आत्मा ज्ञान और शान्तरस-स्वरूप से है, उसका भान नहीं होने से पुण्य-पाप के भावों का ही अनुभव करता है।

अज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर है, इससे उसे ऐसा लगता है कि पर और मैं—दोनों एक हो गये हैं, इससे उसे शुभाशुभभावों का स्वाद आने से ऐसा मानता है कि पर और मैं—दोनों एक हो गये हैं। एकमेक हो जाने का अर्थ यह है कि आत्मा के स्वाद के आनन्द से

च्युत होकर पुण्य-पाप के स्वाद का ही अनुभव करता है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि थोड़ा आत्मा का निर्मल आनन्द और कुछ पर का आनन्द, परन्तु अज्ञानी पर का और अपने आत्मा का पृथक्त्व न जानने से दोनों को एकमेक मानता है इससे, पर के और अपने मिश्रित स्वाद का अनुभव अज्ञानी करता है—ऐसा कहा है। अज्ञानी मात्र विकारी स्वाद का ही अनुभव करता है परन्तु निर्विकारी स्वाद का किंचित् अनुभव नहीं करता।

पाँच सेर दूध में मात्र आधा तोला विष मिला दिया जाये तो उसे विष का ही स्वाद आयेगा किन्तु दूध का बिल्कुल स्वाद नहीं आयेगा; उसी प्रकार आत्मा का तो मात्र आनन्द स्वभाव है, मीठे दूध जैसा स्वभाव है, किन्तु उसमें विपरीत दृष्टि के विष के कारण मात्र आकुलता का ही स्वाद लेता है, राग-द्वेष का ही स्वाद लेता है, मलिन स्वाद लेता है। अशुभ भाव तो आकुलता है ही, परन्तु शुभभाव भी आकुलता है। दोनों चेतन स्वभाव से विरुद्ध औपाधिक भाव हैं, अपने स्वाद से च्युत हुआ इससे ऐसे आकुलित स्वाद में लीन हुआ, दुःखमय स्वाद में लीन हुआ।

अनेक कहते हैं कि लड्डू में से स्वाद आता है, शाक में से स्वाद आता है परन्तु भाई! तू विचार तो कर! जड़ का स्वाद आत्मा में आता है? पुद्गल का स्वाद आत्मा में आता है? मात्र लड्डू के प्रति जो राग है उसका स्वाद आता है। यह वस्तु मिठास वाली है, इस प्रकार ज्ञान तो मात्र जानने का कार्य करता है, परन्तु राग किया उससे तुझे रस आता है। आता तो है अपने राग का रस, परन्तु मानता है कि लड्डू का रस आता है। यदि लड्डू में से रस आता हो तो मुँह में लड्डू हो और व्यापार-धन्धे की चिन्ता में पड़ गया हो, उस समय चिन्ता का स्वाद आता है, लड्डू के स्वाद की खबर भी नहीं रहती। इसलिए सिद्ध होता है कि लड्डू का रस नहीं किन्तु अपने राग का रस है। राग का स्वाद आकुलित है और आत्मा का निर्विकारी स्वाद अद्भुत एवं निराकुल है।

मिष्टान्न का भोजन कर रहा हो, उस समय लड़का परदेश से आये तो लड़के के राग में लग जाता है और भोजन में क्या खा रहा था उसका ध्यान भी नहीं रहता, इसलिए भोजन में से स्वाद नहीं आता परन्तु अपने राग का स्वाद आता है। इस प्रकार सभी प्रकारों में समझ लेना चाहिए कि पुद्गल में से स्वाद नहीं आता परन्तु अपने राग का-विकारी पर्याय का स्वाद आता है।

परवस्तु को जानने से ज्ञान उसमें रुक जाता है, रुका इससे राग हुआ; उससे अज्ञानी को ऐसा लगता है कि पर में से रस आया; इससे वह राग के स्वाद में अटक जाता है; अरागी स्वाद से च्युत होकर राग के स्वाद में एकमेक हो जाने से उसकी भेदसंवेदन शक्ति मन्द हो गयी है।

मैं आत्मा ज्ञाता हूँ, मुझमें ही आनन्द है, वह आनन्द निराकुल है, सुखमय है, शाश्वत है और राग का रस परजनित है, आकुलित है, दु:खमय है, क्षणिक है—ऐसी स्व-पर के स्वाद की भिन्नता का विवेकी ज्ञान न होने से, भेदज्ञान न होने से जिसकी भेदसंवेदनशक्ति मुँद गयी है—ऐसा अनादि से ही है, इससे वह पर को और अपने को एकरूप जानता है। इससे मैं क्रोध हूँ, मैं मानस्वरूप हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं शरीर हूँ, मैं ठिगना हूँ, मैं ऊँचा हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं बोलनेवाला हूँ, इत्यादि पर में आत्मविकल्प करता है अर्थात् पर में अपनेपन का विकल्प करता है, इससे निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन-स्वभाव से भ्रष्ट होता हुआ बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

आत्मा का स्वभाव निर्विकल्प है, आत्मा में शुभाशुभभावों के विकल्प नहीं हैं, ज्ञान में शुभाशुभराग से भेद पड़े वह विकल्प है, वह विकल्प कृत्रिम है, कारण कि वह प्रतिक्षण परनिमित्त के आश्रय से होनेवाला नवीन भाव है, भेदरूप भाव है, वह सहज-अकृत्रिम भाव नहीं है, आत्मा तो अकृत्रिम स्वभावरूप है। परपदार्थ को अपना माननेवाला-अपनेरूप विकल्प करनेवाला कृत्रिम और अकृत्रिम स्वभाव का भेद नहीं कर सकता।

जो मनुष्य खाने का लालची हो वह शक्कर और मिश्री के लड्डुओं का स्वाद पृथक्-पृथक् नहीं जान सकता, शक्कर और मिश्री के लड्डुओं के स्वाद में अन्तर होता है, परन्तु खाने का लालची यह नहीं जान सकता कि उस स्वाद में कहाँ भेद पड़ता है क्या अन्तर है; उसी प्रकार अज्ञानी पर में आसक्त होता हुआ अपना निर्विकल्प, अकृत्रिम स्वभाव और पर की आसक्तिवाले, नवीन होनेवाले कृत्रिम विकारी भावों उनमें भेद नहीं कर सकता और विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट होता हुआ अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

अज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर ही है, इससे पर का ऐसा कर दूँ और यह कर दूँ, ऐसा

चाहिए इस प्रकार पर की आशावाला परमय ही हो रहा है! परन्तु तू चाहे जितना कर तथापि पुण्य के उदय बिना एक कण भी नहीं फलेगा, मात्र विकल्प ही करता रहेगा, अन्य कुछ नहीं होगा। मैं एक पर से निराली वस्तु हूँ—वैसा भान कर तो सम्पूर्ण पराश्रय दूर हो जायेगा। ज्ञानस्वरूप आत्मा को समझने से और उसमें स्थिर होने से कर्तृत्व दूर हो जाता है और अकर्तृत्व ज्ञाता स्वभाव आता है।

यह कर्ता-कर्म का अधिकार और ९७वीं गाथा चल रही है। टीका में अज्ञानी के कर्तृत्व की बात हो गयी अब, ज्ञानी की बात आती है।

जब आत्मा ज्ञानी होता है तब, ज्ञान के कारण ज्ञान के आदि से लेकर पृथक्-पृथक् स्वाद का स्वादन-अनुभवन होने से (अर्थात् पुद्गलकर्म के और अपने स्वाद का, एकरूप नहीं किन्तु भिन्न अनुभवन होने से), जिसकी भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गयी है—ऐसा होता है।

आत्मा जब ज्ञानी होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है, तब से वह आत्मा के स्वाद का और राग-द्वेष के स्वाद का भिन्न-भिन्नरूप से अनुभव करता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ, इससे ज्ञानी, आत्मा का अनुभव अमुक अंश में सिद्धसमान करते हैं। पूर्ण वीतरागता का अनुभव प्रगट नहीं हुआ, इससे अमुक अंश में कषाय का वेदन रहा है, परन्तु उस पराश्रयरूप कषाय के अंश का और आत्मा के पवित्र-निर्मल अंश का अनुभव बिल्कुल पृथक्-पृथक्रूप से अर्थात् स्वभाव और विभाव दोनों पृथक् है, विरुद्ध है ऐसा जानता है परन्तु एकरूप अनुभव नहीं करते, इससे उनके भेदसंवेदन शक्ति प्रगट हो गयी है।

राग-द्वेष का अल्प अंश रहा है, उसे टालने योग्य मानते हैं और अपने स्वरूप संवेदन में लीन होना उसे आदरणीय मानते हैं। जो नाश करनेयोग्य है उसे अपना कर्तृत्व नहीं मानते, परन्तु जो आदरणीय है, उसी को अपना कर्तव्य मानते हैं, आत्मा के सवाद को और कषाय के स्वाद को एकमेक नहीं मानते। आत्मा का स्वाद शान्त, निर्मल और परम आनन्दरूप है, उसका उसीरूप अनुभवन करते हैं और कषाय का दु:खरूप-आकुलतारूप अनुभव करते हैं; इस प्रकार जिसके भेदसंवेदन शक्ति प्रगट हो गयी है—ऐसी भेद करने की शक्ति प्रगट हो गयी, वह ज्ञानी है।

भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गयी है, इससे वह जानते हैं कि अनादि निधन निरन्तर स्वाद में आनेवाला, समस्त अन्य रसों से विलक्षण (भिन्न), अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही जिसका एकमात्र रस है—ऐसा आत्मा है, और कषाय उससे भिन्न रसवाली (कषायली-बेस्वाद) हैं।

ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि मैं तो अनादि-अनन्त हूँ, मेरा आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उसका आदि नहीं है और कभी उसका अन्त भी नहीं होना है। जिसकी उत्पत्ति हो उसका विनाश होता है; आत्मा की उत्पत्ति नहीं है, इससे उसका नाश भी नहीं है, इसलिए आत्मा अनादि अनन्त है। निरन्तर स्वाद में आनेवाला चैतन्यरस है; वह चैतन्यरस समस्त अन्य रसों से विलक्षण है।

संसार के हर्ष-शोक का जितना स्वाद है, वह सब विकार का स्वाद है; मिष्टान्न खाने से जो हर्ष होता है, शरीर में रोग होने से जो दु:ख होता है, राजपद मिलने से जो हर्ष होता है और पुत्र मरे तो जो शोक होता है, वह सब विकारी रस है, आत्मा का रस नहीं है। उस समस्त विकारी रस से विपरीत लक्षणवाला आत्मा का रस है, जो अत्यन्त मधुर है। चैतन्य का रस अत्यन्त मीठा है, मधुर है, अमृतस्वाद से परिपूर्ण कोई अपूर्व स्वाद है, ऐसा आत्मा है। आत्मा के रस के समक्ष संसार के समस्त रस फीके भासित होते हैं। पुण्य-पाप के परिणाम, दया के भाव अथवा हिंसा के भाव—वे सभी शुभाशुभभाव आत्मा के स्वाद के समक्ष कषायले—बेस्वाद लगते हैं।

आज तो बहुत सेवा की, बहुत दया की, आज मन अत्यन्त आनन्दित है—ऐसा अनेक कहते हैं, परन्तु वह सब कषाय का स्वाद है, शुभपरिणाम की वृत्ति में आनन्द मानना वह राग का आकुलित स्वाद है। उस राग से आत्मा का निवृत्त आनन्द स्वभाव पृथक् है; आत्मा का रस और कषाय का रस—उन दोनों में एकत्व का विकल्प करना सो अज्ञान है।

जब ज्ञान होता है तब पर को और अपने को भिन्नरूप जानता है, भिन्नत्व के भान द्वारा पर विकार के साथ किंचित् आत्मविकल्प नहीं करता। अकृत्रिम एक ज्ञान ही हूँ परन्तु कृत्रिम, अनित्य अनेक जो क्रोधादिक हैं वह मैं नहीं हूँ—ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित् भी नहीं करता, समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है, इससे सदैव उदासीन अवस्थावाला होता हुआ, मात्र ज्ञाता ही रहता है, उससे निर्विकल्प, अकृत्रिम,

एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

पुत्र-पुत्रियों के विवाहादि का जो भाव है वह अशुभभाव है, और दयादि का जो भाव है, वह शुभभाव है; उन शुभाशुभ भावों को आत्मा के साथ एकमेक मानना सो अज्ञानभाव है। पुण्य-पाप के जो परिणाम होते हैं, वे कृत्रिम हैं, और आत्मा का स्वभाव अकृत्रिम है। शरीर-मन-वाणी दूर रहे परन्तु क्रोध-मान-मायादि के भाव होते हैं वे भी कृत्रिम हैं अर्थात् अनित्य हैं, और आत्मा तो अकृत्रिम है अर्थात् स्वत: सिद्ध है, नित्यस्थायी वस्तु है।

शरीर-मन-वाणी इत्यादि तो एक ओर रहे परन्तु अणुव्रत और महाव्रत के जो पुण्य परिणाम होते हैं, वे भी अनित्य हैं, क्षणिक हैं, कृत्रिम हैं। ज्ञान होने के पश्चात् ऐसे आत्मविकल्प किंचित् नहीं करता कि मैं क्रोधी हूँ, विकारी हूँ—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। युद्ध में खड़ा हो, तथापि युद्ध की क्रिया में और युद्ध के अशुभ परिणामों में किंचित् आत्मविकल्प नहीं करता। ज्ञानी अपने ज्ञायक के सामर्थ्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करते; युद्ध में हों तो भी दृष्टि से पृथक् हो गये हैं, ज्ञातारूप पर से निराले पृथक् रहते हैं; अल्प राग-द्वेष होता है, उसे अपना नहीं गिनते, उसके स्वामी नहीं होते। वह समझते हैं कि चारित्र का पुरुषार्थ अल्प है इससे राग में युक्तता हो जाती है परन्तु भिन्नत्व के भान द्वारा परद्रव्य तथा शुभाशुभ विकार के सदैव ज्ञाता ही रहते हैं और उससे समस्त कर्तृत्व को छोड़ देते हैं; सदैव उदासीन अवस्थामय होते हुए मात्र ज्ञाता ही रहते हैं।

कोई कहे कि ज्ञानी उदासीन हो तो व्यापार-धन्धा क्यों करता है ? भाई ! धर्मी जीव गृहस्थाश्रम में हो, तथापि अन्तर से उदासीन ही है, परन्तु अल्प राग रहा है इससे गृहस्थाश्रम के राग के कारण रुक रहा है। अपने को कितना राग होता है, कितना द्वेष होता है, कितना हर्ष होता है, कितना शोक होता है—इत्यादि सब ज्ञाता भाव से जानता ही रहता है। अन्तर से उदासीन है तो भी अल्प राग है अवश्य। यदि इतना भी राग न हो तो त्यागी हो जाये; जो विशेष पुरुषार्थ करे तो गृहस्थाश्रम भी छूट जाता है। गृहस्थ सम्बन्धी सर्व राग दूर हो जाये तो नग्न दिगम्बर मुनित्व हो जाये। राग का और बाह्य पदार्थों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। पाँचवीं भूमिका में अमुक अंश में त्याग आता है और छठवीं भूमिका में सर्वथा त्याग आता है, और वहाँ स्वरूप रमणता बहुत बढ़ जाती है तथा बाह्य से भी

नग्न-दिगम्बर मुनित्व आता है। वस्त्र का राग छूटने से वस्त्र भी छूट जाते हैं—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसा माता ने जन्म दिया वैसा मात्र शरीर रहता है; किसी भी प्रकार की कृत्रिमता नहीं रहती।

यहाँ तो चतुर्थ भूमिकावालों की बात चलती है। ज्ञानी अनेक प्रकार के विकारी परिणामों से अपने को पृथक् मानते हैं; स्वत: अपने नित्य स्वभाव में एकरूप-अभेदरूप है, जो शुद्धनय का विषय है उसके समक्ष आचार्यदेव ने कषाय के परिणाम अनेक कहे हैं; एक के समक्ष अनेक कहा है। आत्मा का स्वभाव निर्मल ज्ञायकरूप है। मेरे स्वभाव में कषाय नहीं है, राग-द्वेष नहीं हैं;वे क्षणिक पर्याय में—अवस्था में हैं किन्तु स्वभाव में नहीं हैं; चारित्र के दोष मेरे द्वारा होते हैं, इससे उन्हें मैं ही दूर कर सकता हूँ—ऐसे निर्णय के बिना प्रयत्न नहीं किया जा सकता।

यह बात आबाल-वृद्ध सभी के लिये है। यथार्थ निश्चय करने की बात है, प्रथम कक्षा की बात है और स्वरूप रमणता की बात विशारद की है। श्रद्धा पहले होती है, और वर्तन पश्चात् आता है। प्रथम नित्य अकषाय की श्रद्धा करके श्रद्धा में से कषाय से सर्वथा पृथक् होता है, फिर चारित्र में अल्प कषाय रहती है, उसे भी ज्ञानी दूर कर देते हैं।

गरम पानी में वर्तमान अवस्था पर्यन्त की उष्णता है; जिस समय उष्णता प्रगट है उसी समय शक्तिरूप स्वभाव में शीतलता है ही; इसी प्रकार आत्मा की अवस्था में वर्तमान पर्याय जितनी मलिनता है; जिस समय मलिनता है उसी समय नित्य चैतन्यस्वभाव में निर्मलता भी विद्यमान है। जो राग-द्वेष को दूर करना चाहता है वह, दूसरा कुछ रखना भी चाहता है; रखनेयोग्य वस्तु क्या है उसकी श्रद्धा और ज्ञान करने के पश्चात् श्रद्धा और चारित्र के बल द्वारा शुद्धता-स्थिरता की वृद्धि होती है और राग-द्वेष दूर हो जाते हैं, अर्थात् उत्पन्न नहीं होते।

आत्मा क्या वस्तु है इसकी पहिचान और प्रतीति किये बिना मलिनता को नष्ट करने की शक्ति नहीं आयेगी और पुरुषार्थ नहीं चलेगा। और ज्ञानी को भान होने के पश्चात् अल्प राग-द्वेष रहता है, तथापि वह समझता है कि मेरी दुर्बलता के कारण यह होता है। अन्तरंग में अपनी दुर्बलता को देखेगा परन्तु उसे दूर करके पुरुषार्थ बढ़ाकर अल्प काल में ही मुक्ति प्राप्त करेगा। आत्मा की पहिचान और प्रतीति होने से ज्ञानी पर का अकर्ता होता है, अत्यन्त

उदासीन हो जाता है, निर्विकल्प पूर्ण विज्ञानघन होता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है। आत्मा के ज्ञान और श्रद्धान द्वारा चारित्र में शुद्धि की वृद्धि करके अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करता है।

ज्ञानी होने के पश्चात् परद्रव्य का और परभाव का कर्तृत्व रहता ही नहीं। अज्ञानी रहना हो अर्थात् पवित्र न होना हो वह पर का कर्तृत्व रखता है परन्तु जिसे आत्मा का कल्याण करना हो वह परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रखता। ज्ञानी होने के पश्चात् पर का और रागादि का अकर्ता ज्ञाता होता है; अल्प कषाय रहती है परन्तु उसे दूर करके अवश्य मुक्ति प्राप्त करनेवाला है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(वसन्ततिलका)

अज्ञान-तस्तु सतृणाभ्यवहार-कारी,
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षु-मधुराम्ल-रसातिगृद्ध्या,
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्॥५७॥

अर्थ:—निश्चय से स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी अज्ञान के कारण जो जीव, घास के साथ एकमेक सुन्दर आहार को खानेवाले हाथी आदि तिर्यंचों की भाँति, राग करते हैं (अर्थात् राग का और अपना एकमेक स्वाद लेते हैं) वे दही-शक्कर के अर्थात् श्रीखण्ड के खट्टे-मीठे रस की अति लोलुपता से, श्रीखण्ड पीते हुए भी स्वतः गाय के दूध को पीता हूँ—ऐसा माननेवाले पुरुष की भाँति हैं।

जिस प्रकार हाथी को लड्डू दिये जायें तो वह लड्डूओं को और घास को इकट्ठा करके खाता है, उसी प्रकार इस संसार के जीव राग में आनन्द मानते हैं। अपना आनन्द जैसे पर में ही हो, ऐसा मानकर प्रसन्न होते हैं, राग को और आत्मा को एकमेक करते हैं, एकमेक का अर्थ यह नहीं कि कुछ आत्मा का आनन्द और कुछ पर का आनन्द—ऐसा नहीं परन्तु मात्र राग के विकार का ही आनन्द लेता है। विषय में, खाने में, पीने में, शरीर में, स्त्री में, बच्चों में—उन सबमें आनन्द हो—वैसा अज्ञानी मान रहा है; अपना आनन्दस्वभाव एक क्षणिक विकारी पर्याय में कल्पित कर लिया है। लग्न के समय प्रीतिभोज के दिन

सुन्दर स्वादिष्ट मिठाइयाँ खा रहा हो, समधी-समधी पास बैठकर जीम रहे हों तो आनन्दित हो—उठता है! अरे! वह दिन निकल जाने के बाद भी उसे याद कर-करके सुख की श्वासें लेता है; अपने स्वभाव के आनन्द की रुचि से हटकर पशुओं की भाँति पर में से आनन्द लेता है। जिस प्रकार हाथी का मुख्य भोजन तो लड्डुओं का है; परन्तु वह मूढ़तावश अकेले लड्डू न खाकर घास और लड्डुओं को इकट्ठा करके खाता है।

उसी प्रकार आत्मा का यथार्थ स्वाद तो पर से निराला, स्वत: सिद्ध स्वभाव से अमृतमय आनन्दरूप है, परन्तु अज्ञान के कारण राग के स्वाद को आत्मा का स्वाद मानता है। स्वयं अज्ञानी जीव क्षणिक विकारी पर्याय में 'यह मेरा स्वाद है'—ऐसी कल्पना करके रुका हुआ है, वह उसका एकमेकपना है, शुभाशुभ भावों की वृत्ति होना वह घास है। घास अर्थात् वे भाव भूसे की तरह हैं और आत्मा के स्वभाव का स्वाद दानों जैसा है।

शराबी मनुष्य को श्रीखण्ड का स्वाद दूध जैसा लगता है, इससे वह श्रीखण्ड के स्वाद के लिये गाय का दूध दुहता है। उसी प्रकार मोहरूपी मदिरा के कारण आत्मा का अभान होने से स्त्री, बच्चे, शरीरादि परपदार्थों में से आनन्द आता हो—ऐसा मानकर उसमें से आनन्द लेने जाता है और पुण्य-पाप के परिणामों में एकाग्र होकर उनमें से अपने स्वाद को दुहना चाहता है।

जिसे रस की अत्यन्त लोलुपता हो उसे खट्टे-मीठे रस की खबर नहीं पड़ती, रस की लोलुपता के कारण परपदार्थ में से जैसे सुख आता हो—ऐसा मानकर परपदार्थ में से सुख लेने के लिये फिरता है। जिसे मोहरूपी मदिरा चढ़ी है, वह अपने स्वाभाविक आनन्द का और राग के—आकुलता के आनन्द के स्वाद का भेद नहीं कर सकता, पृथक् नहीं कर सकता, पृथक् जान नहीं सकता।

चक्रवर्ती सम्यक्त्वी राजा छह खण्ड का राज्य कर रहा हो, तथापि वह छह खण्ड का राग रोग के समान जानता है, रोग की रुचि नहीं है। ज्ञानी के जब विषय और युद्ध का योग हो तब वह ऐसा समझता है कि—यह रोग आया, यह दु:ख आया। जैसे किसी मनुष्य के शरीर में महामारी निकली हो, और दाने-दाने में कीड़े पड़ गये हों, उस समय उसे जो पीड़ा होती है वैसी ही पीड़ा ज्ञानी राग, भोग और युद्ध के योग के समय मानता है; अल्प राग के कारण विषय और युद्ध में युक्त अवश्य होता है, परन्तु वह समझता है कि अरे रे!

यह मेरा स्वरूप नहीं है, यह तो आपत्ति है, उपसर्ग है, इसमें से सर्वथा मुक्त होकर सर्व प्रकार से स्वरूप में लीन होऊँगा, वह दिन मुझे धन्य होगा।

ज्ञानी को स्वभाव के अतिरिक्त शुभाशुभभावों युक्त होना वह रोग और प्रतिकूलता लगती है, आपत्ति मालूम होती है, उपसर्ग जैसा ज्ञात होता है; अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ओर युक्त होना, उसे ज्ञानी प्रतिकूलता ही समझते हैं, कारण कि दोनों अपने स्वभाव से विरुद्ध भाव है, इसलिए दोनों का राग रोग ही है—वैसा जानते हैं, तथापि उसमें युक्त होना पड़ता है वह मेरे पुरुषार्थ की दुर्बलता है; ज्ञानी समझते हैं कि अपने स्वभावघन से च्युत होकर पर में युक्त होना उसमें हमारी ही दुर्बलता है किसी पर का दोष नहीं है।

ज्ञानी अशुभ परिणामों से बचने के लिये शुभ परिणामों में पुरुषार्थ द्वारा युक्त होते अवश्य हैं, परन्तु अन्तरंग में स्वरूप में स्थिर होने का उद्यम और पुरुषार्थ होता है; चौथे गुणस्थान में देव-गुरु-शास्त्र की पूजा-भक्ति के और स्वाध्याय के शुभपरिणाम होते हैं, वहाँ भी वे स्वरूप में लीन होने के उद्यमी रहते हैं। पाँचवें गुणस्थान में देव-गुरु-शास्त्र की पूजा-भक्ति और शास्त्र स्वाध्याय इत्यादि के शुभपरिणाम होते हैं अणुव्रत के शुभपरिणाम होते हैं; छट्ठे गुणस्थान में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, स्वाध्याय और महाव्रतादि के शुभपरिणाम होते हैं, परन्तु उन सभी भूमिकाओं में स्वरूप में स्थिर होने के उद्यमी रहते हैं। छट्ठी-सातवीं भूमिका में तो अत्यन्त-अत्यन्त स्वरूप रमणता होती है, अन्तर्मुहूर्त में आत्मा में निर्विकल्प और अन्तर्मुहूर्त में बाहर सविकल्प—ऐसी मुनियों की दशा होती है; क्षण में स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं और क्षण में बाह्य में शुभपरिणाम आते हैं—इस प्रकार हजारों बार आना-जाना करते हैं।

अज्ञानी को पुद्गलकर्म के स्वाद में लीनता है, भगवान आत्मा पर के कर्तृत्व से रहित शान्तस्वभावी है, उसे नहीं समझता और पर में लीन हो जाता है। निर्विकारी और विकारी स्वाद का भेद न परखने से विकारी स्वाद को अपना स्वाद मानता है, उस सम्बन्ध में आचार्यदेव ने श्रीखण्ड और हाथी के दो दृष्टान्त दिये हैं।

जीव अज्ञान से कर्ता होते हैं। स्वाश्रय से सुख होता है पराश्रय से दुःख होता है ऐसा निर्धार नहीं है, उसे स्व-पर की खबर नहीं है—ऐसा अज्ञानी जीव अपने को पर का कर्ता मानता है—ऐसे अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा,
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्प-चक्र-करणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्,
शुद्ध-ज्ञानमया अपि स्वय-ममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः।।५८।।

अर्थः—अज्ञान के कारण मृगजल में जल की बुद्धि होने से हिरण उसे पीने दौड़ते हैं; अज्ञान के कारण अन्धकार में पड़ी हुई डोरी में सर्प का अध्यास होने से लोग (भय से) भाग जाते हैं; और (उसी प्रकार) अज्ञान के कारण यह जीव, पवन में तरंगित समुद्र की भाँति विकल्पों के समूह करता होने से—यद्यपि वे शुद्ध ज्ञानमय हैं तथापि विपरीत दृष्टि के कारण आकुल होते हुए अपने आप कर्ता होते हैं।

हिरन अज्ञान के कारण मृगजल में जल की बुद्धि करता है अर्थात् रेतीली भूमि में सूर्य की किरणें पड़ने से दूर से पानी सदृश्य दिखायी पड़ता है, उसे हिरन पानी मानकर पीने को दौड़ता है परन्तु वास्तविक पानी नहीं है, ऐसी पानी सी झलक देखकर मूढ़ हिरन पानी पीने के लिये दौड़ता ही रहता है। उसे इतनी भी खबर नहीं है इतना मार्ग तय करके आया तथापि ठण्डी हवा भी नहीं लगती; मेरी दृष्टि में पानी दिखायी दिया वहाँ तक मैं आया, फिर भी दूर-दूर बढ़ता ही जा रहा हूँ, इसलिए दूर तो दूर ही है; निकट है ही नहीं, अर्थात् पानी की झलक में यथार्थ पानी है ही नहीं—वैसा न समझकर पीने दौड़ता है और पश्चात् दुःखी होता है।

उसी प्रकार आत्मा अज्ञान के कारण राग-द्वेष में सुख है—ऐसा मानता है; दूर-दूर सुख की कल्पना करता रहता है। क्षण में मानता है कि यह लड़का मुझे सुखरूप है; और फिर मानता है कि लड़का नहीं, लेकिन स्त्री सुखरूप है; पश्चात् मानता है कि स्त्री भी नहीं किन्तु धन सुखरूप है, इस प्रकार दूर-दूर सुख की कल्पना करता रहता है।

कोई ऐसा कहता है कि पुण्यपरिणाम करके देवगति में जाऊँगा, वहाँ सुख भोगूँगा; परन्तु अरे मूढ़! देव में कहा सुख है? वह तो, जैसा यह संसार है उसी प्रकार वह है। जिस प्रकार हिरन को दृष्टिभ्रमपूर्वक दौड़ने से पानी की तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार अज्ञानी को पर के ऊपर दृष्टि होने से कहीं सुख-शान्ति नहीं मिलती, तथापि उसमें सुख मानना नहीं छोड़ता।

और कितने ही कहते हैं कि यहाँ पर बाल-बच्चों को सुखी करके और फलता-फूलता देखकर मरें तो सुखी कहलायें, परन्तु भाई! वह सब छोड़कर तुझे कहाँ जाना है, उसकी कुछ खबर है! अपने आत्मा को भी कुछ हरा-भरा किया है कि मात्र बाहर का ही फलता-फूलता देखना चाहता है। आत्मा में हरी-भरी फुलवारी प्रगट किये बिना सुखी है ही नहीं—दु:खी ही है।

पुनश्च, अनेक मनुष्य कहते हैं कि बचपन में तो धर्म किया नहीं जा सकता, इसलिए जवान हो जायेंगे तब धर्म करके सुखी होंगे। फिर जवान होते हैं तो कहते हैं कि वृद्धावस्था में धर्म करेंगे; परन्तु भाई! धर्म बचपन जवानी अथवा वृद्धावस्था में नहीं है, परन्तु आत्मा में है, उसमें ढूँढ़ तो सुखी होगा।

अज्ञान के कारण रस्सी में सर्प का अध्यास होने से, रस्सी में सर्प मान लेने से—अरे! यह सर्प है; ऐसा करके लोग भयभीत होकर भागते हैं, परन्तु भाई ठहर तो, देख तो सही! यहाँ से सब आ जा रहे हैं तो भी वह हिलता तक नहीं है, ऐसा का ऐसा पड़ा है; इसलिए सर्प नहीं रस्सी है—ऐसा निश्चित तो कर! निश्चित करके दौड़-धूप करना छोड़ दे।

जिस प्रकार रस्सी में सर्प का आरोप करके दौड़ा, उसी प्रकार अज्ञानी परपदार्थ में सुख का आरोप करके दौड़-धूप करता है; परन्तु अपना स्वभाव उदासीन ज्ञाता है, शुद्ध शान्त पवित्र है, उसे न जानने से, उसकी श्रद्धा न करने से पर में आकुलित होकर पर का कर्ता होता है। मनुष्यों को निवृत्ति लेकर अन्तर में समझने की ओर हित करने की दरकार ही नहीं है, आकांक्षा ही नहीं है, इससे जिसमें अपना हित है, उस हित के मार्ग पर नहीं चलते।

जिस प्रकार समुद्र में पवन के वेग के कारण तरंगों के समूह के समूह उछलते हैं, वैसे ही अज्ञानी के अज्ञान के कारण राग-द्वेषरूप विकल्पों की तरंगें उठती हैं; क्षण में ऐसा होता है कि व्यापार करना चाहिए, और घड़ी में ऐसा लगता है कि सट्टा करें तो पैसा जल्दी एकत्रित हो। फिर, विचार करता है कि लड़के का विवाह कोई अच्छा सम्बन्ध ढूँढ़कर जल्दी कर दूँ तो अच्छा है; पश्चात् विकल्प करता है कि यह लड़कियाँ बड़ी हो गयी हैं, अगर इनका सम्बन्ध जल्दी हो जाये तो अच्छा है, लड़कों की तो कोई चिन्ता नहीं है। फिर

दूसरा विकल्प उठता है कि इस शरीर में कुछ-कुछ रोग सा रहता है, अगर मिट जाये तो अच्छा है; और बाद में सोचता है कि रोग तो जब मिटना होगा तब मिट जायेगा परन्तु अभी तो भूख लगी है इसलिए खा तो लूँ—आदि अनेक प्रकार के विकल्प करता रहता है; क्रोध के, मान के, माया के, इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्पों के ढेर के ढेर करता रहता है; आत्मा तो शुद्ध ज्ञानघन है, परन्तु उसका भान न होने से अनेक प्रकार के विकल्पों का कर्ता होता है।

समुद्र पवन से क्षोभ पाकर विडोलित होता है, उसी प्रकार चैतन्य भगवान राग के विकल्पों से डोलता है। अनेक प्रकार की आकुलता की वृत्तियों से डाँवाडोल है, उनमें किंचित् शान्ति नहीं है, तथापि अविनाशी सुख से पूर्णरूप आत्मा की श्रद्धा नहीं करता इससे दु:खी होता ही रहता है।

अपने आत्मा को जानने का प्रयत्न करे कि मैं तो ज्ञाताज्योति हूँ, जो कुछ हो उसे जानते रहना ही मेरा स्वरूप है; परन्तु ऐसा हुआ और वह हुआ—वैसे विकल्प करना मेरा स्वरूप नहीं है;—ऐसे अपने मुक्तानन्द स्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करे तथा उसमें स्थिर हो, वही सुख का उपाय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही सुख का उपाय है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई सुख का उपाय नहीं है।

आत्मा ज्ञान से कर्ता नहीं हुआ है—ऐसा अब कहते हैं:—

(वसन्ततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो,
जानाति हन्स इव वा:पयसोर्विशेषम्।
चैतन्य-धातु-मचलं स सदाधिरूढो,
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि।।५९।।

अर्थ:—जिस प्रकार हंस दूध और पानी के विशेष को (अन्तर को) जानता है, उसी प्रकार जो जीव ज्ञान के कारण विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होने से, पर के और अपने विशेष को जानता है वह (जैसे हंस मिश्रित हुए दूध जल को पृथक् करके दूध ग्रहण करता है उस प्रकार) अचल चैतन्यधातु में आरूढ़ होता हुआ (अर्थात् उसका आश्रय करता हुआ) मात्र जानता ही है, कुछ भी नहीं करता (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं होता)।

हंस की चोंच में खट्टापन होने से जब वह दूध में चोंच डालता है तब दूध का लोथा हो जाता है और पानी पृथक् हो जाता है; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान द्वारा सच्चा बोध हुआ होने से सच्चा विवेक हुआ होने से, पर की और अपनी भिन्नता को जानता है कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ और यह राग-द्वेष परवस्तु हैं। जिस प्रकार कोई संसार का बुद्धिमान-चतुर मनुष्य संसार का रसिक होने से बाजार में चावल लेने जाये, वहाँ वह घटिया-बढ़िया का विवेक करता है; उसी प्रकार ज्ञानी अपने स्वरूपानन्द का रसिक होने से निर्विकारी, ज्ञानस्वभावी आत्मा का और राग-द्वेषरूप विकारी भावों का विवेक करता है, पृथक् जानता है।

जिस प्रकार हंस मिश्रित हुए दूध जल को पृथक् करके दूध को ग्रहण करता है, उसी प्रकार धर्मात्मा ज्ञानी-जीव अचल चैतन्य में आरूढ़ होता हुआ, अपने स्वभाव का आश्रय करता हुआ, मात्र ज्ञाता ही रहता है—साक्षीरूप ही रहता है, परन्तु अज्ञानमय भावों का कर्ता नहीं होता।

पर का और अपना पृथक् विवेक होने से आत्मा पर का ज्ञाता ही रहता है, परन्तु कर्ता नहीं होता। ज्ञाता रहने में अनन्तगुनी क्रिया है। पर का कर्ता नहीं हुआ और ज्ञातारूप रहा, उस ज्ञातारूप रहने में अनन्तगुनी क्रिया है, वही चैतन्य की क्रिया है। जड़ की क्रिया से धर्म मानना और शुभरागरूप व्यवहार जो कि बन्ध का कारण है—उससे धर्म मानना सो अज्ञान है।

अब, ऐसा कहते हैं कि—जो कुछ ज्ञात होता है, वह सब ज्ञान से ही ज्ञात होता है:—

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञाना-देव ज्वलन-पयसोरौष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था,
ज्ञाना-देवोल्लसति लवण-स्वाद-भेद-व्युदासः।
ज्ञाना-देव स्व-रस-विकसन्नित्य-चैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्।।६०।।

अर्थः—(गरम जल में) अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता का भेद, ज्ञान से ही प्रगट होता है। शाक के स्वाद में नमक के स्वाद की बिल्कुल भिन्नता ज्ञान से ही प्रकाशित होती है। निजरस से विकसित नित्य चैतन्य धातु का और क्रोधादि भावों का

भेद, कर्तृत्व को (कर्तापने के भाव को) भेदता हुआ—तोड़ता हुआ, ज्ञान से ही सच्चा विवेक ज्ञान प्रगट होता है। कुछ क्रियाकाण्ड से ज्ञान प्रगट नहीं होता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है वही पर को और अपने को जाननेवाला है। अग्नि के निमित्त से पानी की वर्तमान में होनेवाली उष्णता और पानी के मूलस्वभाव की शीतलता भी ज्ञान द्वारा ही प्रकाशित होती है। मेरा स्वभाव क्या है, मेरा स्वभाव ठण्डा या गरम है—इत्यादि कुछ भी पानी नहीं जानता किन्तु ज्ञाता ही उसे जानता है।

करेले का शाक, लौकी का शाक इत्यादि शाकों का स्वाद और उसमें डाले हुए नमक का स्वाद—उसकी बिल्कुल भिन्नता ज्ञान द्वारा ही जानी जाती है। शाक और नमक नहीं जानते कि हम कैसे स्वादवाले हैं। नमक को खबर नहीं है कि मेरा स्वभाव कैसा है और शाक को भी अपने स्वभाव की खबर नहीं है; वे दोनों जड़स्वभावरूप हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान है।

अनेक मनुष्य कहते हैं कि ज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु मस्तिष्क-दिमाग द्वारा जाना जाता है। परन्तु भाई! मस्तिष्क तो जड़ है, जड़ में से जानना नहीं आता, जानने की क्रिया ज्ञाता तत्त्व में होती है। यदि मस्तिष्क में ज्ञान होता हो तो मुर्दे को भी ज्ञान होना चाहिए परन्तु उसे ज्ञान नहीं होता, इससे ज्ञातातत्त्व शरीर से पृथक् है। मस्तिष्क जड़ है, ज्ञाता तत्त्व चैतन्य है; चैतन्य चैतन्य की क्रिया द्वारा जानता है, मन इन्द्रिय और मस्तिष्क भी कुछ नहीं जानता किन्तु ज्ञाता ही सब कुछ जानता है।

निजरस से विकसित चैतन्यधातु और क्रोध, माया, लोभ का भेद—इन दोनों का भिन्नत्व ज्ञान ही जानता है, ज्ञान ही उन्हें पृथक् देखता है। मैं कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कार्य—ऐसा कर्तृत्व को तोड़ता हुआ ज्ञान प्रगट होता है; ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से, स्व का भी विवेक करता है और पर का भी विवेक करता है। यह क्रोधादि विभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ—इस प्रकार ज्ञायक पर दृष्टि डालकर उसके अस्तित्व को जानकर जो भेदविज्ञान करता है, वह कर्तृत्व को छोड़ता है।

आत्मा का अपरिचित-अज्ञानी शुभाशुभभावों को करता है, परन्तु जड़ के भावों को कदापि नहीं करता; आत्मा अज्ञान भाव से या तो राग-द्वेष करता है और यदि ज्ञानभाव से रहे तो राग-द्वेष का ज्ञाता रहता है, उसके अतिरिक्त वह अन्य कुछ नहीं करता। लड़के का

कुछ कर सकता है या नहीं ? कुछ भी नहीं कर सकता; मात्र पुत्र सम्बन्धी राग-द्वेष को कर सकता है; उसी प्रकार धन, शरीरादि किसी का कुछ किया ही नहीं जा सकता, मात्र उस सम्बन्धी राग-द्वेष कर सकता है; पर के कर्तृत्व का मूल कारण अज्ञान है।

खारापन और शाक-दोनों पृथक् हैं, ऐसे पृथक्त्व का विवेक ज्ञान करता है; जल की वर्तमान अवस्था में उष्णता है, और त्रिकाली स्वभाव शीतल है—ऐसा विवेक ज्ञान करता है; क्रोधादि और चैतन्य स्वभाव-दोनों भिन्न हैं—वैसा विवेक भी ज्ञान करता है; पुण्य-पाप के क्षणिक भाव पानी की उष्णता जैसे हैं; वे भाव मैं हूँ, वह मेरा कार्य है—वैसा अज्ञानी अज्ञानभाव से करता है। पुण्य-पाप की उष्ण-क्षणिक पर्याय मैं नहीं हूँ, मैं तो नित्य ज्ञान शान्तिमय शीतल स्वभाव से हूँ—ऐसा ज्ञानी विवेक करते हैं। नमक और शाक के स्वाद को अभेद करनेवाला अज्ञानी अज्ञानभाव को करता है। नमक और शाक के स्वाद को पृथक् जाननेवाला ज्ञानी विवेकज्ञान करता है। इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान करता है और अज्ञानी अज्ञान करता है।

अब, अज्ञानी भी अपने ही भाव को करता है परन्तु पुद्गल के भाव को कभी नहीं करता—ऐसे अर्थ का, आगे की गाथा की सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

अज्ञानं ज्ञान-मप्येवं कुर्वन्नात्मान-मञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ।।६१।।

अर्थः—इस प्रकार वास्तव में अपने को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है, परभावों का (पुद्गल के भावों का) कर्ता तो कभी नहीं है।

क्रोध, मान, माया, हर्ष, शोक, वेद, विकार इत्यादि विभावभाव मेरे हैं, मैं इनका कर्ता हूँ और यह मेरे कार्य हैं—इस प्रकार अज्ञानी अज्ञानभावों को करता है; परन्तु क्रोधादि विकार मेरे नहीं हैं, और चैतन्यमूर्ति ज्ञान आननद का सागर अनन्त गुणों से भरा हुआ है वही मैं हूँ—उसे जानना, मानना और उसमें स्थिर होना ही मेरा कार्य है—ऐसा जानता हुआ ज्ञानी ज्ञानभावों को करता है।

प्रश्नः—आत्मा ज्ञानभाव से तो पर का कुछ नहीं करता, परन्तु विभावभावों द्वारा तो पर का कुछ कर सकता है या नहीं ?

उत्तर:—आत्मा विभावभावों को कर सकता है, परन्तु उन विभावभावों द्वारा परद्रव्य का या परभावों का कुछ भी नहीं कर सकता।

इसी बात को दृढ़ करते हैं:—

(अनुष्टुप्)

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।६२।।

अर्थ:—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वत: ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करेगा? आत्मा परभावों का कर्ता है—ऐसा मानना (तथा कहना) वह व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।

आत्मा तो ज्ञाता ज्ञानस्वरूप है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है—ऐसा गुण-गुणी का भेद करके कहा है और पश्चात् कहा है कि आत्मा स्वत: ही ज्ञान है। पहले कहा कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, और फिर कहा कि आत्मा स्वत: ही ज्ञान है—इस प्रकार अभेद कहा है। जो ज्ञान है वही मैं हूँ—ऐसी ज्ञान की प्रतीति, ज्ञान का ज्ञान और ज्ञान की रमणता—यह तीनों ज्ञान में आ गये; ज्ञान-दर्शन और चारित्र—उन तीनों का समावेश ज्ञानस्वरूप आत्मा में हो गया। आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या कर सकता है? अपने स्वभाव को ही कर सकता है, पर का कुछ नहीं कर सकता तथापि परभावों का कर्ता मानना वह व्यवहारी जीवों का मोह है। लड़के, स्त्री, मकान आदि पर पदार्थों का मैं कर सकता हूँ या मैं उनका कुछ कर देता हूँ—ऐसी मान्यता वह व्यवहारी जीवों का मोह है। जितने भेद पड़ें, प्रकार हों, वे सब व्यवहार के होते हैं; उस पराश्रय रूप व्यवहार में एक हो गया और पृथक् न रहा वह अज्ञानी है। पर का मैं कर्ता हूँ—ऐसा व्यवहारी जीवों का मोह है॥९७॥

अब कहते हैं कि—व्यवहारी जीव ऐसा कहते हैं:—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि।।९८।।

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि।।९८।।

अर्थ:—व्यवहार से अर्थात् व्यवहारीजन मानते हैं कि जगत में आत्मा घड़ा, रथ इत्यादि वस्तुओं को, तथा इन्द्रियों को, अनेक प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों को और शरीरादि नोकर्मों को करता है।

व्यवहार अर्थात् वर्तमान दृष्टि से—स्थूलदृष्टि से जगत के जीव ऐसा मानते हैं कि मैं घड़ा बनाता हूँ, मैं कपड़ा बुनता हूँ, मैं रथ बनाता हूँ अर्थात् मैं वाहन बनाता हूँ, मैं मकान बनाता हूँ, पुस्तक बनाता हूँ, मैं उपदेश देता हूँ—इत्यादि पर वस्तुओं का अज्ञानी जीव कर्ता होता है। शरीर की इन्द्रियों को मैं अच्छा रखता हूँ, आँखों को जिधर फेरना हो उधर मैं फेर सकता हूँ; मैं जीभ द्वारा रस का स्वाद ले सकता हूँ, मैं बोल सकता हूँ, जैसा बोलना हो उसी प्रकार जीभ को हिला सकता हूँ—इत्यादि पाँचों इन्द्रियों का अज्ञानी कर्ता होता है।

नवीन कर्म बँधते हैं उन्हें मैं बाँधता हूँ; ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय इत्यादि जड़कर्मों को मैं बाँधता हूँ—ऐसा अज्ञानी जीव मानता है। शरीरादि नोकर्मों को भी मैं करता हूँ—ऐसा व्यवहारी जीवों का व्यामोह है। शरीर मुझसे चलता है, मुझसे उठता-बैठता है, मुझसे बोलता है, इत्यादि प्रकार से शरीरादि नोकर्म का अज्ञानी कर्ता होता है।

कोई कहे कि शरीर यदि अपने आप चलता हो तो जब उसे चलना होगा तब अपने आप चलकर तुम्हारे घर आयेगा! भाई! दूसरे के यहाँ जाने का भाव हो उस समय यदि शरीर के चलने का उदय हो तो अपने भाव का और शरीर का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होने से दूसरे के घर जाया जाता है; अपने भाव का और शरीर का लगभग सम्बन्ध होने से-शरीर मुझसे चलता है—ऐसा अज्ञानी को भासित होता है, परन्तु शरीर तो उसके अपने कारण से ही चलता है, वह आत्मा के भाव से नहीं चलता, यदि वह आत्मा के भाव से चलता हो तो जब बीमार पड़ता है और शरीर दुर्बल हो जाता है तब भी चलना चाहिए; उस समय अपने चलने के बहुत भाव होते हैं तथापि शरीर में अशक्ति होने से नहीं चल सकता; इसलिए शरीर तो उसके स्वशक्ति के स्वतन्त्र परिणमन के कारण ही चलता है, परन्तु व्यवहार में ऐसी लम्बी भाषा नहीं बोली जाती। पानी का लोटा लाओ—ऐसा कहा जाता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है; लोटा तो पीतल का है, परन्तु उपचार से पानी का लोटा कहा जाता है; उसी प्रकार शरीर की क्रिया शरीर से शरीर की शक्ति अनुसार होती है परन्तु अज्ञानी मानता है कि मुझसे होती है।

आत्मा के अतिरिक्त कोई बाह्य वस्तु आत्मा के हाथ में नहीं है, तथापि अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि—हम थे तो सब व्यवस्था कर दी, सब निर्विघ्न समाप्त हो गया। इन्द्रियों का, कर्मों का और नोकर्मों का कर्ता मैं हूँ—वैसा माने वह आत्मा के स्वभाव से अजान होने से, भगवान का भक्त नहीं है, किन्तु मूढ़तारूप मिथ्यावासना का भक्त है।

जिससे अर्थात् संयोग में एकताबुद्धि से अपने विकल्प-इच्छा द्वारा और मन-वचन-काय के (हस्तादि की क्रियारूप) व्यापार द्वारा यह आत्मा घट इत्यादि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कर्मों को करता हुआ (व्यवहारियों को-अज्ञानियों को) प्रतिभासित होता है।

देखो, इसमें क्या कहा ? कि अज्ञानियों को ऐसा दिखायी देता है कि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कर्मों को आत्मा करता है, अर्थात् इसका अर्थ यह है कि वास्तव में आत्मा परद्रव्यों का कर्ता है ही नहीं। भ्रान्ति से मिथ्यादृष्टि द्वारा ऐसा भासित होता है परन्तु सच्चे ज्ञान से ऐसा मानते नहीं, इसमें तो सभी बात आ गयी। स्त्रियाँ चावल बनायें खिचड़ी बनायें, रोटी बनायें, बुनाई-सिलाई का काम करें इत्यादि, उन सबका कर्ता आत्मा नहीं है, उन सभी वस्तुओं की व्यवस्था चैतन्य के हाथ में नहीं है, उनकी अवस्था इस प्रकार की होना हो तब स्त्री का निमित्त होता है। और आत्मा नित्य अमूर्तिक ज्ञानरूप है—स्त्री पुरुष आदि अन्य रूप नहीं है। व्यवहार से मूर्तिक कहने से भी आत्मा कभी मूर्तिक जड़क नहीं हो सकता।

कोई कहे कि हम मोती के दानों जैसे तो अक्षर लिखते हैं, परन्तु भाई! वे अक्षर करना वह तेरे हाथ की बात नहीं है, यदि अक्षर न होना हो तो अंगुली में चोट लग जाती है, लिखते-लिखते अंगुली अकड़ जाती है, इसलिए सुन्दर अक्षर करना वह आत्मा के हाथ की बात नहीं है। जब अक्षर सुन्दर होना होते हैं तब हाथ का अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है, परन्तु कलम, कलम में है और हाथ, हाथ में; किसी के कार्य का कोई कर्ता नहीं है; दोनों स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं। कलम (लेखनी) में हाथ का अन्योन्य अभाव है और—उन दोनों में जीव का और जीव की इच्छा का त्रिकाल अत्यन्त अभाव, परस्पर अत्यन्त अभाव होने से परस्पर किसी का कुछ भी करने में असमर्थ है।

जीव तो-अज्ञान भाव से इच्छा और योग के कम्पन का कर्ता है, इन्द्रियों का या शरीर की क्रिया का तो अज्ञानी भी कर्ता नहीं है। संयोगमात्र को देखनेवालों को मिथ्याभिमान चढ़ गया है; पर का मैं ऐसा कर दूँ और यह कर दूँ; परन्तु स्वत: परसत्ता में कुछ भी नहीं कर सकता, अपने भाव में मात्र संकल्प-विकल्प करता रहता है।

क्रोधादि समस्त अन्तरंग कर्म और बाह्य द्रव्यकर्म तथा नोकर्म—वे दोनों परद्रव्यस्वरूप होने से उनमें अन्तर नहीं हैं। व्यवहारी जीवों की ऐसी मूढ़ता है कि शरीर को हम ऐसा चला सकते हैं, कण्ठ को सुरीला कर सकते हैं, वाणी मधुर बोल सकते हैं—इत्यादि परद्रव्य का कर्तृत्व मानकर मूढ़ता का सेवन करते हैं। अज्ञानभाव से क्रोधादि विकारों का, द्रव्यकर्म का और नोकर्म का आत्मा कर्ता होता है।

परद्रव्य के कर्तृत्व का अभिमान किये हो, और उसमें जो चाहे वह न हो, तो वहाँ ऐसी कषाय चढ़ती है कि मर जाता है; पाँच लाख की पूँजी लगा रखी हो और उसमें नुकसान हो जाये तो शर्म-शर्म हो जाती है, और सोचता है कि अब तो मर जायें तो, शान्ति हो—झंझट दूर हो; [तो क्या वहाँ मौसी या मामी बैठी हैं? कहें कि—'आओ भानेज! यहाँ तुम्हारे लिये पलंग बिछा है']—वैसा कहनेवाला परभव में कोई नहीं बैठा है। जैसे परिणाम किये होंगे वैसी गति में चला जायेगा; कहीं कौवा, कुत्ता या नरक-निगोद में चला जायेगा। मान-सम्मान बना रहना वह पुद्गल की क्रिया है, उसमें तेरे आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं है। पर चीज़ किसी प्रकार शरणदाता नहीं है, कि कोई वस्तु पराधीन भी नहीं है।

घट, पट, कर्म, नोकर्म, कीर्ति, लक्ष्मी आदि परद्रव्यों का में रक्षक हूँ और मैं उनका नाशक हूँ—ऐसा मानना वह व्यवहारी लोगों का अज्ञान है ॥९८॥

अब ऐसा कहते हैं कि—व्यवहारी लोगों की यह मान्यता सत्य नहीं है:—

जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता।।९९।।

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता।।९९।।

अर्थ:—यदि आत्मा परद्रव्यों को करे तो वह नियम से तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय हो जाये, परन्तु तन्मय नहीं है, इससे वह उनका कर्ता नहीं है।

भगवान आचार्यदेव न्याय रखा है कि यदि आत्मा परवस्तु को करे तो वह नियम से परवस्तु में एकमेक हो जाये; परन्तु वह परवस्तु में एकमेक नहीं होता इसलिए परवस्तु का कर्ता नहीं है।

मेज-कुर्सी या किवाड़ इत्यादि वस्तुएँ सुतार (-बढ़ई) नहीं बनाता परन्तु जब वह सब होना होता है तब इस प्रकार का राग करनेवाला सुतार उपस्थित होता है; किन्तु यदि सुतार ऐसा मानता है कि यह सब मुझसे होता है तो वह उसकी मूढ़ता है।

आत्मा यदि शरीर, वाणी, घट, पट, रथ, मकान इत्यादि परद्रव्यों की कोई भी अवस्था करे तो वह अवश्य तन्मय हो जाये परन्तु वह तन्मय नहीं होता, उन रूप नहीं होता, इसलिए वह पर का कर्ता नहीं है।

यह कार्य मुझे बहुत ही अच्छा करना था; परन्तु अमुक व्यक्ति ने बीच में आकर सब बिगाड़ दिया; किन्तु भाई! वह बिगड़ना था इससे बिगड़ा, जो होना था वह हुआ, पर के दोष निकालना छोड़ दे, और इस प्रकार यथार्थ दृष्टि से देख तो कितनी शान्ति और आकुलता दूर हो जाये।

रुपया-पैसा किसी के रखने से नहीं रहता, कोई किसी को बनाये रखने में समर्थ नहीं है, और न कोई किसी का विनाश करने में समर्थ है। परमाणु का स्वतन्त्र परिणमन हो वैसा होता है। अमुक ने आकर मुझे हानि पहुँचायी इससे सब पैसा चला गया और अमुक व्यक्ति की सहायता से पैसा मिला—ऐसी मान्यता मूढ़ता है।

यदि यह आत्मा निश्चय से या व्यवहार से परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे तो, परिणाम-परिणामीपना अन्य किसी प्रकार नहीं बन सकने के कारण, वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये; परन्तु वह तन्मय नहीं होता।

परिणामी अर्थात् अवस्था का करनेवाला (-कर्ता) और परिणाम अर्थात् जो अवस्था होती है, वह (कर्म)। घट, पट, रथ की अवस्था होती है, वह परिणाम है और आत्मा परिणामी होकर यदि उन घट-पटादि परिणामों को करे तो वह जड़ हो जाये; यदि आत्मा जड़ की अवस्था को करे तो परिणाम और परिणामी दोनों एक हो जायें, इससे आत्मा जड़ हो जाये। क्योंकि जो कर्ता हैं वे क्रिया से तन्मय हुए बिना (व्यापक एकमेक हुए बिना) कर्ता नहीं हो सकते, तो क्या किसी की सत्ता में किसी का प्रवेश हो सकता है?

आत्मा यदि घड़े को बनाये तो वह घड़े में प्रविष्ट हो जाये—घड़ा हो जाये; यदि आत्मा मकान का कर्ता हो तो मकानरूप हो जाये, शरीर का कर्ता हो तो शरीररूप हो जाये, रथ का कर्ता हो तो रथमय हो जाये और आत्मा आठ-कर्मों का कर्ता हो तो अष्टकर्ममय

हो जाये, अन्य जीव का कुछ कर सकें तो अन्य जीवरूप हो जायें इससे आत्मा स्वतन्त्र स्वसत्ता रूप नहीं रहेगा परन्तु परद्रव्यमय हो जायेगा। पर्याय और पर्याय का किसी भी प्रकार पृथक्त्व नहीं हो सकता; इससे यदि आत्मा परद्रव्य को करे तो पर्याय और पर्यायी— दोनों एक हो जायें; परन्तु आत्मा परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता।

गरम उकलते हुए शीरे को यदि स्वतः करता हो तो स्वयं शीरे में एकमेक हो जाना चाहिए, खीर या गुलाबजामुन का यदि आत्मा कर्ता हो तो उसे उनरूप हो जाना चाहिए, कारण कि पर्याय और पर्यायी दोनों एक होते हैं, अलग नहीं होता इससे यदि आत्मा परद्रव्य में कुछ करे तो वह उसमय हो जाना चाहिए, परन्तु वैसा तो नहीं होता। पर्यायी आत्मा अपनी चैतन्य पर्याय का कर्ता है परन्तु पर की अवस्था का कर्ता नहीं है; कारण कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति (-दोष) आ जाये; इसलिए आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है। अर्थात् पर चीज़ में व्याप्य-व्यापकपना नहीं होने से किसी भी प्रकार-परद्रव्य की पर्याय का कर्ता नहीं हो सकता।

मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मान रहा है कि मुझसे पर के कार्य होते हैं; उससे आचार्यदेव यह व्याप्य-व्यापक का सूत्र कहकर अस्वीकार करते हैं कि तू किसी भी प्रकार का कर्ता नहीं है। व्याप्य अर्थात् जो जड़ की अवस्था में प्रविष्ट नहीं हो गया है, और प्रविष्ट हुए बिना उसका कर्ता माने वह बिल्कुल मिथ्या बात है। जो जिसमें प्रविष्ट हो जाये वही उसका कर्ता हो सकता है, पर में प्रविष्ट नहीं हो सकता इसलिए पर का कर्ता नहीं है। साथ में-उपस्थित रहनेवाला ऐसा मानता है कि मुझसे पर का कार्य होता है, तो ऐसा माननेवाला बिल्कुल असत्य का सेवन करनेवाला है। स्वतन्त्र सत्रूप-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप किसी भी वस्तु को नहीं मानता। एक वस्तु दूसरी वस्तु में कुछ भी करे तो दोनों द्रवय एक हो जायें; एक वस्तु में दूसरी वस्तु की नास्ति है, सभी द्रव्यों की स्वतः अपने से अस्ति है; स्वतः अपने से सत् हैं और पर से असत् हैं। किसी द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है। कोई भी वस्तु अन्य वस्तुरूप हो तो उस वस्तु का नाश हो जाये, इसलिए आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से दूर रहकर भी परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है। एक वस्तु अन्य वस्तु में प्रविष्ट हुए बिना कर्ता-कर्मपना नहीं हो सकता; कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में प्रविष्ट होता ही नहीं इसलिए आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म (-कार्य) का कर्ता नहीं है।

आत्मा घड़ा, मकान, वस्त्रादि परवस्तुओं का कर्ता नहीं है, क्योंकि उसका परवस्तु के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है। व्याप्य अर्थात् अवस्था और व्यापक अर्थात् वस्तु स्वत:। आत्मा परद्रव्य में या परद्रव्य को कुछ नहीं कर सकता, कारण कि परिणाम-परिणामीपना एक द्रव्य में ही हो सकता है। शरीर की हिलने-डुलने की अवस्था का कर्ता आत्मा नहीं है, यदि वह उसका कर्ता हो तो उसमें तन्मय हो जाये।

शरीर की जो क्रिया होती है, वह उसके उपादानरूप निज शक्ति से होती है, आत्मा उसका निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी कर्ता नहीं है। मकान के रजकणों की जो अवस्था होती है, उसमें रजकण अपने आप व्यवस्थितरूप से आये वह रचना-क्रिया उनकी क्रियावती शक्ति के कारण हुई है। मिट्टी के घड़े की अवस्था उसकी अपनी क्रियावती शक्ति के कारण हुई है, कुम्हार उसका कर्ता नहीं है। उपादानरूप से तो कुम्हार कर्ता नहीं है, किन्तु निमित्त-नैमित्तिक रूप से है या नहीं—उसका स्पष्टीकरण आगे की गाथा में आयेगा॥९९॥

आत्मा (व्याप्य-व्यापकभाव से तो कर्ता नहीं है परन्तु) निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी कर्ता नहीं है—ऐसा अब कहते हैं:—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता।।१००।।

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता।।१००।।

अर्थ:—जीव घट को नहीं करता, पट को नहीं करता, शेष किन्हीं भी द्रव्यों को (परद्रव्य की किसी भी अवस्थाओं को) नहीं करता; परन्तु जीव का योग और उपयोग घटादि को उत्पन्न करनेवाले निमित्त हैं, उन योग-उपयोग का कर्ता जीव होता है।

आत्मा घड़े की अवस्था को नहीं करता, खिचड़ी की अवस्था को नहीं करता, शरीर की अवस्था को नहीं करता, वस्त्र की अवस्था को नहीं करता, अन्य किसी भी परवस्तु की अवस्था को नहीं करता। परन्तु योग अर्थात् योग गुण की कम्पन दशा और उपयोग अर्थात् इच्छा-विकल्परूप विकारी भाव अर्थात् अशुद्ध उपयोग उसका अज्ञानी

कर्ता है, और योग तथा उपयोग परवस्तु की अवस्था को निमित्त हैं; योग का अर्थ बाह्य के जड़ योग नहीं समझना चाहिए परन्तु चैतन्य के प्रदेश में चंचलतारूप कम्पन समझना चाहिए।

जो योग और इच्छा का कर्ता होता है और जिसका लक्ष्य पर के ऊपर है, वह ऐसा मानता है कि मैं पर का निमित्तरूप से कर्ता हूँ। वस्तु अखण्ड है—ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है, वह निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है; वस्तु कर्ता नहीं है इससे वस्तु की दृष्टिवाला भी कर्ता नहीं है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। आत्मवस्तु स्वत: घट-पटादि होने में निमित्त नहीं है, परन्तु अज्ञानी की वृत्ति निमित्त है। घट करूँ, पट करूँ उस वृत्ति का अज्ञानी कर्ता होता है, इससे अज्ञानी की राग की वृत्ति घट-पट होने में निमित्त मानी है, परन्तु ज्ञानी राग की वृत्ति का स्वामी या कर्ता नहीं होता और उस वृत्ति को अपना नहीं मानता। अखण्ड वस्तुदृष्टि प्रगट हुई है, इससे ज्ञानी परवस्तु की अवस्था का कर्ता नहीं है।

वास्तव में जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म है उसे आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से तो नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आये। और निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्व का (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व रहने का) प्रसंग आ जाये।

आत्मा घट-पटादि को और क्रोधादिक परद्रव्य को व्याप्य-व्यापक भाव से करता ही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मय हो जाये; परन्तु निमित्त नैमित्तिकभाव से भी नहीं करता; यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व बना रहे—वह कभी दूर न हो।

वस्तु स्वत: परद्रव्य की कर्ता नहीं है, परन्तु योग और इच्छा परवस्तु की अवस्था होने में निमित्त हैं किन्तु ज्ञानी योग और इच्छा का कर्ता नहीं है इसलिए ज्ञानी परवस्तु की अवस्था का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। वस्तु स्वत: तो कर्ता नहीं है परन्तु वस्तु की दृष्टिवाला निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है।

अनेक लोग कहते हैं कि मकान की, घट-पट की, भोजनादि परद्रव्यों की अवस्था में आत्मा एकमेकरूप से प्रविष्ट होकर कर्ता नहीं होता किन्तु निमित्तरूप से तो कर्ता होता है न? भाई! यदि द्रव्य कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्व रहे, इसलिए द्रव्य कर्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानी अहंकार वश मानता है कि—द्रव्य का विकारी उपयोग और कम्पन—वे दोनों विकारी पर्यायें परद्रव्य की अवस्था होने में निमित्तरूप से कर्ता हैं, परन्तु उस योग-उपयोग

का अज्ञानी कर्ता होता है, ज्ञानी कर्ता नहीं होता। इसलिए, जिस प्रकार आत्मा कर्ता नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की दृष्टिवन्त परद्रव्य की अवस्था का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। आत्मा की दृष्टिवाले के विकारी अवस्था होती हो, कम्पन और इच्छा होते हों तथापि वहाँ उनका भार नहीं है, (मुख्यता नहीं है) नित्य स्वभाव ऊपर भार है, वस्तु दृष्टि पर भार है, विकारी पर्याय पर भार नहीं है; उसे अपनी पर्याय नहीं मानता इसलिए वह परवस्तु का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है।

वस्तु तो स्वत: निमित्तरूप से कर्ता नहीं है, परन्तु विकारी पर्याय निमित्तरूप से कर्ता है। पर में कर्तापन मानता है। अज्ञानी ने विकारी पर्याय का कर्तृत्व स्वीकार किया है और विकारी पर्याय का झुकाव पर के ऊपर है, इससे अज्ञानी निमित्तरूप से कर्ता है परन्तु ज्ञानी कर्ता नहीं है।

वस्तु तो नित्य-स्थायी है; यदि वस्तु स्वत: कर्ता हो तो पर का कर्तृत्व कभी दूर नहीं हो, और पर का कर्तृत्व भाव अपना स्वभाव हो जाये, इसलिए वस्तु स्वत: पर की कर्ता नहीं है।

सम्यक्त्वी स्त्री रसोई बना रही हो तो भी वह रसोई की निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं होती, क्योंकि नित्य वस्तु स्वत: कर्ता नहीं है और वस्तु के ऊपर दृष्टि है और अनित्य इच्छा का स्वामी नहीं है कर्ताबुद्धि नहीं है इससे निमित्त से भी कर्तृत्व का स्वीकार नहीं करती। अपनी पर्याय में राग होता है; उस राग की पर्याय निमित्त है परन्तु उस राग के ऊपर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है, उसका कर्तृत्व स्वीकार नहीं करती, अपने अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि है, शुद्ध द्रव्य कर्ता नहीं है, इससे शुद्ध दृष्टि भी कर्ता नहीं है—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है।

यदि कुम्हार ज्ञानी हो तो वह भी घड़े का कर्तृत्व निमित्तरूप से भी स्वीकार न करे क्योंकि उसकी दृष्टि वस्तु पर है। ज्ञानी जानते हैं कि योग और इच्छा मेरे हैं ही नहीं, इसलिए मैं निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं हूँ।

वस्तु यदि कर्ता हो तो निमित्तरूप से कर्तृत्व कभी नहीं छूटेगा, इससे नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा। वस्तु यदि निमित्तरूप से कर्ता हो तो केवलज्ञानी भी कर्ता बने रहें और इससे किसी दिन कर्तृत्व नहीं छूट सकेगा।

ज्ञानी मानते हैं कि शरीर, मन, वाणी, घट, पटादि समस्त परवस्तुओं के हम

उपादानरूप से तो कर्ता नहीं हैं, किन्तु निमित्तरूप से व्यवहार से भी कर्ता नहीं हैं। हम स्व-पर को जानते अवश्य हैं परन्तु उसके कर्ता नहीं होते।

ज्ञानी के योग (प्रदेश का कम्पन) और इच्छा होते हैं, परन्तु उनका कर्ता नहीं है, स्वामी नहीं है इसलिए वह वस्तुदृष्टि से परवस्तु का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। अज्ञानी जीव अपने भाव में योग और उपयोग का कर्ता है, इससे वह निमित्तरूप से वस्तु का कर्ता है, ऐसा उपचार से कहा है। इसमें ज्ञानी और अज्ञानी का सारा कार्य आ जाता है।

अनित्य (अर्थात् जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होता-ऐसा) योग और उपयोग ही निमित्तरूप से उसके (परद्रव्यस्वरूप कर्म के) कर्ता हैं। (रागादि विकारवाले चैतन्य परिणामरूप) अपने विकल्प को और (आत्मा के प्रदेशों के चलनरूप) अपने व्यापार को कदाचित् आत्मा अज्ञान से करता होने के कारण, योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो तथापि परद्रव्यरूप कर्म का कर्ता तो (निमित्तरूप से-व्यवहार से भी कभी) नहीं है।

यदि वस्तु कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आये, परन्तु वस्तु कर्ता नहीं है किन्तु अनित्य अर्थात् जो सर्व अवस्थाओं में प्रसरित नहीं होते—ऐसे योग और उपयोग ही निमित्तरूप से परद्रव्यस्वरूप कर्म के कर्ता कहे हैं। जो अनित्य हैं, क्षणिक हैं, वर्तमान क्षणपर्यन्त हैं—ऐसे योग और उपयोग ही परद्रव्य के निमित्तरूप से कर्ता हैं ऐसा उपचार-व्यवहारनय का कथन है। परद्रव्य का कुछ भी कार्य जीव से नहीं हो सकता किन्तु रागादि व्यापार को और प्रदेशों के चलनरूप चैतन्य के व्यापार को अज्ञान से कर्ता है तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो कभी निमित्तरूप से भी नहीं है।

अज्ञान से आत्मा योग और उपयोग का कर्ता तो कदाचित् भले हो तथापि परवस्तु का कर्ता तो आत्मा निमित्तरूप से कभी नहीं है।

अज्ञानी परवस्तु को व्याप्य-व्यापकभाव से तो नहीं करता, परन्तु वे कर्तृत्व बुद्धिवान होने से उसकी दृष्टि पर के ऊपर है इससे निमित्तरूप से कर्ता कहा है; नित्य ज्ञानमात्र स्वरूप में दृष्टि नहीं है और इच्छा और योग पर अज्ञानी की दृष्टि है इससे परवस्तु का कर्तृत्व स्वत: निमित्तरूप से स्वीकृत कर लेता है। मैं नित्य चिदानंदस्वरूप निर्विकार हूँ—वैसा न मानकर मैं इच्छा और कम्पन जितना ही हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है इससे परवस्तु का

कर्तृत्व निमित्तरूप से स्वीकृत कर लेता है। जिस समय हाथ-घटादि की अमुक अवस्था होती हो उस समय इच्छा और योग परवस्तु का कार्य होने में निमित्त हैं, उन इच्छा और योग का अज्ञानी कर्ता हुआ इससे पर का कर्तृत्व स्वत: निमित्तरूप से स्वीकार कर लिया।

आत्मा किसे कहा जाये ? योग और इच्छा वर्तमान हों—इतना आत्मा कहलाता है ?

नहीं; आत्मा योग और इच्छा जितना नहीं है, परन्तु योग और इच्छा से रहित वीतरागता, अचल-अयोगपना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बल इत्यादि अनन्त गुण-पर्याय का पिण्ड है—ऐसा आत्मा यदि निमित्तरूप से भी पर का कर्ता हो तो उसका निमित्तरूप से कर्तृत्व तीन काल में कभी भी नहीं छूटेगा।

ज्ञानी जानता है कि मैं स्व और पर का ज्ञाता हूँ परन्तु कर्ता नहीं हूँ। परवस्तु का उपादानरूप से तो कर्ता नहीं ही है किन्तु निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। अज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर है इससे निमित्तरूप से कर्तृत्व स्वीकार करता है। नित्यस्थायीरूप से न रहनेवाली-ऐसी कम्पन और इच्छा की विभाव पर्याय, जब परवस्तु की अवस्था होनेवाली हो तब निमित्तरूप है, कम्पन और इच्छा का भी स्वामी होता है, वह ऐसा मानता है कि परवस्तु की अवस्था के समय में उपस्थित था, और उसके निमित्त से हुआ कम्पन और इच्छा उसका स्वभाव नहीं है, तथापि उन्हें अपना मान लेता है; उसी प्रकार पर्यायबुद्धि-मूढ़जीव घट-पटादि का निमित्त कर्ता मैं हूँ—वैसा स्वत: मान लेता है।

दाल-रोटी बनाने में, कपड़े पहिनने में, कपड़े बनाने में योग और उपयोग निमित्तरूप से कर्ता हैं ऐसा अज्ञानी मानता है।

प्रश्न:—यह बात समझ में न आये तो भारी भ्रम रह जाये न ?

उत्तर:—हाँ, भारी भ्रम रह जाये। यह बात समझ में आ जाये तो वह भ्रम टालने का मूल है, और न समझे तो अनन्त संसार दु:ख का कारण रूप भ्रम रहने का भी मूल है।

अज्ञानी ने राग और कम्पन को अपना माना है, इससे आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि अपने विकल्प का और अपने कम्पन का कदाचित् अज्ञान से कर्ता है। अज्ञानी ने राग को करनेयोग्य माना है—अपना माना है इससे आचार्यदेव ने 'अपना विकल्प'—ऐसा शब्द लिया है। (परन्तु वास्तव में विकल्प अपना नहीं है क्योंकि नित्य स्वभाव में वह नहीं

है।) राग को अपना मानता है, वह पराधीनतारूप पराश्रय की श्रद्धा रखता है इससे 'यह वस्तु मैंने की है'—ऐसा मानता है।

कोई कहे कि किसी अच्छे कार्य में बुद्धिमान-चतुर मनुष्य हो तो अन्तर पड़ता है न? तू भले मिथ्या माना कर! कोई अन्तर-वन्तर नहीं पड़ेगा, जैसा होना हो वैसा ही होता है।

कोई भी घट, पट, पुस्तक, मकान या व्यावहारिक कार्य आदि परवस्तु की अवस्था उसके अपने कारण से होती है, परन्तु जो साथ उपस्थित होता है, वह मानता है कि मैं इस सबका कर्ता हूँ—वह अज्ञानी है।

प्रश्न:—इसे धर्म कहा जाता है?

उत्तर:—हाँ; यह धर्म कहलाता है। इसे समझने से ही सच्चा धर्म होता है, इसमें एक भी उल्टी-सीधी अपेक्षा मिलाये तो मिथ्यात्व आता है। निमित्त से कथन हो वह दूसरी बात है और निमित्त से कर्तृत्व मानना अलग बात है।

शिष्य गुरु से कहे कि अहो! प्रभो! आपने मेरा परम उपकार किया है, मुझे आपने कृतार्थ कर दिया, आपने मुझे तार दिया—इत्यादि अपने गुणों की पर्याय प्रगट करने के लिये विनय और भक्ति से कहता है, व्यवहार में गुरु के प्रति विनय और नम्रता करता है, गुरु के गुणों का बहुमान करता है और निश्चय से अपने पूर्ण स्वभाव के प्रति विनय, नम्रता और बहुमान करता है।

अभी अपूर्ण है इससे व्यवहार में देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि के गुणों का बहुमान आये बिना नहीं रहता, स्वत: को पूर्णता चाहिए है, निश्चय में अपने को पूर्ण स्वभाव का बहुमान है इससे व्यवहार में देव, गुरु, शास्त्र का बहुमान आये बिना नहीं रहता। देव, गुरु गुण में विशेष हैं, इससे समझकर सामनेवाले पर आरोप करके कहता है कि आपने मुझे तार दिया—वह अलग बात है, परन्तु यदि वैसा मान बैठे तो वह मिथ्या है।

अज्ञानी के इच्छा है, उसी प्रकार ज्ञानी के भी अपूर्णता है वहाँ तक तो इच्छा है परन्तु उस इच्छा को ज्ञानी अपना मानते ही नहीं; इससे ज्ञानी की वह इच्छा नष्ट होने के लिये है। इच्छा, राग, द्वेषादि भावों का कर्ता चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में नहीं है, इसलिए परवस्तु का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है।

जहाँ तक अनित्य पर्याय बुद्धि द्वारा अपने में राग और कम्पन मानता है वहाँ तक वह धर्म का अजान जीव राग और योग का कर्ता तो कदाचित् भले ही हो परन्तु परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो निमित्तरूप से भी नहीं है।

टीका में आचार्यदेव ने पहले कहा कि आत्मा कर्ता नहीं है, और पश्चात् कहा कि अज्ञानी आत्मा कर्ता भले हो। कर्ता तो अवस्था है; कहीं द्रव्यकर्म का कर्ता आत्मा नहीं है परन्तु आत्मा की विकारी अवस्था द्रव्यकर्म की अवस्था होने में निमित्तमात्र है। अज्ञानी आत्मा तो वास्तव में योग और उपयोग का कर्ता है, जड़ का कर्ता नहीं है। परन्तु राग और योग का कर्तृत्व मानता है इससे भी अज्ञानी आत्मा को कर्ता कहा जाता है; किन्तु वास्तव में तो राग को और योग को अपना माना वह आत्मा ही नहीं है—अनात्मा है।

घड़ा बनाने में जिस प्रकार ज्ञानी निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है उसी प्रकार घड़ा फोड़ने में भी निमित्तरूप से कर्ता नहीं है—वैसा समझ लेना चाहिए। अज्ञानी घड़े को फोडने का भी कर्ता होता है। ज्ञानी युद्ध में खड़ा हो तथापि योग और इच्छा का कर्ता नहीं होता। मैं युद्ध का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं हूँ—ऐसा वह मानता है। मैं तो ज्ञायक हूँ, ज्ञातादृष्टा रहनेवाला हूँ और मेरे ज्ञान, दर्शन उपयोग का कर्ता हूँ—ऐसा ज्ञानी मानते हैं।

योग अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का चलन, और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ युक्त होना—जुड़ जाना। यह योग और उपयोग घटादिक तथा क्रोधादिक को निमित्त हैं, इससे उन्हें तो घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्तकर्ता कहा जाता है परन्तु जीवद्रव्य को अनित्य विकार का कर्ता नहीं कहा जाता। किन्तु संसार अवस्था में अज्ञान से मात्र योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि क्रोध और कम्पन मैं हूँ, इससे वह ऐसा स्वीकार करता है कि घटादिक का मैं निमित्तरूप से कर्ता हूँ; परन्तु भगवान आत्मा परवस्तु का निमित्तरूप से कर्ता नहीं कहलाता। आत्मा स्वयं: कर्ता नहीं है, इससे आत्मा का दृष्टिवन्त भी कर्ता नहीं है।

संसारदशा में अज्ञान अवस्था के कारण निमित्तरूप से कर्तृत्व स्वीकार किया है। संसार तो चतुर्थ से चौदहवें गुणस्थान तक भी है; तथापि वह संसार अपने कारण से नहीं किन्तु पर के कारण है, अपनी विकारी पर्याय के कारण है।

आत्मा के नित्य स्वभाव में तो संसार है ही नहीं। जैसा स्वभाव है उसे वैसा-यथावत् जाना श्रद्धा की और अनुभवन किया—वैसे स्वभाव-दृष्टिवन्त के अनित्य संसार दशा का स्वीकार नहीं है। स्वामित्व नहीं है। अपनी स्वभावदृष्टि में संसार नहीं है, अल्पस्थिरता के कारण एकाध भव रहता है—वह बात यहाँ गौण है। दृष्टि स्वभाव पर है, वह मुख्य है, पूर्णपर्याय प्रगट करने का पुरुषार्थ चालू है, इससे पूर्ण पर्याय प्रगट हो जाना है, इसलिए संसार नहीं है। इससे अज्ञानी के संसार गिना है किन्तु ज्ञानी के संसार नहीं गिना है।

इस १००वीं गाथा में द्रव्यदृष्टि की अधिकता है, सम्पूर्ण वस्तुस्थिति इसमें बता दी है। द्रव्यदृष्टि से तो कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है परन्तु पर्यायदृष्टि से भी कर्ता नहीं है किन्तु किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होती है। किसी समय अर्थात् अज्ञान अवस्था में ही योग और राग को अपना मानता है वहाँ तक किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होना-वैसा कहा जाता है; क्योंकि मैं निमित्त हूँ—वैसा माना है, इससे निमित्त होता है ऐसा कहा जाता है। परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्ता है, अन्य द्रव्य की अवस्था अन्य द्रव्य नहीं कर सकता—वह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है। परवस्तु उसके अपने कारण से परिणमित होती है, उसमें कोई अन्य क्या कर सकता है? इस १००वीं गाथा में स्वद्रव्य को सम्पूर्ण स्थित रखा है। पर का कर्ता तो तू निमित्तरूप से भी नहीं हैं—ऐसा कहकर पूर्ण स्वतन्त्रता घोषित की है।

ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है; ज्ञानी के नवीन कर्मबन्ध हो तो उसमें वह निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। कोई कहेगा कि ज्ञानी को अल्प कर्मबन्ध तो होता है न? इससे उसका निमित्त तो हुआ या नहीं? नहीं; उसका भी ज्ञाता है; अल्प इच्छा और योग है उसका भी ज्ञाता है; निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। अहो! इस समयसार में सभी बातें कही हैं, कुछ भी शेष नहीं रखा; वस्तुस्थिति को स्पष्ट समझानेवाला चौदह पूर्व का रहस्य इसमें आ जाता है। किसी ऐसे सुयोग काल में इस समयसार की रचना हुई है कि जिसमें सर्वज्ञ-केवली का हृदय आ गया है। जो इस समयसार को समझ ले उसे धन्य हो जाने का समय है।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता।।१००।।

शरीर की अवस्था, वाणी की अवस्था इत्यादि परवस्तुओं की अवस्था का व्याप्य-व्यापक भाव से तो आत्मा कर्ता नहीं है, परन्तु निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी कर्ता नहीं है—ऐसा इस गाथा में कहते हैं।

मूल गाथा में आता है कि जीव घटादि की अवस्था को नहीं करता। जीव अर्थात् वस्तु स्वत: कर्ता नहीं है; आत्मद्रव्य स्वत: घड़े की अवस्था का कर्ता नहीं है, एक आत्मद्रव्य अन्य आत्माओं की अथवा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी परमाणु की अवस्था का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। वस्तु कर्ता नहीं है इसलिए वस्तु का दृष्टिवन्त भी कर्ता नहीं है।

आत्मा घट-पट का कर्ता नहीं है; एक रजकण से लेकर समस्त जड़ द्रव्यों का कर्ता नहीं है; एक निगोद से लेकर समस्त आत्माओं की अवस्था का वस्तु का दृष्टिवन्त अर्थात् ज्ञानी आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है।

इच्छा और योग का ज्ञानी कर्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानी उनका कर्ता है, उसकी दृष्टि राग और योग पर है; राग और योग का विषय पर है इससे अज्ञानी निमित्तरूप से पर का कर्ता है—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है।

मैं राग और कम्पन जितना हूँ, राग और कम्पन मेरे हैं, मैं उनका कर्ता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, इससे परद्रव्य का कर्तृत्व भी निमित्तरूप से मान लेता है। राग और योग का विषय पर है, तथा द्रव्यकर्म, राग और योग का निमित्त है, इससे राग और योग का कर्तृत्व स्वीकार करते हुए परद्रव्य का कर्तृत्व भी साथ आ जाता है।

घड़े की अवस्था आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से नहीं करता अर्थात् उसमें प्रविष्ट होकर नहीं करता। यदि ऐसा हो तो दो द्रव्य एक हो जायें। घड़े की अवस्था का आत्मा उपस्थित रहकर—निमित्त रहकर भी कर्ता नहीं है; यदि ऐसा हो तो परद्रव्य का कर्तृत्व नित्य बना रहे अर्थात् योग और राग का नित्य कर्ता बना रहे, इससे परवस्तु का कर्ता भी नित्य बना रहे।

व्यवहार से कर्ता का अर्थ यह है कि कर्ता नहीं है निमित्त कर्ता है—निमित्त कर्ता है—ऐसे निमित्त के अभिप्राय के बहाने से जीवों ने निमित्त को उपादान मान लिया है अर्थात् दो द्रव्यों को एक मान लिया है। निमित्त अर्थात् मात्र सामनेवाली वस्तु की

उपस्थिति; जैसे—घड़ा होने में वहाँ कुम्हार की उपस्थिति अनुकूल होती है किन्तु धोबी की उपस्थिति अनुकूल नहीं होती; उस अस्तित्व मात्र निमित्त को जीवों ने निश्चयरूप उपादानरूप से स्वीकार कर लिया है, अर्थात् उपादान और निमित्त को एक मान लिया है। वस्तु का दृष्टिवन्त, परवस्तु का उपस्थिति रूप से भी कर्ता नहीं होता, उपचार से कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति के आने से यह कार्य हुआ; परन्तु स्वभाव दृष्टि उस निमित्त को भी स्वीकार नहीं करती।

जिसमें जो शक्ति है वे ही-क्षेत्रान्तर-रूपान्तर क्रियारूप प्रगट होती है, घड़ा बनते समय कुम्हार अपने में स्थित रहा, उसके हाथ की क्रिया हाथ में हुई, डोरा डोरे में फिरा, हाथ हाथ में फिरा और चाक चाक में फिरा—सभी की क्रिया अपने अपने में होती है; यदि कुम्हार के हाथ ने चाक को घुमाया हो तो उसका हाथ चाक में प्रविष्ट हो जाना चाहिए परन्तु वैसा तो नहीं होता; इसलिए कुम्हार का हाथ इधर से उधर फिरता है वह स्वत: अपने में ही फिरता है—चाक में नहीं फिरता। प्रत्येक द्रव्य स्वत: अपने में स्वतन्त्र परिणमित होता है, परन्तु कुम्हार अज्ञान के कारण मान लेता है कि मैं उपस्थित था इसलिए घड़ा हुआ है। इस प्रकार निमित्त से कर्तृत्व स्वीकार कर लिया है; इसलिए कर्ता नहीं है।

अज्ञानी का लक्ष्य योग में और राग में गया है और योग तथा राग का विषय तो पर है। योग और राग मेरे हैं, मैं उनका हूँ; जिसने राग को अपना माना उसने रागादि का विषय जो परद्रव्य हैं, उन्हें भी अपना माना है। राग का कर्ता हुआ इससे राग का विषय जो परद्रव्य है, उसका भी निमित्तरूप से कर्ता है।

वस्तु स्वत: निमित्तरूप से भी परद्रव्य की अवस्था की कर्ता नहीं है; यदि वस्तु कर्ता हो तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आये। जिसे यह बात नहीं जमती वह चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करेगा। योग और राग का कर्ता होता है इससे परवस्तु की अवस्था का कर्तृत्व स्वीकार कर लेता है; इसलिए जो परवस्तु की अवस्था का कर्तृत्व निमित्तरूप से स्वीकार करता है उसके राग का कर्तृत्व नित्य रहने से कभी भी राग छूटकर निर्विकल्प वीतरागता नहीं होगी। जिसे परवस्तु के कर्तृत्व की पकड़ होती है, वह नहीं सुधरती; किन्तु यदि भूल हो और उसे स्वीकार करे तो सुधर जाती है। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव आयें तो भी जिसने पकड़ की होगी वह नहीं छूटेगी। हमारी भूल है—ऐसा जिन्हें नहीं देखना है और मात्र पकड़ रखना है, वह कैसे सुधरेगी?

कुम्हार को आत्मा का भान होने के पश्चात् यदि लाखों घड़े बनने में वह उपस्थित हो तथापि वह निमित्तरूप से कर्ता नहीं होता। कुम्हार को वीतरागता नहीं हुई है इससे घड़ा बनाने के राग का विकल्प आये, योग की क्रिया भी हो, हाथ की क्रिया हो, योग और राग की क्रिया घड़े को अनुकूल हो—परन्तु उसका वह कर्ता नहीं होता। कुम्हार क्षायिक-सम्यक्त्वी हो तथापि जब तक सम्पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है वहाँ तक उसे घड़ा बनाने का विकल्प उठता है, योग की क्रिया भी होती है, परन्तु निमित्तकर्तृत्व की दृष्टि नहीं है। जो योग और कषाय का कर्ता है, वह निमित्तकर्तृत्व को स्वीकार करता है।

बाह्य वस्तु जैसी की तैसी है, परन्तु विपरीत मान्यता थी तब उस वस्तु का कर्ता होता था और ज्ञान होने पर उसका अकर्ता होता है। मकान, पुस्तक, वाणी इत्यादि परद्रव्य तो वही के वही हैं परन्तु पहले कर्ता होता था और अब, ज्ञान होने से कर्तृत्व छूट गया है।

वाणी की अवस्था वाणी से होती है, ज्ञानी उसका कर्ता निमित्तरूप से भी नहीं होता।

प्रश्न:—भगवान को ऐसा तो कहा जाता है न, कि—हे प्रभो! आपने हम पर करुणा करके दिव्यध्वनि छोड़ी?

उत्तर:—भगवान की वाणी और योग का भगवान के वीर्य के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है इससे, भगवान बोले—ऐसा कहा जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है। एक दूसरे की उपस्थिति में एक दूसरे को अनुकूल, योग्यता के समय क्रिया होती है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु उससे उसमें निमित्तरूप से कर्तृत्व नहीं आता। भगवान के ज्ञान अनुसार वाणी की क्रिया अनुकूल, मेल खाती हुई होती है—ऐसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु उससे निमित्त-कर्तृत्व किंचित् नहीं है। केवली को इच्छा नहीं है—योग है, योग से वाणी खिरे तो निरन्तर क्यों नहीं खिरती इसलिए—किसी से अन्य का कर्तृत्व नहीं है।

ज्ञानी के भी राग की और योग की जो क्रिया होती है वह, घड़ा इत्यादि परद्रव्य की अवस्था को अनुकूल पड़े—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, तथापि वस्तु का दृष्टिवन्त ज्ञानी उसका निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं होता। किन्तु उसका ज्ञान करता है। मकान, पुस्तक, घड़ा आदि बनवाने का विकल्प अस्थिरता के कारण ज्ञानी को होता है—इससे, तथा उस कार्य के होने में ज्ञानी की उपस्थिति होती है—इससे उपचार से उसे कर्ता कहा

जाता है कि इस मनुष्य ने यह कार्य किया; परन्तु वस्तु का दृष्टिवन्त ज्ञानी अस्थिरता का कर्ता नहीं है, योग का भी कर्ता नहीं है तब फिर परद्रव्य की अवस्था कर्ता तो कहाँ से होगा?

विकल्प और योग अपने हैं ही नहीं, परन्तु अज्ञानी ने उन्हें अपना माना है; जिसने विकल्प और कम्पन को अपना माना है उसके कदाचित् अर्थात् अज्ञान प्रवर्तमान है वहाँ तक योग और उपयोग का कर्तृत्व है और उससे निमित्तरूप से पर का कर्ता होता है। अज्ञान स्थायी नहीं रहता परन्तु पलट जाता है, इससे 'कदाचित्' शब्द आचार्यदेव ने कहा है। योग-उपयोग का कर्ता आत्मा भी अज्ञानभाव से भले हो परन्तु परद्रव्य का कर्ता तो कभी भी नहीं है।

यहाँ तो यह सिद्धान्त है कि आत्मा स्वत: और जिसे आत्मा की दृष्टि हुई है वह, परनिमित्त से भी कर्ता नहीं है और पर उसे निमित्त नहीं हैं। उसी प्रकार द्रव्यदृष्टि में छहों-द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं आता। स्वत: अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है; स्वत: अपनेरूप है—वह अस्ति और पररूप नहीं है—वह नास्ति। दर्शन का विषय अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में पर के द्रव्य-गुण-पर्याय के सम्बन्ध का अस्वीकार करता है। छहों द्रव्य स्वत: अपने में अस्तिरूप से हैं और पर में नास्तिरूप से हैं—इस प्रकार से छहों द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी सम्यग्दर्शन के विषय में नहीं है। अरे! दर्शन का विषय तो अपने स्वद्रव्य के गुण-पर्याय के भेद को भी स्वीकार नहीं करता; अनन्त गुण-पर्याय के पिण्डस्वरूप अभेद द्रव्य पर ही उसका लक्ष्य है, अभेद द्रव्य ही उसका विषय है।

दर्शन कारण है और ज्ञान कार्य है। दर्शन पूर्वक हुआ ज्ञान दर्शन को जानता है। दर्शन का विषय अपने द्रव्य में परद्रव्य का अस्वीकार करता है परन्तु ज्ञान पर ज्ञेय को जानता है, ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है। दर्शन का विषय अभेद है; वह अपूर्ण, पूर्ण और विकारी पर्याय को स्वीकार नहीं करता; निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को भी स्वीकार नहीं करता, उसका विषय तो अखण्ड परिपूर्ण स्वद्रव्य है। ज्ञान अभेद और भेद-दोनों को जानता है; वह दर्शन को जानता है, दर्शन के विषय को जानता है, स्वद्रव्य को जानता है, परद्रव्य को जानता है, निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को भी जानता है तथा अपूर्ण, पूर्ण और विकारी पर्यायों को भी जानता है। दर्शन का विषय परिपूर्ण है, अखण्ड, अभेद है। ज्ञान निमित्त-नैमित्तिक को जानता है तथापि कर्ता नहीं होता।

अज्ञानी को द्रव्यदृष्टि का ज्ञान नहीं है इससे उसे अपने अखण्ड स्वरूप का ध्यान नहीं आता; मैं पर का कर्ता हूँ—ऐसा वह मानता है, क्योंकि दृष्टि पर के ऊपर है। अज्ञानी के योग और राग निमित्तकर्ता किसलिए कहे जाते हैं? वह मानता इससे कहलाते है; उसके मान्यता का भावरूप वाच्य है इसलिए निमित्तकर्ता का वाचक शब्द भी है। आत्मा कर्ता नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तु को कर्ता कहो तो वस्तु तो स्थायी है इसलिए नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आयेगा। वस्तुस्वरूप के ज्ञान बिना उपादान की ओर उन्मुखता नहीं होती इसलिए वस्तुस्वभाव का ज्ञान करना प्रयोजनभूत है।

कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता तो कहा नहीं जा सकता, परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी वस्तु की अवस्था किसी समय अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्तभूत होती है। द्रव्यदृष्टि से तो सर्व सम्बन्ध का अभाव है—ऐसी दृष्टि का स्वीकार किये बिना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं जाना जा सकेगा। किसी वस्तु की अवस्था होते समय किसी वस्तु की अवस्था उपस्थित होती है। अज्ञानी पर का कर्तृत्व मानता है, इससे उसे कर्ता कहा है, परन्तु परमार्थ से कोई किसी का कर्ता नहीं है।

१०० वीं गाथा की टीका के प्रथम बोल में आचार्य ने ऐसा कहा कि यदि आत्मा परद्रव्य को करे तो वह परद्रव्य में प्रविष्ट हो जाये, तन्मय हो जाये; इसलिए वह परद्रव्य को व्याप्य-वयापक भाव से नहीं करता। दूसरे बोल में कहा है कि आत्मा परद्रव्य की पर्याय को निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी नहीं करता। पुनश्च कहा है कि यदि आत्मा परद्रव्य की पर्याय को निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी करे तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आये, कर्तृत्व कभी दूर न हो और इससे वह कर्तृत्व छूटकर स्वद्रव्य की निर्मल पर्याय को प्रगट करने का प्रसंग न आये; इसलिए आत्मा परद्रव्य की अवस्था का कर्ता नहीं है; परन्तु अज्ञानी अज्ञान अवस्था से योग और रागादि उपयोग का कर्ता होने से उसकी दृष्टि निमित्त पर है, इससे अज्ञानी के योग-उपयोग की अवस्था सामनेवाले परद्रव्य की अवस्था को निमित्तरूप से कर्ता है, किन्तु सम्यग्ज्ञान ज्ञान अवस्था से योग और रागादि उपयोग का कर्ता नहीं है; इसलिए परद्रव्य का निमित्तकर्ता नहीं है ॥१००॥

अब, ज्ञानी अपने ज्ञान का ही कर्ता है—देखो, परद्रव्य का कर्ता और निमित्तनैमित्तिक

कर्ता निकाल दिया; अब निज में ही अपनी अवस्था का कर्ता है—उसे स्थित रखा है। ज्ञानी ज्ञानपर्याय को करता है, उस समय चारित्र में अल्प राग है इससे नवीन बन्धन होता है, तथापि उसमें मैं निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं हूँ, मात्र उसका मैं ज्ञाता हूँ—वह अब कहते हैं—

(सम्यक् ज्ञानी की पहिचान कराते हैं)

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।१०१।।

ये पुदगलद्रव्याणां परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी।।१०१।।

अर्थ:—जो ज्ञानावरणादिक पुद्गलद्रव्यों के परिणाम हैं—उन्हें जो आत्मा करता नहीं परन्तु जानता है वह ज्ञानी है।

जो ज्ञानावरणादिक कर्म बँधते हैं, उन्हें ज्ञानी जानता है कि—ऐसा हो रहा है, कर्म बँधते हैं; परन्तु कर्ता नहीं होता। जिस प्रकार ज्ञान में परवस्तु ज्ञात होती है उसी प्रकार जो कर्म बँधते हैं उन्हें भी ज्ञानी-धर्मात्मा अपने ज्ञान की वृद्धि सहित जानते हैं। मैं बन्धन को ज्ञातारूप से जानता हूँ, इसलिए मेरे ज्ञान की ही वृद्धि है, बन्धन की वृद्धि नहीं है। जानने का विस्तार हुआ, उसमें ज्ञान विस्तृत हुआ इसलिए ज्ञान की ही वृद्धि हुई—उसमें बन्धन कहाँ आया? इसलिए ज्ञानी के कर्मबन्ध नहीं होता परन्तु निर्जरा हो जाती है—वैसी बात है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, चारित्र गुण में पुरुषार्थ की कमजोरी वश भूमिकानुसार रागादि होते हैं उन्हें ज्ञानी भेदविज्ञान द्वारा जानता है, स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की स्वच्छतारूप ज्ञान की पर्याय में योग्यता ही ऐसी होती है कि भूमिकानुसार इस प्रकार के रागादि को भी जाने। ज्ञान अलग है राग अलग है, ज्ञान, ज्ञान का ही काम करेगा, राग का कार्य चारित्र का है उसमें जीव की भूलरूप विपरीत पुरुषार्थ कारण है किन्तु ज्ञान तो उसे ज्ञेय बनाता हुआ ज्ञानपर्याय की वृद्धि करता हुआ जानता है, ज्ञातृता की ताकत सूक्ष्म होती है, राग के समय भी (सविकल्पदशा होने पर भी) स्वावलम्बी जागृति को बढ़ाता रहता है, फिर भी पुरुषार्थ की मन्दता से अल्प रागादि होते हैं, उसे ज्ञातापन में स्थिरता करके हटाना चाहता

है अर्थात् स्वरूप में लीनता के पुरुषार्थ में वृद्धि करके मुक्ति को प्राप्त करनेवाला है, प्रमादी, स्वच्छन्दी होनेवाला नहीं है।

जिस प्रकार दूध-दही जो कि गोरस द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होने से गोरस के खट्टे-मीठे परिणाम हैं।

गाय के दूध के रस का जो सामान्यपना है उसे गोरस कहा जाता है; गोरस स्वत: व्याप्त होकर खट्टी, मीठी अवस्थारूप परिणमित होता है; उसे गोरस का तटस्थ दिखायी देनेवाला पुरुष नहीं करता। स्त्री दूध जमाती है, वह गोरस को जानती है कि इस दूध में से दही होगा; परन्तु गोरस के खट्टे-मीठे परिणामों को वह स्त्री नहीं करती है। दूध परिणमित होकर दही हुआ, दही परिणमित होकर मक्खन हुआ, मक्खन परिणमित होकर घी हुआ— वह सब गोरस की अवस्था है; स्त्री तो तटस्थरूप से सब देखती रहती है, स्त्री के हाथ की अवस्था कहीं गोरस में प्रविष्ट नहीं हो गयी है। स्त्री तो मात्र जानती ही रहती है।

उसी प्रकार ज्ञानावरण इत्यादि जो कि वास्तव में पुद्गलद्रव्य द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होने से पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, उन्हें ज्ञानी नहीं करता। मात्र जाननेवाला है।

ज्ञानावरणादिक वास्तव में पुद्गल के परिणाम हैं, उन्हें मैं नहीं करता हूँ—वैसा ज्ञानी समझते हैं, क्योंकि ज्ञानावरणादिक कर्म पुद्गल स्वत: व्याप्त होकर होता है, उन्हें मैं कैसे करूँगा? मैं तो तटस्थ ज्ञाता हूँ। जिस प्रकार कोई नदी के किनारे खड़ा हुआ मनुष्य नदी में चाहे जितनी हिलोरें आयें उन्हें देखता ही रहता है। पानी में चाहे जितनी लहरें उठें उसमें देखनेवाले को क्या? उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म चाहे जैसे बँधें, उन्हें ज्ञानी जानता ही रहता है। पुद्गल स्वत: परिणमित होकर कर्मरूप हो उसमें ज्ञानी समझता है कि मुझे इससे क्या? यहाँ द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से कथन है, अस्थिरता की बात गौण है। नित्य अखण्डित ज्ञायक स्वभाव ही मुख्य है, अनित्य रागादि विकल्प अत्यन्त गौण है, यह ज्ञानी साधक की बात है।

जिस प्रकार वह गोरस का देखनेवाला, स्वत: से (अपने दृष्टा भाव से) व्याप्त होकर देखने मात्रपना का कर्ता है। उत्पन्न होनेवाला जो गोरसपरिणाम का दर्शन (दृष्टापना) है उसमें व्याप्त होकर मात्र देखता ही है, उसी प्रकार ज्ञानी, स्वत: से (ज्ञानी से) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला पुद्गलद्रव्य परिणाम जिसका निमित्त है—ऐसा जो ज्ञान है, उसमें

व्याप्त होकर मात्र जानता ही है। इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है।

ज्ञानावरणादिक जो कर्म होते हैं उन्हें ज्ञानी नहीं करता। नहीं करता अर्थात् निमित्त भी नहीं होता—ऐसा यहाँ कहना है। यहाँ द्रव्य दृष्टि का बल है, अस्थिरता की बात गौण रखकर नित्य स्वद्रव्याश्रित दृष्टि से कृतकृत्य-मोक्ष है—ऐसा यहाँ बतलाना है।

ज्ञानी, स्वत: से व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है उसमें व्याप्त होकर मात्र जानता ही है। निमित्त का ज्ञान हुआ इतनी ज्ञान में वृद्धि हुई। पुद्गलद्रव्य में नवीनकर्मरूप जो अवस्था हुई वह और राग के परिणाम—उन सबका दृष्टि में निषेध किया और ज्ञान ने उन सबका ज्ञान किया उसमें ज्ञान का विशेषपना ही होता जाता है। दर्शनगुण में अर्थात् देखने के गुण में वृद्धि की, कि मेरा जानने-देखने का जो सामर्थ्य है उसकी वृद्धि होने में यह एक निमित्त हुआ। निमित्त का ज्ञान किया उससे मेरे ज्ञानगुण, दर्शनगुण और आनन्दगुण अल्प नहीं होते किन्तु वृद्धि को प्राप्त होते हैं। निरन्तर स्वोन्मुखता होने से ज्ञान बढ़ा ही है वैसा प्रतीति में आता है, क्योंकि चाहे जैसे प्रसंगों में ज्ञानी के ज्ञातृत्व की उग्रता होती ही जाती है; ज्ञान, दर्शन, चारित्र सब बढ़ते ही जाते हैं। दृष्टि में राग नहीं विकल्प नहीं, कर्म नहीं; कर्म की पर्याय कर्म में हुई, मुझमें तो निमित्त को जानने के समय भी ज्ञानपर्याय की वृद्धि हुई—इस प्रकार धर्मी जीव अपनी अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायरूप होनेवाला है परन्तु पर की अवस्थारूप होनेवाला नहीं है इसलिए परद्रव्य की पर्याय का कर्ता नहीं है।

कोई कहे कि समझकर लीन होने का ही काम है न? यही अन्तिम फल है न? परन्तु यह सभी पहलू की बात समझे बिना कहाँ लीन होगा? भेदज्ञान किये बिना स्थिर हुआ ही नहीं जा सकता; बिना समझे कहाँ-किसमें स्थिर होगा? विश्वास तो कर कि स्वसन्मुख होने के बाद निरन्तर मेरी ज्ञानपर्याय बढ़ती ही जा रही है, मैं निमित्तरूप नहीं हूँ, साक्षीरूप हूँ, ज्ञानारूप हूँ इसमें तो अनन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी; मेरे गुणों की अवस्था प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती है—वैसा ज्ञान जब द्रव्यदृष्टि प्रगट होगी तभी होता है; द्रव्यदृष्टि प्रगट होने से जो अनन्त पुरुषार्थ प्रगट होता है, केवली परमात्मा का हृदय जाना जाता है, सिद्ध जाति की बानगी देखी जाती है, ऐसी द्रव्यदृष्टि प्रगट होने के पश्चात् ही स्थिर हुआ जा सकता है।

आत्मा राग-द्वेषादि विकार का स्वभावदृष्टि से कर्ता नहीं है, अर्थात् उत्पादक नहीं

है, तो फिर जो ज्ञानावरणादिक कर्म नवीन बँधते हैं, उनका कर्ता तो कहाँ से होगा ? अर्थात् ज्ञानी उनका कर्ता नहीं है।

जिस प्रकार गोरस के खट्टे-मीठे परिणाम को तटस्थ देखनेवाला पुरुष कर्ता नहीं परन्तु दृष्टा है, उसी प्रकार ज्ञानी रागादि का कर्ता नहीं किन्तु दृष्टा है। कर्म की जो अवस्था हो, उसका जो फल आये उसरूप ज्ञानी परिणमित होनेवाला नहीं है और नये कर्मरूप होनेवाला नहीं है अर्थात् कर्ता नहीं है। ज्ञानी जानता है कि अपनी ज्ञान अवस्थारूप ही मैं परिणमित होनेवाला हूँ, परन्तु कर्म की अवस्थारूप मैं परिणमित होनेवाला नहीं हूँ। कर्म दिखायी नहीं देते किन्तु उनका फल दिखायी देता है—उसे ज्ञानी मात्र जानते हैं।

ज्ञानी जानते हैं कि कर्म एक वस्तु है और मैं उसमें युक्त हो जाता हूँ; यदि दूसरी वस्तु न हो तो विकार न हो। यदि मैं स्वाधीन होऊँ तो सिद्धपना और मोक्ष होना चाहिए परन्तु सिद्धत्व तो दिखायी नहीं देता और विकार दिखायी देता है; इसलिए कर्म है, दूसरी वस्तु है—ऐसा उसके फल से सिद्ध होता है। जो विकार दिखायी देता है, वह कर्म का फल है।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, आत्मा पर का कर्ता नहीं है, पर का भोक्ता नहीं है; परन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, किन्तु सम्यग्भान होने से पर का कर्तृत्व छूट जाता है। अनन्त गुणों का पिण्ड स्वाधीन हूँ, स्वाधीन स्वरूप हूँ, मैं पर का कर्ता नहीं हूँ, पर मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं पर अवस्थारूप होनेवाला नहीं हूँ परन्तु ज्ञान की अवस्थारूप मैं होनेवाला हूँ। ज्ञानी के अल्प अस्थिरता होती है, परन्तु उसकी बात यहाँ गौण है।

जिस प्रकार ज्ञानी ज्ञानावरणीय कर्म का कर्ता नहीं है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का भी कर्ता नहीं है; आत्मा में एक दृष्टाशक्ति है उसे आवरणरूप से निमित्त होनेवाला एक दर्शनावरणीय कर्म है, उसे ज्ञानी जानता है परन्तु उसका कर्ता नहीं होता। कोई कहेगा कि ज्ञानी ने कर्म को देखा तो नहीं है फिर वह कर्म को जाननेवाला कैसे हुआ ?

ज्ञानी जानता है कि मेरी दर्शनशक्ति पूर्णतया दृष्टिगोचर नहीं होती, इससे दर्शनावरणीय कर्म है—ऐसा कर्म के फल से प्रतीत होता है। अपनी परिणमन शक्ति स्वत: से ही रुकी हुई है; स्वत: स्वाधीन है, कर्म तो निमित्तमात्र है; उस दर्शनावरणीय कर्म का ज्ञानी ज्ञाता है। कर्म के फल के समय कर्म की अवस्थारूप न होकर अपनी ज्ञान की अवस्था का कर्ता होता है। मेरी अवस्था मेरे आधीन है, पराधीन नहीं है—ऐसा ज्ञानी जानता है।

जीवों को शरीर का नाम इतना पक्का हो गया है कि कोई बिना पूर्व सूचना के आधी रात्रि को बुलाये कि 'ओ... लक्ष्मीचन्द' तो कहेगा कि 'हाँ...' उसमें थोड़ी भी भूल नहीं होगी। उसी प्रकार ज्ञानी को—मैं अपने स्वभाव का ही कर्ता हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ, यह संयोगी वस्तु मेरे अधीन नहीं है और मैं इसके अधीन नहीं हूँ, मैं अपने आधीन हूँ और यह अपने आधीन है, सब स्वतन्त्र हैं। मैं शरीर, मन, वाणी और संकल्प-विकल्प से पृथक् ज्ञायकस्वरूप आत्मा हूँ; मैं पर का साक्षी हूँ किन्तु कर्ता नहीं हूँ। मैं अपने स्वभाव का ही कर्ता हूँ—ऐसा पर से पृथक्त्व का ज्ञान ज्ञानी को इतना पक्का हो गया है कि उसमें कभी भूल नहीं होती। रात्रि को सोते समय भी पर से पृथक्त्व का भान नहीं चूकता।

ज्ञानी वेदनीय कर्म का कर्ता नहीं होता। सातावेदनीय या असातावेदनीय कर्म ने चाहे जितनी प्रतिकूलता या अनुकूलता का घेरा डाला हो तथापि ज्ञानी उसरूप नहीं हो जाता। ज्ञानी समझता है कि साता और असातावेदनीय के फलरूप मैं नहीं हूँ; मेरा स्वरूप साता-असाता से पृथक् है, मैं उनसे भिन्न हूँ। ज्ञानी का वीर्य ज्ञान की अवस्था में वृद्धि ही करता जाता है। चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग हो ज्ञानी उसे भिन्न ज्ञेयरूप जानता है इष्ट अनिष्ट नहीं मानता है।

अज्ञानी साता-असाता के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में एकमेक होता है। वेदनीयकर्म मुझे दुःख देता है और वेदनीयकर्म मुझे सुख देता है—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु साता-असाता तो कर्म का फल है-संयोगी वस्तुएँ हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उससे पृथक् हूँ—वैसा अज्ञानी नहीं मानता।

आत्मा अनन्त गुणों का स्वामी है, इसकी पहिचान ज्ञानी को होती है; चाहे जैसा असातावेदनीय कर्म का तीव्र उदय हो, तब भी वह उदय ज्ञानी के ज्ञातृत्व से च्युत नहीं कर सकता; ज्ञानी को अल्पराग है इससे औषधि-उपचार भी कराता है, तथापि ज्ञानी उसका कर्ता नहीं होता। वेदनीयकर्म के उदय के समय भी ज्ञानी की ज्ञातृत्व की अवस्था बढ़ती ही जाती है। ज्ञानी रोग को ज्ञेयरूप से जानता है, रोग का ज्ञाता रहता है, परन्तु उसमें एकमेक नहीं होता।

ज्ञानी समझता है कि मैं मोहनीय कर्म नहीं हूँ, मोहनीयकर्म के फल के समय मैं उसकी अवस्था का कर्ता नहीं हूँ; मैं तो अपनी ज्ञानपर्याय का कर्ता हूँ—इस प्रकार ज्ञानी मोहनीय कर्म का ज्ञाता रहता है।

धर्मात्मा ज्ञानी आयुष्यकर्म की अवस्था का परिवर्तन करनेवाला नहीं है। आयुष्य अल्प बँधे या अधिक बँधे जैसा चाहे आयुष्य कर्म बँधे, उसका ज्ञानी कर्ता नहीं है। धर्मात्मा ज्ञानी के एक-दो भव शेष हों तो नवीन आयुष्यकर्म बँधता है परन्तु ज्ञानी समझते हैं कि मेरी स्थिति तो अक्षय है—इस प्रकार अपने आत्मा की अखण्ड प्रतीति में, ज्ञान की अवस्था में बढ़ते हैं। जो आयुष्यकर्म बँधता है वह तो जड़कर्म है—इस प्रकार ज्ञानी आयुष्य कर्म का कर्ता नहीं होता।

इस प्रकार नामकर्म बँधता है, उसकी अवस्था का कर्ता धर्मी नहीं है, धर्मी अपनी ज्ञान अवस्था का कर्ता है।

इस प्रकार गोत्रकर्म बँधता है, उसका कर्ता ज्ञानी नहीं है, ज्ञानी अपनी ज्ञान अवस्था का कर्ता है।

इस प्रकार अन्तराय कर्म का कर्ता ज्ञानी नहीं है; दानान्तराय, वीर्यान्तराय इत्यादि कर्म हैं, वे यदि आत्मा दानादि शक्ति के विकास को रोकते हैं तो वे कर्म निमित्त हैं, निजस्वरूप की अनन्त दानादि शक्ति को जीव स्वयं रोकते हैं, तो कर्म निमित्त है उसका कर्ता अज्ञानी होता है परन्तु ज्ञानी नहीं होता; ज्ञानी के अल्प अस्थिरता है इससे अल्प वीर्यान्तराय इत्यादि कर्म बँधते हैं परन्तु ज्ञानी उन सबका ज्ञान करनेवाला है।

जो अल्प राग आता है उसका ज्ञानी ज्ञान करनेवाला है; राग का नाशक है परन्तु कर्ता नहीं है; साक्षीरूप से स्थित रहकर राग को ज्ञेयरूप से जानता है परन्तु उसमें एकमेक नहीं होता। ज्ञानी को अल्प द्वेष भी आता है, उसका भी ज्ञानी ज्ञान करनेवाला है। द्वेष के ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञानी होता है, परन्तु द्वेषरूप नहीं होता अर्थात् कर्ता नहीं है, द्वेष में एकमेक नहीं होता।

ज्ञानी को अल्प क्रोध भी होता है परन्तु उस क्रोध में वह तन्मयरूप से युक्त नहीं होता। ज्ञानी को आत्मा का विश्वास रहते हुए अल्प क्रोध होता है और अज्ञानी क्रोध के विश्वास में रहते हुए अपार क्रोध करता है।

लड़के की माँ जब क्रोध में आयी हो तब लड़के से कहती है—पाजी! लुच्चा! ऊधम मचायेगा तो बाबा को पकड़ा दूँगी। तो क्या वह बात सच्ची है? बिल्कुल सच्ची नहीं है, सारा धन-सम्पत्ति लड़के को देना है, बाहर से क्रोध दिखायी दे रहा है तथापि अन्तर

से पुत्र पर अप्रतीति नहीं हुई है—अत्यन्त प्रीति है। उसी प्रकार ज्ञानी के अल्प क्रोध अवस्था में होता है परन्तु अपने ज्ञायकस्वभाव के साथ सम्बन्ध रखकर, तन्मयता रखकर जो अल्प क्रोध होता है उसका ज्ञान करते हैं। दुनिया की रीति और कथन से इस मार्ग की अपूर्व शैली है।

जिस प्रकार माता ने लड़के पर शत्रुरूप से क्रोध नहीं किया परन्तु प्रीति रखकर अल्प द्वेष किया है; किसी बार माता लड़के से कहती है कि—कानों के बीच में सिर कर दूँगी! परन्तु सिर तो दो कानों के बीच में है ही, इसलिए जैसा है वैसा जानती है और कहती है, बेटा! तेरा ज्ञान जैसा है वैसा ही मुझे रहा करे—ऐसा उसका अर्थ है। उसी प्रकार ज्ञानी अल्प क्रोध में युक्त होते हैं परन्तु स्वभाव की प्रतीति से च्युत नहीं होते, स्वभाव की प्रतीति रखकर पुरुषार्थ की मन्दता से अल्प विकार में युक्त हो जाते हैं; जिस प्रकार अन्य वस्तु को ज्ञानी पररूप जानते हैं, उसी प्रकार क्रोध को भी पररूप जानते हैं; कोई पुरुष बाहर की या दूर की वस्तु को पृथक्रूप जानता है उसी प्रकार ज्ञानी क्रोध को दूररूप, पृथक्रूप, तटस्थरूप से जानता है; अनन्त गुणों के पिण्ड स्ववस्तु-आत्मा पर ज्ञानी की दृष्टि पड़ी है, अखण्ड ज्ञाता स्वरूप के सन्मुख ही दृष्टि वर्तती है, इसलिए ज्ञानी ज्ञान की अवस्था का ही करनेवाला है।

ज्ञानी वीतराग नहीं हुआ है इससे अल्प मान भी आ जाता है, तथापि वह मान की अवस्था का स्वामी नहीं होता; वह तो त्रैकालिक ज्ञाता स्वभाव के लक्ष्यसहित उसका ज्ञाता रहता है।

ज्ञानी के अभी अल्प कषाय है इससे अल्प माया होती है, साधारण माया होती है; वह माया को अपना कर्तव्य नहीं मानता। कषाय से छूटने की ज्ञानी की निरन्तर भावना होती है। वास्तविक माया तो अज्ञानी ही करता है, ज्ञानी माया करता ही नहीं। पर से पृथक् आत्मा की जिसे प्रतीति नहीं है, वह अपने को ठगता है। ज्ञानी समझता है कि मेरे स्वरूप में तो माया है ही नहीं, मैं तो त्रिकाल सरल और सीधे स्वभावरूप हूँ—ऐसा जहाँ माना, स्वरूप की प्रतीति होने के पश्चात् अल्प सहज माया होती है परन्तु वह वर्तमान जितनी ही होती है; माया की लम्बी लार चलती ही नहीं, लम्बी लार तो ज्ञान और एकाग्रता की चलती है।

उसी प्रकार अल्प लोभ भी ज्ञानी को होता है परन्तु उस लोभ को वह अपना स्वरूप स्वीकार नहीं करता; ज्ञानी अभी वीतराग नहीं हुए हैं इससे अल्प कषाय है, इससे क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चारों कषायों का अल्प उदय होता है। लोभ अर्थात् इच्छा। शास्त्र में आचार्यों ने कहा है कि योग्य स्थल में लक्ष्मी का सद्व्यय न करे तो वह लोभी है; लड़के के लिये पैसा रख छोड़ने की वृत्ति लोभ है। लड़के के लिये तो ऐसी व्यवस्था करता है कि पैसा और ब्याज दोनों मिलते रहें, और भी अनेक प्रकार की युक्तियाँ करता है परन्तु वह सब लोभ है। पैसे के ऊपर जीवों का इतना भारी ममत्व होता है कि यदि पर भव में भी उसे साथ में ले सकते तो कोई छोड़कर जानेवाला नहीं था, किन्तु क्या किया जाये ? लड़के के लिये छोड़कर जाता है।

पद्मनन्दि आचार्यदेव तो कहते हैं कि हे भाई ! तुझे जो लक्ष्मी मिली है, उसे तू जिन भगवान के मन्दिर में, देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावनादि में सद्व्यय कर तो तुझे वह लक्ष्मी मिली है, नहीं तो जो लक्ष्मी मिली वह न मिले के बराबर है; पेट तो कौए-कुत्ते भी भरते हैं, और तू यदि लक्ष्मी मिलने पर भी धर्मप्रभावना में उसका सद्व्यय न करे तो तेरे और कौए-कुत्तों के जीवन में क्या अन्तर हुआ ? सम्यग्दृष्टि जीव दान का अधिकांश भाग धर्म प्रभावना में देता है क्योंकि उसकी धर्म की ओर झुकाव है इससे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति ही उसकी सर्व प्रथम उन्मुखता होती है।

शरीर, मन, वाणी, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग—वे सब नोकर्म हैं। सामने दृष्टि डालने से बीच में जो भींत आती है वह भींत भी नोकर्म है क्योंकि जानने में विघ्नरूप निमित्त हुआ इसलिए वह नोकर्म है; उन सबका ज्ञानी ज्ञान करनेवाला है। ज्ञानी समझता है कि भींत ने मेरे ज्ञान को नहीं रोका है परन्तु मेरे ज्ञान की योग्यता ही ऐसी थी इससे बीच में ऐसा निमित्त बना है। अज्ञानी मानता है कि भींत बीच में आयी इसलिए मुझे दूर की वस्तु का ज्ञान नहीं होता। ज्ञानी तो निमित्त का भी ज्ञान करता है, अपने ज्ञान की योग्यता का भी ज्ञान करता है; कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र सम्मुख आयें उनका भी ज्ञान करता है। जो कुदेवादि मिथ्यात्व का निमित्त बनते हैं, उन्हें ज्ञानी ज्ञान का निमित्त बनाता है।

ज्ञानी के जड़ मन का निमित्त होने पर भी वह मन का ज्ञान ही करता है, अज्ञानी को

तो ऐसा होता है कि हम मन के बिना कैसे रह सकेंगे? मन बिना आत्मा कैसे रह सकता है? इस प्रकार अज्ञानी मन और आत्मा को एक मानता है। ज्ञानी तो समझते हैं कि मन आत्मा का स्वरूप ही नहीं है; मन तो जड़ है, ज्ञानस्वरूप आत्मा उससे पृथक् है। हृदय में आठ पँखुड़ियों के कमल के आकाररूप मन है वह चैतन्य का स्वरूप नहीं है, चैतन्य तो ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड है। ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान है, इससे वह मन की अवस्था का कर्ता नहीं है।

उसी प्रकार वाणी की अवस्था का कर्ता ज्ञानी नहीं है; ज्ञानी तो सबका ज्ञान ही करता है। ज्ञानी शरीर की अवस्था का कर्ता नहीं है, वह तो उसका ज्ञान ही करता है। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय का भी ज्ञानी ज्ञान ही करता है; ज्ञानी समझता है कि श्रोत्रेन्द्रिय जड़ है और मैं चैतन्य हूँ, इसलिए मैं श्री श्रोत्रेन्द्रिय का कर्ता नहीं हूँ। उसी प्रकार आँख का, नाक का, जीभ का, स्पर्शादि सभी का ज्ञानी ज्ञान ही करता है परन्तु कर्ता नहीं है ॥१०१॥

अब कहते हैं कि—जिसे धर्म की खबर नहीं है—ऐसा अज्ञानी जीव भी परद्रव्य के भाव को तो कभी कर ही नहीं सकता।

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।१०२।।

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा।।१०२।।

अर्थः—आत्मा जिन शुभ या अशुभ (अपने) भावों को करता है, उन भावों का वह वास्तव में कर्ता होता है, वे (भाव) उसका कर्म होता है और वह आत्मा (उन भावरूप कर्मों का) भोक्ता होता है।

अज्ञानी शुभाशुभ भाव करता है और उन भावों का कर्ता होता है, अपने स्वभाव की शुद्धता की उसे खबर नहीं है, इससे उन शुभाशुभ भावस्वरूप ही अपने को मानता है और उनके कर्तृत्व भाव में वर्तता रहता है। दया, दान, हिंसा, झूठ आदि के भावों के अतिरिक्त में कितना हूँ—उसकी उसे खबर नहीं है; क्रोध करता है उतना ही अपने को मानता है। अपने स्वरूप की उतनी ही कल्पना करता है और कहता है कि—क्रोध करते हैं वह हमारी

प्रमाणिकता है। अरे भाई! समझ तो! क्रोध किया अर्थात् कषाय किया—इसमें प्रमाणिकता क्या होती है ? प्रमाणिकता तो सम्यग्ज्ञान में होती है ?

जो भाव किया उसी भाव का ही वेदन अर्थात् भोक्तृत्व होता है। जिस समय राग-द्वेष के भाव करे उस समय ही उसे आकुलता का वेदन होता है। इसलिए उसका भोक्तृत्व भी उसी समय है। मनुष्य बाह्यदृष्टि से देखते हैं कि इसने पाप किया इसलिए वह कब नरक में जायेगा ? वह झूठ बोलता है और इसकी जीभ क्यों तुरन्त नहीं कट जाती ? परन्तु भाई! वह जिस समय हिंसा और झूठ के भाव करता है उसी समय उसके भावों में आकुलता का वेदन होता है, जो आकुलता का वेदन है वह दुःख का ही वेदन है। अपने स्वभाव का घात किया इससे उसी समय उसके भाव में फल मिल गया है, उसी समय गुणों की शक्ति का परिणमन कम हो गया है और उसी समय विपरीत फल मिल गया है। अन्तर में जो फल आता है उसे नहीं देखता और बाह्यफल आता है—इस प्रकार जो देखता है वह पराश्रित दृष्टिवाला है, बाह्यफल मिलना वह व्यवहार है; बाह्यफल कभी अधिक समय में मिलता है और कभी जल्दी मिलता है, परन्तु अन्तरंग फल तो तुरन्त-उसी क्षण मिल जाता है।

अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होने पर भी इस लोक में जो यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व के अध्यास से मन्द और तीव्र स्वादवाली पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वाद को भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभ या अशुभ भावों को करता है।

अचलित विज्ञानघन कहकर प्रथम द्रव्यदृष्टि से बात की, और पश्चात् पर्यायदृष्टि से कहते हैं कि आत्मा का तो एकरूप स्वाद है, पुण्य-पाप के विकल्परूप अस्थिरता वह आत्मा का स्वाद नहीं है; आत्मा शान्त निर्मल अतीन्द्रियस्वरूप है, आत्मा का आनन्द ही स्वभाव है, उसमें पर का आश्रय नहीं है; स्वभाव में अपूर्णता नहीं होती, आत्मा का स्वाद एकरूप है—ऐसे नित्य निरुपाधिक स्वभाव को अज्ञानता के कारण शुभाशुभरूप अनित्य-औपाधिकभावरूप मानता है और त्रैकालिक स्वभाव को अर्थात् और पर के भावों को एकत्व के अध्यास के कारण—यह पुण्य-पाप के भाव मैंने किये हैं, इस प्रकार पुण्य-पाप

के भावों का कर्ता होता है। मेरा जो नित्य ज्ञानस्वभाव है वही मैं हूँ—ऐसा अभ्यास करना चाहिए उसके बदले अनित्य शुभाशुभभाव हैं वह मैं हूँ—ऐसी आदत पाड़ ली है।

किसी समय कषाय के परिणाम मन्द होते हैं अर्थात् पुण्य-परिणाम होते हैं, कभी कषाय के तीव्र परिणाम होते हैं अर्थात् पाप-परिणाम होते हैं—इस प्रकार मन्द राग और तीव्र राग, मन्द तृष्णा और तीव्र तृष्णा, मन्द मान और तीव्र मान इत्यादि वैसे स्वाद वाली पुद्गलकर्म की दो दशाओं—अवस्थाओं द्वारा अपने स्वाद का भेदन करता हुआ-तोड़ता हुआ अर्थात् असली स्वभावस्वाद का अनुभव न लेता हुआ शुभाशुभभावों को अपना मानता है—अपना स्वाद मानता है। अपने निराले स्वभाव का भान नहीं है, इससे शुभाशुभभावों का कर्ता होता है; अपने स्वरूप की प्रतीति नहीं है, इससे अपनी शान्ति-समाधि को तोड़ता हुआ शुभाशुभरूप दोनों भावों को करता है।

जिस समय आत्मा शुभाशुभभावों को करता है उस समय वह आत्मा तन्मयरूप से उन भावों का व्यापक होने से उसका कर्ता होता है और वे भाव भी उस समय तन्मयरूप से उस आत्मा का व्याप्य होने से उसका कर्म होते हैं।

आत्मा जब पुण्य-पाप की वृत्ति के भाव करता है, उसी समय उसमें परिणमित होकर उन भावों का व्यापक होकर—वही मेरा कार्य है, वही मेरा कर्तव्य है—वैसा मानकर उनका कर्ता होता है और शुभाशुभ भावरूप कर्म व्याप्य होने से वे आत्मा का तन्मयरूप कर्तव्य होते हैं अर्थात् उन विकारी परिणामों को वह तन्मयरूप से अपना कर्तव्य मानता है।

पुनश्च, वही आत्मा उस समय तन्मयरूप से उन भावों का भाव होने से उनका अनुभवन करनेवाला होता है और वे भाव भी उस समय तन्मयरूप से उस आत्मा का भाव्य होने से उसका अनुभाव्य (अर्थात् भोग्य) होते हैं। इस प्रकार अज्ञानी भी परद्रव्यों के भाव का कर्ता नहीं है परन्तु अपने विकारी भावों का कर्ता है।

आत्मा जिस समय व्यापक होकर विकारी भावों का कर्ता होता है उसी समय उनका तन्मयरूप से भोक्ता भी होता है; तन्मयरूप से पुण्य-पाप के भाव किये—उस समय अपने में अपना अतीन्द्रिय आनन्द है उसका भान न होने से—पुण्य-पाप की जो वृत्तियाँ हैं वही मेरा स्वाद है—वैसा मानता हुआ उनका भोक्ता होता है और विकारी परिणाम उसका तन्मयरूप से भोग्य होते हैं। पुद्गलकर्म का उदय बाद में आयेगा और भोगना

होगा—वैसा कहना व्यवहार है। वास्तव में जिस समय भाव होता है उसी समय भोक्ता होता है—इस प्रकार अज्ञानी भी परद्रव्य के भावों का कर्ता नहीं है परन्तु विकारी परिणामों का ही कर्ता होता है।

कोई लकड़ी मारे वह कर्म का बाह्य फल है। वास्तविक फल तो उसने अज्ञान और राग-द्वेष से स्वभाव का घात किया वही है। जिस क्षण राग, द्वेष भाव किये उसी क्षण आत्मा के गुणों की हिंसा हो रही है, इस प्रकार जिस क्षण भाव किये उसी क्षण उनका फल है।

किसी ने अज्ञानता में चोरी के भाव किये और फिर समझदार हो गया, ज्ञानी हो गया, उसके पश्चात् उस पर किसी ने दावा किया और उससे वह जेल में गया, तथापि वहाँ उसको निराले आत्मा का भान वर्त रहा है, जेल के उदय को ज्ञातारूप से जानता हुआ ज्ञान की वृद्धि करता है; चोरी के भाव पलट गये इससे अब चोरी के भावों का वेदन नहीं है; फल आया किन्तु वेदन पलट गया; इसलिए वास्तविक वेदन तो जिस क्षण भाव करे उसी क्षण है, जेल में उसके आत्मा का भान वर्त रहा है, इससे सत्य का-मोक्ष का मार्ग वहाँ भी उसके प्रवर्तमान ही है।

अज्ञानी अपने शुभाशुभ भावों को कर सकता है और शुभाशुभ भाव उसका कार्य होता है; उसके अतिरिक्त शरीर-मन-वाणी इत्यादि जड़ द्रव्यों का आत्मा कुछ नहीं कर सकता। आत्मा तो ज्ञानमूर्ति स्वभाव से है, उसे भूलकर अज्ञानी राग-द्वेष, हर्ष-शोक को करता है उसी क्षण उसे आकुलता का वेदन होता है और उसी क्षण आत्मा के गुणों की हिंसा होती है।

आत्मा अपने भावों के अतिरिक्त पुत्र-पुत्रियों का या शत्रु का कुछ भी नहीं कर सकता; परन्तु इष्ट मानकर स्त्री, कुटुम्ब, पुत्रादि के प्रति राग करता है और अनिष्ट मानकर-शत्रु मानकर उसके प्रति द्वेष करता है—उन भावों का कर्ता होता है और उसी क्षण उन विकारी भावों का वेदन करनेवाला अर्थात् भोक्ता होता है।

बाह्य शरीरादि का जैसा होना हो वैसा होता है, परन्तु स्वत: मिथ्या मान्यता करता है कि मैं पर का करता हूँ; अरुचि प्रतीति आदि विकारी परिणाम चैतन्य की सत्ता के क्षेत्र में होते हैं, परन्तु मकान, स्त्री, कुटुम्ब, शरीरादि का कुछ भी करना अपनी सत्ता के क्षेत्र से बाहर है अर्थात् वह अपने हाथ की बात नहीं है।

कोई कहे कि—हिंसा के भाव करे, क्रोध के भाव करे उसमें किसी भी प्रकार का दु:ख का वेदन तो दिखायी नहीं देता; अरे भाई! कुछ विचार करके देख तो उसमें आकुलता का वेदन हो ही रहा है; कमाने का भाव करे, पुत्र के ब्याह का भाव करे, हिंसा का या क्रोध का भाव करे, तब वह दु:खी ही है, उस समय आकुलता का वेदन हो ही रहा है।

उसी प्रकार जब शुभभाव करे उस समय भी आकुलता का वेदन हो ही रहा है। दया, पूजा, व्रतादि के परिणाम करे उस समय भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो पता चले कि आकुलता का ही वेदन हो रहा है। एक तीव्र कषाय है और दूसरी मन्द कषाय है परन्तु हैं तो दोनों आकुलता स्वरूप ही। आत्मा के बिल्कुल अकषाय-अनाकुल आनन्द स्वभाव से शुभाशुभ परिणामों का स्वाद विपरीत है, वह दु:खस्वरूप ही है, आत्मा के आनन्द गुण का हनन करनेवाला है।

अज्ञानरूप मिथ्या अभिप्राय द्वारा अपने शुभाशुभ परिणामों को आत्मा कर सकता है परन्तु परद्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता। देव-गुरु-शास्त्र किसी का भी जीव कुछ भी नहीं कर सकता, अपने शुभ या अशुभ भावों को ही करता है।

कोई कहता है कि ईश्वर अन्य पदार्थों की अवस्था को करता है, परन्तु भाई! ईश्वर भी किसी परपदार्थ की अवस्था को नहीं कर सकता; ईश्वर भी समस्त परपदार्थों से भिन्न एक चैतन्य पदार्थ है। किसी पदार्थ में अन्य पदार्थ की अवस्था करने का सामर्थ्य नहीं है; कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ की अवस्था को करे तो दो पदार्थ एक हो जायें, वस्तु पराधीन हो जाये; परन्तु वस्तुस्वभाव ऐसा है ही नहीं; प्रत्येक वस्तु स्वाधीनरूप परिणमित होती है। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा का कर्ता और कार्यपना अपने-अपने द्वारा पृथक्-पृथक् होता है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और आधार स्वयं अपने-अपने में ही है।

जिस क्षण विकारी भाव किये उसी क्षण उनका भोक्ता होता है, कर्म पश्चात् उदय में आयेंगे और भोगना पड़ेंगे—ऐसा कहना सो व्यवहार है। अज्ञानी परद्रव्य को नहीं कर सकता, परन्तु कर्तृत्व मानता है कि मैं परद्रव्य को करता हूँ। ज्ञानी, परद्रव्य की जो अवस्था

होती है उसका ज्ञाता रहता है, उसकी ज्ञानपर्याय बढ़ती ही जाती है। ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता होता है परन्तु परद्रव्य की अवस्था का कर्ता नहीं होता। अज्ञानी व्यवहार से भी परद्रव्य की अवस्था को नहीं कर सकता परन्तु कर्तृत्व मान लेता है; अज्ञानी अपने शुभाशुभ भावों को कर्ता है परन्तु जड़ कर्म का कर्ता कभी भी नहीं है अर्थात् अज्ञानी अपनी अवस्था में भावकर्मों का करता है परन्तु पुद्गलद्रव्यस्वरूप द्रव्यकर्म और नोकर्म का कर्ता तो कभी भी नहीं है ॥१०२॥

परभावों को कोई (द्रव्य) नहीं कर सकता–ऐसा कहते हैं:—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिन्स्तु न संक्रामति द्रव्ये।
सोऽन्यदसंक्रान्तः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ॥१०३॥

जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) जिस द्रव्य और गुण में प्रवर्तमान होती है वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में संक्रमण नहीं पाती (अर्थात् बदलकर अन्य में नहीं मिल जाती)। अन्यरूप में संक्रमण न पाती हुई वह (वस्तु) अन्यवस्तु को कैसे परिणमित कर सकती है?

आत्मा आत्मा में है, परमाणु, परमाणु में है, अन्य आत्मा अन्य आत्माओं में हैं—इस प्रकार छहों द्रव्य स्वतः अपने में ही हैं। किसी द्रव्य के गुण पर्याय किसी अन्य द्रव्य के गुणपर्यायरूप में बदलकर होते ही नहीं; कोई वस्तु अन्य वस्तुरूप नहीं होती, कोई गुण किसी अन्य द्रव्य के गुणरूप नहीं होता, कोई पर्याय किसी दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप नहीं होती, एक आत्मा दूसरे आत्मा को बदलकर कुछ नहीं देता; आत्मा बदलकर रजकण को कुछ नहीं देता। एक वस्तु दूसरी वस्तु में प्रविष्ट हो जाये तो कुछ दिया कहलाये, परन्तु ऐसा नहीं होता इसलिए कोई किसी को कुछ नहीं देता; तीन काल और तीन लोक में एक वस्तु दूसरी वस्तु में पर्यायरूप से भी परिवर्तित होकर नहीं होती; एक वस्तु को दूसरी वस्तु में परिवर्तित करने का सामर्थ्य किसी वस्तु में नहीं है, एक वस्तु दूसरी वस्तुरूप पलट नहीं जाती—परिवर्तित नहीं हो जाती असर, प्रभाव, प्रेरणा नहीं कर सकती। द्रव्य अपेक्षा या पर्याय अपेक्षा किसी भी प्रकार परभावों का कर्तापना तीन काल में नहीं है। पर का कर्ता

मानना वह व्यवहारीजनों का मोह है।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अधिक काल तक समझाये तो भी नहीं समझता; इसलिए समझनेवाला स्वत: अपने से समझता है। समझनेवाले को कोई अन्य द्रव्य नहीं समझा सकता—नहीं बदल सकता। कर्ताकर्मपना भिन्न-भिन्न समझने का इस गाथा में सिद्धान्त है।

जगत में जो कोई जितनी बड़ी वस्तु जो जितना बड़ा चैतन्य स्वरूप या अचैतन्य स्वरूप है वह द्रव्य में और गुण में निजरस से अनादि से ही प्रवर्तमान है।

जगत में चैतन्य है वह चैतन्यस्वरूप जितना ही है, अर्थात् चैतन्य चैतन्यस्वरूप से बाहर नहीं है या चैतन्यस्वरूप से अपूर्ण नहीं है, अर्थात् चैतन्य चैतन्य में ही है। इसी प्रकार रजकण भी रजकण में ही है, जड़ और चैतन्य अपने भाव से ही अनादि से प्रवर्तमान हैं, पुद्गल के रजकण पुद्गल से ही पुद्गल के आधार से ही अनादि से वर्त रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक-प्रत्येक द्रव्य अपने निजरस से ही अनादि से प्रवर्तमान है; पुद्गल में भी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है, इसलिए पुद्गल का रस पुद्गल में है और चैतन्य का चैतन्य में। ऐसी वस्तुस्थिति की मर्यादा व्यवस्थित होने से किसी का अन्य कर्ता नहीं हो सकता है।

एक आत्मा अपना एक आत्मा में और दूसरा आत्मा दूसरे आत्मा में, एक रजकण एक रजकण में और दूसरा रजकण दूसरे रजकण में;—इस प्रकार रजकण, रजकण में है और आत्मा, आत्मा में है। अत: एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का किसी प्रकार भी कर्ता, भोक्ता या स्वामी नहीं है।

वास्तव में ऐसी अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से, उसी में (अपने उतने बड़े द्रव्य-गुण में) प्रवर्तमान रहती है। अचलित अर्थात् जो चल न सके—वैसी वस्तुस्थिति की मर्यादा है। आत्मा जड़ हो जाये और जड़ आत्मा बन जाये—ऐसा नहीं हो सकता। वस्तु अपनी मर्यादा में ही प्रवर्तमान रहती है, उस मर्यादा को त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव भी नहीं तोड़ सकते। वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़कर, उसकी तैयारी के बिना किसी को बलात् दूसरा नहीं समझा सकता। जो वस्तु अपने द्रव्य, गुण और पर्याय से वर्त रही है, उस मर्यादा को तोड़ना अशक्य है अर्थात् उसे कोई भी नहीं तोड़ सकता।

प्रत्येक वस्तु का अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप होना—पर से या

पर के द्रव्यादि के आधीन न होना ऐसी मर्यादा तीनों काल वर्तती है, बस, ऐसी वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से वस्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण नहीं पाती। गुणान्तर में पर्याय भी आ गयी। वस्तु अपने आप स्वतन्त्र परिवर्तित होती है, अपनी शक्ति से बदलती है तब स्वतन्त्ररूप से उसकी पर्याय प्रगट होती है; कोई बलात् परिवर्तित नहीं कर सकता और बलात् समझाकर उसकी पर्याय प्रगट नहीं कर सकता। यदि बलात् समझा सकता हो तो त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव सबको मोक्ष में ले जायें न? परन्तु तीर्थंकरदेव किसी को मोक्ष में नहीं ले जाते। स्वतः समझे तब अपनी मोक्ष पर्याय प्रगट होती है।

एक जड़ दूसरे जड़ का कुछ नहीं करता, एक आत्मा दूसरे आत्मा का कुछ नहीं करता, एक रजकण आत्मा का कुछ नहीं करता और प्रत्येक आत्मा रजकण का कुछ नहीं करता। कर्म की अवस्था उसमें हो रही है, आत्मा उसे कुछ नहीं कर सकता। छहों पदार्थ स्वतः जितनी बड़ी वस्तुओं—जितने बड़े द्रव्यों में वर्त रहे हैं उसे कोई नहीं बदल सकता। छहों द्रव्य कोई किसी को कुछ नहीं दे सकते। कितनी अच्छी बात है। उसे माने तो सर्व समाधानरूप सुख हो जाये। निमित्त कारण सच्चे कारण नहीं है, निमित्त की मुख्यता से कथन होता है किन्तु कभी भी निमित्त की मुख्यता से कार्य नहीं होता।

करोड़ों रुपये पुण्य के कारण आते हैं और चले जाते हैं, उनका आना-जाना अपने हाथ की बात नहीं है। किसी को दस लाख रुपये आये और चले गये। परन्तु भाई! पुण्य के रजकण थे तो आये परन्तु उन्हें जाना हो तो कोई रोक नहीं सकता। शरीर में रोग आये तब आत्मा उसे रोक सकता है? पेट में वायु चढ़े, जलन हो तब कहता है कि मैं मरता हूँ। स्वतः शरीर पर ममत्व किया इससे जलन मालूम होती है और कहता है कि मैं जला जाता हूँ; परन्तु वास्तव में जलन शरीर में होती है आत्मा में नहीं होती। आत्मा तो शरीर से भिन्न है, शरीर अपने रखने से नहीं रहता, शरीर उसकी स्थिति के अनुसार स्थिर रहता है। कोई द्रव्य किसी द्रव्य को नहीं रख सकता, आत्मा अपने स्वभाव के अतिरिक्त पर का कुछ नहीं कर सकता; अधिक तो विपरीत मान्यता और पुण्य-पाप के भाव कर सकता है परन्तु परद्रव्यों को परिवर्तित कर ही नहीं सकता।

पैसे का रहना या जाना वह अपने हाथ की बात नहीं है; जब पुण्य फिरता है तब दुकान जल जाती है, लड़की विधवा हो जाती है, धरती में रखा हुआ धन राख हो जाता

है—इत्यादि एक ही साथ सब आपत्तियाँ आती हैं। कोई कहे कि ऐसा तो किसी समय होता है न? अरे! पुण्य फिरे तो सब प्रसंग फिरते देर नहीं लगती। परद्रव्य को कैसे रहना है वह तेरे हाथ की बात ही नहीं है न! इसलिए आत्मा की पहिचान करके उसमें स्थिर हो जा।

धर्म की श्रद्धा होने के पश्चात् पुरुषार्थ की मन्दता के कारण पूर्ण स्थिरता न हो इससे अल्प अस्थिरता रहती है परन्तु वह वस्तु की स्थिरता जैसी है, उसे यथावत् जानता है। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण अल्प अस्थिरता के परिणाम आते हैं, परन्तु वह समझता है कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी नहीं कर सकता। मैं पुण्य भाव करूँ तो पिंजरा पोल चलती रहे, और मैं पापभाव करूँ तो दूसरे का बुरा हो जाये—ऐसा धर्मात्मा नहीं मानता; वह समझता है सामनेवाले का भला-बुरा संयोग होना वह उसके पुण्य-पाप के उदय के आधार पर है, मैं उसे नहीं कर सकता; मैं तो मात्र भले-बुरे परिणाम कर सकता हूँ; अल्प अस्थिरता के कारण राग-द्वेष होता है किन्तु वास्तव में मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, स्वामी नहीं हूँ, परन्तु ज्ञाता हूँ।

इस प्रकार भगवान आत्मा आठ जड़ कर्मों का कर्ता नहीं है, परन्तु भावकर्म का कर्ता है; भावकर्म के कारण द्रव्यकर्म स्वयं—अपने आप बँधता है। इन गाथाओं के सिद्धान्त से आत्मा आठ जड़कर्मों का अकर्ता सिद्ध हुआ; क्योंकि वस्तुस्थिति की मर्यादा को कोई तोड़ नहीं सकता।

इस (उपर्युक्त) कारण से आत्मा वास्तव में पुद्गल कर्मों का अकर्ता सिद्ध हुआ—ऐसा अब कहते हैं:—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता।।१०४।।

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वन्स्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता।।१०४।।

अर्थ:—आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को तथा गुण को नहीं करता; उसमें वह दोनों को न करता हुआ उसका कर्ता कैसे होगा?

आत्मा सदा अरूपी ज्ञानघन है वह जगत के रूपी पुद्गलों को कैसे कर सकेगा?

क्या जगत में रूपी पुद्गल नहीं हैं कि आत्मा उन्हें नवीन उत्पन्न कर सके? कोई द्रव्य किसी द्रव्य को उत्पन्न नहीं कर सकता; कोई द्रव्य किसी द्रव्य की पर्याय को नहीं कर सकता। कर्म की अवस्था पुद्गल की शक्ति में से उत्पन्न हुई है, इसलिए आत्मा उस कर्म की अवस्था का कर्ता नहीं है। आत्मा के आठ कर्मों को किया वह उपचार-व्यवहार कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है। आत्मा शुभाशुभ भाव करे उनका निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं कार्यरूप परिणमित होते हैं, आत्मा अपने विकार भावों को करता है परन्तु जड़कर्मों को तो करता ही नहीं।

जिस प्रकार-मिट्टीमय घड़ारूपी कर्म जो कि मिट्टीरूप द्रव्य में और मिट्टी के गुण में निजरस से ही प्रवर्तमान रहता है उसमें कुम्हार अपने को या अपने गुणों को डालता -रखता-मिलाता नहीं है।

मिट्टीमय घड़ारूपी कार्य है अर्थात् मिट्टी का जो घड़ा हुआ वह कार्य मिट्टीमय है या कुम्हारमय? घड़ा तो मिट्टीमय ही है। मिट्टीस्वरूप जो घड़ारूपी कार्य है वह मिट्टी की अवस्थारूप वर्तता है, मिट्टी के रस में घड़ा प्रवर्तमान है, कुम्हार का कर्म (-कार्य) घड़ा नहीं है, कुम्हार अपने गुणों को अथवा अपनी वस्तु को घड़े में डालता-मिलाता नहीं है, तब फिर, कुम्हार ने क्या किया? कुम्हार ने जाना कि घड़ा होता है, जिस समय होनेवाले हो उस समय घड़ा होता है परन्तु कुम्हार घड़े को नहीं कर सकता। वहाँ खड़े-खड़े कुम्हार ने क्रोध किया, प्रेम किया तो वह कुम्हार की क्रोध या प्रेमरूप अवस्था घड़े में प्रविष्ट हो जाती है? नहीं हो सकती। क्योंकि किसी द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण होने का वस्तुस्थिति से ही निषेध है; कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तुरूप हो या कोई गुण किसी अन्य गुणरूप हो—वैसा होता ही नहीं—ऐसी वस्तुस्थिति की मर्यादा है। कुम्हार मिट्टीमय हुए बिना घड़ारूप होने का कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि जो द्रव्य जिस मय होता है, उसी मय उसकी अवस्था होती है; इसलिए घड़ारूपी अवस्था मिट्टीमय ही होती है, परन्तु कुम्हारमय नहीं होती, क्योंकि कुम्हार मिट्टीमय हो ही नहीं सकता। एक वस्तु दूसरी वस्तु में प्रविष्ट हुए बिना, संक्रमण अर्थात् स्वत: पलटकर पररूप हुए बिना पर में कर्तापना कैसा?

द्रव्यान्तररूप से (अर्थात् अन्य द्रव्यरूप से) संक्रमण पाये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण दोनों को उस घड़ारूपी कर्म न

डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थ से उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता।

इसमें कर्ताकर्म का स्पष्ट खुलासा किया है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु में नहीं जाती; तब फिर उस वस्तु ने दूसरी वस्तु को क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। अपने द्रव्य गुण को घड़े में न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थ से पर का कर्ता प्रतिभासित नहीं होता। कुम्हार जब क्रोध में हो और चाक घुमा रहा हो तब उस चाक पर से उतरे हुए घड़े में भी क्रोध भर जाना चाहिए; और उस घड़े का पानी पीनेवाले को भी क्रोध होना चाहिए, परन्तु वैसा तो नहीं होता; इसलिए कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है।

कुम्हार क्षायिक सम्यक्त्वी हो और घड़ा बनाने के लिये चाक घुमा रहा हो उस समय कुम्हार को क्षायिक सम्यक्त्व में जिस सुख और शान्ति का वेदन होता है वह सुख और शान्ति क्या घड़े में प्रविष्ट हो जाते हैं ? और घड़े का पानी पीनेवाले को क्या सुख और सम्यक्त्व हो जाते हैं ? वैसा तो नहीं होता इसलिए कुम्हार घड़े का कर्ता प्रतिभासित नहीं होता अर्थात् घड़े का कर्ता दिखायी ही नहीं देता। उसीप्रकार—पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्य में और पुद्गल के गुणों में निजशक्ति से ही वर्तते हैं—उनमें आत्मा अपने द्रव्य को या गुणों को वास्तव में डालता-मिलाता नहीं है, क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से संक्रमण होना अशक्य है।

मिट्टी की अवस्था कुम्हार नहीं करता उसी प्रकार ज्ञानावरणादि आठकर्मों की अवस्था पुद्गलमय ही है और पुद्गल के निजरस से ही वर्तती है। आत्मा का कोई भी गुण या अवस्था आठ कर्मों में नहीं जाते और पुद्गल की कोई भी अवस्था आत्मा में नहीं आती। आचार्यदेव समझाते हैं कि तू अपने भावों को कर सकता है, पर का कुछ नहीं कर सकता। जब पुद्गल में घड़ा होने की योग्यता हो तब उसी प्रकार की योग्यता वाले रजकण वहाँ उपस्थित होते हैं। पहले मिट्टी का पिण्ड होता है फिर थाला होता है—इस प्रकार जब जैसी क्रमबद्ध पर्याय होना हो वह उसी प्रकार की योग्यतावाले रजकण घड़ा होनेरूप उपस्थित होते हैं। उसी प्रकार जो परमाणु कर्मरूप होने की योग्यतावाले होते हैं वे ही कर्मरूप बँधते हैं, उनमें आत्मा अपने द्रव्य या गुणों को नहीं मिलाता। आत्मा विकारी भाव करता है तब उनका निमित्त प्राप्त करके कर्म के रजकण कर्मरूप अपने आप परिणमित होते हैं। नीम के पत्ते की अवस्थारूप में कौन से रजकण आते हैं ? जो कड़वे रसरूप परिणमित

होने की योग्यतावाले होते हैं वे ही रजकण नीमरूप परिणमित होते हैं; उसी प्रकार जिन परमाणुओं में आठ कर्मरूप परिणमित होने की योग्यता हो वे ही परमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं।

आत्मा कर्म से पृथक् पदार्थ है, वह कर्म में नहीं जाता और पुण्य-पाप के भाव भी कर्म में नहीं जाते, आत्मा स्वत: अपने द्रव्य-गुण को या पर्याय को आठ कर्मों में नहीं डालता—नहीं मिलाता; क्योंकि किसी वस्तु का द्रव्यान्तर अर्थात् एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यरूप होना और गुणान्तर अर्थात् एक द्रव्य के गुणों का दूसरे द्रव्य के गुणों में संक्रमण होना अर्थात् बदलना बिल्कुल अशक्य है तब फिर द्रव्यान्तर और गुणान्तररूप हुए बिना अन्य द्रव्य को परिणमित करना अशक्य होने से अपने द्रव्य और गुण दोनों को ज्ञानावरणादि कर्मों में न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थ से उनका कर्ता कैसे हो सकता है? कभी हो ही नहीं सकता; इसलिए वास्तव में आत्मा पुद्गलकर्म का अकर्ता सिद्ध हुआ।

वास्तव में आत्मा पर का कर्ता है ही नहीं क्योंकि पररूप हुए बिना पर का कर्ता हो ही नहीं सकता, इसलिए आत्मा अकर्ता है। आठ कर्मों की अवस्था आत्मा नहीं करता, तो फिर शरीर, व्यापारादि की अवस्था तो कहाँ से करेगा? शरीर-व्यापार-धन्धे की अवस्था मैं कर सकता हूँ—ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

अज्ञानी निमित्तरूप से पर का कर्ता होता है; स्वत: विकारी भाव करे तब कर्म बँधते हैं अर्थात् अज्ञानी मानता है कि मैं कर्म का (पर के कार्य का) निमित्तकर्ता हूँ; अत: अज्ञानी पर में अपना कर्तापन मानता है इससे उपचार से कर्ता कहा जाता है कि आत्मा ने जड़ कर्म किया ॥१०४॥

आत्मा को पुद्गल कर्म का कर्ता कहना वह उपचारमात्र है—ऐसा अब कहते हैं:—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयार-मेत्तेण ।।१०५।।

जीवे हेतुभूते बन्धस्य तु दृष्ट्वा परिणामम्।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ।।१०५।।

अर्थः—जीव निमित्तभूत बनने से कर्मबन्ध का परिणाम होता देखकर, 'जीव ने कर्म किया'—ऐसा मात्र उपचार से कहा जाता है।

जीव निमित्तभूत बनने से, अर्थात् अज्ञानी आत्मा पुण्य-पाप, राग-द्वेष, हर्ष-शोक के भाव अपने में करता है वे भाव निमित्तभूत होने से कर्म का परिणाम अर्थात् अवस्था होती है। जहाँ तक पुद्गलों की अवस्था कर्मरूप नहीं होती वहाँ तक वे पुद्गल अन्य अवस्थारूप होते हैं; जीव ने राग-द्वेष के भाव किये उस समय पुद्गलों में कर्मबन्ध का परिणाम हुआ—उसे देखकर उपचार से ऐसा कहा जाता है कि जीव ने कर्म किया। देखो! आचार्यदेव ने स्पष्टीकरण किया है कि जीव कर्म को करता है—ऐसा उपचारमात्र से ही कहा जाता है अर्थात् वास्तविक रीति से जीव जड़कर्म को नहीं करता। अपने राग-द्वेष के भावों को अज्ञान अवस्था से करे, परन्तु जड़ कर्मों का कर्ता तो आत्मा है ही नहीं।

इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत न होने पर भी पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया—ऐसा उपचार है। स्वभाव से अर्थात् सम्यग्दृष्टि पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत नहीं है, क्योंकि आत्मा कर्म को निमित्तभूत नहीं है और सम्यग्दृष्टि का विषय भी आत्मा है इसलिए सम्यग्दृष्टि कर्म का हेतुभूत नहीं है। ज्ञानी के विभाव नहीं हैं, विभाव का स्वामी नहीं है। वह तो ज्ञान करनेवाला है। आत्मा का स्वभाव यदि कर्म को निमित्तभूत हो तब तो आत्मा को पर के साथ स्वभाव सम्बन्ध हुआ और वह साथ कभी छूट नहीं सकता; इसलिए आत्मा का स्वभाव कर्म को निमित्तभूत नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी कर्म को निमित्तभूत नहीं है; सम्यग्दृष्टि को अल्प अस्थिरता होती है उसके निमित्त से अल्प कर्मबन्ध होता है, परन्तु ज्ञानी अस्थिरता का स्वामी नहीं है, इससे वह बात गौण है। अज्ञानी कर्म को निमित्तभूत होता है।

इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत न होने पर भी अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत होनेवाले अज्ञानभावरूप परिणमित होने से जीव की विभाव पर्याय का निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इससे 'पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया'—ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट, विकल्प परायण अज्ञानियों का विकल्प है; वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

इस जगत में आत्मा का स्वभाव कर्मबन्ध होने में निमित्त नहीं है; यदि स्वभाव

निमित्तभूत हो तो कर्म का बन्ध कभी छूट नहीं सकता। आत्मा का स्वभाव तो अनादि-अनन्त एकरूप है, वह स्वभाव यदि कर्म को निमित्तभूत हो तो त्रिकाल कर्मबन्ध में निमित्तभूत होना ही चाहिए और त्रिकाल निमित्तभूत होने से कर्म का अभाव होगा ही नहीं; परन्तु वैसा तो होता ही नहीं; नित्य स्वभाव कर्मबन्ध में निमित्तभूत नहीं होता; अनित्य, विभाव निमित्तभूत होता है, इसलिए अनादि अज्ञान ही पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत है। जहाँ आत्मा अज्ञानरूप परिणमित होता है वहाँ उस अज्ञानभाव का निमित्त प्राप्त करके पुद्गलकर्म स्वत: बँधते हैं, पुद्गल की वह कर्मरूप अवस्था आत्मा नहीं करता; आत्मा तो अज्ञानभाव से अपने शुभाशुभभाव करता है, उन भावों का निमित्त प्राप्त करके पुद्गलकर्म बँधते हैं। उन पुद्गल कर्मों को आत्मा ने बाँधा—ऐसा कहना व्यवहार है-उपचार है।

वे पौद्गलिक कर्म आत्मा ने बाँधे—ऐसा निर्विकल्प स्वभाव से भ्रष्ट विकल्प परायण अज्ञानियों का अभिप्राय है। उन मिथ्या विकल्प में आरूढ़ हुआ अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं कर्मों को निमित्तभूत हूँ इससे वह कर्मों का निमित्तकर्ता कहलाता है। अज्ञानी के अपने स्वभाव की दृष्टि नहीं है इससे वह विकल्प में एकत्वबुद्धि से प्रवर्तमान रहता है; मैं पर को करता हूँ, मैं पर को करता हूँ—ऐसे मिथ्या विकल्प करके स्वत: पर का कर्तृत्व और स्वामित्व स्वीकार कर लिया है, इससे उसे पर का कर्ता कहा जाता है, वास्तव में पर को अज्ञानी भी नहीं कर सकता। अज्ञानी अज्ञानभाव से राग-द्वेष करता है और ज्ञानी ज्ञानभाव से राग-द्वेष रहित निर्मल भावों को करता है, परन्तु पर का कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं है।

वीतराग स्वरूप की साधना में राग कुछ सहायता करता है ? नहीं करता। ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव पर है, वह राग का स्वामी नहीं होता, इसलिए वह बन्ध का निमित्त नहीं होता। अज्ञानी पर का निमित्त स्वीकार करता है; इसलिए उसे उपचार से पर का कर्ता कहा है; ज्ञानी पर का निमित्त स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह पर का कर्ता नहीं है ॥१०५॥

अब, उपचार किस प्रकार है वह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण।।१०६।।

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन।।१०६।।

अर्थ:—योद्धाओं द्वारा युद्ध किये जाने पर, 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा लोक (व्यवहार से) कहते हैं, उसी प्रकार 'ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किये'—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

इस जगत में योद्धा युद्ध करते हैं, तथापि उपचार से ऐसा कहा जाता है कि राजा ने युद्ध किया। सैन्य लड़ती है तो भी उपचार से कहते हैं कि राजा लड़ रहा है; उसी प्रकार आत्मा अज्ञान भाव से राग-द्वेष करता है, तब नवीन कर्म अपने आप बँध जाते हैं, मात्र आत्मा के परिणामों की उपस्थिति होती है; कर्म अपने आप बँध जाते हैं तो भी उपचार से कहा जाता है कि आत्मा ने कर्मबन्ध किया।

जिस प्रकार-युद्ध परिणामरूप स्वत: परिणमित होते हुए योद्धाओं द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्ध परिणामरूप परिणमित न होनेवाले राजा को 'राजा ने युद्ध किया' जो उपचार किया जाता है, वह परमार्थ नहीं है।

युद्ध के परिणामरूप तो योद्धा परिणमित हो रहे हैं, लड़ने का भाव लड़नेवाले का है, मारने का भाव योद्धा का है—राजा का नहीं है; राजा तो आदेश देने में निमित्त है किन्तु लड़ते समय राजा नहीं है। राजा ने आदेश दिया, फिर युद्ध के समय के भाव योद्धाओं के हैं। योद्धा जब युद्ध करते हैं, तब राजा एक ओर बैठा है।

सिद्धान्त में दृष्टान्त का एक अंश लिया जाता है, दृष्टान्त तो अंशत: लागू होता है, यदि पूर्ण दृष्टान्त लागू हो तो दृष्टान्त सिद्धान्त हो जाये; इसलिए सिद्धान्त में दृष्टान्त का एक अंश लिया जाता है। लड़ते समय योद्धा लड़ता है—राजा नहीं।

उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म परिणामरूप स्वत: परिणमित होने से—ऐसे पुद्गलद्रव्य द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वत: परिणमित न होनेवाले आत्मा को 'आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किये'—ऐसा उपचार किया जाता है—वह परमार्थ नहीं है।

जिस प्रकार राजा लड़ने का आदेश करता है और उसका निमित्त पाकर योद्धा युद्ध

करते हैं, उसी प्रकार आत्मा अज्ञान से राग-द्वेष करता है, वह आदेश के स्थान पर है और उसके निमित्त से जड़-परमाणुओं में ऐसी शक्ति है कि वह स्वतन्त्र कर्मरूप परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें नहीं करता है। आत्मा की सत्ताभूमि में आत्मा राग-द्वेष की पर्याय को करता है परन्तु परसत्ता में वह कुछ नहीं कर सकता।

जिस प्रकार योद्धा युद्ध करते हैं परन्तु राजा तो एक ओर बैठा है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है, उसमें आत्मा का हाथ नहीं है। सभी वस्तुएँ स्वतन्त्र भिन्न हैं, रजकण स्वतन्त्र वस्तु हैं। आत्मा जब अज्ञानभाव करता है तब उसका निमित्त पाकर परिणमित होने की शक्ति रजकणों में है, उसमें आत्मा का हाथ नहीं है। आत्मा अपने अरूपी विकार को कर सकता है, परन्तु जड़-रूपी में कुछ भी कमी-वेशी नहीं कर सकता। पुद्गलद्रव्य स्वत: परिणमित होकर ज्ञानावरणादि कर्मों को करता है परन्तु आत्मा कहीं उनरूप परिणमित नहीं होता, आत्मा उन्हें नहीं करता; मात्र आत्मा के राग-द्वेषरूप विकारी पर्याय ज्ञानावरणादि कर्म जब स्वत: बँधते हैं, तब उसमें निमित्त होती है; इससे उपचार से कहा कि यह कर्म आत्मा ने किया, परन्तु वह परमार्थ नहीं-व्यवहार है।

सबके कार्य पृथक्-पृथक् हैं—ऐसा यहाँ पर बतलाना है, तू दूसरे द्रव्य को दबाये और दूसरा द्रव्य तुझे दबाये—ऐसा कुछ नहीं है। अपने भाव अच्छे हों और कोई शत्रु आकर चाहे जैसा क्रोध करे, तथापि अपने भावों को दबा नहीं सकता, हीन नहीं कर सकता। उसके भावों का भार उस पर और इसके भावों का भार इस पर; सभी द्रव्य स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं।

सूर्य की किरणों का निमित्त पाकर बारिश के समय इन्द्रधनुष स्वत: परिणमित होता है, परन्तु सूर्य की किरणों ने उसे परिणमित नहीं किया है। यदि सूर्य की किरणों ने इन्द्रधनुष को परिणमित किया हो तो सभी जगह इन्द्रधनुष कर दे; परन्तु वैसा नहीं है। इन्द्रधनुष के हरे-पीले-लाल इत्यादि पृथक्-पृथक् रंगों में परिणमित होने की शक्ति स्वत: पुद्गल में है, पुद्गल परमाणु स्वत: परिणमित होकर उस अवस्थारूप हुए हैं, सूर्य की किरणों ने वह अवस्था नहीं की है। बरसात में सूर्य की किरणों का निमित्त पाकर इन्द्रधनुष होता है, वह सूर्य की किरणों से हुआ है—ऐसा कहना व्यवहार है।

इसी प्रकार आत्मा की अवस्था में जो राग-द्वेष हुए वे सूर्य की किरणों के समान

हैं और कर्म हैं, वे इन्द्रधनुष के समान हैं। राग-द्वेष का निमित्त पाकर जिन कर्मरजकणों में कर्मरूप होने की योग्यता हो वे कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं; स्वत: में (रजकणों में) कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति है। इससे वे स्वत: कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं; इससे उपचार से कहा जाता है कि आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं; परन्तु वह परमार्थ नहीं है ॥१०६॥

अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतु से ऐसा सिद्ध हुआ:—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गल-दव्वं ववहार-णयस्स वत्तव्वं ।।१०७।।

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ।।१०७।।

अर्थ:—आत्मा पुद्गलद्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है; परिणमित करता है और ग्रहण करता है—यह व्यवहारनय का कथन है।

आत्मा के साथ यह जो औदारिक शरीर है वह स्थूल है परन्तु कार्माणशरीर है, वह सूक्ष्म है—वे सब शरीर जड़ हैं। उन्हें आत्मा उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिवर्तित करता है, ग्रहण करता है—वैसा कहना व्यवहारनय का कथन है।

यह आत्मा वास्तव में व्याप्य व्यापक भाव के अभाव के कारण, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, करता नहीं और बाँधता नहीं है।

यह आत्मा वास्तव में व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण जड़ रजकणों में प्रविष्ट नहीं हो जाता; द्रव्यकर्मरूप अवस्था आत्मा स्वत: नहीं करता, स्थितिबन्ध भी आत्मा नहीं करता, कर्म में जो अवधि पड़ती है, वह कर्म स्वतन्त्र परिणमित होकर पड़ती है। आत्मा अपने परिणामों में उग्रता करता है अर्थात् स्वत: में परिणमन का चक्र चढ़ता है, उसका निमित्त पाकर जड़-पुद्गल में स्थितिबन्ध होता है, वह पुद्गल स्वत: परिणमित होकर होता है, आत्मा उसे नहीं करता। जड़ में अनुभागबन्ध भी आत्मा नहीं करता, वह अनुभागबन्ध पुद्गल स्वत: परिणमित होकर होता है, जड़ का प्रदेशबन्ध भी आत्मा नहीं

करता; पुद्गल स्वतः परिणमित होकर प्रदेशबन्ध होता है।

पुद्गल स्वतः अपनी अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् ग्रहण करता है, वह प्राप्य है; पुद्गल स्वतः अपनी पर्याय का परिवर्तन करके परिणमित होता है वह उसका विकार्य कर्म है। पुद्गल स्वतः अपनी पर्याय को उत्पन्न करता है, वह उसका निर्वर्त्यकर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप पुद्गलकर्म स्वतः परिणमित होते हैं, आत्मा उन पुद्गलकर्मों को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता और बाँधता भी नहीं है।

आत्मा कर्म को ग्रहण नहीं करता अर्थात् पकड़ता नहीं है; आत्मा अपने विपरीत भाव में अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्वादि में जकड़ा गया है परन्तु वह जड़ को नहीं पकड़ता। अपना चैतन्यस्वभाव ज्ञानघन अरूपी है उसका अज्ञानी को भान न होने से उसकी भेद संवेदन शक्ति ढँक गयी है, इससे वह अज्ञानभाव के कारण विकारी भावों में पकड़ा जाता है, परन्तु वह जड़ को तीन काल-तीन लोक में भी पकड़कर नहीं रखता। आत्मा पुद्गल कर्म को परिणमित भी नहीं करता, उत्पन्न भी नहीं करता, करता भी नहीं है और बाँधता भी नहीं है। पुद्गलकर्म में रस स्थिति बँधती है, उसे आत्मा नहीं बाँधता, तथापि मैं पर को बाँधता हूँ, उत्पन्न करता हूँ, करता हूँ, परिवर्तित करता हूँ और ग्रहण करता हूँ—ऐसा मानना सो भ्रम है।

आत्मा व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण पर में प्रविष्ट नहीं हो सकता इसलिए पर की अवस्था को नहीं कर सकता; व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता और बाँधता है—ऐसा जो विकल्प है सो वास्तव में उपचार है, परमार्थ नहीं।

जहाँ व्याप्यव्यापकपना न हो वहाँ, कर्ताकर्मपना नहीं हो सकता; जहाँ व्याप्यव्यापकपना हो वहाँ कर्ताकर्मपना हो सकता है। आत्मा का पुद्गलकर्म के साथ व्याप्यव्यापकपना नहीं है इससे, कर्ताकर्मपना भी नहीं है, तथापि अज्ञानी मानता है कि पुद्गलकर्म को मैं करता हूँ—इससे अज्ञानी की अपेक्षा से उपचार से कहा जाता है कि कर्म आत्मा ने किये।

जिस प्रकार बच्चों ने लकड़ी को घोड़ा माना होता है, इससे वे कहते हैं कि यह मेरा

घोड़ा है; तब उससे कहना पड़ता है कि भाई! अपने लकड़ी के घोड़े को तू दूर रख! उसी प्रकार अज्ञानी मानता है कि कर्म मैंने किये हैं, इससे उपचार से कहा जाता है कि कर्म आत्मा ने किये। सूर्य की किरणों का निमित्त पाकर जिस तरह इन्द्रधनुष स्वयं परिणमित होता है—सूर्य उसे परिणमित नहीं करता। इसी प्रकार आत्मा के राग-द्वेष और अज्ञान की अनुकूल उपस्थिति पाकर पुद्गलकर्म अपने आप परिणमित होते हैं, आत्मा की राग-द्वेष और अज्ञान अवस्था उन्हें परिणमित नहीं करती परन्तु राग-द्वेष और अज्ञान की अनुकूल उपस्थिति के कारण उपचार से कहा जाता है कि कर्म आत्मा ने किये; परन्तु वास्तव में पुद्गल कर्म का कर्ता आत्मा नहीं है।

आत्मा अज्ञान भाव से अपने राग-द्वेष को करता है और हर्ष-शोक को भोगता है परन्तु जड़ को कोई कर नहीं सकता और भोग भी नहीं सकता; जड़कर्म का फल आये उसे आत्मा भोग नहीं सकता। मैं लड्डू खाता हूँ, मैं दूध पीता हूँ, मैं मोटर में बैठता हूँ—इत्यादि जड़ वस्तुओं का उपभोग मैं करता हूँ—ऐसी मान्यता अज्ञान है, लड्डू कहीं तेरे आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं? तूने क्या खाया? अज्ञानभाव से राग-द्वेष को खाया है; जड़ को तो कोई नहीं खा सकता। ज्ञानभाव से तो राग-द्वेष को भी नहीं खाता क्योंकि ज्ञानी राग-द्वेष की पर्याय का स्वामी नहीं होता, उसे अपना नहीं मानता इसलिए ज्ञान पर्याय को ही खाता है। विकारी पर्याय चैतन्य की अवस्था है तथापि ज्ञानी उसका स्वामी नहीं होता; इससे वह विकारी पर्याय को खाता भी नहीं है।

अज्ञानी विकारी पर्याय को अपना मानता है और विकारी पर्याय चैतन्य की अवस्था में होती है, इससे वह उसका भोक्ता है; परन्तु चैतन्यद्रव्य से बिल्कुल भिन्न—ऐसे पुद्गलकर्म का तो वह भी भोक्ता नहीं है; पुद्गलद्रव्य चैतन्य से, द्रव्य से गुण और पर्याय से सभी प्रकार भिन्न है; चैतन्यद्रव्य को जड़द्रव्य का कर्ता मानना, ऐसा विकल्प करना वह उपचार है—अज्ञान है। आत्मा कर्म को ग्रहण नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, परिवर्तित नहीं करता।

कोई कहेगा कि चेतन की प्रेरणा न हो तो कर्म को कौन ग्रहण करेगा? चैतन्य कर्म को प्रेरित करता है—ऐसा उसका अर्थ नहीं है परन्तु प्रेरणा का अर्थ मनन होता है; चैतन्य स्वत: परिणामों में रागादि भावों का मनन करता है, वहाँ कर्म अपने आप बँध जाते हैं परन्तु आत्मा कहीं कर्म में प्रविष्ट नहीं हो जाता।

जीव की सता में अजीव सत्ता का अभाव है, अनादि से ऐसी पकड़ है कि यह बात जमना मुश्किल होता है। लोग कहते हैं कि—कर्म आत्मा करता है और आत्मा भोगता है, परन्तु वास्तव में आत्मा कर्म करता नहीं और न भोगता ही है। आत्मा कर्म को करता है और उसके फल को भोगता है—वैसा कहना निमित्त का कथन है—असद्भूत व्यवहार का कथन है। कर्मोदय के समय होनेवाले हर्ष-शोक को आत्मा अज्ञान भाव से भोगता है परन्तु बाह्य संयोगों को कोई भोग नहीं सकता और कर भी नहीं सकता तथापि उपचार से कहा जाता है कि कर्म आत्मा ने किये और आत्मा ने भोगे॥१०७॥

अब पूछते हैं कि यह उपचार किस प्रकार है? उसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो।।१०८।।

यथा राजा व्यवहारात् दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहारात् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः।।१०८।।

अर्थः—जिस प्रकार राजा को प्रजा के दोष और गुणों का उत्पादक व्यवहार से कहा है, उसी प्रकार जीव को पुद्गलद्रव्य के द्रव्य-गुण का उत्पादक व्यवहार से कहा है।

जगत् में कहावत चलती है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' तो क्या वह सच्ची है? वास्तव में वह बात सच्ची नहीं है। राजा महान धर्मात्मा हो तथापि प्रजा राजा की आज्ञा में नहीं चलती, किसी-किसी बात में प्रजा विरोध भी करती है। राजा महान् अधर्मी होता है और प्रजा धर्मपरायण होती है; इसलिए जैसा राजा वैसी प्रजा कहाँ हुई? परन्तु व्यवहार से राजा और प्रजा में सम्बन्ध है, इससे व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि जैसा राजा वैसी प्रजा; परन्तु यथार्थतया वैसा नहीं है।

प्रजा अच्छी हो और राजा महा अधर्मी होता है, वह अपने पाप के उदय का कारण है। इस पंचम काल में तो ऐसा बहुत कुछ बनता रहता है; अभी इस पंचम काल में मुनि के हाथ में से आहार छीन लेनेवाले राजा होंगे; राजा अपने मन्त्री से पूछेगा कि अपनी प्रजा में कोई ऐसा मनुष्य है जो राज्य का कर न देता हो? तब मन्त्री कहेगा कि हाँ! एक नग्न

दिगम्बर मुनि हैं जिनके पास कुछ भी वस्तु नहीं है, वे बिल्कुल नग्न-दिगम्बर ही होते हैं; तब राजा कहेगा कि खाते तो होंगे न? जब वे खायें उनके आहार में से एक पहला ग्रास ले लेना—ऐसा हुक्म राजा करेगा; इससे जब मुनिराज गृहस्थ के यहाँ आहार लेने जायेंगे तब राजा के नौकर आयेंगे और जब गृहस्थ मुनि के हाथ में पहला ग्रास रखेगा कि राजा का नौकर उसे उठा लेगा, इससे मुनि को अन्तराय हो जायेगा और वे बिना आहार ग्रहण किये ही चले जायेंगे, पश्चात् मुनि जान लेंगे कि अब पंचम काल का अन्त आ चुका है—ऐसा जानकर मुनि उपवास करेंगे और समाधिमरण करके देवगति को प्राप्त होंगे, और देवों में से कोई देव आकर राजा को मार डालेगा और वह मरकर नरक गति में जायेगा; मुनि देव से मनुष्य का एक भव धारण करके उसी भव में मुक्ति प्राप्त करेंगे।

व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि यथा राजा तथा प्रजा, परन्तु वास्तव में राजा के आत्मा के गुण-दोष राजा के साथ व्याप्त होते हैं और प्रजा के उसके साथ।

जिस प्रकार प्रजा के गुण-दोषों का व्याप्यव्यापक प्रजा के साथ होने के कारण स्व-भाव से ही (प्रजा के अपने भाव से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने से—यद्यपि उन गुण-दोषों को राजा को व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है, तथापि 'उनका उत्पादक राजा है'—ऐसा उपचार किया जाता है।

राजा के गुण-दोषों का और प्रजा के गुण-दोषों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तथापि राजा को प्रजा के गुण-दोषों का उत्पादक कहना सो उपचार है। जिस प्रकार लोक में कहते हैं कि बाप की शिक्षा पाये हुए लड़के बाप जैसे ही होते हैं; परन्तु बाप की शिक्षा से लड़के सुधरे हैं—ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में लड़कों में ही शिक्षा लेने की शक्ति थी इससे वह बुद्धिमान हुए हैं; बाप का मात्र निमित्त हुआ। बाप और लड़के—सब सबके गुण-दोष अपने-अपने में ही व्याप्त होते हैं, बाप के गुण-दोष लड़के में और लड़के के बाप में व्याप्त नहीं होते; बाप मरकर नरक में जाये और लड़का स्वर्ग में तथा बाप स्वर्ग में जाये और लड़का नरक में अथवा तो दोनों स्वर्ग में जायें या दोनों नरक में—इसलिए बाप और लड़के के गुण-दोषों का कोई मेल नहीं है।

बाप लड़के का या लड़का बाप का—कोई किसी का कुछ नहीं सुधार सकता। स्वत: भाव अवश्य करता है कि लड़का अच्छी शिक्षा पा जाये तो अच्छा; उसके लिये

अलग पैसा भी रख दे, मकान बनवा दे, पढ़ने के लिये रुपयों की व्यवस्था कर दे, अच्छी शिक्षा पाया हुआ लड़का हो तो ब्याह भी अच्छी जगह हो जाये—ऐसे भाव करे परन्तु स्वतः पर का कुछ नहीं कर सकता। यदि बाप शिक्षा दे सकता हो तो कई लड़के शिक्षा देने पर भी नहीं सुधरते, इसलिए जो सुधरता है वह अपने ही शक्ति द्वारा सुधरता है और जो नहीं सुधरता वह अपने से ही नहीं सुधरता; उसमें तेरा कोई भी कारण नहीं है। स्वतः अपने द्वारा सुधरे तब सामनेवाले को मात्र निमित्त कहा जाता है; परन्तु वास्तव में कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता; लड़कों को स्वयं जो बात जमती है, उसे मानते हैं, तब तू कहता है कि मेरा कहना माना; वह मात्र भ्रान्ति है। जो अपने को पसन्द आये; रुचिकर दीखे वही सब मानते हैं, परन्तु वास्तव में कोई किसी का नहीं मानता।

उसी प्रकार प्रजा के गुण-दोष राजा में व्याप्त नहीं होते और राजा के गुण-दोष प्रजा में व्याप्त नहीं होते; राजा के गुण-दोषों का प्रजा में अभाव है और प्रजा के गुण-दोषों का राजा में अभाव है; राजा के गुण-दोष राजा में हैं और प्रजा के प्रजा में; तथापि जैसा राजा वैसी प्रजा—वैसा कहना वह उपचार है। राजा अच्छा हो और प्रजा भी अच्छी हो तो वह प्रजा अपने कारण अच्छी होती है और राजा अधर्मी हो तथा प्रजा भी अधर्मी हो तो प्रजा अपने कारण अधर्मी होती है—राजा के कारण नहीं। जैसा राजा हो वैसी ही प्रजा होती है—ऐसा कोई नियम नहीं हे, राजा अच्छा हो और प्रजा भी अच्छी होती है, राजा गुणी होता है और प्रजा दोषी होती है, राजा दोषी हो और प्रजा गुणी होती है, राजा दोषी होता है और प्रजा भी दोषी होती है—इस प्रकार चौभंगी है। इसलिए राजा जैसी प्रजा कहना मात्र उपचार है।

उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के गुण-दोषों का और पुद्गल द्रव्य का व्याप्यव्यापक भाव होने के कारण स्वभाव से ही (पुद्गलद्रव्य के अपने भाव से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने से यद्यपि उन गुण-दोषों को और जीव को व्याप्यव्यापक भाव का अभाव है तथापि—'उनका उत्पादक जीव है'—ऐसा उपचार किया जाता है।

जो आठ कर्म बँधते हैं, उनका व्याप्यव्यापकपना पुद्गल द्रव्य में ही है, आठ कर्म बाँधने की शक्ति पुद्गल द्रव्य में ही है, वह कर्म की अवस्था आत्मा नहीं कर सकता। जिस प्रकार यह शरीर आत्मा से पृथक् वस्तु है, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से पृथक् वस्तु है; आत्मा स्वतः अज्ञान-मिथ्यात्व और राग-द्वेषादि के विकारी भावों को करता है, उन

विकारी भावों का निमित्त पाकर जड़ रजकणों में कर्मरूप अवस्था अपने आप ही होती है—इतना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है; उस स्वतन्त्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के ऊपर एकत्व बुद्धि करने के कारण, आत्मा कर्म करता है—ऐसा कहा जाता है परन्तु वह उपचार-कथन है अर्थात् वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।

आत्मा की अवस्था में जितनी शक्तिवाले राग-द्वेष होते हैं उसी प्रमाण में नवीन कर्म बँधते हैं, वे अपनी स्वतन्त्रता से बँधते हैं; परमाणुओं में भी अनन्त जीव हैं इसलिए वह अपने आप कर्मरूप परिणमित होते हैं; कर्म आत्मा को खींचते हैं और आत्मा कर्मों को खींचता है—ऐसा नहीं है, परन्तु आत्मा भी स्वतन्त्र वस्तु है और पुद्गल भी स्वतन्त्र वस्तु है; जब आत्मा में राग-द्वेष के भाव होते हैं तब कर्म का निमित्त होता है और पुद्गल कर्मरूप बँधता है तब आत्मा के राग-द्वेष के भावों का निमित्त होता है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। लोह चुम्बक में ऐसी शक्ति है कि वह लोहे को खींचता है और लोहे में खिंचने की शक्ति है; यदि लोहे में खिंचने की शक्ति न हो और लोह चुम्बक ही उसे खींचता हो तो उसे लकड़ी को भी खींचना चाहिए; इसलिए लोहे में ऐसी योग्यता है कि चुम्बक का निमित्त-उपस्थिति पाकर वह खिंच जाता है।

प्रश्नः—आत्मा को दूसरी गति में तो कर्म ही खींच ले जाते हैं न?

उत्तरः—दूसरी गति में जाने की आत्मा की अपनी योग्यता है, अपनी क्रियावती शक्ति की योग्यता के कारण आत्मा दूसरी गति में जाता है; कर्म आत्मा को नरक में ले जाते हैं या स्वर्ग में ले जाते हैं—ऐसा कहना सो उपचाररूप व्यवहार है; आत्मा स्वतः अपने शुभाशुभभावों की योग्यता के कारण नरक या स्वर्ग में जाता है। लोग कहते हैं कि लड़की और गाय को जहाँ ले जाओ वहाँ चली जाती हैं; उसी प्रकार जैसे आत्मा ने कर्म बाँधे हों तदनुसार अपने को भी जाना पड़ता है; परन्तु यह सब कथन उपचार से है। आत्मा कर्म से दबा हुआ नहीं है, अपनी योग्यता के कारण वह मनुष्य, तिर्यंच और स्वर्ग-नरक में जाता है।

आत्मा पुद्गलकर्म की क्रिया नहीं करता; आत्मा अपनी ज्ञान क्रिया करता है; ज्ञान का साक्षीपना-उदासीनपना वह ज्ञान का सत्कार्य है। मैं अपनेरूप होनेवाला हूँ परन्तु पररूप होनेवाला नहीं हूँ—ऐसी श्रद्धा और ज्ञान करके ज्ञान में स्थिर रहना वह ज्ञान का

सत्कार्य है; पर के कार्यरूप न होना और अपने कार्यरूप होना वह ज्ञान का सत्कार्य है।

राजा प्रजा के गुण-दोषों का उत्पादक है—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है परन्तु वास्तव में राजा प्रजा के गुण-दोषों का उत्पादक नहीं है। अच्छे राजा से प्रजा भी अच्छी होती है—ऐसा कहना मात्र उपचार है; अच्छे राजा के कारण प्रजा अच्छी नहीं होती परन्तु प्रजा स्वत: अपने से ही अच्छी होती है। उसी प्रकार पुद्गलकर्म के गुण-दोषों को आत्मा नहीं करता, आत्मा अपने भावों को करता है। पुद्गलकर्म को नहीं करता तथापि पुद्गलकर्म आत्मा ने किये—ऐसा कहना मात्र उपचार है।

अब आगे की गाथा की सुचनारूप काव्य कहते हैं:—अमृतचन्द्राचार्यदेव ने गाथा के साथ कलश की सन्धि की है।

(वसन्ततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव,
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव।
एतर्हि तीव्र-रय-मोह-निवर्हणाय,
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गल-कर्म-कर्तृ ।।६३।।

अर्थ:—'यदि जीव पुद्गलकर्म को नहीं करता, तो उसे कौन करता है?' ऐसी आशंका करके, अब, तीव्र वेगवाले मोह का (कर्ता-कर्मपने के अज्ञान का) नाश करने के लिये पुद्गलकर्म का कर्ता कौन है। वह कहते हैं, उसे (हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषों!) तुम सुनो!

शिष्य पूछता है कि आठ कर्मों को मैं करता नहीं हूँ, उसे मैं परिवर्तित नहीं करता तो उन्हें कौन करता है? यदि आत्मा आठ कर्मों की अवस्था को न करे तो कर्म कैसे बँधें—वह कहिये? प्रभो! हम कर्मों को नहीं जानते थे, शास्त्रों ने कहा कि कर्म हैं, तब हमने जड़ कर्मों को जाना; और आप तो कहते हैं कि तू जड़ कर्मों का रचयिता नहीं है, तो उनका रचनेवाला कौन है? पुद्गलकर्म का कर्ता कौन है वह कहिये? इस प्रकार शिष्य आशंका करता है। आचार्यदेव कहते हैं कि—'शृणुत' अर्थात् सुनो! रागादि और पर में कर्त्ता बुद्धि वही तीव्र मोह है और उस तीव्र मोह का नाश करने के लिये हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषों! तुम सुनो! अन्तर में क्या गड़बड़ होती है उसे सुनो! तीव्र वेगवाले मोह का नाश

करने के लिये पुद्‌गलकर्म का कर्ता कौन है—वह कहते हैं ॥१०८॥

पुद्‌गलकर्म का कर्ता कौन है वह अब कहते हैं:—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा।।१०९।।
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं।।११०।।
एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करेंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा।।१११।।
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि।।११२।।

सामान्यप्रत्यया: खलु चत्वारो भण्यण्ते बन्धकर्तार:।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्या:।।१०९।।
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्प:।
मिथ्यादृष्ट्यादि: यावत् सयोगिनश्चरमान्त:।।११०।।
एते अचेतना: खलु पुद्‌गलकर्मोदयसम्भवा यस्मात्।
ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा।।१११।।
गुणसञ्ज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात्।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि।।११२।।

अर्थ:—चार सामान्य प्रत्यय* निश्चय से बन्ध के कर्ता कहे जाते हैं—मिथ्यात्व, अविरमण तथा कषाय और योग (यह चार) जानना। और फिर उनका, यह तेरह प्रकार का भेद कहा गया है—मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान) से लेकर सयोग केवली (गुणस्थान) तक का। यह (प्रत्यय अथवा गुणस्थान) जो कि निश्चय से अचेतन हैं, क्योंकि पुद्‌गलकर्म

* प्रत्यय=कर्मबन्ध के कारण अर्थात् आस्रव।

के उदय से उत्पन्न होते हैं, वे यदि कर्म करें तो भले करें; उनका (कर्मों का) भोक्ता भी आत्मा नहीं है। जिससे यह 'गुण' नाम के प्रत्यय कर्म करते हैं, उससे जीव तो कर्म का अकर्ता है और 'गुण' ही कर्मों को करते हैं। जीव अज्ञान से ही आस्रव को जीव मान लेता है जो अनात्मा है, उसका कर्ता भोक्ता बनता है, वह जीव नहीं है जीव तो रागादि का अकारक है।

सामान्य प्रत्यय अर्थात् आस्रव भगवान ने चार कहे हैं; आस्रव अर्थात् कर्मबन्ध के कारण-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चार। शुभाशुभराग का स्वामित्व होना, पुद्गल में सुखबुद्धि होना वह भ्रान्ति है—मिथ्यात्व है; मैं किसी का कल्याण करता हूँ और कोई मेरा कल्याण करता है—ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है; आत्मा अखण्ड ज्ञायकमूर्ति है उसे भूलकर जो शरीर है सो मैं हूँ—वाणी मैं हूँ, मन मैं हूँ, शुभाशुभ परिणाम मैं हूँ—ऐसी मान्यता सो मिथ्यात्व है; परवस्तु में आसक्ति सो अविरति है, परवस्तु में प्रीति का अत्यागभाव सो अविरति है; क्रोध-मान-माया-लोभ वह कषाय है; आत्मप्रदेशों का कम्पन सो योग है,—यह चार प्रकार कर्मबन्ध के कारण हैं और इनका विशेष भेद तेरह प्रकार का है; मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली (गुणस्थान) तक के आस्रव पुद्गल करता है। यह तेरह गुणस्थान पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं, वह अचेतन हैं; वे कर्म करें तो भले करें किन्तु उन द्रव्यकर्म-भाव कर्मों का कर्ता-भोक्ता और स्वामी भी आत्मा नहीं है—आत्मा तो अकर्ता है। कषाय और योग के चार प्रकार हैं और उनके विशेष प्रकार तेरह हैं वे सभी जड़ हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, देशविरति, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली—यह तेरह गुणस्थान कर्म के निमित्त की अपेक्षा रखते हैं, इसलिए जड़ हैं। भगवान आत्मा तो अखण्ड ज्ञायकमूर्ति है।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि प्रभो! कर्मों का कर्ता कौन है? शिष्य पूछते-पूछते यहाँ तक आया है कि शरीरादि की क्रिया तो आत्मा नहीं करता परन्तु सूक्ष्म कर्मों और रागादि भाव आस्रवों की अवस्था भी आत्मा नहीं करता, तब फिर उसे कौन करता है? आचार्यदेव ने ऐसा उत्तर दिया है कि चैतन्य में भेद करना वह तेरा स्वरूप नहीं है तू तो अखण्ड

ज्ञायकमूर्ति है। कर्म, चार द्रव्यास्रव और तेरह गुणस्थानों द्वारा बँधते हैं, वह बँधन भी अल्प काल रहेगा क्योंकि वह तेरा अभेद स्वरूप नहीं है—भेदविज्ञान द्वारा—ऐसी आचार्यदेव ने सन्धि की है।

आचार्यदेव ने कहा कि वास्तव में राजा प्रजा के गुण-दोषों का उत्पादक नहीं है, उसी प्रकार आत्मा वास्तव में कर्मों का उत्पादक नहीं है तो कर्मों का उत्पादक कौन है ? चैतन्य राजा के साथ कर्म बँधते हैं उनका कर्ता कौन है ? ऐसी उसे तीव्र जिज्ञासा हुई है तो अब कहते हैं कि शुद्धनय के विषयभूत तेरा आत्मा शुद्ध है, तेरे आत्मा में किंचित् दोष नहीं है—ऐसी प्रथम श्रद्धा कर! तेरा आत्मा अखण्डानन्द है ऐसी एक बार श्रद्धा कर! अपने स्वभाव का वास्तव में तू कर्ता है, अन्य कोई नहीं। तू अपने अनन्त गुणों के पिण्डस्वरूप चैतन्यस्वभावरूप ज्ञानमात्र का कर्ता है—ऐसा यदि एक बार भी तुझे यथार्थरूप से जम गया तो अल्प काल में तेरी मुक्ति है।

भाई! चैतन्य आनन्द में रागादि का कर्मों का कर्ता भोक्ता का भेद करना, वह तेरा स्वरूप नहीं है। आचार्यदेव शिष्य से कहते हैं तू मिथ्यात्व अवस्था में स्थित है तथापि मिथ्यात्वादि आस्रव तेरा स्वरूप नहीं है; और उसके बाद का श्रावकत्व, मुनित्व इत्यादि भेद तेरा वास्तविक अखण्डस्वरूप नहीं है—ऐसी एक बार श्रद्धा कर! परमार्थ की पूछता हो तो हम कहते हैं कि रागादि का अकारक नित्य स्थायी अभेद स्वरूप की श्रद्धा कर।

शिष्य ने उल्लसित होकर पूछा कि आठकर्म रजकणों का कर्ता आत्मा नहीं है तो कौन है ? शिष्य को उसे समझने की आकांक्षा हुई है। आचार्यदेव कहते हैं कि तू कर्म का कर्ता नहीं है; तेरा अखण्डस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है परन्तु तेरह गुणस्थान कर्म के कर्ता हैं। तेरे स्वरूप में भ्रान्ति तीन काल में भी नहीं है; यदि तेरे ध्रुव स्वरूप में भ्रान्ति हो तो वह कभी दूर नहीं होगी इसलिए तू तो निर्विकल्प विज्ञानघन-वीतराग है—ऐसी एक बार तो हाँ कह! श्रद्धा में अन्य सब छोड़े दे— रख दे एक ओर— जिसे सत्समागम में आकर समझने की जिज्ञासा हुई है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं। तेरा ज्ञान स्वभाव कहीं जड़कर्म की अवस्था होने में निमित्त होगा ? आत्मा ज्ञाताशक्तिवाला तत्त्व है, वह परमार्थदृष्टि से-यथार्थदृरूिष्ट से-निश्चयदृष्टि से जड़कर्मों को नहीं करता।

आठ कर्मों की अवस्था होने में जड़ कारण है—चैतन्य कारण नहीं है। तेरह गुणस्थानों को यहाँ पर जड़ कहा है और वे तेरह गुणस्थान जड़ के कर्ता हैं—ऐसा कहा है। यथार्थदृष्टि की-द्रव्यदृष्टि की यह बात है। एक ओर चैतन्यदल और दूसरी ओर जड़दल—इस प्रकार दो भाग कर दिये हैं। एकरूप त्रैकालिक चैतन्य स्वभाव आत्मा है, उसमें संसार-आस्रव को उत्पन्न करने की योग्यता नहीं है। अत: एक ओर राम (चैतन्यमात्र जीवतत्त्व) दूसरी ओर सारा ग्राम (आस्रवतत्त्व)।

वास्तव में पुद्गलद्रव्य ही एक पुद्गलकर्म का कर्ता है; उसके विशेष-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, बन्ध के सामान्य हेतु होने से चार कर्ता हैं; उन्हीं को भेदरूप किये जाने से (अर्थात् उन्हीं के भेद किये जाने से), मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक के तेरह कर्ता हैं। अब, जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन हैं—ऐसे यह तेरह कर्ता ही मात्र व्याप्यव्यापक भाव से पुद्गलकर्म को यदि कुछ करें तो भले करें; उसमें जीव को क्या आया? (कुछ भी नहीं।)

भ्रान्ति, आसक्ति, कषाय और योग—वे नवीन बन्ध के सामान्य अर्थात् संक्षेप से हेतु हैं—कारण हैं। जड़ का कारण जड़ होता है। यहाँ विकारी परिणामों को भी जड़ कह दिया है। हेतु अर्थात् निमित्त; नवीन आठकर्म बाँधने के संक्षप से चार निमित्त कारण है और विशेष प्रकार से तेरह कारण हैं; तेरहों गुणस्थान चैतन्य का कर्तव्य नहीं है, जड़ का कर्तव्य है—ऐसा यहाँ कह दिया है। कारण कि जीव का स्वरूप-लक्षण चेतना है, आस्रव का लक्षण मिथ्यात्वादि है। अत: दोनों भिन्न स्वरूप होने से कर्ताकर्मपना नहीं है, अज्ञानवश अपने को आस्रव तत्त्व मानता है, वह कर्ता मानता है।

गुणस्थान की व्याख्या में चौदहों गुणस्थान आ जाते हैं, परन्तु चौदहवें गुणस्थान में कर्म नहीं बँधते इससे यहाँ तेरह गुणस्थान लिये हैं। उन तेरह गुणस्थानों में अनुक्रम से मिथ्यात्व-अव्रत-कषाय और योग की अपेक्षा है। जिस गुण की पर्याय प्रगट हो वह तो चैतन्य का अपना स्वतत्त्व है, परन्तु उस क्षणिक पर्याय जितना सम्पूर्ण चैतन्य का स्वरूप नहीं है। उस पर्याय पर लक्ष्य डालने से राग आता है, भेद पड़ते हैं, और शुद्धनय के विषयभूत निज अखण्ड चैतन्य पर दृष्टि डालने से वीतरागपर्याय प्रगट होती है, इसलिए यहाँ द्रव्यदृष्टि-अभेददृष्टि कराने की बात है।

अपूर्ण पर्याय के साथ राग जुड़ा होता है, उस अपेक्षा से गुणस्थान को भी जड़ कह दिया है परन्तु वास्तव में कहीं गुणस्थान की पर्याय जड़ नहीं है। तेरहवें सयोगीकेवली गुणस्थान में भी अपूर्ण पर्याय है—अकम्पपना प्रगट नहीं हुआ है, योग का कम्पन हो रहा है इससे उपचार से सयोगीकेवली गुणस्थान को जड़ कह दिया है; परन्तु वह कहीं वास्तव में जड़ नहीं है; वह तो आत्मा की बहुत गुणों की निर्मल पर्याय है परन्तु जो योग का कम्पन है, वह विकार है; जड़ निमित्त के सम्पर्क से होनेवाला भाव भी जड़ है, विकार जड़ है, इसलिए गुणस्थान भी जड़ है—वैसा आचार्यदेव ने कह दिया है; तेरह गुणस्थानों के भंग कर्म के निमित्त से पड़ते हैं, कर्म जड़ हैं इसलिए उस अपेक्षा से गुणस्थान को जड़ कहा है। अपूर्ण-पूर्ण पर्याय के भंग शुद्ध द्रव्यदृष्टि में नहीं हैं, शुद्ध अखण्ड निरपेक्ष वस्तु में अपूर्णत्व और पूर्णत्व की अपेक्षा लागू नहीं होती, वह सब अपेक्षाएँ पर्यायदृष्टि से हैं। अपूर्ण पर्याय पर लक्ष्य डालने से राग आता है, निम्नदशा में अपूर्ण पर्याय के साथ राग होता है, इससे ऐसा कहा है कि—गुणस्थान कर्म को करते हैं; परन्तु वास्तव में गुणस्थान कर्म को नहीं करते, किन्तु जो राग शेष रहा है वह कर्मबन्ध में जड़कर्म निमित्त होता है। राग चैतन्य की विकारी अवस्था है, वह अपने पुरुषार्थ की मन्दता से होता है, परन्तु वह चैतन्य का असली स्वभाव नहीं है; विपरीत स्वभाववाला-परोन्मुखता का भाव है। मिथ्यात्व-रागादि आस्रवतत्त्व है, वह अपना चैतन्य भाव नहीं है इसलिए रागादि को जड़ कह दिया है, और गुणस्थान के विकल्प को भी इस प्रकार जड़ कहा है। तेरहों गुणस्थान के भंग कर्म की अपेक्षा पड़ते हैं। इसलिए उन सबको जड़ कह दिया है। आत्मा सदा ज्ञातास्वरूप है, रागादि आस्रव स्वरूप नहीं है, आठ कर्मों के बाँधने में सम्यग्दृष्टि जीव निमित्त नहीं है, मिथ्यादृष्टि अपने को निमित्त कर्ता मानता है।

शिष्य मिथ्यात्व गुणस्थान में स्थित है, तथापि आचार्यदेव कहते हैं कि मिथ्यात्व से लेकर तेरहों गुणस्थान जड़ हैं, जीव नहीं हैं। शिष्य मिथ्यात्व गुणस्थान में स्थित है तथापि 'वह अवस्था जड़ है, तेरा ध्रुवरूप चैतन्य द्रव्य उससे पृथक् है—ऐसा भान कर'—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। जो जागृत हुआ है उसकी यह बात नहीं है, परन्तु जो अभी जागृत नहीं हुआ है, परन्तु मात्र सत् की जिज्ञासा हुई है कि आत्मा क्या है? उसे समझाते हैं कि तेरा आत्मा पर-जड़ का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है किन्तु तेरह गुणस्थान कर्म के कर्ता हैं।

जिसे जड़ से पृथक् होने की जिज्ञासा है उसे समझाते हैं कि मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग तेरे स्वभाव में नहीं हैं; वे एक क्षणपर्यन्त हैं, वे अल्प काल तक भले हों परन्तु यदि तू आत्मा का नि:शंक भान करके उसमें स्थिर हो जा तो क्षणभर में दूर हो जायेंगे।

यह तेरहों कर्ता व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को कुछ भी करें तो भले करें उसमें जीव को क्या आया? यहाँ गुणस्थान के साथ शेष रहे जो कषाय और योग की पर्याय है वह चैतन्य की अवस्था में होती है परन्तु वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है; वह जड़ की ओर का भाव है इससे उसे जड़ कह दिया है; इससे तेरह कर्ता व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को करते हैं—ऐसा कहा है, और वे अत्यन्त अचेतन हैं—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। कषाय और योग के परिणाम होने में पुराने कर्मों का निमित्त है, इससे पुराना कर्म फैलकर नवीन कर्म को बाँधता है, इस प्रकार पुराने और नवीन कर्मों का व्याप्य-व्यापकपना है। कषाय और योग के निमित्त से नवीन कर्म बँधते हैं और कषाय तथा योग के परिणाम होने में पुराने कर्मों का निमित्त है; इस प्रकार पुराने और नवीन कर्मों में व्याप्य-व्यापकता है; पुराने कर्म की अवस्था किंचित् बढ़कर नवीन कर्म बँधता है। पुराने कर्म की अवस्था किंचित् बढ़कर नवीन कर्म बँधे तो भले बँधे, परन्तु उसमें जीव को क्या आया? कुछ भी नहीं जीव तो अकर्ता है।

शिष्य ने ज्ञानी के निकट सुना कि आत्मा पर से निराला है, वह कर्म का कर्ता नहीं है, तो फिर शिष्य पूछता है कि—यह नवीन कर्म बंध होता है इसका कारण क्या है? श्रीगुरु उससे कहते हैं कि पुराना कर्म किंचित् बढ़कर नवीन कर्म बँधता है।

शिष्य को अन्तरंग में जिज्ञासा हुई है कि—नवीन कर्म बँधने में आत्मा का हाथ नहीं है, नवीन कर्म की अवस्था होने में आत्मा युक्त नहीं होता—ऐसा आप कहते हो तो फिर नवीन कर्म तो बँधता है, उसका क्या किया जाये? शिष्य को समझने की जिज्ञासा हुई है; अभी भ्रान्ति दूर नहीं हुई है, तथापि समझने का इच्छुक है; उससे श्रीगुरु कहते हैं कि जो नवीन कर्म बँधते हैं, वे पुराने कर्मों की जाति बढ़ने से बँधते हैं, उनके बँधने में कर्म का कारण है—तेरा द्रव्यस्वभाव कारण नहीं। यह बात जिसे अन्तर में जमती है, उसे यथार्थ समझ में आता है।

अज्ञानी मानता है कि मैं नवीन कर्म होने में निमित्त हूँ, परन्तु ज्ञानी की दृष्टि पलट

जाती है; पर के ऊपर लक्ष्य न करे-विकार पर लक्ष्य न करे—खण्ड पर लक्ष्य न करे परन्तु अखण्ड पर लक्ष्य करे तो तेरहों गुणस्थान अचेतन हैं। वे कर्मों को करें तो भले करें परन्तु उसमें तेरा किंचित् हाथ नहीं है; पुरुषार्थ की मन्दता-अपूर्णपर्याय भी तेरे अखण्ड पूर्ण स्वभाव की अपेक्षा से पर में जाते हैं; वह हैं तो चैतन्य की पर्यायें परन्तु उनमें कर्म की अपेक्षा आती है, इसलिए उन्हें पर कहा है; मात्र सम्पूर्ण-परिपूर्ण निर्मल चैतन्यदल आचार्यदेव ने कहा है; अपूर्ण-विकारी पर्याय को गौण करके जड़ कह दिया है; यह वस्तु दृष्टि की बात है। इस गाथा में पर्यायदृष्टि को गौण करके द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से बात है। निमित्त नैमित्तिक का व्यवहार पर्याय में है, उसे सामने रखने से अर्थात् उस पर्याय भेद के सन्मुख दृष्टि रखने से असली वस्तु स्वभाव की महिमा और श्रद्धान नहीं होगी, जैसे आँख की आड़ में तृण रखने से सामनेवाली वस्तु ठीक नहीं दिखती।

शुद्धनय के विषयभूत चैतन्य में विकार नहीं है इसलिए विकार जड़ के घर का है; तू तो नित्य अखण्ड पूर्ण ज्ञायक है—वैसी दृष्टि कर! पश्चात् अल्प काल तक कर्म बँधें तो भले बँधें, परन्तु उसमें तेरी दृष्टि को अड़चन नहीं है; चैतन्य की अखण्ड दृष्टि में ऐसा बल है कि अल्प काल में राग-द्वेष की पर्याय हटाकर स्थिरता में वृद्धि करके क्रमशः मुक्ति-पर्याय प्रगट होगी।

आठ नवीन कर्मों को, पुराने कर्म करें तो भले करें—ऐसा आचार्यदेव ने कहा है, उसका अर्थ ऐसा नहीं लेना कि पुराने कर्म नवीन कर्मों को ऐसे के ऐसे करते ही रहते हैं, सन्तान प्रवाह की सन्धि चलती ही रहती है और भी नहीं छूटती—ऐसी बात नहीं है; यहाँ तो इस अपेक्षा से बात है कि दो द्रव्य पृथक् हैं—ऐसी दृष्टि कर। स्वसन्मुख होकर दो द्रव्यों के पृथक्त्व की दृष्टि करे तो क्रमशः स्थिरता बढ़कर कर्म छूट ही जायेंगे।

शिष्य ने पूछा कि प्रभो! यह आठ कर्म बँधते हैं, उन्हें कौन बाँधता है ? आत्मा तो कर्म बाँधता नहीं है, ऐसा आप कहते हैं, परन्तु आठ कर्म बँधते तो हैं ? श्रीगुरु कहते हैं कि देख भाई! तेरह गुणस्थान अत्यन्त अचेतन-जड़ हैं; उन गुणस्थानों में जो कषाय और योग विद्यमान है, वह विकारी पर्याय है उसमें पुराने कर्मों का निमित्त है इसलिए वह पुराने कर्म नवीन कर्मों को करते हैं। गुणस्थान के भंग पड़ने में कर्म की अपेक्षा है, उतना मात्र आत्मा का परिपूर्ण अखण्ड स्वरूप नहीं है, वह गुणस्थान की पर्याय खण्डवाली है, उस पर लक्ष्य

डालने से राग आता है। उसके खण्ड होने से कर्म के सद्भाव और अभाव की अपेक्षा है। कर्म जड़ हैं इसलिए उनके निमित्त से पड़नेवाले गुणस्थान भंग भी जड़ हैं। उन तेरह गुणस्थानों के साथ विद्यमान जो कषाय और योग हैं वे कर्मों को बाँधते हैं—इस प्रकार वे तेरह गुणस्थान कर्मों के कर्ता हैं; कषाय और योग में पुराने कर्मों का निमित्त है इसलिए पुराने कर्म बढ़कर नवीन कर्म बँधते हैं।

हे शिष्य! तू अपने ज्ञानस्वभाव पर लक्ष्य रख, वह तेरे हाथ की बात है; तेरा स्वभाव कर्म के संयोग से, भ्रान्ति से, अव्रत से, कषाय से, योग से पर है—ऐसे अपने द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि डाल तो तेरह गुणस्थानों का विकार-भेद जड़ है, अपने अखण्ड स्वभाव को लक्ष्य में ले तो निमित्तरूप से भी तू कर्ता नहीं है—ऐसा सिद्ध हुआ।

जड़ की अवस्था आत्मा नहीं करता और आत्मा की अवस्था जड़ नहीं करता; वास्तव में वे तेरह भेद जड़ हैं उन विकार भेदों का कर्तृत्व छुड़ाने के लिये ऐसी बात की है। ऐसा नहीं कहा है कि वे तेरह विकार तुझमें होते रहें और तेरी पर्याय में कुछ भी हानि नहीं है—यह तात्पर्य नहीं है। यहाँ द्रव्यदृष्टि कराना है, तथापि अवस्था में जो विकार होता है, अवस्था अपूर्ण है, वह लक्ष्य में रखना; यदि वह लक्ष्य न हो तो द्रव्यदृष्टि भी मिथ्या है। दृष्टि के साथ अपूर्ण-विकारी पर्याय का ज्ञान भी होता है; यदि प्रमाण ज्ञान हो तभी दृष्टि सच्ची है।

अब यहाँ तर्क है कि 'पुद्गलमय मिथ्यात्वादि का वेदन करता हुआ (भोगता हुआ) जीव स्वत: ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है।'

शिष्य पूछता है कि भगवन! यदि आत्मा मिथ्यात्वादि तेरह गुणस्थानों को नहीं करता है तो फिर यह मिथ्यात्वादि, हर्ष-शोक इत्यादि भावों का भोक्तृत्व दिखायी देता है—उसका क्या? समाधान में कहा है कि वास्तव में यह प्रश्न अविवेक है कारण कि मिथ्यात्वादि आस्रव को वेदे उसे हम जीव नहीं कहते एक ओर चेतन द्रव्यदृष्टि और दूसरी ओर पुद्गल द्रव्यदृष्टि है, आस्रव का निमित्त नैमित्तिक भेद पुद्गल में है।

शिष्य जिज्ञासु होकर पूछता है, समझने का इच्छुक होकर पूछता है कि यदि उन भावों का कर्ता आत्मा नहीं है तो उसके वेदन में शान्ति आना चाहिए न? कर्तृत्व का भाव छूट गया तो भोक्तृत्व के वेदन में शान्ति होना चाहिए न? पहला प्रश्न शिष्य का कर्तृत्व का

था, अर्थात् पर का अकर्ता होने का था, स्वभाव का कर्ता होने का था। अब यह दूसरा प्रश्न भोक्तृत्व का है अर्थात् परभावों का भोक्तृत्व छूटकर स्वभाव का वेदन करने की ओर का है; इससे पूछता है कि आठ कर्मों के बन्धन में आत्मा की निमित्तरूप से उपस्थिति भी नहीं है तो आत्मा को शान्ति का वेदन होना चाहिए। यह अज्ञानी का तर्क है परन्तु सत् की ओर ढलने के लिये है।

शिष्य कहता है कि प्रभो! उन मिथ्यात्वादि भावों को जड़ कहा है, परन्तु उनका वेदन तो आत्मा को होता है। यदि वे जड़ हों तो आत्मा को उनका वेदन कैसे हो? यदि मैं विकाररूप, मिथ्यात्वरूप, राग-द्वेष की अवस्थारूप होनेवाला न होऊँ तो यह जो विकार का वेदन मेरी अवस्था में होता है यह क्या है? भोक्ता के भाव को कौन करता है?

श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई! तेरा यह तर्क वास्तव में अविवेक है, क्योंकि आस्रवों के साथ जीव के व्याप्यव्यापक भाव का अभाव होने से आत्मा निश्चय से पुद्गल द्रव्यमय मिथ्यात्वादि का भोक्ता भी नहीं है, तो फिर पुद्गल कर्मों का कर्ता तो होगा ही कहाँ से? हे भाई! तुझे पृथक् करना नहीं आता इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि मिथ्यात्वादि भावों का वेदन मैं करता हूँ—वह तेरा अविवेक है; आत्मा वास्तव में कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। हर्ष-शोक के भावों का वेदन आत्मा के स्वभाव में नहीं है क्योंकि भाव्य जो विकार है। वह आस्रव तत्त्व है, उसका ध्रुव स्वभाव में अभाव है; विकारी भावों का वेदन स्वभाव में नहीं है तो फिर भोक्तृत्व कहाँ से होगा? यहाँ ध्रुव वस्तुदृष्टि की बात है; अवस्थादृष्टि से अज्ञानरूप से करे और भोगे उसे अनात्मा कहते हैं उसकी बात इस गाथा में से निकाल दी है। परोन्मुखतावाला भ्रान्ति का भाव और राग-द्वेष का भाव वह सब भाव आत्मा में नहीं हैं; द्रव्यदृष्टि से आत्मा उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है, परन्तु अज्ञान अवस्था से कर्तृत्व-भोक्तृत्व माना है कि पर को मैं करता हूँ और मैं भोगता हूँ; हर्ष-शोक को मैं करता हूँ और मैं भोगता हूँ; परन्तु एकरूप ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान अवस्था होने से विकारी भावों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व छूट जाता है।

शिष्य ने पूछा था कि यह जो हर्ष-शोक का वेदन होता है उसका क्या समझना? उसका श्री गुरु ने उत्तर दिया है कि भोक्तृत्व अज्ञान से भासित होता है, परन्तु वास्तव में आत्मा भोक्ता नहीं है तब फिर कर्ता तो होगा ही कहाँ से? भाव्य-भावक भाव का अभाव

होने से द्रव्यस्वभाव पर का भोक्ता नहीं है। अज्ञान अवस्था होने से पर के भोक्तृत्व की बुद्धि छूट जाती है, पश्चात् अल्प अस्थिरता शेष रहती है वह गौण है, उसे यहाँ नहीं लिया है।

पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययों के भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय जो कि 'गुणस्थान' शब्द से कहे जाते हैं (अर्थात् जिनका नाम गुणस्थान है) वे ही केवल कर्मों को करते हैं, इससे जीव पुद्गल कर्मों का अकर्ता है; 'गुणस्थान' ही उनका कर्ता है; और वह 'गुणस्थान' तो पुद्गलद्रव्य ही है; इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्मों का कर्ता पुद्गलद्रव्य ही है।

मोह और योग के कारण गुणस्थान के चौदह प्रकार होते हैं, वह आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं है; मोह और योग विकारी पर्यायें हैं—आत्मा का स्वभाव नहीं है। अपने पुरुषार्थ की मन्दता से परोन्मुखता का भाव है इसलिए वह पर का है, जड़ का है, इससे जड़ उनका कर्ता है। मोह और योग से कर्म बँधते हैं तथा वे मोह और योग जड़ के निमित्त से होते हैं इसलिए उन्हें जड़ कहा है। इस प्रकार जड़कर्म का कर्ता जड़ है। पुराना कर्म कुछ बढ़कर नवीन कर्म बँधता है, पुरुषार्थ की मन्दता इत्यादि पर्यायें कर्म की अपेक्षा रखती हैं इसलिए वह आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं है; हैं तो चैतन्य की पर्यायें परन्तु कर्म की अपेक्षा रखती हैं इसलिए उन्हें पर कह दिया है। एक ओर पूर्णशुद्ध चैतन्यदल और दूसरी ओर सम्पूर्ण पुद्गल का दल—इस प्रकार दो भाग कर दिये हैं।

गुणस्थान के प्रकार, भंग-भेद—वे सब अखण्ड चैतन्य स्वरूप में नहीं हैं; पर अपेक्षित दृष्टि से—पर्यायदृष्टि से—भंगदृष्टि से गुणस्थान के प्रकार चैतन्य की पर्याय में हैं अवश्य, परन्तु अखण्ड परिपूर्ण वस्तुदृष्टि उन्हें स्वीकार नहीं करती। अखण्ड परिपूर्ण वस्तु में यदि वास्तव में अपूर्णत्व हो तो वस्तु का परिपूर्ण वस्तुत्व सिद्ध नहीं होता। पर्यायदृष्टि से अपूर्णत्व के और पूर्णत्व के भंग हैं अवश्य, परन्तु निरपेक्षदृष्टि उन्हें स्वीकार नहीं करती। एक में तेरह प्रकार पर्यायदृष्टि से हैं, अभंगदृष्टि में भंगदृष्टि गौण है। एक समय में परिपूर्ण स्वभावरूप अपना असली स्वरूप का स्वामित्व और उसमें ही एकत्व का अनुभव करने से—'मैं विकारी भावों का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ'—यह बात जिसे जम गयी है उसके भव और भव का कारण नहीं रहते, पश्चात् अल्प अस्थिरता रहती है परन्तु वह खिर जाती है, क्रमशः स्थिरता की वृद्धि करके अल्पभवों में मुक्ति प्राप्त करेगा। जिसे यह बात रुचि-जमी है, उसके कर्म का कर्तृत्व भोक्तृत्व छूट जाता है और उससे कर्मबन्धपना भी दूर हो जाता

है, और स्वतः श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि करके मुक्ति पर्याय प्रगट करता है। जिसे यह बात नहीं जमती उसके पर्यायबुद्धि की आड़ में असली स्वरूप नहीं सूझता और कर्म का कर्तृत्व नहीं छूटता और उससे कर्म बन्धन भी उसको बना रहता है।

शास्त्र में प्रत्ययों को बन्ध का कर्ता कहा गया है। गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही है, इससे यह गुणस्थान बन्ध के कर्ता हैं अर्थात् पुद्गल-कर्म के कर्ता हैं। पुनश्च, मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय अथवा गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं; इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म का कर्ता है—जीव कर्ता नहीं है। जीव को पुद्गलकर्म का कर्ता मानना अज्ञान है।

यहाँ शुद्धदृष्टि को लक्ष्य में लेकर बात की है। पराश्रय की दृष्टि हटाने के लिये आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान करके असली तत्त्व में दृष्टि कराना है, और पर में-विकार में कर्ताकर्म का तीव्र मोह कैसे मिटे वह समझाया है। कर्म के निमित्त से जितने भंग-भेद पड़ते हैं, वे आत्मा के नहीं हैं—ऐसी अन्तर अभेददृष्टि से यहाँ बात ली है; ऐसी अभेददृष्टि का ज्ञान करके, श्रद्धा करके स्थिरता करना सो मुक्ति का उपाय है। पर्यायदृष्टि से गुणस्थान आत्मा की पर्याय में होते हैं, परन्तु द्रव्यदृष्टि से कर्म के निमित्त से होनेवाले भंग कर्मों के हैं—ऐसा कहा है ॥१०९-११२॥

पुनश्च, जीव का और प्रत्ययों का एकत्व नहीं है—ऐसा अब कहते हैं:—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एव-मणण्णत्त-मावण्णं ।।११३।।
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
अय-मेयत्ते दोसो पच्चय-णोकम्म-कम्माणं ।।११४।।
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।११५।।

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य चैव-मनन्यत्व-मापन्नम् ।।११३।।

एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः।
अय-मेकत्वे दोषः प्रत्यय-नोकर्म-कर्मणाम्।।११४।।
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत्।।११५।।

अर्थः—जिस प्रकार जीव को उपयोग अनन्य अर्थात् एकरूप है। उसी प्रकार यदि क्रोध भी अनन्य हो तो इस प्रकार जीव और अजीव में अनन्यपना आ गया। ऐसा होने से, इस जगत में जो जीव है वही नियम से उसी प्रकार अजीव सिद्ध हुआ; (दोनों का अनन्यपना होने में यह दोष आया) प्रत्यय, नोकर्म और कर्म के एकत्व में अर्थात् अनन्यत्व में भी यही दोष आता है। अब यदि (इस दोष के भय से) तेरे मत में क्रोध अन्य है और उपयोग स्वरूप आत्मा अन्य है तो जैसा क्रोध वैसे प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी आत्मा से अन्य ही हैं।

जिस प्रकार जीव का उपयोग जीव के साथ अनन्य अर्थात् एकरूप है, जीव और उसका ज्ञानस्वभाव तन्मयरूप से एक स्वभाव से एकाकार हैं, उसी प्रकार क्रोध-मान-माया-हर्ष-शोकादि विकारी भाव भी यदि जीव के साथ अनन्य अर्थात् एकरूप हों तो आत्मा और जड़ पुद्गल-दोनों एक हो गये। जिस प्रकार ज्ञानस्वभाव आत्मा का है उसी प्रकार क्रोधादि भाव भी हों तो जिस प्रकार ज्ञानस्वभाव आत्मा से पृथक् नहीं होता उसी प्रकार क्रोधादिभाव भी न छूटें। उसी प्रकार प्रत्यय अर्थात् आस्रव और नोकर्म अर्थात् शरीरादिक और आठ प्रकार के द्रव्यकर्म, वे सभी यदि ज्ञानस्वभाव जैसे अनन्य अर्थात् एकरूप हों तो वे भी कभी आत्मा से पृथक् न हों; इसलिए जिस प्रकार क्रोधादि भाव आत्मा से भिन्न हैं, वैसे ही कर्म-नोकर्म-प्रत्यय आदि भी आत्मा से भिन्न हैं—ऐसा जानना।

जिस प्रकार जीव की उपयोगमयता के कारण जीव से उपयोग अनन्य है, उसी प्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य है—ऐसी यदि प्रतिपत्ति की जाये (माना जाये) तो चिद्रूप और जड़ की अनन्यता के कारण जीव को उपयोगमयता की भाँति जड़-क्रोधमयता भी आ जाये। ऐसा होने से तो जो जीव वही अजीव सिद्ध हो—इस प्रकार अन्य द्रव्यों का लोप हो।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप से अनन्य है, उसी प्रकार यदि क्रोध भी आत्मा से अनन्य

हो तो जीव को जड़ता सिद्ध हुई। क्रोधादि विकार होते तो चैतन्य के परिणाम में ही हैं, किन्तु वे जड़ के निमित्त से होते हैं इसलिए जड़ हैं—ऐसा यहाँ कहा है। क्रोधादि की यदि आत्मा के साथ अनन्यता मानें तो विकारीभाव और अविकारीभाव—दोनों एक हो जायें; क्रोध क्षणिक एक समयपर्यन्त का है और आत्मा त्रिकाली है; इसलिए वह एक समय जितने विकारी भावरूप नहीं होता। यदि क्रोध के समय क्रोधरूप ही हो जाये, मान के समय मानरूप ही हो जाये, शुभभाव के समय शुभभावरूप और अशुभभावों के समय अशुभभावरूप ही हो जाये तो आत्मा जड़ हो जाये।

विकारी भाव चैतन्य के पर्याय है परन्तु वह आत्मा का स्वभावभाव नहीं है, जड़ के निमित्त से होनेवाला भाव है इसलिए जड़ है। यदि आत्मा विकारीभावोंरूप हो जाये तो आत्मा भी जड़ हो जाये, परन्तु वैसा नहीं होता। अज्ञानी को क्रोध के समय जागृति नहीं रहती उस अपेक्षा से वह जड़ है; क्रोधादि आस्रवों में कर्ताबुद्धि-एकताबुद्धि वाले आत्मा की जागृति का नाश होता है और आस्रवों में ज्ञान नहीं है उस अपेक्षा से अज्ञानी को जड़ कहा है; परन्तु वास्तव में अज्ञानी जड़ नहीं हो जाता। स्व-पर को जाने सो चेतन, स्व-पर को न जाने वह अचेतन अत: क्रोधादि आस्रव अचेतन जड़ है, चेतन से भिन्न है।

आत्मा तो विशाल जागृतिस्वरूप है, जागती ज्योति है। क्रोध उस जागृति को रोकता है। यदि क्रोध जितना ही आत्मा हो जाये तो जागृति और अजागृति दोनों एक हो जायें; जो एक हो जाये वह पृथक् किस प्रकार होगा ? क्रोध, माना, माया, लोभ आत्मा की जागृति को रोकनेवाले हैं और चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा तो अपनी जागृति का विकास करनेवाला है।

लोग कहते हैं कि यह तो आप ऊँची-ऊँची पूर्णिमा जैसी बातें करते हैं। अरे भाई—तुझे वस्तुस्थिति की खबर नहीं है, तूने सत् का श्रवण नहीं किया है, और आग्रह में फँस गया है इससे तुझे उच्च पूर्णिमा जैसी बातें लगती हैं, किन्तु यह तो दौज की बातें हैं पूर्णिमा की नहीं। पूर्णता की बात हो तो उसमें तो जानकर-मानकर स्थिर होना आता है; जानने, मानने की बात दौज की है और चारित्र में स्थिर होने की बात पूर्णिमा की बात है।

शुद्धनय के विषयभूत आत्मा में पुण्य-पाप के भाव नहीं, वास्तव में आत्मा तो निर्विकारी परिपूर्ण शुद्धस्वरूप है—ऐसी जो अखण्डदृष्टि सो निश्चयनय और अवस्था में

पुण्य-पाप के भाव होते हैं—ऐसा जो ज्ञान सो व्यवहारनय।

जीवों ने अनादि से विपरीत मान्यता पकड़ रखी है, इससे वे कहते हैं कि व्यवहार से-पराश्रय से-निश्चय प्रगट होता है; परन्तु वह बात बिल्कुल मिथ्या ही है। शुभभाव तो पराश्रय है—व्यवहार हैं और शुभभावों का अर्थ है, आस्रवरूप मलिन भाव, विकारी भाव—उनसे अविकारी आत्मा प्रगट होगा? कभी प्रगट नहीं होगा; असली स्वभाव का आलम्बन से ही व्यवहार का नाश और निश्चय स्वभाव प्रगट होता है। व्यवहार अर्थात् विकारी भाव; उन विकारी भावों का नाश अखण्ड स्वभाव की दृष्टि-ज्ञान और स्वरूप में एकाग्रता द्वारा होता है। इस प्रकार अविकारी भाव प्रगट होता है; विकारीभाव व्यवहार है और उन्हें जानना व्यवहारनय है। व्यवहारनय के अनेक भंग हैं।

आत्मा के यथार्थ स्वरूप की बात सुनने से (सत्स्वरूप की बात सुनने से) अरुचि हो तो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है; यह बात सुनकर ऐसा लगे कि अरे! ऐसी बात, ऐसी रूखी बातें—ऐसी अरुचि हो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। आत्मा पर से निराला है, वह बात अज्ञानी को रूखी लगती है, परन्तु भाई! वह रूखी बात नहीं है, अत्यन्त रसमय है; आत्मा के जिज्ञासुओं को, हित के वांछकों को यह बात रसमय प्रतीत होती है; उन्हें तो अलौकिक स्वरूप की बात की ही उत्कण्ठा रहती है, उसी में उन्हें रुचि और उमंग होती है।

पर से निराली, निरपेक्ष वस्तु स्वतः अपने में है, बाह्य में कहीं भी नहीं है, शरीर में नहीं, विकार में नहीं है। व्यवहार में निश्चय नहीं है; लोग व्यवहार-व्यवहार कह रहे हैं, परन्तु चैतन्य का व्यवहार चैतन्य में होगा या जड़ में? चैतन्य में ही होगा। व्यवहारनय तो उसे कहा जाता है कि अखण्ड द्रव्यस्वभाव को स्वीकार करने के पश्चात्, प्रतीति में लेने के पश्चात् अल्प विकारी अवस्था रहती है, उसे जान लेना वह व्यवहारनय है।

आत्मा की निर्मल आनन्दरूप पर्याय आत्मद्रव्य में से ही प्रगट होती है; आत्मा और उसकी पर्याय—दोनों अभेद हैं, इसलिए निर्मल पर्याय प्रगट होने का आधार द्रव्य स्वतः है, परन्तु परवस्तु कहीं उसका आधार नहीं है।

जो ऐसा मानते हैं कि हम बाह्य से कुछ करें तो धर्म प्रगट हो; इसका अर्थ तो यह हुआ कि मैं तो एक शक्तिहीन निर्बल वस्तु हूँ, मुझमें कुछ भी सामर्थ्य नहीं है; परवस्तु हो

तो मेरी पर्याय प्रगट हो—ऐसा माननेवालों को आत्मा के प्रति अरुचि है, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है, अनन्त संसार में परिभ्रमण करने का भाव अभी उसके विद्यमान है।

आत्मा तो चिद्रूप है, जानने-देखने के, स्वभाववाला है, उसे क्रोध के साथ अनन्यपना है—ऐसा मानने से चिद्रूप को क्रोधपना आ जायेगा, विकारीपन आ जायेगा, इसलिए क्रोधरूप विकारीभाव और चिद्रूपता—दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

आत्मा में क्रोध नहीं है, मान नहीं है, विकार नहीं है—ऐसा मनन करता रहे और कहता रहे तो लाभ होगा? नहीं होगा। परन्तु चिद्रूप आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा जाने; प्रतीति करे और अनुभव करे तो लाभ हो, निम्न भूमिका में शुभपरिणाम आते हैं, देव-गुरु-शास्त्र की ओर बहुमान आता है, पूजा-भक्ति-स्वाध्याय करता है परन्तु वह समझता है कि—इन समस्त निमित्तों से रहित मेरा स्वरूप है; वैसा ज्ञान हो तो देव-गुरु-शास्त्र को निमित्तरूप कहा जाता है। ऐसे निराले आत्मा का ज्ञान हो तो देव-गुरु-शास्त्र को निमित्तरूप कहा जाता है। स्वत: अपने पुरुषार्थ से समझे तब देव-गुरु-शास्त्र को निमित्त कहा जाता है। देव-गुरु-शास्त्र से ही मुझे लाभ होगा, धर्म होगा—ऐसा माने तो उसे देव-गुरु-शास्त्र निमित्तरूप भी नहीं हैं; निमित्त को निमित्तरूप से स्वीकार करे तो निमित्त हुआ कहा जाये परन्तु निमित्त को सचमुच कर्ता के रूप से स्वीकार करे तो निमित्त स्वत: ही उपादान हो गया; निमित्त कहाँ रहा?

देव-गुरु-शास्त्र की ओर उन्मुखता का भाव शुभभाव है, उस शुभभाव से सम्यग्ज्ञान नहीं होता परन्तु शुभभावों का अस्वीकार करने से सम्यग्ज्ञान होता है।

यहाँ सच्ची दृष्टि का वर्णन किया है; सच्ची दृष्टि होने के पश्चात् देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति में युक्त हुए बिना जीव नहीं रहता, अशुभ राग को दूर करने के लिये जीव शुभराग में युक्त होता है, दया, पूजा, भक्ति इत्यादि के शुभपरिणाम आये बिना नहीं रहेंगे। उन शुभपरिणामों से धर्म होगा वैसा नहीं मानना चाहिए, यदि वैसा माने तो विपरीत दृष्टि और सीधी दृष्टि में क्या अन्तर हुआ? इसलिए तत्त्व दृष्टि के पश्चात् शुभभाव आयें परन्तु उनसे लाभ नहीं मानना चाहिए। महाव्रतादि के शुभभाव भी आते हैं परन्तु उनसे मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं मानना; स्वावलम्बन के बल से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय जितने-जितने अंश में प्रगट हो उसी को धर्म मानना; शुभभाव तो विकारी भाव हैं उनसे तो

पुण्यबन्ध होता है परन्तु धर्म नहीं मानना, व्रत और महाव्रतादि के शुभपरिणामों को व्यवहार से आदरणीय माने परन्तु निश्चय से नहीं।

अनादि काल से स्वभाव की अरुचि होने से यह बात सुनने पर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अरे रे! हमारा सभी कुछ उड़ाये देते हैं, परन्तु भाई! इसमें तो सम्पूर्ण चैतन्य स्वभाव का आश्रय करना कहा जाता है, अनन्त पुरुषार्थ करना कहा जाता है। चैतन्यस्वभाव की पहिचान करने पर अनन्त पुरुषार्थ करना शेष रहता है। क्या धर्म कहीं बाहर कूदने से प्रगट होता होगा या अन्तर्दृष्टि करने से? परन्तु अज्ञानी को तो ऐसा ही हो गया है कि मैं अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा ही नहीं हूँ। और मेरा आधार जैसे कोई अन्य पदार्थ है!— ऐसा हो गया है। ज्ञानी तो समझता है कि मेरा आधार मैं स्वत: ही हूँ, अपने आधार के बिना अन्य किसी से मुझे धर्म होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के अन्तरंग में अनन्त गुना अन्तर होता है; बाह्यक्रिया कदाचित् समान दिखायी दे किन्तु अन्तरंग में अन्तर रहता है।

आत्मा का अनन्त स्वावलम्बी स्वरूप है, उसे सुनने से ही ऐसा लगे कि यह तो निश्चयाभास है ऐसी तत्त्वज्ञान के प्रति अरुचि हो तो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। आत्मा ने यदि स्वत: अपने स्वभाव का खून किया है तो इसी एक भाव से! निश्चय अर्थात् यथार्थ;—ऐसे यथार्थ स्वभाव की अरुचि हुई इससे 'केवली भगवान के आगे भी कोरा रह गया'।

निश्चयाभासी का स्वरूप शुष्कता में जाता है, परन्तु जो विपरीत अभिप्राय रहित होकर यथार्थ स्वावलम्बी निश्चयस्वरूप को समझा है स्वसन्मुख हुआ है उसकी निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है। कुछ मन्द प्रयत्न हो तो अशुभपरिणामों से बचने के लिये शुभपरिणामों में युक्त होता है; परिपूर्ण स्वावलम्बी तत्त्व पर दृष्टि रखकर स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ करता हुआ शुद्ध निर्मल पर्याय को बढ़ाता जाता है, बीच में शुभराग आये बिना नहीं रहता। निश्चय अर्थात् यथार्थ; ऐसे यथार्थ स्वभाव को जिसने स्वसन्मुखता द्वारा जाना उसका अन्तर परिणमन पलट जाता है। निश्चयाभासी शुद्ध स्वरूप की बातें करता रहता है परन्तु उसे शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि नहीं है, भाव भासन नहीं है, निर्मल पर्याय को बढ़ाने का पुरुषार्थ वे कैसे करेंगे?

जो क्रोध है सो आत्मा है—ऐसा हो जाने से आत्मा पृथक् नहीं रहता, क्रोध स्वत:

ही आत्मा हो गया, इससे वैसी मान्यता में तो आत्मा जड़ है, यह हुआ। जिस प्रकार क्रोध जड़ है, वैसे ही प्रत्यय (आस्रव) कर्म और नोकर्म-शरीरादि, वे सभी जड़ हैं।

मुझमें विकार नहीं है—ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं है विकार भले ही होते रहें; परन्तु 'मैं निरपेक्ष वस्तु अनादि-अनन्त हूँ, स्वाधीन हूँ, शुद्ध हूँ, पूर्ण ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसी प्रतीति हुई कि वहाँ विकार का आदर नहीं रहेगा; जहाँ विकार भावों का आदर नहीं है, वहाँ राग-द्वेषरूप विकार भाव बढ़ेंगे या घटेंगे ? घटेंगे ही। अपने ध्रुव अविकारी स्वभाव का आदर हुआ उसकी स्वभावपर्याय बढ़ेगी, जिस ओर का आदर हुआ; रुचि हुई उस ओर का पुरुषार्थ ढलेगा और पर्याय बढ़ेगी ही। जिसने अपने को पर से पृथक् माना और जाना उसके विकार-(अशुद्धता) टालने का ही बल आता है परन्तु जिसने विकार भावों को (शुभाशुभ राग को) अपना माना है, विकार और निर्मल आत्मा का पृथक् भेद नहीं जाना है, उसके विकार भावों को दूर करने का और स्वभाव पर्याय को बढ़ाने का बल आयेगा कहाँ से ? कहाँ स्थिर रहकर विकार भावों को दूर करेगा ? जैसे अन्धेरा हटाना नहीं पड़ता—किन्तु उसके स्थान में प्रकाश करते ही अन्धेरा उत्पन्न ही नहीं होता। इस प्रकार स्वभाव की अस्ति में रहकर विकार भावों की नास्ति की जा सकती है, परन्तु विकार में स्थित रहकर विकार को किस प्रकार टाला जा सकता है ?

क्रोध भी अन्य है; यदि ऐसा है तो राग-द्वेष, हर्ष-शोक, रति-अरति, भाव भी चैतन्य भाव से अन्य है—आत्मा के नहीं है और आस्रवों, कर्म, नोकर्म भी सब अन्य हैं, आत्मा में नहीं हैं, क्योंकि उनके जड़त्व में अन्तर नहीं है, जिन भावों से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है, वे भाव भी आत्मा से अन्य हैं।

सत्य को मिथ्या कौन कहता है ? असत्य (असत् दृष्टिवाला); परन्तु सत्य को सत्यदृष्टिवाला तो मिथ्या कहता नहीं है; केवलज्ञानी भी सत्य को मिथ्या नहीं कहते; सत्य को सत्य सच्चा ही कहता है परन्तु जिसके हृदय में असत्य है वह सत्य को मिथ्या कहता है। सत्य बात नहीं जमती इसलिए खलबलाहट हो जाती है। किसी को ऐसा लगे कि इसमें अकेला निश्चय ही आता है परन्तु अकेला निश्चय कहाँ आया ? क्या, यह सब व्यवहार नहीं है ? भेद करके समझे वह व्यवहार नहीं है ? गुणस्थान अनुसार—आंशिक भेद विकल्प हो, राग-द्वेष हो, उन सबका ज्ञान करना वह सब व्यवहार ही है, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

को जानना, हेय-उपादेय का स्वरूप जानना, साध्य-साधकभाव को जानना, वह सब व्यवहार ही है।

निश्चय अर्थात् यथार्थ, व्यवहार अर्थात् आरोप। जो आरोप है वह अनारोप नहीं हो सकता। राग-द्वेष के भाव जड़ हैं—ऐसा कहने से लोग थरथरा उठते हैं परन्तु चैतन्य के स्वभाव में राग-द्वेष नहीं हैं, वे अजागृत भाव हैं चैतन्य की जागृति को रोकनेवाले हैं, उस अपेक्षा से उन्हें जड़ कहा जाता है। परन्तु राग-द्वेष के भाव कहीं जड़कर्म नहीं करा देते; स्वत: जब विपरीत पुरुषार्थ में युक्त होता है तब, राग-द्वेष होते हैं, अपनी पर्याय में होते हैं, उस अपेक्षा से व्यवहार से चैतन्य के भी कहलाते हैं। राग-द्वेष मेरे हैं, मैं करता हूँ—ऐसी दृष्टि तो जीवों की अनादि से है ही, इसलिए उस बुद्धि को छुड़ाने के लिये और द्रव्यस्वभाव की ओर दृष्टि कराने के लिये यहाँ दृष्टि की प्रधानता से बात की है। असली स्वभाव को ग्रहण करनेवाली द्रव्यदृष्टि हुए बिना धर्म का प्रारम्भ और भव का अभाव होना असम्भव है। द्रव्यस्वभाव में राग-द्वेष नहीं हैं इसलिए वे आत्मा के नहीं हैं, इसलिए जैसा वस्तु का असली स्वभाव है, वैसा स्वरूप सुनकर जिसे झल्लाहट होती है निश्चय का विरोध करते हैं, वह आत्मा की बात सुननेयोग्य नहीं है।

निश्चय (-यथार्थ), राग को बन्ध का कारण मानना यथार्थ ही है। जिन भावों से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है वे भाव भी विकारी भाव हैं—बन्धभाव हैं, जड़भाव हैं—ऐसी बात सुनने से लोगों में थरथराहट होती है; परन्तु भाई! जरा ठहर तो सही! सुन तो ले! क्या गुणों द्वारा बन्ध होता है? यदि गुणों से बन्ध होता हो तो वह कब छूटेगा? इसलिए जिन भावों से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है वे भाव भी विकारी भाव हैं। दृष्टि का विषय जो सम्पूर्ण चैतन्यदल है उसे एक बार दृष्टि में ला तो सही! उस सम्पूर्ण चैतन्यदल को लक्ष्य में लिये बिना अन्तरंग से तू क्या प्रगट करेगा? कहाँ जायेगा?

तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किसे होता है? राग का एक अंश भी आदरणीय नहीं है—ऐसी मान्यता होने के पश्चात् ज्ञानी अभी पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है इससे पुरुषार्थ की कमजोरी से प्रशस्त राग आ जाता है; परन्तु राग का अंशमात्र भी आदरणीय नहीं माना है, तथापि कोई ज्ञानी को उस जाति का प्रशस्त राग आ जाने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है, अज्ञानी को तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो—ऐसा प्रशस्त राग नहीं आता, क्योंकि

उसने पर से भिन्न स्वतन्त्र आत्मा को नहीं जाना है और राग को आदरणीय माना है, इससे उसे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होता। परन्तु ज्ञानी को ही तीर्थंकर नामकर्म बँधता है।

जिस भाव द्वारा तीर्थंकर नामकर्म बँधते हैं, उस जाति का उच्च प्रशस्त भाव भी जड़भाव है। कोई कहेगा कि अरे! ऐसे उच्चभाव को जड़भाव कहा जाता है? परन्तु जिस भाव से चैतन्य की जागृति रुकती है उसे जड़ न कहें तो क्या कहा जाये? जो चैतन्य की जागृति को रोकता है वह मुक्तिसाधक-स्वभावभाव नहीं होता परन्तु विरुद्ध प्रकार का (-बन्ध साधक) विकारी भाव ही होता है और वह भाव द्रव्यदृष्टि से जड़ ही है।

कोई कहे कि ऐसी बात में तो भगवान की भक्ति भी उड़ जायेगी। अरे भाई! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, प्रभावनादि के शुभभाव जैसे ज्ञानी के होते हैं, वैसे अज्ञानियों के होते ही नहीं।

तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती पद, बलदेव पद—वे सभी पद सम्यग्दृष्टि जीवों को ही बँधते हैं, क्योंकि ज्ञानी को ऐसा भान है कि मेरा निर्मल आत्मस्वभाव ही आदरणीय है, उसके अतिरिक्त राग का एक अंश या पुद्गल का एक रजकण भी आदरणीय नहीं है। ऐसी प्रतीति होने से, अभी सम्पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है इससे राग का भाग आता है उसमें उच्च प्रकार का राग आने से तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पदवियाँ बँधती हैं। धर्म भी ज्ञानी को होता है और उच्च पुण्य भी ज्ञानी को होता है, अज्ञानी को आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है, इससे उसे धर्म भी नहीं है और उच्च पुण्य भी नहीं है। ऐसी स्वाश्रय तत्त्व की बात सुनकर यदि अन्तर स्वानुभव से वीतराग ज्ञानस्वभावी अपने ज्ञायक तत्त्व का विश्वास करे तो सिद्धगति है, नहीं तो निगोद गति है। तत्त्व के आदर में सिद्धगति है और अनादर में निगोदगति है; सिद्धगति में जाते हुए बीच में एक-दो भव हों उनकी यहाँ गिनती नहीं है और निगोद में जाते हुए बीच में अमुक भव हों उन्हें भी नहीं गिना है, क्योंकि त्रस पर्याय में ठहरने का काल थोड़ा है और निगोद का काल अनन्त गुना है। तत्त्व के अनादर का फल निगोद और आदर का फल सिद्धगति है।

प्रथम सच्चे हित के लिये, ज्ञानी के पास श्रवण करना चाहिए और सत् स्वरूप का अपूर्व आदर होना चाहिए। असली-निश्चय तत्त्व का आदर होने से रुचि बढ़ती है और रुचि में वृद्धि होने से अन्तरोन्मुखता का पुरुषार्थ होता है, परन्तु यदि सत् श्रवण करते समय

आदर न हो तो उसकी रुचि भी कहाँ से बढ़ेगी और बिना रुचि के पुरुषार्थ कहाँ से होगा?

ज्ञानी के पुण्य परिणाम और अज्ञानी के पुण्यपरिणामों में भी अन्तर है। अज्ञानी की दृष्टि और ज्ञानी की दृष्टि का किसी प्रकार मेल नहीं बैठता; अज्ञानी की सम्पूर्ण दृष्टि भेद-पराश्रय में-पर में है और ज्ञानी की सम्पूर्ण दृष्टि स्व में है। दोनों की दृष्टि में उदय-अस्त जितना अन्तर है; अज्ञानी के जो भाव होते हैं, वे सब अज्ञानमय-जड़मय हैं और ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय हैं, जागृतिस्वरूप हैं। आत्मा के भान बिना चौरासी लाख के अवतार धारण करे वह कहीं आत्मा कहलाता है? अरे शुभराग की क्रियारूप आस्रवतत्त्व को धारण करे वह भी आत्मा नहीं है आत्मा तो अनन्त गुणमूर्ति, आनन्द का पिण्ड अबन्ध ज्ञानस्वभावी है, उसमें ही दृष्टि लगाकर उसका स्वाद ले और उसमें लीन हो उसे आत्मा कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अन्तरात्मा है।

शुभराग को हितकर माने वह रागादि को करने योग्य अर्थात् भला मानता है, अपना मानता है, राग-द्वेष को अपना माना तो वे दूर कहाँ से होंगे? दोष का काल एकसमय है और गुणों का काल त्रिकाल है; विकार का एक समय गया और दूसरा आया वह भी चला गया परन्तु वस्तु तो सम्पूर्ण रही, इसलिए वस्तु में विकार नहीं होता परन्तु पर्याय में होता है। यदि चैतन्यवस्तु में रागादि विकार होता हो तो आत्मा जड़ हो जाये, भिन्न द्रव्य का लोप हो, वह महान दोष आता है। भेदज्ञान द्वारा अवगुण का नाश होकर गुण की पर्याय प्रगट होती है, वह आत्मा के स्वभाव में से प्रगट होती है।

एक जीव अनन्त काल पूर्व सिद्ध परमात्मा हुआ और दूसरा अनन्त काल पश्चात्—उसमें पश्चात् सिद्ध होनेवाले की शक्ति क्या कम हो जाती है? नहीं होती। पश्चात् सिद्ध परमात्मदशा प्रगट करनेवाले की ध्रुव शक्ति यदि घट जाती हो तो वह आयेगी कहाँ से? अर्थात् प्रत्येक आत्मा की द्रव्य-गुणरूप ध्रुव शक्ति अनन्त काल तक एक समान और एक ही प्रकार ही है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता। अनन्त काल पूर्व सिद्ध होनेवाले और अनन्त काल पश्चात् सिद्ध होनेवाले—दोनों आत्माओं की शक्ति समान ही है। प्रत्येक आत्मा वस्तुरूप अनादि अनन्त-अखण्डरूप से जैसे की वैसी है।

जहाँ से विपरीत मानता है उसी जगह खोज कर तो वहीं सीधा मानना भी है। सीधी मान्यता करके विपरीत मान्यता को छोड़! अखण्ड चैतन्यतत्त्व की रिद्धि-समृद्धि की

खबर नहीं है इससे बाह्यदृष्टि से मानता है कि मैं इतना हूँ वर्तमान संयोग विकार और अल्पज्ञान जितना हूँ, परन्तु आत्मा उतना नहीं है। आत्मा शरीरादि से, शुभाशुभपरिणामों से रहित ज्ञानादि अनन्त शक्ति से परिपूर्ण तत्त्व है।

संयोग दृष्टि से देखनेवाला अपने असली स्वरूप को देख सकता नहीं। जो घी का घड़ा है, वह घीमय नहीं है परन्तु मिट्टीमय है, वैसे ही वर्णादिवाला जीव है, वह ज्ञानमय है किन्तु वर्णादिवाला नहीं है। विकारी पर्याय और शरीर हैं अवश्य परन्तु वह आत्मा का असली स्वभाव नहीं है। निमित्त को और रागादि भेद को जानना सो व्यवहार, और वह स्वत: में नहीं है—वैसा निषेध करना सो निश्चय। आत्मा स्वत: अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड द्रव्य है—वैसी प्रतीति करना और स्वत: परस्वरूप नहीं है पराश्रय और भेदरूप नहीं है इस प्रकार निषेध करना सो निश्चय है ॥११३-११५॥

अब, सांख्यमत के अनुयायी शिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावपना सिद्ध करते हैं (अर्थात् सांख्यमती प्रकृति-पुरुष को अपरिणामी मानता है, उसे समझाते हैं।)

अब कोई एकान्त ले जाये तो उसे समझाते हैं। कोई कहता है कि राग-द्वेष-क्रोधादि जड़ के हैं; मेरे आत्मा में वे नहीं हैं, मेरा आत्मा तो शुद्ध है इसलिए अब मैं चाहे जैसे राग-द्वेष करूँ तो भी डर नहीं है क्योंकि वे तो जड़ के हैं। उससे आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! हम तुझसे वस्तुदृष्टि की बात करते हैं, उसमें तूने यह अड़ंगा क्या लगाया! वस्तुदृष्टि से आत्मा पवित्र निर्मल है, परन्तु यदि अवस्था में भी मलिनता न होती हो तो कौन निषेध करेगा? अपनी भूल के कारण अपनी अवस्था में मलिनता होती है, इससे उसका निषेध किया जाता है। सांख्यमत का अनुयायी शिष्य और प्रकृति को अपरिणामी मानता है उसे समझाते हैं:—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पोग्गल-दव्व-मिणं अप्परिणामी तदा होदि।।११६।।
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संख-समओ वा।।११७।।

जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सय-मपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा।।११८।।
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।।११९।।
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइ-परिणदं मुणसु तच्चेव।।१२०।।

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्य-मिद-मपरिणामि तदा भवति।।११६।।
कार्मण-वर्गणासु चापरिणममानासु कर्म-भावेन।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा।।११७।।
जीवः परिणामयति पुद्गल-द्रव्याणि कर्म-भावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता।।११८।।
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम्।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्व-मिति मिथ्या।।११९।।
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम्।
तथा तद्ज्ञानावरणादि-परिणतं जानीत तच्चैव।।१२०।।

अर्थः—यह पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं नहीं बँधा है और कर्मभावरूप स्वयं परिणमित नहीं होता—ऐसा यदि माना जाये तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है; और कर्मवर्गणाएँ कर्मभावरूप परिणमित न होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

पुनश्च, यदि ऐसा माना जाये कि जीव पुद्गलद्रव्यों को कर्मभावरूप परिणमित करता है तो यह प्रश्न उठता है कि जो वर्गणाऐं स्वतः परिणमित नहीं होतीं उन्हें चैतन्य आत्मा कैसे परिणमित कर सकता है? अथवा, यदि ऐसा माना जाये कि पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मभावरूप परिणमित होता है, तो ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है कि—जीव कर्म को अर्थात् पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप परिणमित करता है।

इसलिए जिस प्रकार नियम से कर्मरूप* परिणमित हुआ पुद्‌गलद्रव्य कर्म ही है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणमित हुआ पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही जानो।

आत्मा के साथ रहनेवाली आठ कर्मों की मिट्टी अर्थात् जड़कर्मों की जो अवस्था होती है वह न मानी जाये तथा पुद्‌गल कर्मरूप परिणमित ही नहीं हुआ ऐसा माने तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है तथा संसार का अभाव सिद्ध होता है और उससे सांख्यमत का प्रसंग आता है। जो कर्म की अवस्था को नहीं मानते उनके मत में ऐसा आया कि काँटा और विष—ऐसी पुद्‌गल की कोई अवस्था ही नहीं है, इस प्रकार पुद्‌गल अपरिणामी है; परन्तु वैसा कहनेवाले की बात बिल्कुल मिथ्या है। काँटा और विष कोई मूल द्रव्य नहीं हैं परन्तु परमाणु की पर्यायें हैं; परमाणु में कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति है। यदि परमाणु कर्मरूप परिणमित न होते हों तो संसार का अभाव सिद्ध हो और आत्मा का मोक्ष सिद्ध हो; इस प्रकार आत्मा में विकार नहीं हैं और विकार नहीं है तो संसार भी नहीं है। यदि परमाणु की अवस्था कर्मरूप होती ही न हो तो आत्मा में संसार का निमित्त कारण कौन है? संसार का उपादान कारण तो आत्मा का अशुद्ध भाव है परन्तु उस अशुद्ध भाव के होने में जड़कर्म निमित्त है। और विकार न हो तो उसका अभाव करके मोक्ष किसका किया जाये? इस प्रकार से तो संसार और मोक्ष दोनों का अभाव सिद्ध हो। कर्म की उपस्थिति का निमित्त विकार में है परन्तु स्वभाव में उसके अस्तित्व का निमित्त नहीं है। यदि विकार में भी निमित्त न हो तो विकार ही न हो; इसलिए भाई! यदि परमाणु कर्मरूप न होते हों तो संसार का अभाव हो जाये।

कोई यह कहे कि पुद्‌गलद्रव्य अपने आप परिणमित नहीं होता किन्तु जीव उसे कर्मरूप परिणमित करता है। परन्तु भाई! जिस वस्तु में स्वतः में ही कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति नहीं है, अथवा स्वतः अपने से कर्मरूप परिणमित नहीं होती उसे दूसरा कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिए सिद्ध होता है कि पुद्‌गलद्रव्य अपने आप ही कर्मभावरूप परिणमित होता है। जीव कर्म को अथवा पुद्‌गलद्रव्य को कर्मरूप परिणमित करता है—ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है। चैतन्य के विकारी परिणाम कर्म नहीं कराता किन्तु स्वतः परिणमित होता है, तब होते हैं। जड़ आत्मा में नहीं है, और आत्मा जड़ में नहीं है;

* कर्म=कर्ता का कार्य, जैसे कि—मिट्टी का कार्य घड़ा है।

जो जिसमें नहीं है, वह उसे कैसे बदलेगा-परिणमित करेगा? इसलिए पुद्गलद्रव्य ही स्वत: कर्मरूप परिणमित होता है। इस प्रकार नियम से कर्मरूप परिणमित हुआ पुद्गलद्रव्य कर्म ही है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणमित हुआ पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है।

पुद्गल की कर्मरूप अवस्था आत्मा नहीं करता; भिन्न वस्तु भिन्न वस्तु की अवस्था नहीं करती। मिश्री को खबर नहीं होती कि मैं जीभ पर जाऊँ तो गलूँ, और पत्थर पर गिरूँ तो नहीं गलूँ, परन्तु उसमें बदलने की शक्ति है इससे स्वत: परिवर्तित होती है; उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य में कर्म परिणमित होने का स्वयं सामर्थ्य है, स्वत: कर्मरूप परिणमित होता है—आत्मा उसे परिणमित नहीं करता।

आचार्यदेव ने पहले कहा था कि—क्रोध, मान, माया, लोभ तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है; यह विकारी वृत्तियाँ आत्मा के अन्तर-घर की नहीं हैं। वे होती तो आत्मा की पर्याय में हैं, परन्तु क्षणिक हैं, संयोगी भाव हैं इससे उन्हें जड़ का कहा था। इससे कोई ऐसा समझ जाये कि क्रोध, मान, माया, लोभादि सब जड़ के हैं ऐसा आपने कहा है; तो वे भले रहें, हमें उन्हें टालना नहीं है। अब हम चाहे जैसे वर्तें विषय सेवें, लम्पटता करें तो कोई हानि नहीं है? अरे मूर्ख! मर जायेगा! चला जायेगा नरक-निगोद में! ऐसी उत्तम स्वभाव की बात स्वच्छन्दी होने के लिये नहीं कही है; पुण्यभावों को छोड़कर पाप भावों में जाने के लिये नहीं कही है, परन्तु वे विकारी भाव तेरा स्वभाव नहीं है—वैसी श्रद्धा करने को कहा है। ऐसे के ऐसे विषय-विकार और गृद्धिभाव करता रहे—उसके लिये आचार्यदेव ने यह बात नहीं कही है; परन्तु उन भावों को दूर करने के लिये बात की है। नित्य-स्वभाव विरुद्ध मिथ्यात्व रागादि विकारीभाव हैं, वे आस्रव तत्त्व हैं, वे तुझमें नहीं हैं, इसलिए तू ध्रुव स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करके उन विकारी भावों का नाश कर, उस प्रकार उन विकारी भावों को नष्ट करने के लिये स्वभावदृष्टि बतलायी है; परन्तु उन्हें रखने और स्वच्छन्दी होने के लिये नहीं कहा है। यदि अज्ञानभाव से स्वत: तू राग-द्वेष के भाव न करता हो तो संसार किसका? और यदि संसार अवस्था न हो तो मुक्ति का उपाय कहाँ रहा? वह कुछ भी नहीं रहता; इसलिए तेरे ध्रुवस्वभाव में राग-द्वेष आदि भाव नहीं हैं—ऐसी दृष्टि कर! यह कहने का तात्पर्य है। संसार और मोक्ष दोनों पर्यायें आत्मा की अवस्था में होती हैं; वे दोनों पर्यायें भी एक साथ नहीं होतीं—जब संसारपर्याय होती है तब मोक्षपर्याय नहीं होती और जब मोक्षपर्याय हो तब

संसारपर्याय नहीं होती। आत्मा में अनादि की संसारपर्याय है, इसलिए आत्मा के स्वभाव को पहिचान कर स्वभावदृष्टि करके उसमें स्थिर हो तो मोक्षपर्याय प्रगट हो और संसारपर्याय का अभाव हो जाये। संसारपर्याय का अभाव करने के लिये स्वभावदृष्टि की बात की है।

यदि पुद्‌गलद्रव्य जीव में स्वयं न बंधकर कर्मबन्धरूप स्वयं परिणमित न हो तो वह अपरिणामी ही सिद्ध हो। ऐसा होने से संसार का अभाव हो। क्योंकि पुद्‌गलद्रव्य कर्मरूप परिणमित न हो तो जीव कर्मरहित सिद्ध हो; फिर संसार किसका?

आठकर्म यदि स्वयं परिणमित न हों तो वह अपरिणामी सिद्ध हों। उनमें परिवर्तित होना सिद्ध न हो तो उससे वे कूटस्थ सिद्ध होंगे, और इससे संसार भी सिद्ध नहीं होगा।

परमाणु में परिणमित होने की शक्ति न हो तो वह परिवर्तित न हो, अर्थात् एक ही रूप रहे; इससे आत्मा में विकार का निमित्त न हो। विकार होने में निमित्त न हो तो विकार भी न हो और विकार न हो तो संसार भी न हो; संसार न हो तो स्वभाव हो। और मोक्ष हो।

पुद्‌गलद्रव्य की स्थूल अवस्था दृष्टिगोचर होती है। अफीम के परमाणु स्वतन्त्रतया परिणमित होते हैं। लकड़ी पानी में नहीं डूबती वह पुद्‌गलद्रव्य का परिणमन है। लोहे का छोटा सा टुकड़ा पानी में डाला जाये तो वह डूब जाता है, वह भी पुद्‌गलद्रव्य का परिणमन है। परमाणु जब लकड़ी की अवस्थारूप हुए तब नहीं डूबते परन्तु लोहे की अवस्थारूप हुए तब डूबते हैं। अनेक परमाणु एकत्रित हुए इसलिए डूबते हैं और कम परमाणु इकट्ठे हों तो नहीं डूबते—ऐसा नहीं है। लोहे के टुकड़े में कम परमाणु हैं तथापि वह डूब जाता है और लकड़ी में बहुत परमाणु हैं, तब भी तैरती है। वह सब परमाणुओं की अवस्था है। परमाणु का अर्थ है अन्तिम से अन्तिम सूक्ष्म रजकण; उसमें कभी तैरने की अवस्था होती है और कभी डूबने की। उसी प्रकार परमाणु में कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति भी है, इससे वह स्वयं कर्मरूप परिणमित होते हैं।

कर्म अपने आप परिणमित होते हैं, उन्हें अन्य कोई परिणमित नहीं करता। यहाँ जो ऐसा तर्क किया जाये कि—'जीव पुद्‌गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमित करता है, इससे संसार का अभाव नहीं होता;' तो उसका निराकरण दो पक्षों से किया जाता है—क्या जीव स्वयं अपरिणमित पुद्‌गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमित करता है या स्वयं परिणमित होनेवाले को? प्रथम तो, स्वयं अपरिणमित पुद्‌गलद्रव्य को पर के द्वारा परिणमित नहीं

किया जा सकता; क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वत: (अपने से ही) न हो उसे अन्य कोई कर नहीं सकता, (इसलिए प्रथम पक्ष असत्य है।) और स्वयं परिणमित होनेवाले को तो पर (अन्य) परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती, (इसलिए दूसरा पक्ष भी असत्य है।) इससे पुद्‌गलद्रव्य स्वयमेव परिणमन स्वभाववाला है।

आत्मा, स्वयं जिस द्रव्य में परिवर्तित होने की शक्ति हो उसे परिवर्तित करेगा या जिसमें परिवर्तनशक्ति न हो उसे? परमाणु यदि स्वयमेव परिवर्तित न होते हों तो आत्मा में शक्ति नहीं कि उन्हें पलट सके? जिस वस्तु में परिवर्तन शक्ति न हो उसे दूसरा द्रव्य परिणमन नहीं दे सकता अर्थात् उसे पलट नहीं सकता। और यदि पुद्‌गलद्रव्य अपने आप ही परिवर्तित होता है, उसमें स्वत: ही परिवर्तनशक्ति है, तो फिर उसमें आत्मा ने क्या किया? क्योंकि जो स्वत: ही परिणमित होता है, उसे दूसरे ने परिणमित किया, वह कहना मिथ्या सिद्ध होता है। वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

आत्मा में राग-द्वेष का जो विकारी दोष होता है वह परमाणु नहीं है परन्तु आत्मा का अरूपी भाव है, चैतन्य का अरूपी चिदाभास है। क्रोध आत्मा करता है, कर्म नहीं कराता; विपरीत पुरुषार्थ से जीव स्वत: करता है और सम्यग्पुरुषार्थ से स्वत: टाल सकता है। लाखों तीर्थंकर या केवलियों के निकट बैठा हो, परन्तु यदि स्वयं न बदले तो कोई उसे बदल नहीं सकता। इस गाथा में कर्म अपने आप परिणमित होते हैं—वैसी बात है, और इसके पश्चात् आत्मा के ओर की गाथा आयेगी वहाँ कहेंगे कि विकार आत्मा करता है, कर्म विकार नहीं कराते। पहले ऐसा कहा था कि आत्मा में संसार नहीं है, वह द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से-पर्याय को गौण करके कहा था; परन्तु अवस्थादृष्टि से संसार तुझमें है, तेरी पर्याय में है। तेरी पर्याय में संसार न हो तो उसे दूर करना नहीं रहता—ऐसा आगे की गाथाओं में कहेंगे।

पुद्‌गलकर्म अपने आप स्वयं परिणमित होता है, परद्रव्य उसे परिणमित नहीं करता; वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। लोहे में से लकड़ी क्रमश: परमाणु की अवस्था बदलकर होती है—वह परमाणु की अपनी शक्ति है। परमाणु स्वतन्त्रतया बदलकर लोहे में से लकड़ी होती है और लकड़ी से लोहा भी परमाणुओं के स्वतन्त्ररूप

से बदलने से होता है। किसी भी वस्तु में परिवर्तित होने की जो शक्ति है वह पर की अपेक्षा नहीं रखती, यदि पर की अपेक्षा रखे तो वस्तु पराधीन हो जाये। किसी को ऐसा विचार हो कि परवस्तु का निमित्त तो है न? निमित्त मात्र होता है, परन्तु वह किसी द्रव्य को बदल नहीं देता—परिणमित नहीं कर देता। वस्तु किसी की अपेक्षा नहीं रखती, द्रव्य की पराधीनता नहीं किन्तु स्वाधीनता है; निमित्त मात्र उपस्थित होता है परन्तु परवस्तु को वह बदल नहीं देता। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा ही समझे तो सम्यग्ज्ञान हो जाये। शरीर का बदलना, हिलना-डुलना इत्यादि कार्य का कर्ता पुद्गल द्रव्य है कारण कि-पुद्गलद्रव्य स्वतः परिणमित होकर उसरूप होता है, आत्मा उसे नहीं कर देता। आठ कर्म अपने आप ही परिणमित हो रहे हैं; जो स्वतः से ही बदलता हो उसे दूसरा बदलता है—ऐसा कहना मिथ्या है। निमित्त होता अवश्य है परन्तु वस्तु पर की अपेक्षा नहीं रखती, स्वतः परिणमित होती रहती है।

पुद्गलद्रव्य परिणमन स्वभाववाला स्वयमेव है। ऐसा होने से, जिस प्रकार घड़ेरूप में परिणमित हुई मिट्टी ही स्वतः घड़ा है वैसे ही, जड़ स्वभाववाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हुआ पुद्गलद्रव्य ही स्वतः ज्ञानावरणादि कर्म है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य का स्वतन्त्र परिणामस्वभावपना सिद्ध हुआ।

घड़े का कर्ता कुम्हार है—ऐसा कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नहीं रखती। मिट्टी में बदलने की शक्ति है, घड़ा होने में मिट्टी स्वतः ही सन्मुख हो रही है, मिट्टी स्वतः परिणमित होकर घड़ा होता है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मरूप पुद्गलों स्वतः परिणमित होकर होते हैं, तेरा तत्त्व पृथक् है और उसका तत्त्व पृथक् है; प्रत्येक द्रव्य पृथक् है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावपना सिद्ध हुआ।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता।।६४।।

अर्थः—इस प्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई। यह सिद्ध होने से, पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है, उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

पुद्गलद्रव्य में स्वभावरूप से परिणमित होने की अर्थात् स्वभावरूप परिवर्तित होने की शक्ति निर्विघ्नतया सिद्ध हुई। पुद्गलद्रव्य में परिणमित होने की अर्थात् अवस्था से अवस्थान्तर होने की शक्ति स्वतन्त्र है, उसे परिणमित होने में कोई बीच में विघ्न नहीं कर सकता। जो ऐसा कहते हैं कि हम हों तो जड़ का कार्य हो, वैसा कहनेवाले से कहते हैं कि नि:शंकतया पुद्गलद्रव्य की शक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई, परमाणुमात्र अपनी एक पर्याय से दूसरी पर्याय को स्वयं बदलता है; परमाणु स्वत: ही एक अवस्था से परिणमित होकर दूसरी में उत्पन्न होता है; उसकी अवस्था होने में उसी का कारण है, किसी पर का कारण नहीं है—ऐसा निश्चित होने से पुद्गलद्रव्य अपने भावों को करता है, उन भावों को वह स्वत: ही कर्ता है।

अब जीव का परिणामीपना सिद्ध करते हैं:—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि॥१२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा॥१२२॥
पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो॥१२५॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति॥१२१॥
अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः।
सन्सारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा॥१२२॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वम्।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः।।१२३।।
अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या।।१२४।।
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः।।१२५।।

अर्थः—सांख्यमत के अनुयायी शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं कि भाई! यह जीव स्वयं कर्म में नहीं बँधा है, और स्वयं क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं होता—ऐसा यदि तेरा मत हो तो वह (जीव) अपरिणामी सिद्ध होता है। और जीव स्वतः क्रोधादिभावरूप परिणमित न होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

पुनश्च, पुद्गलकर्म जो क्रोध है वह जीव को क्रोधरूप परिणमित करता है—ऐसा तू मानता है तो यह प्रश्न होता है कि जो स्वतः परिणमित नहीं होता ऐसे जीव को क्रोध कैसे परिणमित कर सकता है? अथवा यदि आत्मा अपने आप क्रोधभावरूप परिणमित होता है—ऐसी तेरी बुद्धि हो तो क्रोध जीव को क्रोधरूप परिणमित करता है—ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता हैं।

इसलिए यह सिद्धान्त है कि क्रोध में उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकार में परिणमित हुआ है ऐसा) आत्मा क्रोध ही है, मान में उपयुक्त आत्मा मान ही है, माया में उपयुक्त आत्मा माया है और लोभ में उपयुक्त आत्मा लोभ है।

यदि आत्मा स्वतः ही राग-द्वेष में विकार भाव से स्वयं परिणमित होकर न होता हो, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेषरूप आत्मा स्वतः परिणमित होकर न होता हो तो जीव अपरिणामी सिद्ध होता है और आत्मा की अवस्था में विकार हुए बिना संसार किसका? संसार आत्मा की विकारी अवस्था है यदि वह आत्मा में न होती हो तो संसार ही न हो और संसार न हो तो मोक्ष भी न हो।

कोई कहे कि क्या किया जाये भाई! कर्म का ऐसा तीव्र उदय हो धन्धे में सच्चा-झूठा भी करना पड़ता है। परन्तु वैसा कहनेवाले की बात बिल्कुल मिथ्या है। यदि तू

क्रोधादि में परिणमित न हो तो क्या जड़ तुझे बलात् क्रोधादि में लगाता है ? यदि जड़ तुझे क्रोधादि में परिणमित करे तो जड़ चैतन्य के परिणाम का कर्ता हुआ इससे दो द्रव्य एक हो गये। परन्तु ऐसा वस्तु का स्वभाव है ही नहीं; आत्मा स्वत: ही क्रोधादि विकाररूप परिणमित होता है, उस समय जड़कर्म निमित्तरूप होते हैं।

सांख्यमत आत्मा को बिल्कुल शुद्ध मानता है, अवस्था को मानता ही नहीं। पूर्व की कितनी ही गाथाओं में ऐसी बात आयी थी कि आत्मा शुद्ध है और क्रोधादि जड़ हैं, परन्तु इस गाथा में अवस्था की बात की है, क्योंकि कोई शुष्क ऐसी बात न ले जाये कि अपने को तो ऐसे के ऐसे विषयकषाय करना चाहिये, क्योंकि आत्मा तो शुद्ध है, इसलिये चाहे जैसे विषयादि में वर्तन करें तो भी कोई हानि नहीं है। वैसी शुष्कता न होने के लिये आचार्यदेव समझाते हैं कि क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि विकारी भाव तेरे आत्मा की अवस्था में होते हैं। एकबार कहा कि क्रोधादि तेरे नहीं हैं और फिर कहते हैं कि क्रोधादि तेरी अवस्था में होते हैं। क्रोधादि भाव तेरे स्वरूप में नहीं हैं—ऐसा कहा वह ध्रुव शक्तिरूप वस्तु सम्यग्श्रद्धा का विषय है। सम्यग्श्रद्धा परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य को स्वीकार करती है; वह अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्याय को स्वीकार नहीं करती, परन्तु श्रद्धा के साथ रहता हुआ ज्ञान परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य को जानता है और अपूर्ण, पूर्ण एवं विकारी पर्याय को भी जानता है, तथा वह जानता है कि मलिनता मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति से होती है। इस प्रकार अवस्था को बतलाने के लिये यहाँ अवस्था दृष्टि से कहा है; अवस्था में मलिनता है अवश्य, नहीं हो—ऐसा नहीं है। यदि अवस्था को मलिन न माने तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है; पुरुषार्थ की अशक्ति से स्वत: यदि विकारी अवस्थारूप परिणमित न हो तो मलिनता न हो, जड़कर्म मलिनता नहीं करा देते। यदि जड़कर्म मलिनता करायें तो संसारी जीवों के साथ कर्म स्थायी ही हैं वे तो मलिनता कराते ही रहेंगे और तुझे शुद्ध होने का प्रसंग ही नहीं आयेगा; परन्तु कर्म आत्मा को क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं करते; स्वत: विकारी अवस्थारूप परिणमित हो तो क्रोधादि कषाय होते हैं। इस प्रकार क्रोध, मान, विषय, कषाय इत्यादि अपने ही कारण से हैं, इससे यह बात मिथ्या सिद्ध होती है कि जड़कर्म जीव को क्रोधादि भाव कराते हैं। इसलिए त्रिकाली नियम है कि जिसका उपयोग क्रोधाकार में परिणमित हुआ है ऐसा आत्मा क्रोध ही है, मान में युक्त आत्मा मान ही है, माया में लगा हुआ आत्मा माया ही है और लोभ में लीन आत्मा लोभ ही है।

आत्मा का असली स्वरूप तो शुद्ध है, पवित्र है, परन्तु पुरुषार्थ की आशक्ति से, अपने स्वरूप से च्युत होकर—स्वरूप में स्थिर न रहकर अरुचि, पश्चाताप, क्रोध, मानादि में युक्त हो जाने से अपनी अवस्था में वे मलिन भाव होते हैं। वह विकारी पर्याय आत्मा से पृथक् नहीं है—ऐसी अभेद अपेक्षा से कह दिया है कि आत्मा क्रोध ही है।

कर्म क्रोध कराते हैं वैसा भी नहीं है और आत्मा में क्रोध प्रविष्ट हो जाता है वह भी ठीक नहीं है। जब स्वत: क्रोधरूप अवस्था में परिणमित होता है तब अवस्था में क्रोध होता है, परन्तु सम्पूर्ण आत्मा क्रोधरूप नहीं हो जाता। यदि सम्पूर्ण आत्मा क्रोधरूप हो जाये तो क्रोध दूर कैसे हो?

संसारी जीव ऐसा मानते हैं कि मैं क्रोध करूँ तो संसार की व्यवस्था चले; घर के आदमी, लड़के और नौकर-चाकरों को धमकी दिखाऊँ तो वे सुधरें। देखो! यह विपरीत अभिप्राय! धमकी तू दिखाये, क्रोध तू करे, और सामनेवाला सुधर जाये यह कैसे हो सकता है? यदि तेरी सच्ची सलाह से सामनेवाला सुधरता हो तो तेरे क्रोधादि भावों से उसे बिगड़ना चाहिये; क्योंकि सिद्धान्त तो एक ही होता है। परन्तु तेरी वह बात मिथ्या है; तेरे शुभाशुभ भावों से लाभ-हानि तुझको ही है; सामनेवाले का सुधरना-बिगड़ना उसके हाथ की बात है; उसकी अवस्था की व्यवस्था उसके कारण से होती है। तू मानता है कि नौकर-चाकरों पर दबाव रखूँ तो काम हो—वह बात बिल्कुल मिथ्या है; तुझसे सामनेवाला नहीं दबता किन्तु तू स्वत: अपने क्रोध से दबा है, सामनेवाले का सुधरना-बिगड़ना उसके कारण से है। सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं, कोई किसी को सुधार नहीं सकता; स्वत: जब अपने द्वारा सुधरे तब सामनेवाले को निमित्त कहा जाता है। परन्तु अज्ञानी जीव मानता बैठता है कि मुझसे सुधरा और मुझसे बिगड़ा; किन्तु वास्तव में अपने से ही बिगड़ा या सुधरा है। समस्त द्रव्य स्वतन्त्र हैं, जो जिसको अनुकूल हो वह करता है, कोई किसी का किंचित् भी नहीं कर सकता।

यह जीव स्वयं कर्म में न बँधकर क्रोधादिभावरूप स्वयमेव परिणमित न हो वह वास्तव में अपरिणामी ही सिद्ध हो। ऐसा होने से संसार का अभाव होगा।

यदि जीव स्वयं कर्म में न बँधा हो अर्थात् भावबन्धन में न बँधा हो, जीव में बँधने का विकारभाव न हो अर्थात् स्वत: राग-द्वेष के विकारभावरूप न होता हो तो वास्तव में

आत्मा अपरिणामी सिद्ध हो अर्थात् कर्म विकारभाव में आत्मा को परिणमित करें, परन्तु आत्मा स्वत: विकारभावरूप न परिणमे तो आत्मा अपरिणामी सिद्ध हो।

आत्मा विकाररूप होता है और विकार का नाश भी करता है और स्वभावभावरूप भी प्रगट होता है, उसमें आत्मा स्वयं-अपने आप परिवर्तित होता है। राग-द्वेष और शुभाशुभ वृत्तियों की अवस्थारूप यदि आत्मा स्वत: परिणमित न हो तो संसार का अभाव हो; विकार में आत्मा बिल्कुल ही न हो तो आत्मा का मोक्ष हो जाये।

यदि यहाँ ऐसा तर्क किया जाये कि 'पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक हैं वे जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित करते हैं इससे संसार का अभाव नहीं होता' तो उसका निराकरण दो पक्षों से किया जाता है—पुद्गल कर्म जो क्रोधादिक हैं, वे स्वयं अपरिणमित जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित करते हैं या स्वयं परिणमित होनेवाले को? प्रथम स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नहीं किया जा सकता; क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वत: न हो उसे कोई अन्य प्रगट नहीं कर सकता। और स्वयं परिणमित होनेवाले को तो पर (अन्य) परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। (इस प्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं।) इससे जीव स्वयमेव परिणमन स्वभाववाला होता है।

जड़क्रोध, जड़कर्म, आत्मा विकाररूप से न होता हो उसे विकाररूप करते हैं अथवा आत्मा विकाररूप होता हो उसे विकाररूप करते हैं? उन दोनों में किस प्रकार से बात है?

यदि आत्मा विषय-कषाय, राग-द्वेषादि विकारी भावरूप परिणमित न हो तो अन्य कोई उसे बदल नहीं सकता-परिणमित नहीं कर सकता। जो स्वत: अपने आप बदलता ही नहीं उसे दूसरा कौन बदल सकता है? जो अपने आप विकाररूप परिणमित नहीं होता उसे जड़कर्म किस प्रकार विकाररूप परिणमित कर सकते हैं? और स्वयं अपने आप ही बदलता है, स्वयं ही विकाररूप परिणमित होता हो तो उसे पर की अपेक्षा लागू नहीं होती। पहले कहा कि जिसमें स्वत: परिणमन-शक्ति नहीं है, उसे दूसरा कैसे परिणमित कर सकता है? और दूसरी बार कहा कि यदि स्वयं परिणमित होता हो फिर दूसरे की अपेक्षा

की आवश्यकता नहीं है। वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं, स्वयं-अपने आप ही विकाररूप परिणमित होती हैं, उसमें पर का हाथ नहीं है। यह पहली द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता मानने की व्यवहार शुद्धि बतलाते हैं। कर्म तुझे बलात् राग-द्वेष कराते हैं—ऐसी मान्यता से स्वभाव की शुद्धि नहीं होती, परन्तु यदि ऐसा माने कि कर्म मुझे राग-द्वेष नहीं कराते, मैं अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से अपनी भूल से राग-द्वेष में परिणमित होता हूँ इससे विकार होता है, तो यह अभी व्यवहार शुद्धि है। अन्तरंग में शुभाशुभ परिणामों से भी आत्मा का स्वरूप पृथक् है—ऐसी द्रव्य दृष्टि की बात तो अभी बाकी रहती है। यह दोनों तो द्रव्य की स्वतन्त्रता की बातें हुईं।

जड़ और चैतन्य दोनों स्वतन्त्र-पृथक् पदार्थ हैं, कोई किसी को बदल नहीं सकता। कितने ही लोग कहते हैं कि—जैसे कर्म उदय में आये वैसे ही पुण्य या पाप के परिणाम होते हैं, परन्तु वैसा नहीं है। यदि तेरे भावों में मन्दकषाय हो तो पूजा-भक्ति के शुभपरिणाम हों और तीव्र कषाय हो तो विषय-कषाय होते हैं; वह सब तेरे ही कारण से होता है,—कर्म के कारण नहीं। तेरा वीर्य अधिक विपरीत होगा तो तीव्र राग-द्वेष होंगे और यदि अल्प विपरीत होगा तो मन्द राग-द्वेष होंगे; जिस प्रकार का तेरा वीर्य होगा वैसे ही राग-द्वेष होंगे। कर्म का मन्द उदय हो तो मन्द राग-द्वेष होते हैं और तीव्र उदय हो तो तीव्र राग-द्वेष होते हैं—ऐसा वस्तुस्वरूप है ही नहीं। स्वत: तीव्र या मन्द राग-द्वेष करना वह आत्मा के हाथ की बात है; कर्म तो निमित्तमात्र हैं। स्वत: जिस प्रकार से युक्त होता है उस प्रकार राग-द्वेष होते हैं। चैतन्य स्वयं विकाररूप परिणमित होता है, तथापि जड़ परिणमित करता है, यह कहना मिथ्या है। चैतन्य स्वत: परिणमित नहीं होता परन्तु जड़ परिणमित करता है वैसा कहना भी मिथ्या है, क्योंकि जो स्वत:—अपने आप परिणमित नहीं होता उसे अन्य कौन परिणमित कर सकता है ? इसलिए दोनों पक्ष मिथ्या सिद्ध होते हैं। आत्मा विकार करने में स्वतन्त्र है तो फिर अविकारी आत्मधर्म प्रगट करने में तो स्वतन्त्र होगा ही; उसमें नवीनता क्या है ? आत्मा विकार परिणाम या अविकार परिणाम करने में स्वतन्त्र है—ऐसा सिद्ध हुआ।

इस प्रकार जीव स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होने से, जिस प्रकार गरुड़ के ध्यानरूप परिणमित हुआ मन्त्र साधक स्वत: गरुड़ है उसी प्रकार, जिसका उपयोग

क्रोधादिरूप परिणमित हुआ है ऐसा अज्ञानस्वभाववाला जीव ही स्वतः क्रोधादिक है। इस प्रकार जीव का परिणामस्वभावपना सिद्ध हुआ।

आचार्यदेव ने गरुड़ का उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार गरुड़ का मन्त्र साधक स्वतः गरुड़ का ध्यान करने से मैं स्वतः गरुड़ हूँ—ऐसा अज्ञानता से मानता बैठता है; वैसे ही जिसका उपयोग क्रोधादिरूप परिणमित हुआ है, ऐसा अज्ञानी जीव स्वतः ही क्रोधादि है। अज्ञानी ने क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि को अपना माना है, इससे उसका उपयोग उनमें अटक गया है अर्थात् एकाकार हुआ है, इससे अज्ञानी जीव को क्रोधमय और मानमय कहा है। राग-द्वेष और शुभाशुभ परिणामों का कर्ता अज्ञानी है किन्तु ज्ञानी नहीं है; ज्ञानी तो राग-द्वेष के परिणामों का नाशक है—उत्पादक नहीं है। अज्ञानी राग-द्वेष के परिणामों का उत्पादक है, इससे उसे उसमय कहा है।

आचार्यदेव एक ओर कहते हैं कि चौदह गुणस्थान जड़ हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि क्रोध-मान-माया का विकार आत्मा की पर्याय में है। जिसके उपयोग की एकाग्रता विकार में है, वह आत्मा क्रोधरूप है, वह अवस्थादृष्टि से कहा है।

आचार्यदेव ने गरुड़ का उदाहरण देकर कहा है कि—गरुड़ का ध्यान करने से गरुड़रूप हो गया वैसे ही व्यापार-धन्धावाला व्यापारमय हो जाता है। वकील वकालात में एकाग्र हो जाता है। एक मनुष्य रुई का व्यापारी था, उसमें वह इतना तल्लीन हो गया कि पानी पीने गया तो वहाँ भी कहने लगा 'रुई' 'पानी' रुई में इतना एकाग्र हो गया कि पानी के बदले रुई-रुई रटने लगा। उसी प्रकार जिसे क्रोध-मान-माया-लोभादि मैं ही हूँ—ऐसा हो गया है, शुद्ध उपयोग मैं नहीं हूँ किन्तु विकारी उपयोग ही हूँ ऐसा भासित हुआ है वैसे जीव को अवस्था-दृष्टि की अपेक्षा से भगवान ने उसीमय-विकारमय ही कह दिया है। आत्मा स्वतः ही अवगुणरूप परिणमित होता है। जड़ अवगुण कराये ऐसा कभी नहीं बनता।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता।।६५।।

अर्थः—इस प्रकार जीव की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई; ऐसा सिद्ध होने से, जीव अपने जिन भावों को करता है, उनका वह कर्ता होता है।

आत्मा में स्वतः से ही अपना स्वभाव बदलने की शक्ति स्वयंसिद्ध है—वह सिद्ध हुआ। अपने परिणमन में किसी का हाथ नहीं है। सभी अपने-अपने भावों को करते हैं; चैतन्य चैतन्य के भावों को करता है, परमाणु परमाणु के भावों को करता है, ज्ञानी ज्ञानभावों को करता है, अज्ञानी राग-द्वेष करता है, ज्ञानी राग-द्वेष का कर्ता नहीं है; अज्ञानी जड़ का कर्ता नहीं है, जड़ है वह राग-द्वेष भावों का कर्ता नहीं है—इस प्रकार तीनों अपने-अपने भावों को करते हैं। वस्तु स्वभाव को समझने से ही सिद्धि है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

आत्मा कर्ता है और उसका कार्य क्या है वह बात यहाँ चलती है। अज्ञानी अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कर्ता होता है, ज्ञानी ज्ञानभाव से ज्ञान का कर्ता (होनेवाला) होता है; जड़ परमाणुओं का कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं है; जड़ परमाणु स्वतः अपने सामर्थ्य से परिणमित होकर कार्य लाते हैं।

पाँच गाथाओं में भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र कार्य बतलाये हैं। अब, कोई ऐसा समझ जाये कि विकारी भाव आत्मा करता है तो ज्ञानी भी विकारी भाव करता है या नहीं? उसे समझाते हैं। अज्ञानी का उपयोग अर्थात् व्यापार स्वभाव के अभानरूप है, आत्मा के ज्ञानमय उसका व्यापार नहीं है। वर्तमान विकार पर दृष्टि-वह अज्ञान का कार्य है, विकार में एकाग्र होना वह अज्ञान का कार्य है; त्रिकाल स्वभाव पर दृष्टि ज्ञान का कार्य है, ज्ञान में एकाग्र होना वह ज्ञान का कार्य है।

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, दया, दान, पूजा, भक्ति—इन अशुभ और शुभ भावों को आत्मा करता है-तो ज्ञानी भी इन्हीं भावों को करता है या अन्य भावों को?—ऐसा प्रश्न यदि किसी को हो, उसे आगे की गाथा में समझाते हैं ॥१२१-१२५॥

ज्ञानी ज्ञानमय भावों का और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्ता है:—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ।।१२६।।

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः।
ज्ञानिनः स ज्ञान-मयोऽज्ञान-मयोऽज्ञानिनः ।।१२६।।

अर्थः—आत्मा जिन भावों को करता है, उन भावोंरूप कर्मों का वह कर्ता होता है; ज्ञानी को तो वे भाव ज्ञानमय हैं और अज्ञानी को अज्ञानमय।

आत्मा और उसके गुण नित्य एकरूप रहते हैं, और अवस्था प्रतिक्षण बदलती है; उसमें स्वभाव अवस्था का कर्ता आत्मा है, परन्तु विकार अवस्था का कर्ता आत्मा नहीं है। अज्ञानी विकारी अवस्था का कर्ता होता है। करनेवाला जिस भाव में कर्ता होकर रुकता है उस भाव का वह कर्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है।

ज्ञानी के तो सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्ची एकाग्रतारूप अवस्था होती है, वह ज्ञानी का कार्य है। क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी अवस्थाएँ अज्ञानी का कार्य है।

इस प्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है, तथापि अपने जिस भाव को करता है उसी भाव का (-कर्मपने को प्राप्त हुए भाव का) कर्ता होता है। (अर्थात् वह भाव आत्मा का कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है)।

भगवान आत्मा स्वतः से परिवर्तित होने के सामर्थ्यवाला है, आत्मा नित्यस्थायी रहकर परिवर्तित होने के स्वभाववाला है; वह परिवर्तनरूप स्वभाव अर्थात् परिणमनस्वभाव किसी संयोग से नहीं हुआ है, पर से नहीं हुआ है, विकार से नहीं हुआ है परन्तु स्वयमेव स्वतः अपने से ही अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध है।

परिवर्तनस्वभाववाला है, तथापि जिस भाव को—जिस कर्तव्य को प्राप्त है उसी का कर्ता होता है। पहले था वही दूसरे क्षण है-नाश नहीं हुआ है। नाश नहीं होता परन्तु स्थित रहकर परिवर्तित होता है, अवस्थान्तरपने को प्राप्त होता है।

एक मनुष्य स्वतः क्रोध का भाव बदलकर क्षमा का भाव प्रगट करता है, उसमें मनुष्य तो वही का वही है, परन्तु पर्याय बदली है। पर्याय की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि दूसरा मनुष्य हुआ, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से तो क्रोध और क्षमा—दोनों अवस्थाओं में मनुष्य तो वही का वही है।

उसी प्रकार आत्मा वस्तु स्वतः स्थायी रहकर परिवर्तन होता है। उसमें दो प्रकार

हैं—ज्ञानी और अज्ञानी, पर की आशा-आश्रय रखकर हो वह अज्ञानी है, मैं दूसरों का अच्छा-बुरा करूँ और दूसरे मेरा अच्छा-बुरा करें—ऐसा जो भाव है वह सब पराश्रितता है, पराधीनता है, स्वाधीनता का विनाश है, स्वभाव की हत्या है। अपने स्वाधीन-स्वतन्त्रस्वभाव को भूलकर अच्छे-बुरु मानकर इन भावों में रुककर उनका कर्ता हो वह अज्ञानी है।

मैं दूसरे के लिये रुकूँ, दूसरा मेरी सहायता करे, ऐसी पराश्रितता में नहीं रुका, पराधीनता में स्थिर नहीं हुआ, राग-द्वेष में नहीं रंगा है, ऐसे ज्ञानी को पराधीनता के कार्य रुककर स्वसन्मुखता सहित जानने का कार्य रहा। इससे ज्ञानी पवित्र कार्य करता है, निर्मल पर्याय प्रगट करता है और मलिनता को हटाता है—ऐसे उत्तम ज्ञायकभाव का कार्य ज्ञानी को करना होता है।

वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय ही है, क्योंकि उसे सम्यक् प्रकार से स्व-पर के विवेक द्वारा (सर्व परद्रव्य-भावों से भिन्न) आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है।

वस्तु बदलती है तथापि उसमें यह खूबी है कि जो जहाँ रुकता है, उसका वह कर्ता होता है और वह उसका कर्म (कार्य) होता है। ज्ञानी समझता है कि ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, (ज्ञान में दूसरे अनन्त गुण ले लेना) मैं ज्ञान का पिण्ड आत्मा हूँ, ज्ञान और आनन्द की मूर्ति हूँ, स्वरूप का ज्ञान, स्वरूप की प्रतीति और स्वरूप में स्थिरता ही मेरा कर्तव्य है; जो शुभाशुभ विकारी भाव हैं वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा कर्तव्य नहीं है। ज्ञानी को ऐसा स्व-पर विवेक, आत्मा की ख्याति अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि अन्तर में उदय को प्राप्त हुई है। लोग बाह्य में प्रसिद्धि मानते हैं, ख्याति प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु वह प्रसिद्धि तो—'आँखें के अन्धे नाम नयनसुख' जैसी है। मैं शुद्ध, निर्मल, शान्त और पवित्र हूँ—ऐसे स्वभाव की ख्याति ज्ञानी के स्पष्टतया प्रगटदशा में प्राप्त हुई है। इस समय भले ही केवलज्ञान प्रगट नहीं है परन्तु पुण्य-पाप के एक भी अंश को अपनेरूप स्वीकार नहीं करता—ऐसी ख्याति अत्यन्त प्रगट हुई है।

प्रश्न:—ऐसी अन्तर की प्रसिद्धि जिनके प्रगट हुई है—ऐसे ज्ञानी खाते पीते तो हैं या नहीं?

उत्तर:—ज्ञानी अमुक भूमिका तक खाते-पीते दिखायी अवश्य देते हैं परन्तु

वास्तव में ज्ञानी खाते भी नहीं हैं, पीते भी नहीं हैं अस्वस्थ भी नहीं होते और स्वस्थ भी नहीं होते। उसी प्रकार अज्ञानी भी खाता-पीता नहीं है और स्वस्थ अस्वस्थ नहीं होता, परन्तु वह मानता है कि मैं खाता-पीता हूँ स्वस्थ-अस्वस्थ हूँ—वह उसका अज्ञान है।

पर से पृथक्त्व को विवेकरूप से जानना उन भावों का ज्ञानी कर्ता है, विवेकपूर्वक पर से निवृत्तरूप से स्वरूप में स्थिर होनेरूप अविकारी भावों का ज्ञानी कर्ता है, वह भाव ज्ञानी का कर्म (कार्य) है।

अज्ञानी अपनी विवेक शक्ति आत्महित के लिये प्रगट नहीं करता, छुपाता है। इसलिए स्वत: अपने स्वरूप को नहीं समझता इससे वह ठग है। आजकल के कितने ही मनुष्य तो यह कहते हैं कि हमारी कैसी चतुराई है! हम दूसरों को ठगकर काम निकालते हैं! परन्तु भाई! वास्तव में कोई किसी को ठग नहीं सकता; अपने भावों को स्वत: ही ठगता है; बेईमानी तूने की इसलिए तू ही ठगा गया है; जड़पदार्थ तेरे कभी नहीं होते, तथापि उन्हें तू मेरा-मेरा कहता है इसलिए तू स्वत: ही ठगा गया है। पर को अपना मानना वह हानि स्वत: से ही अपने को हुई है। परवस्तु का बदलने का स्वभाव है इससे वह एकरूप न रहकर पलट जाती है—परिवर्तित हो जाती है। उसके बदलने से अज्ञानी को ऐसा होता है कि हाय! हाय! मेरी वस्तु चली गयी; वैसा माननेवाला ठग है। जिसने परवस्तु को अपना माना है, उसने अपनी वस्तु को अपना नहीं माना है। आत्मा में भी बदलने का स्वभाव है—आत्मा परिवर्तनस्वभाववाला है, इससे विपरीत मान्यता से सीधी मान्यता कर सकता है। अज्ञानी पुण्य-पाप के भावों को और परद्रव्य-परक्षेत्र शरीरादि को अपना मानता है, मैं पर से किस प्रकार भिन्न हूँ—उसका भान नहीं है इसलिए अज्ञानरूप ही उसका कार्य होता है। अज्ञानी के भेदज्ञान की ज्योति अत्यन्त अस्त हो गयी है। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधे या सर्वार्थसिद्धि के देव का भव मिले वह भाव भी मेरा नहीं है तो फिर स्त्री-बच्चे तो मेरे कैसे होंगे? किन्तु अज्ञानी को ऐसा भान न होने से वह सबको अपना मानता है, क्योंकि उसके भेदज्ञानज्योति अत्यन्त अस्त हो गयी है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि फलाने भाई ने अमुक कार्य में बुद्धि से काम किया तो उससे लाखों रुपये का लाभ हुआ, वैसा मानना वह सब व्यर्थ है। और फिर कहता है कि अमुक प्रसंग में सब रुपये जानेवाले थे परन्तु व्यापार बन्द कर दिया इससे टोटा होने से

बच गया। यह सब मानना अज्ञानता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि वस्तु को मैं हिला-डुला सकता हूँ। वस्तु स्वयं फिरती है ऐसा दिखायी देता हैं तथापि वह मानता है कि मैं बदलता हूँ; परन्तु भाई! तूने क्या बदला? तूने अपने विकल्प को बदला है परन्तु परवस्तु को बदलना आत्मा के हाथ की बात नहीं है। एक परमाणु को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में ले जाने की शक्ति तीन काल में किसी की नहीं है। अरे भगवान! तू तो जड़ से पृथक् और राग-द्वेष का नाशक है; उसके बदले ऐसा मानता है कि राग-द्वेष का उत्पादक-पर का संग्राहक और पर का कर्ता—वह तेरा अज्ञान ही है।

ज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है; स्व अर्थात् स्वत: अविकारी चैतन्यमय वस्तु, पर अर्थात् विकारी भाव और जड़ पदार्थ—उनका स्पष्ट भेदज्ञान हुआ है; स्वस्वरूप की पहिचान करके उसमें लीन हो और परभावों से निवृत्त हो। बस, यही मार्ग है, इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। ज्ञानी, ज्ञान का कर्ता है, अज्ञानी के भेदज्ञान प्रगट न होने से वह अज्ञान का कर्ता है ॥१२६॥

ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है, वह अब कहते हैं:—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ।।१२७।।

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिन: करोति तेन कर्माणि।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ।।१२७।।

अर्थ:—अज्ञानी के अज्ञानमय भाव है, इससे अज्ञानी कर्मों को करता है और ज्ञानी के ज्ञानमय (भाव) है, इससे वह कर्मों को नहीं करता।

आत्मा के निर्मल-पवित्र स्वभाव का अजान-अज्ञानी राग-द्वेष और अज्ञान अवस्था का कर्ता होता है और वहीं रुक जाता है; ज्ञानी को अपने स्वभाव की पहिचान होने से स्वयं लीन होता हुआ वहाँ रुकता है, उसका कर्ता होता है।

अज्ञानी को, सम्यक् प्रकार से स्वरूप का विवेक न होने के कारण भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गयी है, इससे अज्ञानमयभाव ही होते हैं।

सम्यक् प्रकार से कहकर 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सब लिया है। उन तीनों से अज्ञानी भ्रष्ट हुआ है। आत्मा अनन्त गुणमूर्ति पवित्र निर्दोष है, इसकी प्रसिद्धि जिसके अस्त हो गयी है—ऐसे भेदज्ञान की ज्योति छिप गयी है, वैसा अज्ञानी पर के कार्य मेरे हैं—यह मानकर वहाँ रुक गया है। राग-द्वेष, शरीर, वाणी-मन वे सभी मेरे हैं और मैं उनमय हूँ; इस प्रकार दोनों के एकत्व की मान्यता में लीन होकर, अपना जो ज्ञानदर्शनमय अनाकुल स्वरूप है, उससे भ्रष्ट हुआ है, पर जो राग-द्वेष हैं उनके साथ एक होकर उसे अहंकार वर्त रहा है। ज्ञानी के दृढ़ता है तब अज्ञानी को अहंकार हो गया है। वास्तव में, राग है सो आस्रव और बन्ध तत्त्व है, जो राग है सो में नहीं हूँ वैसे अपने चैतन्य स्वभाव की खबर नहीं है इसलिए जो राग है सो मैं हूँ, द्वेष है वह मैं हूँ, प्रतिकूलता आये तो मुझे अरुचि होती है और अनुकूलता आये तो राग ही होता है—ऐसा अज्ञानी अपने को विकारी भावों जितना ही मानता है। राग-द्वेष मेरे स्वभाव में से आते हैं, राग-द्वेष मेरा कर्तव्य है, मेरा कार्य है, यदि मैं राग-द्वेष न करूँ तो कौन करेगा ? इस प्रकार रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, कपटी, लोभी अपने वीतराग स्वभाव से च्युत होकर अज्ञानी स्वभाव का अजान, बेभान, पुण्य-पाप के कार्य को अपना कर्तव्य मानकर उन भावों का कर्ता होता है। स्थायी वस्तु निर्मल है उसके गुण भी निर्मल हैं। अनन्त जिसका सामर्थ्य है ऐसे स्वभाव से भ्रष्ट हुआ परभावों का कर्ता बनने से, अपने स्वभाव का ज्ञान, श्रद्धा और उसमें स्थिर होना छोड़ देता है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि हम यहाँ उपस्थित थे इसलिए यह कार्य अच्छा हो गया, समाप्त हो गया, हमारी दो दिन की भी अनुपस्थिति हो तो सारा काम बिगड़ जाये। अरे भाई! वह तो बनना-बिगड़ना होगा तो वो बनेगा या बिगड़ेगा ही उसमें किसी का कुछ भी न चलेगा, मात्र अहंकार करके तूने अपने भावों में हानि पहुँचाई। पर की कोई भी अवस्था उसके कारण से बनती है, उसे आत्मा नहीं करता; अवस्था हो द्रव्य की निज शक्ति से और कर्ता कोई दूसरा हो—वह बिल्कुल असत्य है, उसे कैसे सत्य माना जाये ? कोई कहे कि मैंने यह सब एकत्रित किया तब यह प्रसंग निर्विघ्न निपट गया। परन्तु भाई! जो संयोग एकत्रित होना हों उन्हें कोई आत्मा इकट्ठा कर देता है या प्राप्त करा देता है—वह कहना बिल्कुल असत्य ही है। कोई कहे कि मेरा हाथ हलका है इसलिए यह वस्तु अच्छी बनी है वैसा मानना वह सब गपगोले हैं; एक परमाणु जैसे अनन्त परमाणुओं का दल—उसके कपड़े, मकान, कागज, कलम—सभी वस्तुएँ अपने आप परिणमित होकर होती हैं।

अज्ञानी मानता है कि मैं उन्हें करता हूँ, उस भाव का वह कर्ता होता है।

ज्ञानी को तो सम्यक् प्रकार से स्व-पर के विवेक द्वारा भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदित हुई है, इससे ज्ञानमय भाव ही होते हैं।

ज्ञानी को तो, मैं परद्रव्य और परभाव से बिल्कुल पृथक् आत्मा हूँ, मेरा स्वरूप चेतनामय है अर्थात् ज्ञातादृष्टारूप से स्थिर हो जाना मेरा स्वरूप है, हाँ और—नहीं का किंचित् भी उत्थान होनेरूप भाव मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार ज्ञानी के भिन्न आत्मा की प्रसिद्धि अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है—प्रगट हुई है। इस प्रकार धर्मी जीव मोक्षमार्ग में पड़ा हुआ, स्वतन्त्रता के पथ पर खड़ा हुआ, ज्ञान, ज्ञान की प्रतीति, ज्ञान की स्थिरता—उनका कर्ता है; मैं ज्ञाता ही हूँ, दृष्टा ही हूँ, साक्षीरूप से रहनेवाला ही हूँ—वैसा जिन्हें भान है उनको ऐसा भाव तीन काल-तीन लोक में कर्ताबुद्धि से नहीं होता कि मैंने यह किया और मैंने वह किया; मैं दूसरे को समझा सकता हूँ या दूसरा मुझसे समझ जाता है—ऐसी मान्यता ज्ञानी को तीन काल और तीन लोक में नहीं होती। वह जानता है कि सामनेवाले की समझने की योग्यता स्वत: से ही है। और सामनेवालों के समझने की योग्यतारूप अवस्था उससे ही हुई है।

ज्ञानी को सम्यक् प्रकार से स्व-पर के विवेक द्वारा भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है, इससे ज्ञानमय भाव ही होते हैं। और उनके होने से स्व-पर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र ऐसे स्वत: में सुनिविष्ट (सम्यक्प्रकार से स्थित) हुआ, पर ऐसे राग-द्वेष से पृथग्भूतपने के (भिन्नत्व के) कारण निजरस से ही जिसके अहंकार निवृत्त हुआ है—ऐसा स्वत:, वास्तव में मात्र जानता ही है; रागी और द्वेषी नहीं होता (अर्थात् राग-द्वेष नहीं करता); इससे ज्ञानमय भाव के कारण ज्ञानी अपने को पर जो राग-द्वेष है, उसरूप न करता हुआ कर्मों को नहीं करता।

ज्ञानी को स्व-पर के विवेकी ज्ञान द्वारा भेदज्ञान की ज्योति प्रगट हुई है इससे स्व-पर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र ऐसे अपने स्वरूप में स्थित होता है। ज्ञानी जानता है कि पर और मैं त्रिकाल भिन्न हूँ, पर का और मेरा किसी काल में मेल नहीं है, इस प्रकार ज्ञानी को स्व-पर की बिल्कुल भिन्नता प्रतिभासित हुई है। अज्ञानी में 'स्व-पर के एकत्वपने के कारण' ऐसा आचार्यदेव ने कहा था और यहाँ ज्ञानी को 'भिन्नत्व के बोध

के कारण' ऐसा कहा है। अज्ञानी स्वभाव से भ्रष्ट हुआ है इससे पुण्य और पाप के कार्य मेरे हैं—ऐसा मानकर वहाँ रुक रहा है और ज्ञानी अपने स्वभाव में सुनिविष्ट अर्थात् सम्यक्प्रकार से स्थिर हुआ है और पर ऐसे राग-द्वेष अर्थात् पुण्य-पाप के परिणामों से पृथग्भूतपने के कारण मैं पृथक् हूँ, मेरा स्वरूप जानने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है—ऐसा विवेक ज्ञानी के वर्तता है। जानने में दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनन्त गुण साथ ही आ जाते हैं। अज्ञानी पर को अपना मानकर अहंकाररूप प्रवर्तता है और ज्ञानी को स्वभाव में स्थित होने से निजरस प्रगट हुआ है और उस निजरस के प्रगट होने से अहंकार का सहज ही त्याग हो गया है। हाँ और ना के जो-जो विकल्प उठते हैं, वे कोई भी मेरे नहीं हैं, वे परिणाम पुरुषार्थ की अशक्ति से आते हैं परन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञानी को स्वभाव का ज्ञान, स्वभाव की प्रतीति और स्वभाव का आचरण प्रगट हुए होने से, जो पर है सो मैं हूँ—ऐसी अहंबुद्धि सहज निवृत्त हो गयी है।

ज्ञानी को अपने स्वभाव से सुख है, अज्ञानी ऐसा मानकर सुख मानता है कि दूसरे मुझे अच्छा कहें, बड़ा कहें। बाह्य कार्यों में कोई पूछने न आये तो भी अपने आप सलाह देता रहता है और दूसरा न माने तो उसे दु:ख होता है। ज्ञानी को तो यदि सामनेवाला पूछने आये और न माने तो भी उसका सुख नहीं जाता। नासमझ अज्ञानी को तो ऐसा लगता है कि पहले मेरे पिताजी थे तब बड़प्पन था, अब आदर कम हो गया है, पहले तो सब हमारी बात मानते थे अब कोई नहीं सुनता। अरे भाई! वे माने तो उनके कारण से और न मानें तो उनके कारण से; तेरा मानना तुझमें है और सामनेवाले का मानना उसमें है। ज्ञानी समझते हैं कि मेरा किसी ने नहीं माना है और मैंने किसी का नहीं माना है; मैंने न तो किसी को सलाह दी है और न किसी की सलाह ली है, मेरा बड़प्पन न तो किसी ने पहले रखा है और न वह किसी दिन दूर ही हुआ है। ज्ञानी को शान्तरस का अनुभव होने से पर का अहंकार निवृत्त हुआ है। जो बात स्वत: को बैठती है, अनुकूल पड़ती है उसी को सब मान रहा है अर्थात् स्वत: अपने को ही मान रहा है, पर का माना-वह कहना उपचार है।

प्रत्येक आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूप से अपने स्वभाव का कर्ता और उसमें स्थिरता करनेवाला है; पर का कुछ भी नहीं कर सकता। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव जो अनन्त वीर्य

की मूर्ति हैं, वे भी पर का कुछ नहीं कर सके तो फिर पामर की क्या शक्ति है। व्यर्थ का मिथ्याभिमान अज्ञानी करता है। अज्ञानी कहता है कि दूसरों को ऐसी नेक सलाह दूँ कि वे माने बिना न रहें! परन्तु भाई! निश्चय से या व्यवहार से किसी भी प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। सामनेवाला दूसरे का कहा मानता है वह स्वयं स्वतन्त्ररूप से मानता है, जो बात रुचे वही मानता है। कोई बलात् उसे नहीं मनवा देता; मात्र अज्ञानी को ऐसी भ्रान्ति है कि मैं पर को मनवा देता हूँ। चैतन्य के ज्ञान-श्रद्धान से जो भ्रष्ट हो गया है, उसे अहंकार हुए बिना नहीं रहता।

ज्ञानी को स्व-पर का विवेक होने से-पर से पृथक्त्व की श्रद्धा और ज्ञान होने से, श्रद्धा-ज्ञान और निजरस का अनुभव होने से पर के अहंकार से निवृत्त हुआ है—ऐसा स्वयं वास्तव में जानता ही है, जानने-देखने के अतिरिक्त आत्मा का अन्य कर्तव्य नहीं है। ज्ञानी साक्षी रूप से रहता हुआ रागी-द्वेषी नहीं होता अर्थात् राग-द्वेष का कर्ता नहीं होता। सभी द्रव्य बिल्कुल पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र हैं; सबके स्वभावपिण्ड स्वतन्त्र-भिन्न हैं। ज्ञानी केवल जानता ही है, अल्प राग-द्वेष होता है उसे भी जानता है। ज्ञानी के अनन्तानुबन्धी कषाय दूर हो गया है और जो अल्प राग-द्वेष होते हैं, उनका वह कर्ता नहीं होता इससे ज्ञानी रागी-द्वेषी नहीं होता। चारित्र दोष से जो अल्प राग-द्वेष होता है, वह गौण है। अनुकूलता के राग में और प्रतिकूलता के द्वेष में ज्ञानी नहीं अटकता, इससे अपने से पर ऐसे विकारी भावों को न करता हुआ कर्मों को भी नहीं करता। आचार्यदेव ने ऐसी स्पष्ट-सरल और सुगम टीका की है कि बालक भी यदि ध्यान रखे तो उसे भी समझ में आने जैसी बात है। आचार्यदेव के कथन की शैली इतनी सरल है कि वस्तुस्वरूप का रहस्य स्पष्ट समझ में आ जाये। प्रत्येक गाथा में ऐसी ही सरल रीति है।

क्रोधादिक मोहनीयकर्म की प्रकृति का उदय में जुड़ने से-चैतन्य के उपयोग में राग-द्वेष की कलुषिता का स्वाद आने से, वही मैं हूँ—इस प्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि करता हुआ, स्व-पर का भेदज्ञान न होने से अज्ञानी अपने को रागी-द्वेष करता है, अपने स्वभाव में नहीं—ऐसे निमित्ताधीन भावों को अपना बनाकर उन्हीं का कर्ता होता है और उस प्रकार अज्ञानभाव से कर्मबन्ध होता है।

ज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान होने से वह ऐसा जानता है कि जो, मात्रशुद्ध, पर की

उपाधि से रहित ज्ञानमात्र शुद्धोपयोग है वही मैं हूँ, वही मेरा स्वरूप है; जो राग-द्वेष है वह मेरा स्वरूप नहीं है आस्रव तत्त्व है—उस प्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि न करता हुआ ज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी नहीं बनाता, (राग करने योग्य है हितकर है ऐसा कभी नहीं मानता)—मात्र ज्ञाता ही रहता है इससे वह कर्मों को नहीं करता। इस प्रकार स्वभाव का भान होने से शुभाशुभराग का स्वामी नहीं होने से विकारभाव नहीं होते-और नवीन कर्मबन्ध भी नहीं होता। चारित्र दोष से, अपनी कमजोरी से अल्प रागादि होते हैं, वह ज्ञान के ज्ञेय हैं, उसे हेयरूप जानता है।

जड़ के परिणाम जड़ से होते हैं और आत्मा के परिणाम आत्मा से। ज्ञानभाव से ज्ञान अवस्था होती है और अज्ञानभावों से अज्ञान अवस्था होती है। अज्ञानी राग-द्वेष की अवस्था करता है और ज्ञानी जानने की।

अब, आगे की गाथाओं के अर्थ की सूचनारूप काव्य कहते हैं:—

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञान-मयः सर्वः कुतोऽय-मज्ञानिनो नान्यः ।।६६।।

अर्थ:—यहाँ पर प्रश्न है कि ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव क्यों होते हैं और अन्य (अज्ञानमय) नहीं होते? और अज्ञानी के क्यों सर्वभाव अज्ञानमय ही होते हैं, अन्य (ज्ञानमय) नहीं होते?

धर्मी जीव के समस्त भाव धर्ममय ही क्यों होते हैं, ऐसा शिष्य का प्रश्न है। ज्ञानी युद्धभूमि में खड़ा हो, तथापि उसका कार्य आत्मभावमय ही है; जहाँ रुचि है वहाँ वर्तता है—युद्ध का कार्य ज्ञानी का नहीं है, धर्मी जीव युद्ध में या व्यापारादि में कहीं भी स्थित नहीं है परन्तु आत्मा में स्थित है। अज्ञानी के सब भाव अधर्ममय क्यों होते हैं और ज्ञानी के सब भाव धर्ममय क्यों होते हें ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है ॥१२७॥

इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ।।१२८।।

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाण-मया अणाणिस्स।।१२९।।

ज्ञानमयाद्भावात् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः।।१२८।।
अज्ञान-मयाद्भावा-दज्ञानश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माद्भावा अज्ञान-मया अज्ञानिनः।।१२९।।

अर्थ:—कारण कि ज्ञानमय भावों में से ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होते हैं, इससे ज्ञानी के सर्व भाव वास्तव में ज्ञानमय ही होते हैं। और कारण कि—अज्ञानमय भावों में से अज्ञानमयभाव ही उत्पन्न होते हैं, इससे अज्ञानी के भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

शिष्य ने प्रश्न किया है कि धर्मी को तो प्रतिक्षण धर्म ही होता रहा है, और अधर्मी को प्रतिक्षण अधर्म ही होता रहता है वह किस प्रकार?

ज्ञानी को 'मैं निर्मल चैतन्यस्वरूप हूँ' वैसा भान है, उसकी दृष्टि सभी प्रवर्तनों में स्वभाव पर ही है, इससे ज्ञानी चाहे जैसे संयोगों में खड़ा हो तथापि उसके सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं। ज्ञानी व्यापारादि में बाह्य से लगा हुआ दिखायी दे परन्तु वास्तव में वह उनमें लगा हुआ नहीं है, परन्तु स्वभाव में स्थित है, क्योंकि उसकी दृष्टि स्वभावोन्मुख ही है। राग-द्वेष के विकार से पृथक् आत्मस्वभाव उसके ज्ञान में वर्त रहा है और उसमें अंशतः स्थिर भी हुआ है, तथा स्थिरता का प्रयत्न भी चल रहा है। जो शुभाशुभ परिणाम आते हैं, उन्हें स्वभाव की दिशा में स्थित रहकर साक्षीरूप से जानता ही रहता है, इससे ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं।

अज्ञानी धर्म श्रवण करने बैठा हो परन्तु उसकी दृष्टि विपरीत है 'पर से भला-बुरा हो सकता है—पर है सो मैं हूँ' ऐसी पर के साथ एकत्वबुद्धि विद्यमान है, इससे अज्ञानी चाहे जिस संयोग में स्थित हो तथापि उसके समस्त भाव अज्ञानमय हैं; धर्म श्रवण करके अपने अपूर्व स्वभाव का निर्णय करे वह बात अलग रह जाती है। धर्मी-अधर्मी का माप बाह्य प्रवर्तन से नहीं है।

ज्ञानी चाहे जैसे बाह्य प्रसंगों में स्थित हो तथापि प्रतिक्षण स्वभाव की वृद्धि ही करता

है, बाह्य के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में ज्ञानी को उदासीन भाव रहता है, ज्ञानमयभाव, पवित्रतामयभाव, स्वभावमयभाव, चाहे जिस काल में, चाहे जिस संयोग में, चाहे जिस क्षेत्र में भी धर्मी के पवित्रतामय ही होते हैं; वह भाव नहीं छूटता, उसका विरह नहीं होता, स्थायी रहता है। चाहे जिस काल में और संयोग में उसे दृष्टि का विरह नहीं होता; किसी भी स्थान पर—जैसे, मन्दिर में बैठा हो तभी धर्म होता है ऐसा नहीं है; परन्तु दुकान में या घर में कहीं भी धर्म होता रहता है। किन्तु ऐसा सुनकर कोई ऐसा मान ले कि हम घर में या भोग विलास में रहें तो क्या बाधा है हमारा भाव शुद्ध है तो वह स्वच्छन्दी-पाप में रुचिवाला ही है।

अज्ञानी के अज्ञानमयदृष्टि है इससे गोच्छग या रजोहरण या मोरपिंछ से यत्नाचाररूप से वर्त रहा हो तो भी अधर्म होता है और ज्ञानी के ज्ञानमय दृष्टि होने से वह व्यापार में हो युद्ध में हो तथापि उसे धर्म होता है। व्यापार से ज्ञानी को धर्म नहीं होता परन्तु उसकी दृष्टि स्वभाव में स्थित है, उसके द्वारा धर्म होता है।

कहीं मेला भरा हो, उसमें अछूत-भंगी आदि एकत्रित हुए हों, और इधर-उधर घूम रहे हों, और कभी एक आसन पर ब्राह्मण भंगी के साथ बैठ गया हो तो उनमें उनका संयोग मिल जाने मात्र से ही कहीं ब्राह्मण भंगी हो जायेगा? उसे शंका भी नहीं होती कि मेरी जाति ब्राह्मण की है उससे हटकर मैं भंगी हो गया या होऊँगा? उसे तो निःशंकता ही है कि मैं तो ब्राह्मण ही हूँ। मेला देखने आया इससे इनमें मिल गया हूँ भंगी हो गया हूँ ऐसा नहीं है, परन्तु मेरी जाति तो ब्राह्मण ही है। ज्ञानी को नरक का आयुष्य पहले बंध गया हो, तो अपनी उस प्रकार की योग्यता से तो नरक में भी जाता है तथापि वह अपनी जाति को नहीं भूलता; उसके अपने स्वावलम्बी दृष्टि और सुख की तृप्ति वर्तती है इससे पर में कहीं भी सुख-दुःख की बुद्धि नहीं होती, उसका ज्ञानमय भाव बढ़ता ही जाता है। देखो भाई! यह स्वच्छन्द की बात नहीं है; चाहे जैसे विषय कषाय सेवन करे किन्तु हानि नहीं है—ऐसा नहीं कहा है। ज्ञानी को अल्प राग है, इससे गृहस्थाश्रम में स्थित है, परन्तु जो दृष्टि है उससे तो धर्म ही होता है। जो राग है वह अपना अपराध है, उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके मुनित्व लेकर स्थिरता में वृद्धि करके क्रमशः केवलज्ञान प्राप्त करता है।

ज्ञानी को अल्प अस्थिरता होती है परन्तु अज्ञानी की अपेक्षा उसके अन्तरंग में भारी अन्तर हो गया है; चौरासी लाख के परिभ्रमण में से जिसकी वृत्ति उठ गयी है, परपदार्थों

में से अपनेपन की बुद्धि हट गयी है, पर में से सुखबुद्धि चली गयी है, अल्प अस्थिरता के कारण कुछ राग की वृत्ति रही है; शरीर, मन, वाणी के विकल्पों से रहित चैतन्यपिण्ड हूँ, त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप हूँ—ऐसा ज्ञान और प्रतीति ज्ञानी के वर्तते ही रहते हैं, ऐसी दशा में ज्ञानी के अपनी भूमिका के योग्य जो बाह्य कार्य होता हो तथापि ज्ञानभाव बढ़ता ही जाता है। ज्ञानी के जो चाहे बाह्य कार्य होता हो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह अयोग्य अनीति के आचरण में वर्तता हो। ज्ञानी के विषय-कषाय के अयोग्य अनीति के आचरण होते ही नहीं। चाहे जो बाह्य कार्य होता हो उसका अर्थ यह है कि ज्ञानी अपनी यथायोग्य पदवी के अनुसार राज्य, युद्ध, स्त्री, कुटुम्बादि गृहस्थाश्रम के कार्यों में स्थित हो तो भी पर से भिन्नत्व की प्रतीति और ज्ञान वर्तते ही रहते हैं, इससे ज्ञानमय भाव बढ़ता ही जाता है।

जो चौदह ब्रह्माण्ड के भावों का और परमाणुओं का स्वामी होता है, वह अज्ञानी है। ऐसे अज्ञानी के व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि सभी अज्ञानमय हैं, वह चाहे जहाँ स्थित हो वहाँ विकार भावों को अपना मानता हुआ निर्विकारी स्वभाव को भूलकर मात्र अज्ञानमयभावों की ही उत्पत्ति करता है, विकार और उसके फल-स्त्री, कुटुम्बादि समस्त बाह्य संयोगों का कर्ता बनकर खड़ा है क्योंकि उसकी दृष्टि पर के ऊपर है, इससे उसके समस्त भाव अज्ञानमय हैं, वस्तुस्थिति क्या है, उसके दर्शन बोधन से अजान है इससे अज्ञानता का उल्लंघन न करता हुआ विकार भावों को करता ही रहता है। असंग, निर्मल स्वभाव पर जिसकी दृष्टि नहीं है उसकी दृष्टि मलिनता और संयोग पर है इससे मलिनता की ही उत्पत्ति करता है; चाहे जैसे संग-प्रसंग में आये वहाँ भी वही ग्रहण करता है जिससे अज्ञान की पुष्टि हो; ज्ञानी सीधी-सच्ची बात कहें तो उसे भी उल्टा मान लेता है; मैं पर से पृथक् तत्त्व हूँ—वैसा परिणमन नहीं है इससे हर प्रसंग पर अज्ञान की मिठास का ही वेदन करता है, चाहे भगवान की पूजा-भक्ति में ही क्यों न बैठा हो।

ज्ञानी चाहे जैसे प्रसंग में खड़ा हो, तथापि उसके सभी भाव ज्ञानमय हैं—धर्ममय हैं। दया, पूजा, भक्ति इत्यादि सब कुछ उसके लिये ज्ञानमय है। आत्मा की निर्मल दृष्टि में जो भाव होते हैं वे सब निर्मल ही होते हैं। ज्ञानी समझता है कि मेरा स्वभाव आनन्दमय है, इससे ज्ञान दर्शन और अन्तररमणता का उल्लंघन न करने से ज्ञानी धर्ममय है, स्वभाव के

स्वामित्व के अतिरिक्त एक विकल्प का भी स्वामित्व ज्ञानी के नहीं है इससे वहाँ स्वभाव की और पवित्रता की ही वृद्धि होती है।

वास्तव में अज्ञानमय भाव में से जो भी भाव होते हैं, वे सब अज्ञानमयता का उल्लंघन न करने से अज्ञानमय ही होते हैं, इससे अज्ञानी के समस्त भाव अज्ञानमय ही होते हैं। और ज्ञानमय भाव में से जो भी भाव होते हैं, वे सभी ज्ञानमयता का उल्लंघन न करने से ज्ञानमय ही होते हैं, इससे ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं।

जिन भावों से सर्वार्थसिद्धि का भव मिले उनकी भी ज्ञानी के मिठास नहीं है। सर्वार्थसिद्धि का भव मिले वैसे शुभभाव ज्ञानी को आते अवश्य हैं परन्तु उन भावों का वह ज्ञाता रहता है, उन भावों की ज्ञानी को मिठास नहीं है परन्तु समस्त भावों का वह ज्ञान ही करता है, इससे उसके सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही हैं। जिसे सर्वार्थसिद्ध के भावों में मिठास नहीं है, उसे कौन से भाव में मिठास होगी? ज्ञानी के किंचित् आर्तध्यान भी हो जाये, किन्तु उसका भी वह ज्ञाता है, आर्तध्यान का नाश करके स्वभाव की वृद्धि करता है। ज्ञानी समस्त भावों में ज्ञानमयभाव का उल्लंघन न करने से उसके सभी भाव ज्ञानमय ही हैं। ज्ञानी का अन्तर परिणमन अज्ञानी से भिन्न प्रकार का ही होता है।

अज्ञानी के समस्त भाव अज्ञानता का उल्लंघन न करने से अज्ञानमय हैं, अज्ञानी परिणमन स्वभाव का भान न होने से अज्ञानमय है। अज्ञानी के क्रोध, मान, माया, लोभादि सभी अज्ञानमय हैं; उन सभी भावों में मिठास को न छोड़ने से उसके समस्त भाव अज्ञानमय हैं। आत्मा का शुद्ध, पवित्र, निर्मल भाव है, उसका अज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं होता परन्तु पुण्य-पाप के भावों का कर्ता-भोक्ता होता है, वे अज्ञानमय हैं, जो चौरासी लाख का मूल हैं और उसकी पुष्टि करनेवाले हैं।

स्वभाव के मार्ग से सत्य आता है और अज्ञान के मार्ग से असत्य आता है; सत् के मार्ग से त्रिकाल सत् आता है और असत् मार्ग से त्रिकाल असत्य आता है। अज्ञानी चाहे जहाँ जाये अथवा चाहे जहाँ स्थित हो परन्तु मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ, इसकी अपेक्षा मैं अधिक बुद्धिमान हूँ, इत्यादि भाव उसे आये बिना नहीं रहते। अज्ञानी में कर्ताबुद्धि साक्षीरूप से रहने की शक्ति नहीं है।

ज्ञानी के चाहे जिस भाव में, चाहे जिस प्रसंग में साक्षीरूप से रहने की शक्ति

है, समस्त भावों के बीच स्वत: साक्षीरूप से रह सकता है। अज्ञानी को, चाहे वह कहीं भी हो पर के कर्तृत्व के भाव आये बिना नहीं रहते। ज्ञानी सबसे अलिप्त है और अज्ञानी सबमें लिप्त है।

वस्तु जैसी है वैसी ही रहेगी; अज्ञानी की कल्पना से वस्तु परिवर्तित होनेवाली नहीं है। वस्तु जैसी है उसे वैसा ही रहने दो, कल्पना से खींचातानी मत करो, कोई वस्तु किसी का कुछ नहीं कर सकती। धर्म का मूल सम्यग्ज्ञान है और अधर्म का मूल अज्ञान है।

ज्ञानी के सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही होते हैं, ज्ञानी के अन्तरंग की पवित्रता देखे बिना बाह्य से कल्पना मत करना; उससे ऐसा नहीं समझना है कि ज्ञानी अन्धाधुन्ध अन्याय और अनीति के आचरण करे। ज्ञानी के वे आचरण होते ही नहीं।

ज्ञानी हीरे-जवाहिरात का व्यापार करता हो, तथापि उसकी दृष्टि आत्मा पर ही है। अज्ञानी अनन्त बार त्यागी होकर नवग्रैवेयक तक गया परन्तु भेदविज्ञान सहित अन्तर्दृष्टि प्रगट किये बिना उसके यथार्थ त्याग नहीं हुआ।

यह मनुष्य उच्च जाति का है, इसलिए ऊँचा है और यह नीची जाति का है इसलिए नीचा है—वह परीक्षा की दृष्टि नहीं है। उच्च-नीच स्थान पर न देखकर उसकी दृष्टि विकार पर है या अविकारी आत्मा पर—उससे माप होता है। दृष्टि सम्यक् हो तथापि अपनी-अपनी भूमिकानुसार ज्ञानी के शुभाशुभ भाव आते अवश्य हैं परन्तु वह स्वच्छन्दी नहीं होता। वह समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की मन्दता है इससे यह भाव आते हैं, यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जा सकता हो तो मुझे यह कुछ नहीं चाहिए। प्रतिक्षण ज्ञानी का पुरुषार्थ तो चालू है तथापि पुरुषार्थ मन्द रहता है तब तक वीतराग नहीं हुआ जा सकता। ज्ञानी को आर्तध्यान भी हो जाता है परन्तु वह सब दूर होकर उसके निर्जरा की ही वृद्धि होती है—ज्ञान की ही वृद्धि होती है। अज्ञानी हजारों रानियों और महान राज्य को त्यागकर त्यागी हुआ हो, पश्चात् बाह्य से भी इतना अधिक सहन करे कि कोई जला दे तो भी मन से क्रोध न करे, ऐसा शुभभाव करे कि स्वत: भी सन्तुष्ट हो और दूसरे देखनेवाले भी; परन्तु शुभभावों से अन्तर का माप नहीं है। बाह्य से दया पालन करता हो, पूजा करता हो, तथापि अज्ञानता के भाव का उल्लंघन नहीं करता। जहाँ तक समस्त शुभाशुभ परिणामों से पृथक् आत्मस्वभाव का भान नहीं है तब तक वह अज्ञानता का उल्लंघन नहीं करता।

अब, कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ।।६७।।

अर्थः—ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञान से उत्पन्न हुए (रचित) होते हैं और अज्ञानी के सर्व भाव अज्ञान से उत्पन्न हुए (रचित) होते हैं।

ज्ञानी का परिणमन बदल गया है, दृष्टि बदल गयी है, दिशा बदल गयी है इससे ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञान से रचित होते हैं, धर्मी के सर्व भाव आत्मा की दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। अज्ञानी के सर्व भाव चौरासी के चक्कर में भ्रमण करने के होते हैं। यहाँ, धर्मी को जो अल्प राग-द्वेष होता है, उसकी बात गौण रखी है, वे भाव टालने के लिये हैं, ज्ञानी उन भावों का स्वामी नहीं होता; इसलिए ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानरचित ही होते हैं।

किसी मनुष्य को ऐसी प्रतिकूलता आये कि जिससे कोई उसे माँ-बहिन या लड़की की गालियाँ दे, तो उन्हें वह अच्छा मानेगा ? नहीं मानेगा। हजारों के बीच में बैठा हो, सामनेवाला माँ और बहिन की गालियाँ देता हो, सब कहें कि देख! यह तुझे कैसी गालियाँ दे रहा है और तू क्यों बैठा है ? तब वह कहे कि क्या करूँ ? अन्तर में तो नहीं रुचता हे परन्तु प्रतिकूलता का संयोग आ गया है, क्या किया जाये ? वह मुझे गालियाँ दे ऐसी भावना तो मैं नहीं भाता हूँ। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी पुण्य-पाप के भाव और संयोग को गालियों की भाँति मानते हैं। जिस प्रकार उस मनुष्य को गालियों की रुचि नहीं है वैसे ही सम्यग्दृष्टि को पुण्य-पाप के भावों की रुचि नहीं है; जैसे वह मनुष्य गालियों की भावना नहीं भाता, उसी प्रकार यह पुण्य-पाप के भावों की भावना नहीं करता; परन्तु पुरुषार्थ की अशक्ति से राग-द्वेष होता है। उदय का संयोग भी बनता है, परन्तु उसे अपना स्वरूप नहीं मानता, उसमें रुचि या एकत्वबुद्धि नहीं है।

अज्ञानी को तो पर का अभिमान है कि मैंने यह छोड़ा, और मैंने यह ग्रहण किया। स्वभाव के सत्तास्थल को नहीं जानता और ग्रहण-त्याग के अभिमान से भरा हुआ है इससे वह त्यागी होने पर भी अत्यागी है। अन्तर से आसक्ति दूर नहीं हुई है; अन्तर में आत्मा के भान द्वारा स्वरूप में रमणता करके आसक्ति को दूर नहीं किया है, अन्तर में अभी आसक्ति

है इससे वह त्यागी होने पर भी अत्यागी है।

पुण्य-पाप के भाव मेरे स्वभाव को—मेरे गुणों को गाली जैसे हैं, वैसा ज्ञानी मानता है, इससे उनका आदर कैसे होगा ? गुणी, धर्मात्मा, ज्ञानी पुण्य-पाप की वृत्तियों को गाली के समान और संयोगों को उपसर्ग जैसा समझते हैं।

जैसे कोई मनुष्य बहुत से मनुष्यों के बीच बैठा हो और उसे कोई माँ-बहिन की गालियाँ देता हो तब, कोई कहे कि भाई ! ऐसी गालियाँ तू क्यों सुनता है ? कान बन्द कर ले न ? तब वह कहता है कि भाई ! मुझे जो गाली दे रहा है वह मुझे उपसर्ग आ पड़ा है—ऐसा जानकर शान्ति रखता हूँ; वैसे ही ज्ञानी को अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आने से उन्हें वह उपसर्ग न मानकर ज्ञेय मानता है, इससे ज्ञानी को चाहे जैसे प्रसंगों में ज्ञानभाव की ही वृद्धि होती है, अज्ञानी को अज्ञानभाव के कारण चाहे जिस संयोग में अज्ञानभाव की ही वृद्धि होती है ॥१२८-१२९॥

अब, इस अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं:—

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा।
अय-मयया भावादो जह जायंते दु कडयादी।।१३०।।
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाण-मया सव्वे भावा तहा होंति।।१३१।।

कनक-मयाद्भावाज्जायन्ते कुण्डलादयो भावाः।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायन्ते तु कटकादयः।।१३०।।
अज्ञानमया भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायन्ते।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवन्ति।।१३१।।

अर्थः—जिस प्रकार सुवर्णमय भाव में से सुवर्णमय कुण्डलादि भाव होते हैं, और लोहमय भाव में से लोहमय कड़ा आदि भाव होते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी को (अज्ञानमय भावों में से) अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानी को (ज्ञानमय भावों में से) सर्व ज्ञानमय भाव होते हैं।

आचार्यदेव ने दृष्टान्त दिया है कि सुवर्णमय धातु में से सुवर्ण के ही कुण्डल-कड़े

इत्यादि गहने होते हैं और लोहे में से कड़ाही, तावड़ी आदि बनते हैं। स्वर्ण में से लोहमय गहने नहीं बनते और लोहे से स्वर्णमय गहना नहीं होता। लोहा तपे तो अग्नि की चिंगारियाँ उड़ती हैं और स्वर्ण तपे तो चिकना चमकदार होता है। उसी प्रकार अज्ञानी लोहे के समान है, अज्ञान और राग-द्वेष की चिंगारियाँ उड़ती हैं, इससे चार गतियों में उड़-उड़कर फिरता है, और ज्ञानी सोने के समान है; परीषह और उपसर्ग आने पर भी ज्ञातापन का धैर्य नहीं छोड़ता, किन्तु अपने अनन्त गुण के पिण्डस्वरूप आत्मा में विशेष सावधान होकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की एकता में एकरूप होकर—स्थिरता करके मुक्ति प्राप्त करता है।

अज्ञानी को शुद्ध चैतन्यधातु की खबर नहीं है इससे पुण्य-पाप के परिणामों के काट-मैल का स्वामी बनता है, वह मेरे हैं और मैं उनका कर्ता हूँ—उस प्रकार सर्व भावों को अपना मानता है। जिस प्रकार लोहे में से कड़ाही, तावड़ी इत्यादि होते हैं, उसी प्रकार अज्ञान में से सर्व अज्ञानमय भाव ही होते हैं।

अग्नि से सुवर्ण तप्त हो जाये तथापि वह स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, वैसे ही धर्मी को प्रतिकूलता के संयोग आयें तथापि वह धर्म को नहीं छोड़ता।

अज्ञानी को जहाँ प्रतिकूल संयोग आये कि वहाँ वह भय और त्रास से आकुल-व्याकुल हो जाता है परन्तु ज्ञानी धर्म को नहीं छोड़ता, स्वभाव की शान्ति-समाधि को नहीं छोड़ता। देखो! यह सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है; अज्ञान में विवेक नहीं, किन्तु ज्ञान में विवेक है।

जिस प्रकार परमाणु स्वयं—अपने आप परिणामस्वभाववाला होने से, कारण जैसे ही कार्य होते होने से स्वर्ण में से स्वर्ण के ही गहने होते हैं और लोहे में से लोहे की ही वस्तुएँ बनती हैं; स्वर्ण में से लोहे की वस्तु नहीं होती और लोहे में से स्वर्ण की वस्तु नहीं बनती। जैसा कारण हो वैसा ही कार्य होता है। चाहे जैसे संयोग में स्वर्णत्व का उल्लंघन न करनेवाले—ऐसे स्वर्ण में से स्वर्ण का ही गहना होता है; जैसा कारण हो वैसा ही कार्य होता है; कारण-कार्य सजातीय होते हैं। लोहा पाँच या दस सेर हो, उसमें से स्वर्णमय आभूषण नहीं होते और सुवर्ण पाँच या दस सेर हो उसमें से लोहे की वस्तु नहीं बनती; स्वर्ण के आभूषणों में स्वर्ण की ही जाति है और लोहे की कड़ाही आदि में लोहे की ही जाति है सोने पर जंग नहीं चढ़ती परन्तु लोहे पर जंग चढ़ जाती है; चाहे जैसे संयोगों में भी लौहत्व का

उल्लंघन न करनेवाले लोहे में से कड़ाही आदि लोहे की ही वस्तु होती है परन्तु स्वर्णमय वस्तु नहीं होती। आचार्यदेव ने कहा है कि—पुद्गल स्वयं परिणामस्वभाववाला है, अर्थात् स्वयं परिवर्तित होता है तथापि स्वर्ण में से लोहा नहीं होता, और लोहे में से स्वर्ण नहीं बनता, दोनों पुद्गलद्रव्य हैं तथापि वैसा नहीं होता।

उसी प्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभाववाला होने पर भी कारण जैसा ही कार्य होता होने से, अज्ञानी को-जो कि स्वत: अज्ञानमय भाव है, भले ही हजारों शास्त्र जानता हो, महाव्रतादि का पालन करता हो किन्तु उसे—अज्ञानमय भाव में से, अज्ञान जाति का उल्लंघन न करनेवाले अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव ही होते हैं परन्तु ज्ञानमय भाव नहीं होते। और ज्ञानी को—जो कि स्वत: ज्ञानमय भाव है—उसे ज्ञानमय भावों में से, ज्ञान की जाति का उल्लंघन न करनेवाले सर्व ज्ञानमय भाव ही होते हैं; परन्तु अज्ञानमय भाव नहीं होते।

जीव परिणामस्वभाववाला होने से जैसे कारण वैसे ही कार्य होते हैं। अज्ञानी को अज्ञान कारण है, इसलिए कार्य भी अज्ञान का ही आता है। उसकी दृष्टि पराश्रय अर्थात् रागादि शरीर, मन, वाणीरूपी काट-मैल पर पड़ी है परन्तु अपने ध्रुव वस्तुस्वभाव पर नहीं है। जीव परिणमनस्वभाववाला होने से चाहे जैसा परिणमित होता रहे—वैसा नहीं है; परन्तु जैसी दृष्टि हो वैसा कार्य आता है। अज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर-पराश्रय ऊपर पड़ी है, इससे विभाव-परभावमय ही कार्य होते हैं; जितने परिभ्रमण होने योग्य भाव हैं इससे परिभ्रमण के ही कार्य होते हैं। जिसे राग-द्वेष और पर के कर्तृत्व की मिठास है उसके, अज्ञान जाति का उल्लंघन न करनेवाले अज्ञानमय भाव ही होते हैं परन्तु ज्ञानमयभाव नहीं होते। देखो! इससे यह तात्पर्य निकलता है कि अज्ञानमयभाव में से चाहे जैसे भाव करे व्रत तप करे-शास्त्र पढ़े तथापि ज्ञानभाव नहीं हो सकते।

लोग कहते हैं कि हमें निमित्त चाहिए-व्यवहार-पराश्रय चाहिए, पुण्य-पाप के भाव करना चाहिए; ऐसा करते-करते धर्म होगा, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूप के आलम्बन के बल से दृष्टि को बदले बिना स्वभाव की निर्मलपर्याय प्रगट नहीं हो सकती। जो विपरीत दृष्टि को न बदले उसे चाहे जैसे शुभराग हो, उच्च संयोग मिलें, साक्षात् चैतन्यमूर्ति तीर्थंकर भगवान का योग प्राप्त हो तथापि वह विपरीत ग्रहण करेगा; धर्म की बात होती हो तो उसे सुनकर कहेगा कि अकेली आत्मा की ही बात ले बैठे हो, किन्तु

कुछ रुपये-पैसे की बात भी करोगे ? इस प्रकार उल्टा ग्रहण करता है। ज्ञानी कहते हैं कि तुम संसार की बाह्यक्रिया क्या कर सकते हो ? मात्र मैं पर में कुछ ग्रहण-त्याग करता हूँ ऐसी मिथ्या मान्यता के भाव ही करते हो। परद्रव्य का कोई कुछ कर ही नहीं सकता। ज्ञानी भी मात्र अपना भाव ही करते हैं। क्या अज्ञानी रुपये-पैसे का संग्रह कर सकता है ? नहीं, कर ही नहीं सकता। मात्र अपने में भाव ही करता है। परद्रव्यों का संग्रह आदि करने से नहीं होते और रखने से रहते नहीं हैं। अज्ञानी अज्ञानभावों का ही मन्थन करता रहता है; निरन्तर वे ही भाव उसके होते हैं।

ज्ञानी समझता है कि मैं ही अपने स्वरूप से शरणरूप हूँ, पर से अशरणरूप हूँ; इसलिए पर की ओर रुचि करना मेरा कर्तव्य नहीं है। जिस प्रकार नट अपनी डोरी पर से दृष्टि नहीं चूकता; हजारों मनुष्य देखने के लिए खड़े हों उन पर उसकी दृष्टि नहीं होती परन्तु सिर नीचे पैर ऊपर हैं, सिर थाली में रखा है, थाली डोरी पर रखी है इसलिए वह थाली और डोर पर से दृष्टि को नहीं चूकता। पहले खेल प्रारम्भ करते समय पैसे का हेतु होता है परन्तु खेल दिखाते समय उस पर दृष्टि नहीं होती कि मेरा खेल देखकर कौन सन्तुष्ट होता है और कौन नहीं। उसे तो डोरी पर थाली में सिर रखकर थाली डोरी से इधर-उधर न हटे उस पर दृष्टि होती है। उसी प्रकार ज्ञानी को संयोग और संयोगों की ओर के पुण्य-पाप के भावों में-कहीं भी ढलने की रुचि नहीं है; एकमात्र अखण्डस्वभाव पर दृष्टि है इससे वह बँधता नहीं है। 'त्रैकालिक ज्ञान, दर्शनादि अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें ही मेरा स्वरूप है, उन्हीं के साथ मुझे सम्बन्ध है, इसके अतिरिक्त पर का और मेरा किसी काल में कोई सम्बन्ध नहीं है।' ऐसा पर से पृथक्ता, स्वभाव की सामर्थ्यता, विभाव की विपरीतता और द्रव्य के स्वतन्त्रता का ज्ञान वस्तुस्वभाव के स्पर्शसहित ज्ञानी को होता है, इससे उसके सम्पूर्ण भाव पवित्र ही होते हैं।

जिस प्रकार कोई स्त्री पानी भरने गयी हो, बच्चे को घर पर सुलाया हो, और घर तथा पड़ोस में भी कोई न हो तो उसे ऐसा लगता है कि कदाचित् लड़का रोयेगा, इससे जल्दी गागर भरकर घर पहुँचूँ। वहाँ मार्ग में कोई सहेली मिल गयी और वह बात करने के लिये खड़ी हो गयी तो वहाँ वह आधा उत्तर दे—न दे और कहेगी कि बहिन! फिर मिलूँगी; लड़का अकेला घर में सो रहा है—इस प्रकार लड़के पर से दृष्टि नहीं हटती। थोड़ा आगे

चली कि दूसरा कोई पीहर के समाचार देने लगा, तो उसे भी कहती है कि भाई! तुम घर पर आना, अभी रुक नहीं सकती, क्योंकि लड़का अकेला सूने घर में सो रहा है ताला लगाकर आयी हूँ। इस प्रकार पीहर के समाचार मिलने पर भी पुत्र का ध्यान नहीं चूकती। इसी प्रकार धर्मी जीव-ज्ञानी जीव राज्य करता हो, व्यापार करता हो, युद्ध करता हो तथापि अपने स्वभाव के ध्येय से च्युत नहीं होता। धर्मी जीव कोई भी सांसारिक कार्य का राग भाव कर रहा हो परन्तु उन सबमें उसे ऐसा रहता है कि यह मेरा नहीं, यह मेरा नहीं है, मेरा तो नित्य ज्ञाता स्वभाव है ज्ञाता स्वभाव ही मेरा धन है—स्व है। इस प्रकार अपने ध्रुव स्वभाव पर दृष्टि जमी की जमी ही है। जिस प्रकार उस स्त्री को बाहर कार्य करते हुए भी लड़के पर से ध्यान नहीं हटता उसी प्रकार स्वभाव दृष्टिवन्त ज्ञानी को बाह्यकार्य करने का रागभाव के समय भी ज्ञायक स्वभाव पर से दृष्टि नहीं हटती; बाह्य से अल्प आसक्ति-लीनता दिखायी देती है किन्तु अन्तर में तो उदासीन! उदसीन है।

लोग ऐसा मानते हैं कि देखो तो! स्त्री पानी भरने गयी और बच्चे को ताले में जेल में बन्द कर गयी, अरे भाई! तू जेल कहता है तो जेल सही, परन्तु तू यह नहीं जानता कि लड़का मेरा जीवन है? माता का लड़के के प्रति प्रेम तो उसके कार्य पर से दिखायी देता है, क्योंकि उसे एक ही लक्ष्य है और एक ही डोर है। परन्तु नासमझ विपरीतदृष्टि देखता है और बुद्धिमान सीधी-यथार्थ दृष्टि से; उसी प्रकार ज्ञानी के बाह्य कार्य देखकर लोग ऐसा कहें कि ज्ञानी होकर लड़ाई कर रहा है, गृहस्थ है व्यापार करता है। अरे भाई! तू 'लड़ाई कर रहा है' कहता है तो वही सही, और 'स्त्रियों में विद्यमान कहे' तो वैसा ही मान ले, परन्तु हमारे अन्तर में उनके प्रति कितनी अरुचि, कितनी उदासीनता तथा स्वभाव की कितनी रुचि और कितनी लीनता है उसे तू कैसे समझ सकता है? उसे तो हमारा ही हृदय जानता है। अज्ञानी को अज्ञान भाव से खतौनी नहीं छूटती और ज्ञानी को ज्ञान भाव से। ज्ञान में से ज्ञान का ही कार्य आता है और अज्ञान में से अज्ञान का ही। जैसा कारण वैसा ही कार्य होता है। जैसे प्रकाश अन्धेरे का काम नहीं करता वैसे निज-आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला सम्यग्ज्ञान ज्ञान का ही काम करता है, अज्ञान का काम नहीं करता।

अज्ञानी कहता है कि वृद्धावस्था में पैसा गया, लड़का मर गया इत्यादि प्रतिकूलतायें आयीं इससे सहन करना मुश्किल दिखायी देता है; परन्तु यदि जवानी में गया होता तो

सहन कर लेता; इस प्रकार सर्वत्र अज्ञानी की संयोगों पर ही दृष्टि पड़ी है। ज्ञानी चाहे जैसे संयोग में हो तथापि उसके सच्चा समाधान और असंयोगी दृष्टि बनी रहती है—निरपेक्ष ज्ञाता-साक्षी स्वभाव पर दृष्टि बनी रहती है। ज्ञानी युद्ध में-व्यापार में या स्त्री-बच्चों में दिखायी दे तथापि उसकी दृष्टि अपने ज्ञानानन्दमय स्वभाव पर ही है, अत: पर में कहीं भी एकत्वबुद्धि नहीं होती, अन्तर से पृथक् ही है तथापि वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से अल्प राग-द्वेष होता है; यदि अल्प राग-द्वेष न हो तो बन्ध न हो, मुनि हो जाये-वीतराग हो जाये, परन्तु वह दशा नहीं है इसलिए अल्प विकार है, पुरुषार्थ लचक खाता है परन्तु दृष्टि तो ध्रुव विज्ञानघन स्वभाव पर ही है। इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञान भाव होते हैं और अज्ञानी को अज्ञानभाव।

अज्ञानी को शुभाशुभ भावों में आत्मबुद्धि होने से, उसके सर्व भाव अज्ञानमय ही हैं। राग-द्वेष होता है वह पर पदार्थ की ओर का भाव है उसमें अज्ञानी को आत्मबुद्धि होने से उसके व्रत-तप-पूजादि सब अज्ञान की भूमिका में से उत्पन्न होते हैं इसलिए अज्ञानमय ही हैं, विष की भूमिका में से विष ही उत्पन्न होता है, विष के वृक्ष में से विष की ही उत्पत्ति होती है अमृत उत्पन्न नहीं होता। ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं, क्योंकि उसे परोन्मुखता के भावों में एकत्वबुद्धि नहीं है—इससे उसके सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही हैं, अमृत के वृक्ष से अमृत की ही उत्पत्ति होती है विष उत्पन्न नहीं होता।

अविरत सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोह के उदय में जुड़ने से क्रोधादिक भाव प्रवर्तमान हैं तथापि उसे उन भावों में आत्मबुद्धि नहीं है, वह उन्हें पर के अवलम्बन से उत्पन्न हुई उपाधिरूप मानता है। क्रोधादिक कर्म उसके उदय में आकर खिर जाते हैं—आगे ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार-परिभ्रमण में वृद्धि हो; क्योंकि (ज्ञानी) स्वत: उद्यमी होकर क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं होता और यद्यपि कर्मोदय की ओर झुकाव करने से कुछ अंश में रागादि भाव कर्मरूप प्रवर्तता है तथापि ज्ञातृत्व से च्युत होकर परिणमित नहीं होता। ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही प्रवर्तमान रहता है, इससे वह क्रोधादिक भावों का अन्य ज्ञेयों की भाँति ज्ञाता ही है—कर्ता नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञानमय ही हैं।

ज्ञानी पूर्ण आसक्ति से मुक्त नहीं हुआ है इससे चारित्र दोष से कुछ उल्टे पुरुषार्थ

के कारण किंचित् क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं, उनमें वह बाह्य से वर्तता दिखायी देता है किन्तु उसे निरन्तर पृथक् आत्मा का विवेक प्रवर्तमान है इससे उनमें उसे आत्मबुद्धि नहीं है कि यह मेरे हैं और मैं इनका हूँ परन्तु उन्हें वह पर की उपाधि मानता है जो विकारी भाव हैं वे तो आत्मा के गुणों को गाली समान हैं। ज्ञानी को अल्प दोष आता है परन्तु वह खिर जाता है।

नीचे की भूमिका में ज्ञानी को अन्तर में से पूर्णतया राग-द्वेष की निवृत्ति नहीं हुई है परन्तु 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' इस न्याय से उसे अवगुणों का व्यय और गुणों की पर्याय की उत्पत्ति तथा वर्तमान एक समय में मैं अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ—ऐसी ध्रुव की दृष्टि होने से वस्तुदृष्टि में से गुणों की निर्मल अवस्था ही उत्पन्न होती है, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि रचती है। पुरुषार्थ में किंचित् मचक आ जाती है परन्तु वास्तव में अवगुणों का व्यय होता जाता है और निर्मलपर्याय की उत्पत्ति होती है एवं अखण्ड वस्तु की दृष्टि बनी हुई है।

ज्ञानी के ज्ञानदृष्टि प्रगट हुई, आत्मा का भान हुआ; इससे अखण्डवस्तु की दृष्टि में उसकी सृष्टि कैसी होगी ? दृष्टि पवित्रता की है तो सृष्टि भी पवित्रता की होती है; विकार का व्यय होता जाता है और निर्विकारी पर्याय का ही उत्पाद होता है; कुछ अवगुण रह गये हैं वे दूर होने के लिये ही हैं रहने के लिये नहीं।

चतुर्थ गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि युद्ध में खड़ा हो, तथापि 'मैं ज्ञायक हूँ, पवित्र हूँ'—ऐसी दृष्टि हुई होने से साक्षीरूप से खड़ा है अर्थात् उसे पवित्रता की ही उत्पत्ति होती है और अवगुणों की पर्याय का व्यय होता जाता है। एक समय में एक ही अवस्था की उत्पत्ति होती है परन्तु अवगुण और गुणों की पर्याय की मिश्रता नहीं है, दो मिलकर एक पर्याय नहीं है, दृष्टि शुद्ध पर है इससे एकमात्र शुद्ध का ही उत्पाद है; अल्प अवगुण खिरने के लिये हैं, धर्मी जीव उद्यमी होकर, करने योग्य मानकर उनमें युक्त नहीं होता। मैं परिपूर्ण हूँ, निर्मल हूँ वैसे भान में अवगुणों का पुरुषार्थ नहीं है, गुणों की पर्याय का उत्पाद करने का ही पुरुषार्थ है, मात्र दृष्टि के अनुसार ही अवस्था करने का पुरुषार्थ है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ भगवान चक्रवर्ती पद पर थे तब वे युद्ध में खड़े हों तथापि गुणों की अवस्था का उत्पाद होता जाता है, अवगुणों की पर्याय का ह्रास होता जाता है। युद्ध सम्बन्धी भावों में युक्त होने से वीर्य किंचित् मलिन

तो होता है, किंचित् अवगुण भी होते हैं, गुणों की हानि भी कुछ होती है, परन्तु वहाँ उसकी भावना नहीं है। जहाँ जिसकी भावना वहाँ उसकी वृद्धि; जहाँ जिसकी भावना नहीं है वहाँ उसका व्यय है—वृद्धि नहीं है। ज्ञानी को गुणों की भावना होती है या अवगुणों की? गुणों की ही होती है। बस जहाँ जिसकी भावना वहाँ उसकी वृद्धि। ज्ञानी को अल्प राग है उसे वे उपाधिरूप मानते हैं, उसका स्वामित्व स्वीकार नहीं करते उसे करने की भावना और रखने की दृष्टि नहीं है तथा उत्पन्न करने का भान नहीं है। ज्ञानी कर्म की जबरदस्ती से विकार में युक्त नहीं होते, कर्म बलात् उन्हें विकार में प्रवर्तित नहीं करता परन्तु अपना पुरुषार्थ किंचित् मचक खाता है इससे राग-द्वेष होता है; तथापि ज्ञातृत्व से च्युत होकर राग-द्वेष में युक्त नहीं होते, उसका स्वामित्व स्वीकार नहीं करते। जिस प्रकार आकाश-पाताल, पत्थर-लकड़ी आदि ज्ञेय ज्ञात होते हैं उसी प्रकार क्रोधादि भाव ज्ञानी को जानने में आते हैं। जिस प्रकार भंगी वणिक की जाति का नहीं उसी प्रकार काम, क्रोधादि आत्मा की जाति के नहीं हैं—वैसा ज्ञानी को देखने में आता है। भंगी का लड़का वणिक का उत्तराधिकार नहीं लेता उसी प्रकार चैतन्यरूपी स्वजाति की प्रतीति होने से, विजातीय काम, क्रोधादि मेरे स्वगुणों का उत्तराधिकार रखनेवाले नहीं हैं ऐसा धर्मी के देखने में आता है। निष्कलंकी स्वभाव में यह कलंकस्वरूप मेरा नहीं है, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, यह मेरा कार्य नहीं है, मेरा कार्य तो ज्ञानमय है—ऐसा ज्ञान ज्ञानी के वर्तता है, ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही प्रवर्तमान रहता है; पुरुषार्थ की अशक्ति से अल्प विकार होता है परन्तु उसमें वे ज्ञातृत्व से च्युत होकर परिणमित नहीं होते इससे ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञानमय ही हैं।

अब, आगामी गाथा की सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्।।६८।।

अर्थः—अज्ञानी (अपने) अज्ञानमय भावों की भूमिका में व्याप्त होकर (आगामी) द्रव्यकर्म के निमित्त से जो (अज्ञानादि) भाव हैं, उनके हेतुत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावों का हेतु बनता है)।

आत्मा निर्विकारी, स्वसंवेद्य, निर्दोष और पवित्र है। अज्ञानी उसे भूलकर अज्ञानमय भावों की भूमिका में व्याप्त होकर अर्थात् रहकर नवीन कर्म बाँधने का अज्ञान और राग-द्वेष के भाव करता है; जड़कर्म का उदय आने से स्वत: अज्ञान और राग-द्वेष के भाव करता है वह नवीन कर्मों का हेतु होता है; पुराने कर्मों के उदय में जुड़ने से उस समय वर्तमान विकारी भावरूप भावों का कर्ता होता है इससे वे भाव नवीन कर्मों का कारण बनते हैं ॥१३१॥

यही अर्थ पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं।।१३२।।
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ।।१३३।।
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदि-भावो वा।।१३४।।
एदेसु हेदु-भूदेसु कम्मइय-वग्गणागदं जं तु।
परिणमदे अट्ठ-विहं णाणावरणादि-भावेहिं।।१३५।।
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणाम-भावाणं।।१३६।।

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वम्।।१३२।।
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवे-दविरमणम्।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः।।१३३।।
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा।।१३४।।

एतेषु हेतुभूतेषु कार्मण–वर्गणागतं यत्तु।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादि–भावैः ।।१३५।।
तत्खलु जीव–निबद्धं कार्मण–वर्गणागतं यदा।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणाम–भावानाम् ।।१३६।।

अर्थः—जीवों को जो तत्त्व का अज्ञान (वस्तुस्वरूप का अयथार्थ–विपरीत ज्ञान) है वह अज्ञान का उदय है और जीवों को जो (तत्त्व का) अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है। पुनश्च, जीवों को जो अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है, वह असंयम का उदय है और जीवों को जो मलिन (ज्ञातृत्व की स्वच्छता से रहित) उपयोग है, वह कषाय का उदय है। और जीवों को जो शुभ या अशुभ प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप (मन–वचन–काया–आश्रित) चेष्टा का उत्साह है, वह योग का उदय जानो।

यह (उदय) हेतुभूत होने से जो कार्मणवर्गणागत (कार्मणवर्गणारूप) पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूप से आठप्रकार से परिणमित होता है वह, जब वास्तव में जीव में बँधता है तब, जीव (अपने अज्ञानमय) परिणामभावों का हेतु होता है।

आत्मा के स्वभाव की ओर का ज्ञान न करके पर का ही ज्ञान करना सो अज्ञानभाव है, वह अज्ञान का उदय है।

मैं सुखरूप हूँ—ऐसी प्रतीति न होने से पर में सुखबुद्धि होना, पर में अपनेपन की बुद्धि होना सो मिथ्यात्व है। ऐसी मान्यता होने में पूर्व के मिथ्यात्वकर्म के विपाक का निमित्त है। उस उदय की ओर आत्मा उन्मुख हो तब, भ्रान्ति होती है, कर्म बलात् कराते हैं ऐसा नहीं है।

पर की आसक्ति से मुक्त नहीं हुआ—वह अत्यागभाव है अर्थात् अविरतिभाव है, उस अविरतिभाव में कर्मोदय का निमित्त है। उपयोग में निर्मलता–स्वच्छता नहीं रहती वह कषायभाव है; उस कषाय भाव में कषायकर्म निमित्त है। शुभयोग में या अशुभयोग में वर्तना अथवा निर्वृत्य होना अर्थात् शुभ में प्रवर्तन करना और अशुभ से निर्वृत्य होना, अशुभ में वर्तन करना और शुभ से निर्वृत्य होना—वह योग का उदय है। आत्मा के प्रदेशों का कम्पन है वह योग है, विकार है उसमें कर्म का निमित्त है।

पुराने कर्मों के उदय के विपाक में स्वयं युक्त हो वह नवीन कर्मबन्ध का कारण होता है। तत्त्व के अज्ञानरूप से (वस्तुस्वरूप की अन्यथा उपलब्धिरूप से) ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ (स्वाद में आता हुआ) अज्ञान का उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के उदय—जो कि (नवीन) नवीनकर्म के हेतु हैं वे, उसमय अर्थात् अज्ञानमय चार भाव हैं।

आत्मा तो शुद्ध पवित्र है परन्तु अवस्था में विकाररूप परिणमित होते हैं, इससे ज्ञान हीन होता है। अल्प ज्ञान का जो स्वाद आता है उसमें ज्ञानावरणीयकर्म के विपाक का फल है। विपरीत ज्ञान का जो स्वाद है वह अपवित्रता का स्वाद है—पवित्रता का नहीं। यहाँ इस गाथा में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—उन चारों भावों को अज्ञानमय कहा है और सम्यग्दृष्टि के वे चारों भाव नहीं हैं—ऐसा कहा है। अज्ञानभाव में चारों स्थित हैं और ज्ञानभाव में चारों नष्ट हो गये हैं। चैतन्य के ज्ञानस्वभाव में स्थिर न हो तो ज्ञानहीन होता है, वह अज्ञानभाव है; चैतन्य के असंग-असंयोगी स्वभाव में स्थिरता न करे और पर में आत्मबुद्धि करके वहाँ लीन हो तो मिथ्यात्व है; स्वरूप की निवृत्ति में स्थिर न हो और पर की आसक्ति में स्थिरता करे वह पर का अत्याग भाव अविरति है; स्वभाव की निर्मलता में न रुके और मलिन उपयोग में स्थिर हो वह कषाय है; अयोग में न रुके और कम्पन में युक्त हो वह योग है। जहाँ आत्मा का सम्यग्भान हुआ वहाँ अज्ञान गया, मिथ्यात्व दूर हुआ, उस प्रकार की अंशत: स्थिरता हुई, उस प्रकार का अर्थात् मिथ्यात्व सम्बन्धी कषाय और योग दूर हो गया; सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ सबका अन्त हो गया। चारों को अज्ञानमयभाव कहा है।

कोई कहेगा कि योग तो केवली को भी होता है न ? केवली के योग होता है परन्तु वह पर्यायदृष्टि से बात है। यहाँ तो यह बात की है कि सम्यग्दृष्टि को वस्तुदृष्टि हुई वहाँ सब चला गया।

वस्तु में अज्ञान नहीं है, भ्रान्ति नहीं है, अविरति नहीं है, कषाय नहीं है, योग नहीं है। जिस प्रकार वे वस्तु में नहीं हैं—उसी प्रकार जिन्हें वस्तुदृष्टि हुई है उनके भी वह नहीं है। वस्तुदृष्टिवन्त के अज्ञान नहीं है, भ्रान्ति नहीं है, अविरति नहीं है और योग भी नहीं है। अज्ञान का कर्ता और कार्यपना अज्ञानभाव में होता है, भ्रान्ति का कर्ता और कार्यपना

अज्ञानभाव में होता है, कषाय का कर्ता और कार्यपना अज्ञानभाव में होता है; कम्पन का कर्ता और कार्यपना भी अज्ञानभाव में होता है।

ज्ञानभाव में अज्ञान का कर्ता-कर्मपना नहीं है; भ्रान्ति का कर्ता-कर्मपना नहीं है, अविरति का कर्ता-कर्मपना नहीं है, कषाय का कर्ता-कर्मपना नहीं है और योग का भी कर्ता-कर्मपना नहीं है। ज्ञान होने पर वे समस्त अज्ञानमयभाव नहीं होते; ज्ञान होने के पश्चात् अल्प विकारी भाव होते हैं परन्तु उनका वह कर्ता नहीं होता, स्वामी नहीं होता। इसलिए नित्य स्वभाव का आश्रय करनेवाला ज्ञान होने से वे समस्त अज्ञानमय भाव नहीं होते। स्वभाव का भान होने से पर का कर्ता-भोक्ता होता ही नहीं; यदि कर्ता भोक्ता हो तो उसे स्वभाव की खबर ही नहीं है। यह सम्पूर्ण वस्तुदृष्टि का विषय है, परिपूर्ण स्वभाव से भरपूर अनन्त गुणों के पिण्ड आत्मा वस्तुदृष्टि का विषय है। वस्तुदृष्टि में सम्पूर्ण आता है परन्तु ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है, इससे वह अपूर्णदशा को भी जानता है और पूर्ण अवस्था को भी जानता है। वस्तुदृष्टि के साथ जिस ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है, वह ज्ञान यथार्थ जानता है। ज्ञान पूर्ण विषय को भी जानता है और जो अल्प विकारी भाव रहा उसे भी जानता है, साधक भावरूप निर्मलपर्याय को भी जानता है और बाधक भावरूप समल पर्याय को भी जानता है, द्रव्य को भी जानता है और अपूर्ण-पूर्ण पर्यायों को भी जानता है।

दृष्टि होने के पश्चात् अल्प राग-द्वेष होता है, उसे दृष्टि स्वीकार नहीं करती; ज्ञान उसे जानता है परन्तु दृष्टि के अभेद विषय में भेद नहीं पड़ता; दृष्टिपूर्वक का ज्ञान सच्चा ज्ञान है। ज्ञान, सम्यग्दर्शन के विषय की परिपूर्णता को भी जानता है और अवस्था के विभाग को भी जानता है।

अज्ञान अर्थात् स्वभाव से च्युत होने से होनेवाला भाव। पहले अज्ञान की सामान्य बात की पश्चात् चार भेद किये। आत्मा आनन्दमूर्ति है उसमें शान्ति और सुख का स्वाद न मानकर पर में आनन्द मानने से ज्ञान में जो आकुलता होती है वह भ्रमणा है; अपने में सुख है उसका लक्ष्य न करके, पर में सुख है वैसा लक्ष्य करने से परिणामों में जो आकुलता होती है, वह कलुषिता है, अज्ञान है; यहाँ मुख्यतया सभी बोलों में अज्ञानभाव को लिया है। आत्मा के स्वभाव का भान न हो तब विपरीत मान्यता का स्वाद होता है परन्तु स्वभाव का स्वाद नहीं होता, तत्त्वश्रद्धा का परिणमन नहीं होता इससे पर का आश्रय और पराधीनता

दूर नहीं होती इसलिए वह आकुलतारूप है।

तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होनेवाला मिथ्यात्व का उदय है। अविरमणरूप से (अत्यागभावरूप से) ज्ञान में स्वादरूप होनेवाला असंयम का उदय है। कलुष (मलिन) उपयोगरूप से ज्ञान में स्वादरूप होनेवाला कषाय का उदय है। शुभाशुभ प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के व्यापाररूप से ज्ञान में स्वादरूप होनेवाला योग का उदय है।

विपरीत मान्यता का भाव कलुषिता है; भले ही ग्यारह अंग का विकास हो तथापि वह विनाशीक है। वस्तुदृष्टि के लक्ष्यपूर्वक जो विकास हो वह अविनाशी है। ज्ञानी को वर्तमान पर्याय में मूढत्व या अभान नहीं होता, वर्तमान पर्याय में अस्थिर नहीं होता; अस्थिरता में आत्मबुद्धि नहीं होती। अस्थिरता उत्पन्न करने की भावना नहीं होती और उसे रखने की दृष्टि नहीं होती। चारित्र के दोष के कारण अल्प अस्थिरता होती है, उसे वह हेय और उपाधि मानता है। अल्प कषायभाव होता है—वह अवस्थादृष्टि में जाती है द्रव्यदृष्टि में तो वह गौण है। ज्ञान में दोनों बातें हैं। आत्मा पर से निराला है, उसकी प्रतीति के बिना, विश्वास के बिना पर का विश्वास होने से भ्रमणा का स्वाद आता है; ज्ञान में जो भ्रमणा का स्वाद आता है, उसमें मिथ्यात्व के उदय का निमित्त है।

जितना विषयासक्ति का भाव है, वह अत्यागभाव है; आसक्तिरूप से स्वाद में आनेवाला असंयम है; अज्ञान, मिथ्यात्व, आसक्ति इत्यादि का आकुलतारूप स्वाद है।

लोग कहते हैं न? कि हृदय में दाह होती है, कलेजे में जलन होती है, उसमें कहीं सुख नहीं होता। किसी के एक ही पुत्र हो और चार भाई हों, अपने पुत्र का लग्नप्रसंग हो, बड़े भाई के पास अपना कहा न चलता हो, चारों भाई इकट्ठे रहते हों; अपना एक ही पुत्र होने से खूब धूमधाम से ब्याह रचाना हो, तब दूसरे भाई कहते हैं कि तेरा एक ही लड़का है इसलिए तू जैसा चाहे कर ले! किन्तु हमारे तो चार-चार लड़के हैं, हम कैसे करेंगे? इस प्रकार भाई न मानते हों, तब देख लो उसके हृदय की दाह! वह कषाय की दाह है, ऐसे कलुषित परिणाम हैं वह मलिन स्वाद है, आत्मस्वभाव से विपरीत स्वाद है। संसार का बाह्य व्यवहार भी अटपटा है। उसे सुलझाना न आता हो और जहाँ इच्छित कार्य न हो वहाँ एकदम आकुलित हो जाता है। वह सब कषाय का स्वाद है। अनुकूलता में बहुत हर्ष माना होगा तो प्रतिकूलता में उससे अधिक शोक भी होगा। इसलिए दोनों की बलि चढ़ा दे! और

आत्मा की ओर उन्मुख हो! आत्मा का स्वाद लिये बिना कहीं भी सुख होनेवाला नहीं है।

शुभपरिणामों की प्रवृत्ति और अशुभ परिणामों की निवृत्ति भी कलुषित भाव है। यहाँ चारों बोलों में अज्ञानी की ही बात ली है। ज्ञानी के अल्प शुभाशुभपरिणाम होते हैं, उनकी यहाँ गिनती नहीं है; उनका वह स्वामी नहीं होता। मेरा यह कर्तव्य है ऐसा नहीं मानता। अज्ञानी शुभाशुभपरिणामों का स्वामी होता है, शुभाशुभपरिणामों जितना ही आत्मा को मानता है। शुभभावों की प्रवृत्ति में ऐसा भाव आये कि 'मैंने यह किया, मैंने वैसा कर दिया'—वह सब कलुषित भाव है।

कोई कहे कि हमने धर्म कार्य बहुत किये; परन्तु यह भी खबर नहीं है कि धर्म किसे कहते हैं? शरीर की क्रिया अथवा शुभ परिणामों में धर्म माना है परन्तु शुभभाव तो विकारी भाव हैं, उनमें से आत्मा की शान्ति कैसे आयेगी? कोई कहे कि रुपये खर्च करें तो शान्ति आयेगी या नहीं? अरे! लाखों रुपये खर्च करे, तो भी उससे शान्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि रुपये परवस्तु हैं; परवस्तु से आत्मा में शान्ति नहीं आती, शान्ति तो अपने स्वभाव में से प्रगट होती है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान करने से शान्ति मिल जायेगी। पुण्य परिणामों से अनुकूल संयोग मिलते हैं परन्तु आन्तरिक शान्ति नहीं मिलती। विकारभावों से स्वाभाविक शान्ति कहाँ से आयेगी?

जिस प्रकार ताड़ का वृक्ष बहुत लम्बा होता है और पत्ते ऊपर-ऊपर थोड़े से होते हैं। वह अपने तल स्थल को भी छाया नहीं देता, इतनी भी छाया नहीं देता कि उसका स्थल सूखने से बच जाये; ताड़ के स्थल पर चैत्र-वैशाख का प्रचण्ड ताप पड़ रहा हो स्थल सूख रहा हो किन्तु उसके पत्ते उसे छाया नहीं देते और दूसरों को भी छाया नहीं देते। उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव के भान बिना शुभपरिणामों के पत्ते फूटे, परन्तु वे चैतन्य की मूल को छाया (शान्ति) नहीं देते। शान्ति तो, यदि चैतन्यस्वभाव का भान करके उसमें स्थिर हो तो मिले; परन्तु शुभपरिणाम तो ज्ञानी या अज्ञानी-किसी को भी शान्ति नहीं देते क्योंकि वह विकारभाव है, विकारभाव तीन काल में किसी को शान्ति नहीं देते।

मिथ्यात्व, असंयमादि के परिणाम आकुलतारूप हैं, वे सुखरूप नहीं हैं, उनसे बन्ध होता है। यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय हेतुभूत होने से, जो कार्मणवर्गणागत

पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूप आठ प्रकार से परिणमित होता है, वह पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध होता है, तब जीव स्वयमेव अज्ञान से स्व पर के एकत्व के अध्यास के कारण तत्त्व-अश्रद्धानादि अपने अज्ञानमय परिणामभावों का कर्ता होता है।

एक ही साथ तीन बातें ली हैं—कर्म का उदय, उसमें युक्त होना, और नवीन कर्मबन्ध। जो नवीन कर्म बँधते हैं, वे पुराने कर्मों से बँधते हैं अर्थात् कर्म का उदय आने से जीव अज्ञानभाव से उस ओर युक्त होता है, इससे नवीन कर्म बँधते हैं। जो विकारी भाव हैं वे परोन्मुखता के भाव हैं इसलिए वे अज्ञान हैं, अजागृत हैं, जड़ हैं; इस प्रकार पुराने कर्म नवीन कर्मों को बाँधते हैं। पुराने कर्मों का फलित होना, नवीन कर्मों का बँधना और जीव का अतत्त्व श्रद्धानादिरूप में परिणमित होना—यह तीनों एक ही समय होते हैं। जीव स्वत: ही अपने परिणामों का हेतु होता है, स्वयं ही विपरीत पुरुषार्थ द्वारा निमित्त की ओर युक्त होता है, पुराने कर्म राग-द्वेष नहीं कराते, वे नवीन कर्मों से नहीं कहते तू कर्मरूप से बँध जा? अथवा तू स्वत: उस ओर युक्त हो जा। ज्ञानी पुराने कर्मों की ओर युक्त नहीं होता इससे उसके नवीन कर्म नहीं बँधते। यहाँ चारों अज्ञान के बोल लिये हैं। अज्ञानपूर्वक मिथ्यात्व है—ऐसा नहीं; किन्तु वास्तव में मिथ्यात्वपूर्वक अज्ञान है। कर्म के उदय निमित्तभूत होने से, कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप में परिणमित होते हैं और जीव के साथ बँधते हैं; और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से ही अतत्त्व श्रद्धानादि भावोंरूप परिणमित होता है। इस प्रकार अपने अज्ञानमय भावों का कारण स्वत: ही होता है। मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमित होना तथा बँधना और जीव का अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावोंरूप परिणमित होना—वे तीनों एक ही समय में होते हैं। कोई किसी का कर्ता नहीं है, सब स्वतन्त्रतया-अपने आप ही परिणमित होते हैं, कोई किसी को परिणमित नहीं करता।

यहाँ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—चारों बोलों को अज्ञानमय लिया है; सम्यग्दृष्टि को वे चारों बोल नहीं है। आत्मा का सम्यग्ज्ञान हुआ वहाँ अज्ञान गया, मिथ्यात्व दूर हुआ, उस प्रकार की अंशत: स्थिरता हुई, कषाय गया, मिथ्यात्व सम्बन्धी योग गया, इस प्रकार सब चला गया। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् अल्प कषायादि रह जायें वह बात यहाँ गौण है, क्योंकि वह अवस्थादृष्टि की बात है। यह बात वस्तुदृष्टि की है।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि अखण्ड वस्तु पर है, द्रव्यदृष्टि का विषय सम्पूर्ण-परिपूर्ण द्रव्य है।

द्रव्यदृष्टि-अखण्डदृष्टि, वस्तु की अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्याय को स्वीकार नहीं करती। अरे! निर्मल पर्याय को भी स्वीकार नहीं करती; निर्मल पर्याय जितना भी आत्मा को नहीं मानती। द्रव्यदृष्टि का विषय तो अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य है।

द्रव्यदृष्टि के विषय में अपूर्ण या पूर्ण पर्याय के भंग नहीं आते, साध्य-साधक के भंग नहीं आते। द्रव्यदृष्टि अखण्ड परिपूर्ण निरपेक्ष द्रव्य को स्वीकार करती है। अपूर्ण, पूर्ण, विकारी पर्यायें हैं अवश्य, उनकी कहीं बिल्कुल नास्ति नहीं है, परन्तु द्रव्यदृष्टि का वह विषय नहीं है—द्रव्यदृष्टि उसे स्वीकार नहीं करती। अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्याय को ज्ञान जानता है, शुभाशुभ परिणाम एक क्षणपर्यन्त आत्मा की पर्याय में हो हैं, उन्हें सम्यग्ज्ञान जानता है, वह असद्भूत व्यवहारनय है। अपूर्ण निर्मल पर्याय और पूर्ण निर्मल पर्याय को जाननेवाले ज्ञान को सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं।

द्रव्य और पर्याय दोनों को एक साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है; द्रव्यदृष्टि के बलपूर्वक निर्मल पर्याय बढ़ाने से ज्ञान सामान्य के साथ एकमेक होता है अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों एक होते हैं वह प्रमाणज्ञान है। सामान्यरूप पूर्ण द्रव्य है, निर्मल पर्याय प्रगट होकर सामान्य के साथ एकता होती है, वह सामान्य और विशेष दोनों को एक साथ जानना वह प्रमाण ज्ञान है। प्रमाणज्ञान द्रव्यदृष्टि को और अपूर्ण, पूर्ण, विकारी पर्याय को यथार्थतया जानता है।

ज्ञानी के यथार्थद्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है, उसके बल में स्थिरता की वृद्धि करता हुआ केवलज्ञान को प्राप्त करता है परन्तु जहाँ तक अपूर्ण है, पुरुषार्थ की मन्दता है, स्थिरता अपूर्ण है, शुद्ध स्वरूप में पूर्णतया स्थिर नहीं हो सकता—वहाँ तक अशुभपरिणामों से बचने के लिये शुभपरिणामों में युक्त होता है परन्तु उन्हें आदरणीय नहीं मानता। स्वभाव में उनकी नास्ति है, इससे दृष्टि उनका निषेध करती है परन्तु अस्थिरता के कारण अशुभपरिणामों से बचने के लिये वे भाव आते हैं; किन्तु ज्ञानी को प्रतिक्षण ऐसी भावना होती है कि यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जा सकता हो तो वह शुभपरिणाम भी नहीं चाहिए, तथापि अपूर्णता के कारण वे भाव आये बिना नहीं रहते।

ज्ञानी अशुभ परिणामों से बचने के लिये पुरुषार्थ द्वारा शुभ-परिणामों में युक्त होता है, किन्तु उन्हें अपना स्वरूप नहीं मानता। उनका स्वामी नहीं होता, करने योग्य है ऐसा नहीं मानता। द्रव्यदृष्टि उनका निषेध ही करती है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है, द्रव्य और पर्याय को बराबर जानता है, द्रव्यदृष्टि के विषय को और अपूर्ण, विकारी पर्याय को ज्ञान सहजता से बराबर जानता है। (१) श्रद्धा में पूर्ण स्वरूप की ही स्वीकृति है इस अपेक्षा अशुभभाव भी निर्जरा में निमित्त है (२) ज्ञान तो प्रमाण होने से सबको जैसा का तैसा जानता ही है—(३) चारित्र में शुभभाव को भी विषकुम्भ जहर माना है।

शुभपरिणाम भी धर्मी को आपत्ति एवं बोझरूप प्रतीत होते हैं, उनसे भी वह छूटना ही चाहता है किन्तु वे आये बिना नहीं रहते; वे भाव आये तो भी वह स्वरूपस्थिरता करनेवाला ही है। कभी-कभी बुद्धिपूर्वक से समस्त विकल्प छूट जाते हैं और स्वरूप में सहज स्थिरता हो जाती है, उस समय सिद्ध भगवान जैसा अंशत: अनुभव करता है; परन्तु सर्वथा स्थिर नहीं हो सकता इससे शुभ परिणामों में युक्त होता है।

चतुर्थ भूमिका में ज्ञानी को व्रत के परिणाम नहीं होते, परन्तु सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं। नि:शंक, निकांक्ष, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। उन आठ अंगों का सम्यग्दर्शन के साथ सम्बन्ध होता है परन्तु व्रत का सम्बन्ध चतुर्थ भूमिका में नहीं है। प्रथम सम्यग्दर्शन होता है और पश्चात् क्रमश: चारित्र में स्थिरता हुये बाद केवलज्ञान होता है—ऐसा मोक्षमार्ग का क्रम है, इससे ऐसा नहीं समझना कि जब तक उच्चदशा न हो तब तक राग को कम नहीं करना। सम्यग्दर्शन न हो तब तक राग को मन्द न करना—वैसा कहने का तात्पर्य नहीं है। राग मन्द करने के लिये ब्रह्मचर्य ले, तीव्र हिंसादि के परिणाम न करे, परस्त्री आदि के राग का त्याग कर सकता है, परन्तु ज्ञान बराबर करना कि वे सहजदशापूर्वक के व्रत नहीं है। अन्तरंग में आत्मा के भानपूर्वक स्वरूपरमणता की वृद्धि होने से व्रत के शुभपरिणाम आते हैं—वहाँ सच्चा श्रावकत्व और सच्चा मुनित्व है।

पाँचवीं भूमिका में स्थिरता की वृद्धि होने से निमित्तरूप से अणुव्रतादिक के शुभपरिणाम आते हैं और छठवीं भूमिका होने पर महाव्रत के शुभपरिणाम आते हैं, वहाँ छठवीं भूमिका में क्षण में तो स्वरूप में स्थिर हो जाता है और क्षण में उपयोग से बाहर

शुभपरिणामों में आता है; क्षण में निर्विकल्प शुद्धोपयोग, क्षण में सविकल्प इस प्रकार हजारों बार स्वरूप में और बाहर आना-जाना करते हैं—ऐसी मुनियों की सहजदशा होती है। ऐसी स्थिरता के साथ पंच महाव्रत के शुभपरिणाम होते हैं, मुनित्व आने से शरीर के वस्त्र भी छूट जाते हैं। मुनित्व केवलज्ञान प्रगट करने का साक्षात् कारण है; अपने गृहस्थ पद के राग के साथ वस्त्र का निमित्त सम्बन्ध है, वस्त्रादि का परिग्रह जहाँ तक न छूटे तब तक मुनिपद नहीं होता और केवलज्ञान नहीं होता, वीतरागता नहीं होती—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जहाँ तक राग रहे वहाँ तक वीतरागता नहीं होती, वस्त्र का राग छूटने से वस्त्र भी छूट जाते हैं; राग छूटने से राग के निमित्त भी छूट जाते हैं—ऐसा सम्बन्ध है। राग छूट जाये और वस्त्र रह जाये—ऐसा कभी नहीं हो सकता। राग का जड़-मूल से क्षय न हो वहाँ तक केवलज्ञान नहीं होता; केवलज्ञान होते समय नग्न दिगम्बर मुनित्व का बाह्यलिंग होता है और अन्तरंग में बारम्बार स्वरूप में झूलते रहते हैं, केवलज्ञान के निकट प्रवर्तन करते हैं।

पाँचवीं भूमिका हो वहाँ तक वस्त्र होते हैं और छठवीं भूमिका आने के पूर्व गृहस्थाश्रम और वस्त्र सब कुछ छूट जाता है। गृहस्थाश्रम में सम्यग्दर्शन होने से, दृष्टि से तो कृतकृत्य मोक्ष है परन्तु चारित्रदशा की कमी के कारण स्थिरता अपेक्षा मोक्ष नहीं है; स्थिरता से मोक्ष तो मुनित्व आने के पश्चात् जब केवलज्ञान हो तब होता है।

छठवीं भूमिका में मुनि जब स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं, तब अप्रमत्त नाम की सातवीं भूमिका होती है। पुनश्च, जब उपयोग बाह्य में आये तब किसी किसी समय शास्त्र स्वाध्याय के, उपदेश के, द्रव्य-गुण-पर्याय के विचार के, शिष्यों की शिक्षा-दीक्षा के, प्रायश्चित्तादि के शुभपरिणाम आते हैं; कभी-कभी जिन प्रतिमा के दर्शनों के, स्तुति के, शास्त्र लिखने इत्यादि के शुभभाव आते हैं; कभी आहार-विहार के परिणाम आते हैं; इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तो, बाहर शुभ उपयोग में और अन्तर्मुहूर्त स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार हजारों बार क्षण में बाहर और क्षण में अन्तर में उपयोग सहित स्वरूप में झूलते रहते हैं—ऐसी मुनियों की दशा होती है।

चतुर्थ भूमिका में अनन्तानुबन्धी चार कषाय के अभाव पूर्वक स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं, पाँचवीं भूमिका में दो कषाय चौकड़ी के अभावरूप चारित्र सहित, सम्यग्दर्शन के आठ अंगों सहित अणुव्रत होते हैं और छठवीं भूमिका में तीन

जाति के कषाय के अभावरूप चारित्र और सम्यग्दर्शन के आठ अंगों सहित महाव्रत के परिणाम होते हैं—ऐसा नियम है। चतुर्थ भूमिका में प्रवर्तमान समस्त साधक जीवों के और पाँचवीं भूमिका में वर्तनेवाले समस्त साधक जीवों के तथा छठवीं भूमिका में प्रवर्तित सभी साधक जीवों के उदय के परिणाम एक समान नहीं होते; राग के परिणामों में अन्तर होता है और इससे उस राग के अनुकूल बाह्यनिमित्तों में भी अन्तर होता है। जैसे—शास्त्र-स्वाध्याय के परिणामों में शास्त्र का निमित्त होता है और भगवान के दर्शनों के शुभपरिणामों में भगवान का निमित्त होता है। परिणामों के अनुसार निमित्त का मिलना अथवा न मिलना वह पुण्याधीन होता है और यदि निमित्त मिले तो भगवान के दर्शनों के परिणाम के समय भगवान का निमित्त होता है।

चौथी भूमिका में सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् जो अस्थिरता रहती है, वह अपने पुरुषार्थ की मन्दता से रहती है; यदि स्वत: पुरुषार्थ द्वारा स्थिरता प्रगट करे तो अस्थिरता दूर हो जाती है, राग-द्वेष दूर हो जाते हैं। अन्तरंग घातिकर्मों का नाश पुरुषार्थ के आधार से होता है। केवलज्ञान प्रगट होने पर घातिकर्म स्वयं दूर हो जाते हैं। केवलज्ञान प्रगट होने से चार घातिकर्मों का नाश हो जाता है, तथापि चार अघातिकर्म शेष रहते हैं। स्वाश्रय का बल बढ़ाने से गृहस्थाश्रम का राग और उसका संयोग भी छूट जाता है—ऐसा सम्बन्ध है। अमुक सीमा का राग छूटने से जिस भूमिका में जो न हो वैसे घातिकर्म के उदय का संयोग छूट ही जाता है ऐसा सम्बन्ध है; जैसे कि मुनित्व होने पर व्यापार-धन्धा, स्त्री, कुटुम्ब, वस्त्रादि छूट जाते हैं—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु केवलज्ञान होने से सर्व प्रकार से अघातिकर्म दूर हो जाते हैं—ऐसा सम्बन्ध नहीं है, केवलज्ञान हो तथापि अघातिकर्म रह जाते हैं।

गुणपूजा यथार्थ विवेक है—मार्ग है, परन्तु व्यक्तिपूजा मार्ग नहीं है, यथार्थ विवेक नहीं है। जहाँ यथार्थ गुण दिखायी दे वहाँ आदर करना योग्य है, किन्तु जहाँ गुण दिखायी ने दें वहाँ आदर करना योग्य नहीं है। अमुक व्यक्ति को ही मानना वह पक्षपात है; ऐसा जैनदर्शन में है ही नहीं; जैनदर्शन में गुणपूजा है व्यक्तिपूजा नहीं है।

कोई कहेगा कि यह सब तो उच्च प्रकार की बातें हुईं, परन्तु हमें प्रारम्भ में क्या करना चाहिए? वह समझाइये।

प्रथम प्रारम्भ में यथार्थ सत् समझने की जिज्ञासा, रुचि करना चाहिए, समझने में यदि समय लगे तो धैर्य रखना चाहिए बारम्बार प्रयत्न करते रहना। सत् समझने के लिये सत्देव, सत्गुरु और सत्शास्त्र का बहुमानपूर्वक-भक्तिपूर्वक समागम करना चाहिए—परिचय करना चाहिए। सत् की जिज्ञासापूर्वक सत् का स्वाध्याय, सत् विचार, सत्श्रवण, देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान करना चाहिए—वह सब यथार्थ वस्तुस्थिति समझने के लिये साधन हैं, उनकी ओर लक्ष्य करने से शुभराग आता अवश्य है परन्तु उस शुभराग के साथ जो सत् को समझने की ओर का जो यथार्थ बल है—झुकाव है वह स्वत: सत् समझने का कारण बनता है और शुभराग को हेय माना इसलिए वह दूर हो जाता है। सत् समझने की ओर यथार्थ उन्मुखता होने से सत्-श्रवण आदि का राग आये बिना नहीं रहता। जिसे आत्मा के ओर की रुचि जागृत हुई है, उसे विषय कषायों के ओर की रुचि सहज छूट ही जाती है और विषय कषायों की रुचि छूटने से अमुक प्रकार से तीव्र हिंसा छूट जाती है, तीव्र असत्य छूट जाता है, तीव्र चोरी छूट जाती है, परस्त्री सेवन की लम्पटता छूट जाती है। जिसे आत्मा की जिज्ञासा जागृत हुई है वह लम्पटता करता हो—ऐसा नहीं हो सकता। जिसके आत्मा की जिज्ञासा जागृत हुई है उसके तीव्र कषाय छूट जाते हैं परन्तु वह आत्मा की यथार्थ पहिचान और स्थिरता पूर्वक के सच्चे व्रत नहीं हैं। सच्चे व्रत तो पाँचवीं और छठवीं भूमिका में आते हैं, चतुर्थ भूमिका में तो सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं, वह तो पाँचवें गुणस्थान में स्थिरता प्रगट होने पर होते हैं—ऐसा मार्ग का क्रम है।

प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये, आत्मा की यथार्थ पहिचान करने के लिये सत्श्रवण, देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान, सत् विचार इत्यादि होते हैं—वे सत् समझने के साधन हैं; उन सभी शुभरागों के साथ यथार्थ सत् समझने के ओर की उन्मुखता हो तो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य ही सत् समझ में आता है। जिज्ञासा की भूमिका में तीव्र विषय-कषाय के परिणाम नहीं होते; व्रत के शुभपरिणाम आते हैं परन्तु वे सच्चे व्रत नहीं हैं।

चतुर्थ भूमिका में सम्यग्दर्शन होता है, तब से शुभाशुभ परिणामों से पृथक् निराले आत्मा का भान होता है, शुभाशुभपरिणामों का स्वामित्व छूट जाता है; पर का-शुभाशुभ-परिणामों का कर्तृत्व छूटकर उनका ज्ञाता होता है। कभी-कभी उपयोग बाह्य से हटकर अन्तर में लीन होता है, तब शुभाशुभ विकल्प भी छूट जाते हैं, अंशत: सिद्ध जैसा अनुभव

करता है, बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं और उपयोग स्वरूप में लीन होता है, अबुद्धिपूर्वक के विकल्प होते हैं परन्तु उन्हें सर्वज्ञ जान सकते हैं, छद्मस्थ नहीं जान सकते। केवलज्ञान होने से बुद्धिपूर्वक के विकल्प भी छूट जाते हैं।

पुद्गल का परिणमन जीव से पृथक् है—ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं:—

कर्म की और आत्मा की—दोनों की अवस्था एक साथ होने पर भी आठ कर्मों की अवस्था अपने कारण और आत्मा की अवस्था उसके अपने कारण से पृथक्-पृथक् होती हैं। आत्मा के राग-द्वेष का निमित्त पाकर जो परमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं, उनका कर्ता आत्मा नहीं है; ऐसे सूक्ष्मकर्मस्कन्धों का जब आत्मा कर्ता नहीं है तब स्थूल स्कन्धों का कर्ता तो होगा कहाँ से?

प्रश्न:—यह आत्मा लकड़ी को पकड़ सकता है या नहीं?

उत्तर:—आत्मा परवस्तु को नहीं पकड़ सकता। दोनों की अवस्था एक साथ होने पर भी हाथ हाथ में है और लकड़ी लकड़ी में। उसी प्रकार आत्मा की अवस्था आत्मा में है और कर्म की अवस्था कर्म में है। दोनों की अवस्था एक साथ होने पर भी आत्मा की अवस्था प्रतिक्षण आत्मा में और कर्म की अवस्था प्रतिक्षण कर्म में होती है; दोनों की अवस्था पृथक्-पृथक् होती है।

शरीर के हिलने की अवस्था, हाथ के हिलने की अवस्था आत्मा नहीं कर सकता; आत्मा राग को कर सकता है परन्तु हाथ की अवस्था नहीं कर सकता। और लकड़ी की अवस्था को हाथ भी नहीं पकड़ सकता, लकड़ी अपने आधार से है और हाथ अपने आधार से है; हाथ की अवस्था हाथ में और लकड़ी की अवस्था लकड़ी में है। दोनों की अवस्था भिन्न-भिन्न है। कोई कहेगा कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को नहीं कर सकता किन्तु पर्याय तो कर सकती है न? नहीं, वह बात मिथ्या है। एक द्रव्य तो दूसरे द्रव्य को नहीं कर सकता परन्तु एक पर्याय भी परद्रव्य की पर्याय को नहीं कर सकती; क्योंकि सर्व द्रव्य द्रव्य से, गुण से और पर्याय से स्वतन्त्र हैं।

जो जीव ऐसा नहीं मानते कि आत्मा की अवस्था आत्मा के आधार से होती है वे जीव ऐसा भी नहीं मानते कि समस्त पदार्थों का आधार वह-वह पदार्थ स्वत: ही हैं। उसको यह बात नहीं जमती कि लकड़ी, हाथ, शरीरादि समस्त पदार्थों का आधार मैं नहीं हूँ।

प्रत्येक वस्तु अनादि-अनन्त पृथक् है, उसमें प्रतिक्षण जो अवस्था होती है, उसका आधार वह वस्तु है। आत्मा के गुण की अवस्था आत्मा के आधार से होती है—ऐसी बात जिन्हें नहीं बैठती उन्हें यह भी नहीं जमता कि अन्य पदार्थों की अवस्था का आधार वे वे पृथक्-पृथक् पदार्थ स्वत: ही हैं; जिसे वस्तु की प्रतीति नहीं है, उसे पर्याय की प्रतीति भी नहीं जमती। वस्तु स्वत: अन्य वस्तु से स्वतन्त्र भिन्न है—ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, वह ऐसा मानता है कि अपनी पर्याय का आधार अन्य वस्तु है। वस्तु स्वत: त्रिकाल है—ऐसी बात जमे तो यह प्रतीति भी हो जाये कि उसमें प्रतिक्षण जो अवस्था होती है, वह उसी में से होती है, किन्तु पर से नहीं होती।

पुस्तक पुस्तक में है और हाथ हाथ में है। शरीर शरीर में है और आत्मा आत्मा में है। व्यवहार से पानी का घड़ा कहलाता है; पानी और घड़ा एक क्षेत्र में स्थित होने से पानी का घड़ा कहलाता है, परन्तु घड़ा पानी का नहीं वह तो मिट्टी का है।

कोई द्रव्य किसी द्रव्य में प्रविष्ट नहीं होता; सर्व द्रव्य पृथक् पृथक् हैं। आत्मा में जब विकारी भाव होते हैं, उस समय कर्म की जो भी अवस्था होती है, वह कर्म स्वत: परिणमित होकर होती है, आत्मा उसे परिणमित नहीं कर देता॥१३२-१३६॥

जीव से पृथक् ही पुद्गलद्रव्य का परिणाम है—ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं:—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादि-मावण्णा।।१३७।।
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदय-हेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो।।१३८।।

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवन्ति रागादयः।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्व-मापन्ने।।१३७।।
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः।
तत्कर्मोदय-हेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः।।१३८।।

अर्थ:—यदि पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ ही कर्मरूप परिणाम होते हैं (अर्थात्

दोनों एकत्रित होकर ही कर्मरूप परिणमित होते हैं) ऐसा माना जाये तो इस प्रकार पुद्गल और जीव दोनों वास्तव में कर्मपने को प्राप्त हों। परन्तु कर्मभावरूप परिणाम तो मात्र पुद्गलद्रव्य को ही होते हैं इससे जीवभावरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् पृथक् ही कर्म का परिणाम है।

देखो भाई! यह वस्तु प्रथम समझने योग्य है कि प्रत्येक वस्तु की अवस्था स्वतन्त्र होती है। एक ओर आत्मा राग-द्वेष करे और साथ ही कर्म की अवस्था भी करे—इस प्रकार दो का कर्तापन कभी नहीं हो सकता। यदि कर्म की अवस्था आत्मा करता है तो उस समय आत्मा की अवस्था क्या हुई? आत्मा की अवस्था भिन्न रही अर्थात् उसकी अवस्था जड़ हो गयी। शरीर के हिलने-चलने की अवस्था होती है, उस समय आत्मा की अवस्था होती है या नहीं? यदि शरीर के हिलने-डुलने की अवस्था आत्मा करे तो आत्मा की अवस्था क्या रही? शरीर के हिलने-डुलने की अवस्था आत्मा करे और राग की अवस्था भी आत्मा करे—ऐसा नहीं हो सकता; जड़ की और विकारी परिणामों की दो क्रियाएँ आत्मा नहीं करता। जड़ और आत्मा दोनों साथ होने पर भी दोनों की अवस्थाएँ पृथक् हैं; चलने की अवस्था जड़ की है और राग की अवस्था चेतन की है। हिलना-चलना जड़ की क्रियावती शक्ति की अवस्था है; किसी समय तीव्र गति करे, कभी मन्दगति करे ऐसी क्रियाशक्ति का कार्य स्वतन्त्र है।

जड़ की अवस्था आत्मा में नहीं होती और आत्मा की अवस्था जड़ में नहीं होती। यदि आत्मा की अवस्था जड़ में मिल जाये तो आत्मा ही नहीं रहा; आत्मा यदि जड़ की अवस्था में कर्ता है तो उस समय आत्मा की अवस्था क्या है? जड़ की हिलने-चलने की अवस्था होती है। उस समय छद्मस्थ को राग होता है तथापि राग और जड़ की क्रियाएँ एकरूप नहीं हो जातीं, क्योंकि यदि दोनों एकरूप हो जायें तो आत्मा की अवस्था नहीं रही किन्तु मात्र जड़ की अवस्था रही।

कर्म और आत्मा दोनों एकत्रित होकर कर्म की अवस्थारूप हों तो जीव और पुद्गल—दोनों कर्मपने को प्राप्त हों, परन्तु कर्म की अवस्था तो पुद्गल में होती है और आत्मा की अवस्था आत्मा में होती है। कर्म और आत्मा दोनों साथ-साथ हैं तथापि दोनों

की अवस्था पृथक्-पृथक् ही है। जड़ की क्रिया-अवस्था जड़ से और आत्मा की अवस्था आत्मा से है।

कागज पर लिखने की क्रिया और राग की क्रिया—उन दो क्रियाओं को एक द्रव्य नहीं करता। लिखने की अवस्था भी आत्मा करे और राग की अवस्था भी आत्मा करे—इस प्रकार जड़ और चैतन्य की दो अवस्थाएँ आत्मा नहीं कर सकता; अधिक तो आत्मा राग की क्रिया करेगा, किन्तु लिखने की क्रिया तो पुद्‌गलद्रव्य की है। लिखने की क्रिया का कर्ता पुद्‌गल ही है इच्छा आदि तो निमित्तमात्र है। किन्तु वहाँ अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि इच्छा हुई और लिखा जा रहा हूँ इसलिए मैं लिख सकता हूँ; परन्तु भाई! लिखने की क्रिया तो पुद्‌गल द्रव्य की है, आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। क्या ज्ञानस्वरूप आत्मा लिख सकता है? क्या स्याही आत्मा में से आती है जो आत्मा लिख सके? इसलिए लिखने की क्रिया पुद्‌गलद्रव्य की ही है; लिखने की और राग की दोनों क्रियाओं को एकद्रव्य नहीं करता। उसी प्रकार कर्म की अवस्था भी आत्मा करे और राग की अवस्था भी आत्मा करे—ऐसा होता है? नहीं होता। वे तो दोनों अवस्थाएँ एक साथ होती हैं इससे संयोग दृष्टि से अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो गया है कि आत्मा कर्म की अवस्था को करता है।

जब सूर्यविकासी कमल खिले तब सूर्योदय होता ही है, परन्तु दोनों अवस्थाएँ एक ही साथ होती हैं; इससे अज्ञानियों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि सूर्य ने सूर्यविकासी कमल को विकसित किया। उसी प्रकार नये कर्म की अवस्था हो तब आत्मा की रागादि अवस्था होती है और जब आत्मा में रागादि अवस्था हों तब कर्मरूप अवस्था को निमित्त माना जाता है, इस प्रकार एक ही साथ दोनों होने से अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि आत्मा के राग की अवस्था जड़कर्म ने की है और जड़कर्म की अवस्था आत्मा ने की है।

यदि पुद्‌गलद्रव्य को, कर्मपरिणाम के निमित्तभूत ऐसे रागादि-अज्ञानरूप परिणमित हुए जीव के साथ ही (अर्थात् दोनों एकत्रित होकर ही) कर्मरूप परिणाम होता है—ऐसा वितर्क किया जाये तो, जिस प्रकार एकमेक हुए हल्दी और फिटकरी—दोनों को लाल रंगरूप परिणाम होता है उसी प्रकार, पुद्‌गलद्रव्य और जीव दोनों को कर्मरूप परिणाम आ जायेगा।

अज्ञानभावरूप परिणमित हुआ जीव नवीन कर्मों के बन्धन में निमित्त होता है; उसे खबर नहीं है कि 'मैं पृथक् हूँ' इससे वह कर्म के बन्धन में निमित्त होता है। ज्ञानी को

अखण्ड वस्तुदृष्टि प्रगट होने से वह नवीन कर्मों का निमित्तभूत नहीं होता। अल्प अस्थिरता का निमित्त प्राप्त करके नवीन कर्म बँधते हैं परन्तु वस्तुदृष्टि से ज्ञानी निमित्तपना स्वीकार नहीं करता। अज्ञानभावरूप परिणमित हुए जीव की पर्याय कर्म को निमित्तभूत होती है परन्तु जीव की पर्याय जीव में और जड़ की पर्याय जड़ में होती है, किन्तु जड़-चैतन्य दोनों एकत्रित होकर कर्म की अवस्था नहीं करते।

हल्दी का पीला रंग और फिटकरी का सफेद रंग—दोनों रंग एकत्रित हों तब एक लाल रंग रहता है; सफेद और पीला रंग नहीं रहता किन्तु तीसरा लाल रंग हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा की राग की अवस्था और कर्म की अवस्था—दो अवस्थाएँ एक हों तो तीसरी मिश्र अवस्था होना चाहिए; दो अवस्थाएँ एकत्रित हों तो एक तीसरी अवस्था हो जाती है। आत्मा अज्ञान भावों को करे और जड़कर्म को करे तो दोनों एकत्रित होकर एक तीसरी अवस्था आना चाहिए; जिस प्रकार हल्दी और फिटकरी एकत्रित होने से तीसरा रंग होता है उसी प्रकार। परन्तु वैसा तो नहीं होता। सर्व वस्तुओं के द्रव्य, गुण और पर्याय अपने-अपने में स्वतन्त्र हैं; यदि एक की अवस्था दूसरी में आये तो वस्तु का नाश हो जाये। फिटकरी और हल्दी एकत्रित होने से तीसरा रंग होता है तथापि सर्व परमाणुओं की अवस्था अपने-अपने में स्वतन्त्र है, किसी की अवस्था किसी में प्रविष्ट नहीं हो जाती। यदि पुद्गलद्रव्य और जीव दोनों की अवस्था एक हो तो पुद्गलद्रव्य और जीव दोनों को कर्मरूप परिणाम आ जायेगा, परन्तु मात्र पुद्गलद्रव्य के ही कर्मपनेरूप परिणाम होते हैं, इससे जीव के रागादि अज्ञानपरिणाम जो कि कर्म के निमित्त हैं—उनसे पृथक् ही पुद्गलकर्म का परिणाम है।

अज्ञानी ने ऐसा मान लिया है कि शरीर की अवस्था मैं करता हूँ और मेरी अवस्था भी मैं करता हूँ; कर्म की अवस्था मैं करता हूँ और मेरी अवस्था भी मैं करता हूँ—ऐसा अज्ञानी ने मात्र अज्ञान से मान लिया है; परन्तु किसी अन्य द्रव्य की अवस्था कोई द्रव्य कर ही नहीं सकता, सभी द्रव्यों की पर्यायें अपने-अपने में स्वतन्त्र होती हैं।

लिखने की क्रिया पुद्गल करता है उसमें ज्ञान तो मात्र जानता है। ज्ञान तो दूर रहते हुए भी जानता है और निकट रहने पर भी जानता है। दूर रहनेवाला ही ज्ञान कर सकता है और निकट रहनेवाला ज्ञान नहीं कर सकता—ऐसा कुछ भी नहीं है। लिखने की क्रिया को

केवली ही जानते हैं और निकट रहनेवाला नहीं जानता—ऐसा नहीं है; लिखने की क्रिया को निकट रहनेवाला भी जानता है कि यह लिखा जा रहा है। लिखने का जो राग होता है, उसे ज्ञानी ज्ञाताभाव से जानता है और लिखने की क्रिया को भी ज्ञाताभाव से जानता है; परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं हूँ इसलिए यह लिखा जा रहा है—ऐसी विपरीत मान्यता करता है; परन्तु अज्ञानी भी जड़ की क्रिया नहीं कर सकता। और एक जीव दूसरे किसी भी जीव-अजीव का कार्य कुछ भी नहीं कर सकता।

यदि पुद्गलद्रव्य और जीव एकत्रित होकर कर्मरूप परिणमित होते हैं—ऐसा माना जाये तो दोनों को कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो। परन्तु जीव तो कभी जड़कर्मरूप परिणमित नहीं हो सकता; इससे जीव का अज्ञानपरिणाम जो कि कर्म को निमित्त है—उससे भिन्न ही पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम है।

यदि पुद्गल और जीव दोनों एकत्रित होकर परिणमित हों तो जीव भी जड़ की अवस्था को धारण करे; परन्तु जीव तो कभी जड़कर्मरूप परिणमित हो ही नहीं सकता। बोलने की अवस्था के समय यदि आत्मा और जड़ दोनों की अवस्था एकमेक हो जाती हो तो आत्मा की क्या अवस्था रहेगी ? कोई कहे कि वाणी में तो निमित्त होता है न ? हाँ, मैं निमित्त कर्ता हूँ वैसा अज्ञानी मानता है, ज्ञानी समझते हैं कि मैं ज्ञाता हूँ, दृष्टि की अपेक्षा से शरीरादि की अवस्था में ज्ञानी निमित्त भी नहीं है। ज्ञानी की दृष्टि स्व के ऊपर होती है पर के ऊपर नहीं होती, इसलिए वे निमित्त नहीं हैं, इसकी अवस्था इसमें और मेरा ज्ञान मुझमें ऐसा ज्ञानी समझते हैं। इच्छा के कारण वाणी नहीं है, वाणी उत्पन्न हो जाये तो इच्छा को निमित्त कहा जाता है परन्तु अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि इच्छा होती है और वाणी निकलती है इसलिए मैं वाणी बोल सकता हूँ, मैं वाणी बोलने का निमित्त कर्ता हूँ। ज्ञानी समझते हैं कि वाणी अपने आप स्वतन्त्र परिणमित होती है, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ; इच्छा इच्छा में, वाणी वाणी में, ज्ञान ज्ञान में स्वतन्त्रतया परिणमित होते हैं।

अज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर है इसलिए वह निमित्तरूप से कर्ता है; हाथ से स्वतन्त्र लिखा जाता है, वैसा केवलज्ञानी भी जानते हैं और ज्ञानी भी जानते हैं। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मैं हूँ इससे लिखा जा रहा है—इस प्रकार उसने निमित्त कर्तापन स्वीकार किया है।

आचार्यदेव ने कर्ताकर्म अधिकार की ७६ गाथाओं में अत्यन्त विस्तार किया है, क्योंकि 'मैं पर का कर सकता हूँ' वैसे गूढ़ संस्कार अज्ञानी को पड़ गये हैं ॥१३७-१३८॥

पुद्गलद्रव्य से पृथक् ही जीव का परिणाम है—ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं:—

जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पोग्गल-जीवा हु दो वि कम्मत्त-मावण्णा।।१३९।।
एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीव-भाव-हेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो।।१४०।।

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः।
एवं पुद्गल-जीवौ खलु द्वावपि कर्मत्व-मापन्नौ।।१३९।।
एकस्य तु परिणामः पुद्गल-द्रव्यस्य कर्म-भावेन।
तज्जीव-भाव-हेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः।।१४०।।

अर्थ:—यदि जीव को कर्म के साथ ही रागादि परिणाम होते हैं (अर्थात् दोनों एकत्रित होकर रागादिरूप परिणमित होते हैं) ऐसा माना जाये तो इस प्रकार जीव और कर्म दोनों रागादिपने को प्राप्त हों; परन्तु रागादिभावरूप परिणाम तो अकेले जीव के ही होते हैं, इससे कर्मोदयरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् पृथक् ही जीव का परिणाम है।

जीव और कर्म दोनों एकमेक होकर राग की अवस्था करें तो कर्म भी राग हुआ वह जड़रूप नहीं रहा। चलने की अवस्था, बोलने की अवस्था और राग की अवस्था—वे दोनों जड़ और चैतन्य की अवस्थाएँ एकत्रित हो जाती हों तो चलने और बोलने की अवस्था ही न रहे, सभी अवस्थाएँ रागरूप ही हो जायें। परन्तु रागादिभावरूप परिणाम तो मात्र जीव के ही होते हैं। इससे कर्मोदयरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् भिन्न ही जीव का परिणाम है।

यदि जीव को, रागादि-अज्ञानपरिणाम के निमित्तभूत जो उदय में आता हुआ पुद्गलकर्म है, उसी के साथ (अर्थात् दोनों एकत्रित होकर ही) रागादि-अज्ञानपरिणाम होते हैं—ऐसा वितर्क किया जाये तो जिस प्रकार एकत्रित हुए हल्दी और फिटकरी दोनों को लाल रंगरूप परिणाम होता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलकर्म दोनों को रागादि

अज्ञान परिणाम आ जाये। परन्तु अकेले जीव को ही अज्ञान परिणाम होते हैं।

रागादि-अज्ञानपरिणामों को निमित्तभूत पुराने कर्म उदय में आने से जीव को रागादिपरिणाम होते हैं अर्थात् दोनों एकत्रित होकर रागादि-अज्ञानपरिणाम होते हैं ऐसा माना जाये तो जड़ को भी राग-द्वेष हुआ; जड़ की अवस्था चेतन के रागरूप हो तो फिर जड़ की अवस्था उस समय क्या रही ? इसलिए जड़ की अवस्था उस समय जड़ में ही होती है किन्तु अज्ञानभाव से राग-द्वेष तुझमें हुआ। यदि ऐसा माने कि कर्म के उदय से मुझे राग-द्वेष होता है तो कर्म ही ने तुझे राग-द्वेष कराया इससे तू पराधीन हुआ; इसलिए तू छूटेगा कहाँ से ? परन्तु वस्तुस्वभाव वैसा नहीं है। तेरा पुरुषार्थ तेरे हाथ में है; विकाररूप परिणमित होना भी तेरे हाथ की बात है और स्वभाव में परिणमित होना भी तेरे हाथ में है। जड़कर्म तुझे राग-द्वेष नहीं कराते, परन्तु तू स्वत: अज्ञानभाव से राग-द्वेष करता है, तब कर्म का निमित्त उपस्थित होता है।

जीव और पुद्गल दोनों एकत्रित होकर राग-द्वेष करें तो जड़ है वह जीव हो जाये, परन्तु जो जड़ है वह कभी जीव होता ही नहीं। कोई किसी को राग-द्वेष नहीं कराता, स्वत: विपरीत वीर्य से विकार में युक्त हो तो विकार होता है। कितने ही लोग कहते हैं कि कर्म का उदय हमें राग-द्वेष कराता है—ऐसा मानकर जो स्वच्छन्द प्रवर्तन करते हैं और विषय कषाय सेवन करते हैं उनसे कहते हैं कि अरे भाई! कर्म का उदय तुम्हें राग-द्वेष नहीं कराता परन्तु तुम स्वत: ही उस रूप परिणमित होते हो; कर्म का उदय तुम्हें विषय-कषाय नहीं करा देता परन्तु तुम्हारी स्वाधीनता से तुम विपरीत वीर्य से उस रूप परिणमित हो रहे हो, इसलिए जैसा है उसी प्रकार आत्मा को पहिचानो और समझो!

ज्ञानी स्वच्छन्दता का सेवन नहीं करते, ज्ञानी को पुरुषार्थ की मन्दता के कारण अल्प अस्थिरता होती है परन्तु उसमें उन्हें रुचि नहीं है, अन्तरंग से उदास है। राग का एक कण भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो उन समस्त भावों से निराला शुद्ध चैतन्यद्रव्य हूँ। यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जा सकता हो तो मुझे कुछ भी नहीं चाहिए; परन्तु क्या किया जाये ? पुरुषार्थ की मन्दता के कारण पड़ा हुआ हूँ।

अज्ञानी कहता है कि ज्ञानी के बन्ध नहीं है, ज्ञानी विषय कषायों का सेवन करता हो तथापि बन्ध नहीं है इससे हमको भी आत्मा का भान हुआ है परन्तु उदय के कारण

विषय-कषायों का सेवन करते हैं इसलिए हमारे भी बन्ध नहीं है क्योंकि शास्त्र इन्कार करते हैं। अरे भाई! शास्त्र इन्कार करते हैं कि तेरा भाव इन्कार करता है? शास्त्र की बात शास्त्र में रही परन्तु तेरा हृदय क्या करता है? अन्तर में तो तन्मयता हो जाती है; अन्तर से लोलुपता है, अन्तर से उदासीनता नहीं है, निराले आत्मा का भान नहीं रहता, साक्षीपना नहीं रहता और स्वच्छन्दता से व्यर्थ का बचाव करता है।

ज्ञानी के दृष्टि का बल है, आत्मा में आनन्द और समाधि का वेदन करता है; जो अल्पराग होता है, वह ध्यान में है परन्तु पुरुषार्थ की मन्दता के कारण वह राग होता है— वैसा समझते हैं, पुरुषार्थ जरा डगमग हो जाता है परन्तु उसे आदरणीय नहीं मानते, अन्तरंग से उदास हैं। ज्ञानी के तो हृदय से निकलता है कि यह राग और राग के संयोग वे सब विष्टा हैं, विष हैं, अल्प राग-द्वेष होते हैं, उन्हें स्वभाव दृष्टि में विष्टा ही समझते हैं, इससे उनका आदर नहीं है।

अज्ञानी तो स्वच्छन्दता से विषय-कषायों में मग्न रहते हैं और कहते हैं कि हमें बन्ध नहीं है। परन्तु भाई! वैसा मुफ्त का माल मोक्षमार्ग में नहीं है। यदि स्वच्छन्दता से वर्तन करेगा तो चला जायेगा चौरासी के चक्कर में, अनन्त काल तक निकलना कठिन हो जायेगा। ऐसे के ऐसे परिणामों का सेवन करना और कहना कि हमें चारित्रमोह का उदय है! अरे! उदय है या स्वच्छन्द है? देख तो!

ज्ञानी के काम-क्रोध का अल्प राग होता है, परन्तु उसे वह स्वभावदृष्टि से विष्टा जैसा ही देखता है, उसका आदर नहीं है, इसलिए वह नवीन कर्मों को निमित्तरूप भी नहीं कहलाता। अल्प अस्थिरता के कारण अल्प बन्ध होता है परन्तु वह अस्थिरता को अपना स्वरूप नहीं मानता, रखने योग्य नहीं मानता, परिपूर्ण स्वभावदृष्टि प्रगट हुई है इसलिए स्वभावदृष्टि से ज्ञानी नवीन कर्मों को निमित्तरूप भी नहीं है।

अज्ञानी तो संयोग से भला-बुरा मानता है इसलिए यह मुझे इष्ट है या अनिष्ट है ऐसा मान लेता है कि कर्म ने मुझे राग-द्वेष कराया है। परन्तु जब कर्म ने तुझे राग-द्वेष कराया तब तू कहाँ था? था या नहीं? क्या मर गया था? तेरी अवस्था कहाँ गयी थी? तेरी अवस्था अज्ञान भाव से तेरे अधिकार में थी या नहीं? यदि तू कर्माधीन हो गया हो तो तू पराधीन हुआ, तेरी स्वतन्त्रता कहाँ रही? प्रत्येक द्रव्य पर्याय में भी त्रिकाल स्वतन्त्र है, कोई किसी

के आधीन नहीं है। प्रत्येक गाथा अपूर्व है, यदि रुचि पूर्वक मनन करे तो छुटकारा हो जाये, नहीं तो पार होना कठिन है।

जीव स्वयं अपने को भूलता है स्वतन्त्रतया कर्मों में युक्त होता है और कहता है कि कर्मों ने मुझे राग-द्वेष कराया है, तेरी वह बात सर्वथा मिथ्या है। यदि पुद्गलद्रव्य अपनी अवस्था को करे और जीव की अवस्था को करे तो दो अवस्थाएँ एक हो जायें और दोनों द्रव्य एक हो जायें, परन्तु दो द्रव्य त्रिकाल त्रिलोक में एकरूप नहीं होते। कर्म का फल कर्म में आता है और जो विषय-वासना तुझे होती है वह तेरी अवस्था में होती है; जड़ तो जानता भी नहीं है, विकारी अवस्था में रुकना तेरे हाथ में है।

अज्ञानभाव तुझमें होते हैं, कर्म तुझे नहीं कराते। अज्ञानी निमित्त के आश्रय से ही चला जाता है, पराश्रय से जो भाव होते हैं, उन्हें अपना मान लेता है; ज्ञानी परवश नहीं होता और परभावों को अपना नहीं मानता। कर्म के फल के आश्रय से जो भाव होता है, उसमें अज्ञानी अर्पित हो जाता है, इससे वह ऐसा मान लेता है कि कर्म मुझे राग-द्वेष कराते हैं। ज्ञानी शुद्ध निश्चय से राग को अपना नहीं मानता इसलिए वह ऐसा भी नहीं मानता कि कर्म मुझे राग-द्वेष कराते हैं। पर की अवस्था होती है उसमें ज्ञानी अपना निमित्त नहीं मानते, इससे कर्म भी नहीं बँधते।

जीव और कर्म दो एकत्रित होकर रागादिरूप परिणमित होते हैं, वैसा नहीं है। जिस प्रकार हल्दी और फिटकरी दोनों एकत्रित होकर तीसरा रंग होता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म दोनों मिलकर तीसरी अवस्था होती है—वैसा नहीं है। हल्दी और फिटकरी में तो सभी परमाणु स्वतन्त्र हैं, सबकी अवस्था पृथक्-पृथक् है; मात्र स्थूलरूप से दो द्रव्यों की एक तीसरी लाल अवस्था दिखायी देती है परन्तु वास्तव में वैसा नहीं है। यदि जीव और कर्म एकत्रित होकर रागादि होते हों तो जीव और पुद्गलकर्म दोनों को रागादि परिणाम आ जायें, परन्तु अकेले जीव के ही रागादि अज्ञान परिणाम तो होते हैं, इससे पुद्गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि अज्ञान परिणामों का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है; पुद्गलकर्म तो कभी जीव के रागादिरूप परिणमित नहीं हो सकता इससे जीव की विकारी अवस्था भिन्न है और पुद्गलकर्म की अवस्था भिन्न है दोनों की अवस्था पृथक्-पृथक् है॥१३९-१४०॥

अब अन्तर के परिणाम में नयविभाग से बात करते हैं; मन के आलम्बन से दो प्रकार के राग के विकल्प होते हैं, वह भी पक्ष है—ऐसा अब कहेंगे। मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ—ऐसा विकल्प भी पक्ष है, राग है—वैसी सूक्ष्म बात अब कहेंगे।

समस्त वस्तुएँ स्वतन्त्र हैं, सबका कर्ता-कर्मपना स्वतन्त्र है। परन्तु जब तक जीव ऐसा मानता है कि पर की अवस्था मैं करता हूँ तब तक वह मिथ्यादृष्टि है। १००वीं गाथा में कहा था कि घटपट का कर्ता अज्ञानी भी नहीं है परन्तु अपनी विभावपर्याय जो योग-उपयोग है, उसका कर्ता अज्ञानी होता है। इसलिए निमित्तरूप से वह घटपट का कर्ता होता है। मैं निमित्तरूप से घटपट का कर्ता हूँ—ऐसा मिथ्यादृष्टि कुम्हार मानता है; यदि कुम्हार सम्यग्दृष्टि हो तो उसके योग और उपयोग घड़ा होने में निमित्तरूप होते अवश्य हैं परन्तु योग और उपयोग का वह कर्ता नहीं है इसलिए वह घड़ा होने में निमित्त भी नहीं है। पहले कहा था कि घटपट होने में और नवीन कर्म बाँधने में ज्ञानी निमित्त नहीं हैं; अब कहना है कि मन के विषय में नय के दो पक्ष होते हैं, वह भी तेरा स्वरूप नहीं है।

'आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट हैं या अबद्धस्पृष्ट हैं'—वह नयविभाग से कहते हैं:—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं।।१४१।।

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम्।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म।।१४१।।

अर्थः—जीव में कर्म (उसके प्रदेशों के साथ) बँधा हुआ है तथा स्पर्शित है—ऐसा व्यवहारनय का कथन है और जीव में कर्म बँधा हुआ नहीं है, अस्पर्शित है—ऐसा शुद्धनय का कथन है।

आत्मा में कर्म बद्ध है और कर्म बद्ध नहीं है—इन दो पक्षों का विचार रागमिश्रित है; मात्र निर्विकल्प स्वभाव में-एकाकार स्वभाव में यह दो पक्ष—'ऐसा है' और 'ऐसा नहीं है'—ऐसा विकल्प नहीं है; ऐसे विकल्प का मैं कर्ता हूँ और यह मेरा कार्य है—ऐसा कर्ताकर्मपना स्वभावदृष्टि में नहीं है। आत्मा बद्धस्पृष्ट नहीं है ऐसा विचार भी रागमिश्रित है।

स्वभावधर्म से वस्तु अखण्ड है उसमें मन के निमित्त के बिना ज्ञान के दो पक्ष नहीं

होते। मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ और बद्धस्पृष्ट हूँ—ऐसे रागमिश्रित ज्ञान के दो पक्ष, दो भंग मन के अवलम्बन से होते हैं; वे नय पक्ष के राग-(विकल्परूप दो पक्ष)-स्वभाव की एकाग्रता का कारण नहीं है क्योंकि रागमिश्रित विचार स्वभाव की एकाग्रता का कारण कहाँ से होंगे ? स्वभाव का अंश स्वभाव की एकाग्रता का कारण है, विभाव का अंश स्वभाव की एकाग्रता का कारण नहीं है। खण्डपना, विकल्पना, वृत्तिपना स्वभाव में नहीं हैं तो फिर वे स्वभावपर्याय प्रगट होने के कारण भी कहाँ से होंगे ? साधक जीव वस्तु को और पर्याय को—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के द्वारा जानता है; प्रमाणज्ञान में दोनों साथ ही ज्ञात होते हैं परन्तु पर की ओर उन्मुखता हो तब एक समय एक ही उपयोग साधक जीव को होता है—या तो अबद्ध की ओर या बद्ध की ओर; उसके साथ दो प्रकार के राग के विकल्प होते हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। घटपट का कर्ता तो मैं नहीं हूँ परन्तु स्वभावोन्मुख होने पर विचारों के पक्ष होते हैं वह भी राग है। सब ओर से अपने को उठाकर अभेद स्वभाव में रखा है; किन्तु आत्मा में ऐसे विकल्प नहीं हैं कि कर्म बद्ध हैं और कर्म बद्ध नहीं हैं। आचार्यदेव ने ऐसा कहकर कि 'आठ कर्मों का कर्ता नहीं है और बाह्य परद्रव्यों का कर्ता नहीं है'—सब जगह से उठाया वहाँ आतमा में कर्म बद्ध हैं और कर्म बद्ध नहीं हैं—ऐसे कर्ताकर्मपने में रुका परन्तु वह उसका स्वभाव नहीं है। कहीं सूक्ष्म पक्ष में स्थित रहे उसे भी कर्ताकर्मपना है। स्वभाव का भान न करे और ऐसे पक्ष में स्थित रहे तो वह भी पकड़ है।

जीव के और पुद्गलकर्म के एक बंधपर्यायपने से देखने पर उनके अत्यन्त भिन्नता का अभाव होने से जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट है—ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है। जीव के और पुद्गलकर्म के अनेक द्रव्यपने से देखने पर उनके अत्यन्त भिन्नता होने से जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है—ऐसा निश्चयनय का पक्ष है।

आत्मा में कर्म निमित्तरूप से, संयोगरूप से बँधे हुए हैं ऐसा निमित्त के ओर की अपेक्षा से कहा जाता है, वह व्यवहार है। आत्मा में एकक्षेत्रावगाहरूप से कर्म बँधे हुए हैं। जिस प्रकार घी का घड़ा कहा जाता है परन्तु घड़ा घी का नहीं है-मिट्टी का है। इसी प्रकार कर्म आत्मा में बँधे हुए हैं, उस ओर का पक्ष लक्ष्य में लेना सो एकनय है, परन्तु वास्तव में आत्मा में कर्म बँधे हुए नहीं हैं किन्तु निमित्त की ओर के नय से कहा जाता है कि कर्म

आत्मा में बँधे हुए हैं। आत्मा पर से अबद्धस्पृष्ट है ऐसा दूसरा नय है।

आत्मा के शुद्ध स्वभाव का-सामान्यस्वभाव का-अबद्धस्पृष्टपने का विषय करनेवाला जो नय है, वह निश्चयनय है वह भी रागमिश्रित है, क्योंकि उसने वस्तु के एक ओर का पक्ष लिया है, वह रागमिश्रित विचारों में रुका है—शुभभावों में रुका है—मन के योग में वह रुका है। मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ और मैं बद्धस्पृष्ट हूँ—ऐसे दो भंग मन के अवलम्बन से होते हैं; वे दो विकल्प हैं—राग हैं।

बद्धस्पृष्ट के ओर की दृष्टि से देखने पर बद्धस्पृष्ट है परन्तु परमार्थ से बन्ध नहीं है; व्यवहार से बन्ध है। यदि बिल्कुल भिन्न हो तो परमार्थ का असंगपने का प्रगट वेदन हो परन्तु वह नहीं है इसलिए वर्तमान पर्याय में बद्ध है। विकार है इसलिए निमित्त भी है। यदि पर्याय में दोष न हो तो निमित्त का संयोग भी न हो; इसलिए जो बद्धस्पृष्ट है, वह व्यवहार का पक्ष है, उसमें भी राग है, उस पक्ष में रुकने से भी राग में रुकना होता है।

पर्याय की-अवस्था की दृष्टि से आत्मा बँधा हुआ है और भिन्न तत्त्व से देखने पर आत्मा और कर्म में अत्यन्त भिन्नता होने से जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है। पर्यायदृष्टि से आत्मा बँधा हुआ है—ऐसा विकल्प सो राग की पकड़ है और वस्तुदृष्टि से देखने पर आत्मा पर से भिन्न है—ऐसा विकल्प भी पकड़ है।

प्रश्न:—अनादि का शुभाशुभ विकार है इसलिए कैसे टले?

उत्तर:—अनादि तो सन्तान प्रवाहरूप से है, पलटता हुआ भाव प्रवाहरूप से अनादि है, पर्याय है, स्थायी वस्तु नहीं है; इसलिए परिवर्तित होता है, वर्तमान एक-एक समय की अवस्था जितना है, क्षण-क्षण की अपेक्षा प्रवाह से अनादि है, स्थायी वस्तु नहीं है, जो पर्याय है वह बदलती है इसलिए निर्विकार पर्याय को प्रगट करके विकार का नाश हो सकता है।

यह जान लिया कि पराश्रयरूप व्यवहार से बन्ध है और स्वाश्रयरूप निश्चय से बन्ध नहीं है, परन्तु भाई! निश्चय से बन्ध नहीं है वैसा नय पक्ष का विचार भी रागमिश्रित है। यहाँ तो सब प्रकार के राग का कर्ताकर्मपना छुड़ाते हैं।

शुद्धनय को निर्विकल्प भी कहा जाता है परन्तु यहाँ विकल्प युक्त नय की बात है;

शुद्धनय निर्विकल्प भी है और विकल्प सहित भी है। अपूर्ण, पूर्ण और विकारी पर्याय को जाननेवाला और सामान्य स्वभाव का ज्ञाता निर्विकल्प प्रमाणज्ञान है। आत्मा सामान्यरूप और विशेष पर्यायरूप भी है, उस सामान्य और विशेष का विकल्पसहित लक्ष्य करनेवाले ज्ञान को विकल्पवाला प्रमाणज्ञान कहा जाता है।

दो नयों के पक्ष के विचार में रुकना सो राग है, पक्ष है। कोई जीव नय के पक्ष में न फँस जाये इससे आचार्यदेव समझाते हैं। परद्रव्य का कर्ता नहीं है, कर्म का कर्ता नहीं है इस प्रकार बाह्य से उठाकर अन्तरंग तक ले गये हैं। कहीं पक्ष में लगा रहे और वस्तुस्वभाव जैसा है वैसा ध्यान में न आये तो वह नय का पक्ष ज्ञान का फल नहीं है परन्तु विवाद का फल है किसी भी पक्ष में स्थित रहे तो उस ज्ञान का फल विवाद हुआ किन्तु स्वभाव नहीं हुआ। मैं भंग का कर्ता हूँ और भंग मेरा कार्य है; मैं विकल्प का कर्ता हूँ और वह मेरा कार्य है—वैसे भावों में स्थित रहे तो वह पक्ष में खड़ा है, बाह्य में खड़ा है; परन्तु जो रागमिश्रित पक्ष को उलांघ गया वह स्वभाव में स्थित है।

ध्रुव स्वभाव तो एकाकार है, उसमें दो पक्ष डालना सो नय पक्ष है। निर्विकल्प स्वभाव में मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ ऐसे दो पक्ष का विकल्प करना सो नय पक्ष है। उस पक्ष को छोड़कर जो उसका उल्लंघन कर गया है, वही समयसार है।

जो आत्मा उन दोनों नय पक्षों को उलांघ गया है, वही समयसार है—ऐसा अब गाथा में कहते हैं:—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

कर्म बद्ध-मबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नय-पक्षम्।
पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समय-सारः।।१४२।।

अर्थः—जीव में कर्म बद्ध है अथवा अबद्ध है—इस प्रकार तो नय पक्ष जानो। परन्तु जो पक्षातिक्रान्त (अर्थात् पक्ष को उलांघ गया) कहलाता है, वह समयसार (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व) है।

रागमिश्रित पक्ष में रुक जाना सो नय पक्ष है। यहाँ निश्चयनय को रागवाला लिया

है। चौदहवीं-पन्द्रहवीं गाथा में और अनेक जगह रागरहित-निर्विकल्प शुद्धनय लिया है। सामान्य स्वभाव पर दृष्टि रहे वहाँ पर्याय गौण हो जाती है, उसे शुद्धनय कहा है। अपने अखण्ड स्वभाव की ओर उन्मुखता का भाव उसे शुद्धनय कहा है, परन्तु यहाँ राग युक्त शुद्ध कहा है, भिन्न-भिन्न अपेक्षा से कहा है।

जीव में कर्मबद्ध है अथवा अबद्ध है, वह दोनों विकल्प हैं—राग है। वस्तु तो जैसी है वैसी ही है जहाँ आत्मा की स्वभावदृष्टि हुई वहाँ अनन्त पुरुषार्थ हुआ। सम्यग्दृष्टि जानता है कि जो सर्वज्ञ भगवान ने देखा है वह तीन काल में नहीं बदल सकता। उन सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान और निर्णय करने में अनन्त पुरुषार्थ है।

द्रव्य में एक समय के पश्चात् दूसरे समय की क्रमबद्ध पर्याय होती है, उसका यथार्थ जैसा है वैसा ज्ञान करने से समभाव हो गया वही अनन्त पुरुषार्थ है। अन्य अनन्त पदार्थों में और मेरे पदार्थ में क्रमबद्ध पर्याय होती है—वैसा माना उसमें समभाव आया, अनन्त पुरुषार्थ आया। जो सर्वज्ञ ने देखा है, वह तीन काल में नहीं बदल सकता; सर्वज्ञ का अर्थ है पूर्ण ज्ञान; उस पूर्ण ज्ञान का निर्णय करने में अनन्त पुरुषार्थ है, निर्णय करनेवाले में अनन्त पुरुषार्थ है, जिसे सर्वज्ञ का निर्णय हुआ है उसके अपने आत्मा के स्वभाव का निर्णय होता ही है। सर्वज्ञ भगवान ने पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष देखा है, जिसने अपने में सर्वज्ञ स्वभाव को जाना है उसने सर्वज्ञ को जाना ही है। जिस भाव से सर्वज्ञ के पूर्ण स्वभाव का निर्णय किया और अपने स्वभाव का निर्णय किया है, उस भाव में (भव का भाव होता ही नहीं) अनन्त संसार का नाश हुआ। पर का ऐसा करता हूँ, पर का यह करता हूँ उसे छोड़कर ऐसा ज्ञान किया कि पर्याय क्रमबद्ध होती है, वह समता हो गयी, पर के ग्रहण-त्याग से रहित ज्ञान और वीर्य स्वभावोन्मुख हुए। सब द्रव्य की पर्याय अपनी योग्यता से होती है ऐसे निर्णय होते ही पर का अकर्ता अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातापन जागृत हुआ, मोक्षपर्याय होने तक पुरुषार्थ पूर्वक क्रमबद्ध पर्याय को सर्वज्ञ भगवान ने जाना है। जिसने सर्वज्ञ का यथार्थ स्वरूप जाना उसने क्रमबद्ध पर्याय को यथार्थ जाना है।

मैं इस प्रकार किसी का भला या बुरा कर दूँ, अमुक व्यक्ति को आगे बढ़ा दूँ—वैसी मान्यता का हाथ पर में से अब उठा लिया। जिस प्रकार मैं पराश्रित नहीं किन्तु स्वतन्त्र हूँ, उसी प्रकार सामनेवाला पदार्थ और सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं—ऐसा निश्चित हुआ वहाँ वीर्य

जो पर के ग्रहण-त्याग में अटकता था वह रुक गया और यह जाना कि मैं तो जो हूँ वही हूँ, मुझे पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञस्वभाव के सन्मुख दृष्टि और निश्चय हुए बिना क्रमबद्ध पर्याय की स्वतन्त्रता समझ में नहीं आ सकती।

यहाँ दो पक्षों का अस्वीकार करके निरपेक्ष तत्त्व को बतलाना है। आत्मा कर्म से बँधा हुआ है और आत्मा कर्म से बँधा हुआ नहीं है—वह दो पक्षों का विचार रागमिश्रित है, रागमिश्रित विचार के अवलम्बन से स्वभाव का भान हो जाये—ऐसा कभी भी नहीं होता। जो पक्ष को उलंघ गया है वह पक्षातिक्रान्त है। आत्मा के स्वभाव को पहले नय से या निक्षेप से निश्चित किया है, पश्चात् अनुभव के समय उस नय-निक्षेप का काम नहीं पड़ता। जिस प्रकार खाने की एक वस्तु ली उस समय उसे तराजू से तौलते हैं परन्तु खाते समय वह तराजू आदि काम में नहीं आते; उसी प्रकार नय-निक्षेप से पहले वस्तु का स्वभाव निश्चित किया है पश्चात् अनुभव के समय वह नय-निक्षेप काम नहीं आता। नय-निक्षेप में विकल्प रहता है, पक्षातिक्रान्त में विकल्प का अभाव है।

पक्षातिक्रान्त कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अपने को समस्त धर्म समान मानना चाहिए, किसी धर्म में भेद नहीं पाड़ना चाहिए, सभी मार्ग समान हैं—ऐसा यदि कोई इसका अर्थ ले तो ऐसा अर्थ नहीं लेना है। वस्तु का सत्स्वरूप क्या है, उसका निर्णय बराबर करना चाहिए; परन्तु यहाँ तो समस्त वस्तु को पर से निरपेक्ष बतलाया है। रागमिश्रित पक्ष को छुड़ाने की यह बात है।

यहाँ पक्ष छोड़ने को कहा है इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि निर्णय छोड़ने को कहा है क्योंकि राग छोड़ने को कहा है, कहीं तत्त्व विचार और निर्णय छोड़ने को नहीं कहा है। आत्मा को इस अपेक्षा से बन्ध है और इस अपेक्षा से बन्ध नहीं है, इस अपेक्षा से निमित्त है और इस अपेक्षा से नहीं है, इस अपेक्षा से राग है और इस अपेक्षा से राग नहीं है, द्रव्यदृष्टि से आत्मा पर से निराला परिपूर्ण शुद्धस्वरूप है और पर्यायदृष्टि से अवस्था में मलिनता होती है इत्यादि वस्तुस्वभाव जैसा है वैसी ही प्रतीति करके राग से अतिक्रान्त होकर प्रथम श्रद्धा में मिथ्यापन छोड़ना चाहिए किन्तु ज्ञान और प्रतीति छोड़ने को नहीं कहा है। मैं बँधा हुआ हूँ और निर्बन्ध हूँ—ऐसे विचारों में रुकने से राग होता है, इससे राग छोड़कर स्वभाव में स्थिर होने को कहा है, 'बँधा हुआ हूँ' और 'बँधा हुआ नहीं हूँ' वैसे

पक्ष से अतिक्रान्त होना कहा है, जो दो भेदों में रुक जाता है, उसे छुड़ाते हैं।

प्रश्न:—गौतमस्वामी को भगवान के ऊपर राग था, इससे रुके थे न?

उत्तर:—यदि निमित्त के ओर की अपेक्षा से कहें तो कहा जायेगा कि गौतम स्वामी को भगवान पर राग था परन्तु वास्तव में पुरुषार्थ की मन्दता से राग था। परवस्तु के कारण राग नहीं है, निमित्त से राग नहीं है, द्रव्य में राग नहीं है, परमार्थ पर दृष्टि है और राग पर दृष्टि नहीं है, पर्याय में राग होता है, उस पर दृष्टि नहीं है। अब, अपनी पर्याय में पुरुषार्थ की मन्दता के कारण राग है; भगवान पर गौतमस्वामी को राग था—ऐसा निमित्त की ओर से कहा जाता है परन्तु वास्तव में पुरुषार्थ की मन्दता के कारण राग था, भगवान के कारण राग नहीं था। गौतमस्वामी तो अनेक ऋद्धि के धारक, चार ज्ञान के स्वामी, महा समर्थ गणधर थे; वे रागादि तीनों कषायों का अभाव करके स्वरूप में अत्यन्त लीन थे परन्तु उनके पूर्ण वीतराग दशा प्रगट नहीं हुई थी इससे अल्प राग था, वह राग भगवान के कारण नहीं किन्तु अपने कारण से था।

छट्ठी भूमिका में अल्प राग होता है और उस राग के निमित्त देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि ही होते हैं; प्रशस्त राग के निमित्त देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि हैं परन्तु उनके कारण राग नहीं है; अपनी वीतराग दशा नहीं हुई है, अपूर्ण भूमिका है इससे राग आये बिना नहीं रहता। राग प्रशस्त नहीं है किन्तु उसके विषय सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं, वे प्रशस्त हैं।

चौथी भूमिका में ज्ञानी गृहस्थाश्रम में स्थित होता है, इससे उसके शुभाशुभ परिणाम आये बिना नहीं रहते, अपनी भूमिका अपूर्ण है। इससे गृहस्थाश्रम में है और वह राग पर के कारण नहीं, किन्तु अपने पुरुषार्थ की मन्दता के कारण है। राग आता है, किन्तु राग की रुचि नहीं है, भावना नहीं है, स्वामित्व नहीं है, राग में अपना कर्तव्य नहीं माना है—अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि है। दृष्टि के साथ जो ज्ञान है वह ज्ञाता स्वभावी स्वद्रव्य को जानता है और भूमिका के योग्य निर्मल-पर्याय और राग की पर्याय को भी जानता है और राग के निमित्त को भी जानता है। जो ज्ञान स्व-पर को स्वतन्त्र नहीं जानता, जो ज्ञान स्वभाव के सामर्थ्य को राग, रागादि विभाव की विपरीतता को और राग के निमित्त को नहीं जानता वह ज्ञान मिथ्या है, सम्यक् नहीं है।

भक्ति, भक्ति के लिए नहीं है, दूसरों के लिये नहीं है, किन्तु स्वत: के लिये है।

वास्तव में अपनी ही भक्ति करता है; पर की भक्ति कोई कर ही नहीं सकता। स्वत: को अपने गुणों का बहुमान आता है उसका पर के ऊपर आरोप करता है, इसका अर्थ ऐसा होता है कि अपने गुणों पर रुचि है अर्थात् वह गुण स्वत: प्रगट करना चाहता है, इसलिए स्वयं अपनी ही भक्ति करता है, अन्य की भक्ति की—ऐसा उपचार से कहा जाता है।

समयसार की स्तुति में आता है कि:—

'तुं छे निश्चयग्रन्थ भंग सघला व्यवहारना भेदवा' इस प्रकार स्तुति की जाती है, वह उपचार से है। वास्तव में उसे वस्तुस्वरूप की रुचि है इससे भक्ति करता है। वह राग पर के कारण नहीं आता परन्तु अपने कारण आता है।

कोई यह कहे कि—चौथे गुणस्थान में आत्मा का भान होने से बिल्कुल राग ही नहीं होता और राग के निमित्त ही नहीं होते, तो वह ज्ञान मिथ्या है। चतुर्थ भूमिका में अशुभ राग होता है और उसके निमित्त स्त्री, पुत्रादि होते हैं, और शुभराग होता है उसके निमित्त देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि होते हैं। परन्तु चौथी भूमिका में बिल्कुल राग ही नहीं होता अथवा बिल्कुल वीतराग जैसी भूमिका माने तो वह ज्ञान मिथ्या है। चौथी भूमिका में ज्ञानी के राग आता है परन्तु उसे वह करनेयोग्य नहीं मानता; पर के कारण होता है ऐसा नहीं मानता और अपना स्वभाव नहीं मानता, अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य पर उसकी दृष्टि है। यदि राग को अपना स्वभाव माने तो दृष्टि मिथ्या और यदि ऐसा माने कि राग बिल्कुल आता ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या है। इस गाथा में तो उसे समझाते हैं जो रागमिश्रित परिणाम में ही रुका हुआ है और ऐसा मानता है कि वही मेरा पुरुषार्थ है। साधक अवस्था में वीर्य की मन्दता से चिदानन्दस्वभाव में स्थिर न रह सकने के कारण बाह्य लक्ष्य आता है; वहाँ मैं बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ—ऐसे पक्षोंरूप विकल्प में रुकता है उसे भी समझाते हैं। आचार्यदेव ऐसी सूक्ष्मता से समझाते हैं कि सभी प्रकार के पक्ष छूट जावे किसी भी प्रकार का पक्ष नहीं रह जावे।

आत्मा अज्ञानभाव से क्या कर सकता है और ज्ञानभाव से क्या कर सकता है? अज्ञानभाव में राग-द्वेष का कर्ता होता है और ज्ञानभाव में ज्ञान का कर्ता होता है।

'जीव में कर्म बद्ध है'—ऐसा जो विकल्प है, तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है'—ऐसा विकल्प है, वह दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है (उलंघ जाता है,

छोड़ता है) वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करता हुआ स्वत: निर्विकल्प, एक विज्ञानघन-स्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है।

पर्याय अपेक्षा आत्मा में कर्म एकक्षेत्र में सम्बन्धरूप से व्याप्त होकर रह रहे हैं—ऐसा शुभविकल्प नयपक्ष है, और द्रव्य अपेक्षा आत्मा में कर्म बँधे नहीं हैं—ऐसा शुभविकल्प भी नयपक्ष है। दोनों नयपक्ष में ज्ञान की अवस्था राग में पकड़ जाती है। यह दो नयपक्ष के पक्ष होते हैं वह स्वभाव का कर्तव्य नहीं है। अज्ञानभाव उसका कर्ता होता है और राग उसका कर्तव्य है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह परिणमित हुए बिना नहीं रहता अर्थात् अवस्थान्तर हुए बिना नहीं रहता। जो वस्तु है, वह बिल्कुल कूटस्थ नहीं रहती, वस्तु वस्तुरूप से और गुणरूप से स्थित रहकर परिवर्तित होती है—ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

राग को बदलकर द्वेष होता है, उसमें होनेवाला कर्ता मैं हूँ ऐसा अज्ञानी मानता है। प्रतिक्षण विकारी पर्याय का परिवर्तन तो होता है, परन्तु उसकी श्रद्धा में स्वाश्रय का जोर है या पराश्रय के ऊपर जोर है—उसके ऊपर से कर्ता-कर्म का नाप होता है। अविकारी स्वभाव को भूलकर रागादि में कर्तापने का भाव होता है, वह उसका अज्ञानभाव है और राग-द्वेष उसका कर्तव्य है।

आत्मा ज्ञानभाव से तो निर्मल अवस्था का कर्ता है किन्तु चारित्र में अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से मात्र स्व में नहीं रहा जा सकता इससे आत्मा में कर्म बद्ध हैं और कर्म बद्ध नहीं हैं—ऐसे विकल्पों में रुकता है, वह नयपक्ष है, उसे भी समझाते हैं।

स्त्री, कुटुम्ब, व्यापारादि के अशुभपरिणाम तो निकाल दिये, जड़ की ओर का स्थूल कर्तृत्व छुड़ाकर यहाँ तो मन के शुभपरिणामों तक ले गये हैं। मात्र मन के शुभविकल्पों की बात ली है। कर्म बद्ध हैं और कर्म बद्ध नहीं हैं वे दोनों शुभविकल्प हैं। यद्यपि आत्मा अबद्ध है, शुद्ध है, निरपेक्ष है, पर से निराला है, वह पक्ष तो सत्य है परन्तु उस पक्ष में रुकना भी शुभविकल्प है, इसलिए राग का पक्ष है। आत्मा बद्ध है, वह बात पर्यायदृष्टि से यथार्थ है परन्तु द्रव्यदृष्टि से अभूतार्थ है, असत्य है और उस ओर का पक्ष सो राग है। ज्ञान का स्वभाव तो एकरूप ज्ञाता रहने का है परन्तु ज्ञान पराश्रय से संक्रमित होता है, निमित्त और राग के आश्रय के बिना ज्ञान में विकल्प का खण्ड नहीं पड़ता। स्वभाव में परिणति होना-

पलटना तो अपना स्वभाव है, परन्तु जब विकार में परिवर्तित हो तब ज्ञान अस्थिर होता है—राग का आश्रय आता है।

'ऐसा है' और 'वैसा है'—ऐसा नयपक्ष के विकल्प करने का काम एकाकार स्वभाव में नहीं है, ज्ञान का स्वभाव तो सहज एकरूप है, वह जैसा है वैसा ही सहज ज्ञान न मानकर 'ऐसा है' और 'ऐसा नहीं है' वैसी वृत्ति वह कृत्रिम उत्पत्ति है—अपना स्वभाव नहीं है। ज्ञान तो सहज, समवस्थित, यथावत् , एकाकार है; परन्तु आत्मा में कर्म बद्ध है और कर्म बद्ध नहीं हैं—ऐसी वृत्ति तो कृत्रिम है।

अपने स्वभाव के आँगन में आकर नयों के विकल्प-राग में रुकता है उसकी यह बात है, बाह्य के कर्तृत्व की बात नहीं है। शरीर का मैंने कर दिया है, पर का मैंने कर दिया है, मैं उपस्थित था इसलिए यह कार्य हो गया, मैं जड़ का कर्ता और वह मेरा कार्य—इत्यादि जड़ के कर्तृत्व की बात तो कहीं रह गयी, परन्तु स्वभाव के आँगन में आकर 'मैं ऐसा हूँ' और 'मैं ऐसा नहीं हूँ'—ऐसे विकल्प में रुका इससे एकरूप ज्ञान नहीं रहा—वीतरागभाव नहीं रहा। अबद्ध हूँ वह बात भूतार्थ है—सत्यार्थ है, परन्तु बद्ध हूँ, वह बात अभूतार्थ है—असत्यार्थ है परन्तु दो नय दो पक्ष का कार्य करते हैं। पर्यायदृष्टि से उपचार से आत्मा कर्म से बँधा हुआ है, वह बात सत्य है परन्तु द्रव्यदृष्टि से वह बात मिथ्या है।

वस्तु की बात सूक्ष्म है परन्तु वस्तु का स्वभाव तो जैसे का वैसा है, अनभ्यास के कारण महँगी मालूम हो किन्तु सहजस्वभाव से महँगी नहीं है। इसलिए उसे सुनने से अरुचि नहीं आना चाहिए, अनादर नहीं होना चाहिए।

प्रशस्त राग का पक्ष छूटकर समस्त विकल्पों को अतिक्रम होता हुआ साक्षात् समयसार होता है।

'आत्मा बद्ध है' और 'आत्मा अबद्ध है'—ऐसे दोनों विकल्पों से छूटकर विज्ञानघन होता हुआ साक्षात् समयसार होता है। जिस प्रकार जमे हुए घी में अँगुली नहीं धँसती उसी प्रकार राग का पक्ष छूटकर ज्ञान निर्भेद्य हो जाता है; मैं शुद्ध स्वरूप हूँ वैसी भेदरूप वृत्ति भी नहीं होती, ऐसा हूँ और ऐसा नहीं हूँ—इस प्रकार का कोई भी विकल्प नहीं रहता, वस्तुस्वरूप से जैसा हूँ वैसा ही हूँ। इस प्रकार बद्ध अबद्ध के पक्ष से छूटकर ज्ञान ज्ञानरूप

से दृढ़ होता हुआ, ज्ञान ज्ञान में जमकर, विज्ञानघन होता हुआ साक्षात् समयसार होता है। साक्षात् अर्थात् जो स्वभाव शक्ति में था वह पर्याय में प्रगट हुआ—अनुभव में आया। अज्ञानभाव से विकल्प का-रागादि का आत्मा कर्ताकर्मरूप होता था, वह छूटकर अब ज्ञान का कर्ताकर्मरूप से हुआ।

जो 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता है, तथापि विकल्प का अतिक्रम नहीं करता, और जो 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है'—ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता है तथापि विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। पुनश्च, जो 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' ऐसा विकल्प करता है वह दोनों का अतिक्रम न करता हुआ विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। इससे जो समस्त नयपक्ष का अतिक्रमण करता है वही समस्त विकल्पों का अतिक्रमण करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है—अनुभव करता है।

जो 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्ष का उल्लंघन कर जाता है तथापि राग का उल्लंघन नहीं करता और स्वभाव में स्थित नहीं होता। 'जीव में कर्म अबद्ध है' इस प्रकार जो एक पक्ष के राग में रुक जाता है वह पक्ष के विकल्प का उल्लंघन करता है तथापि राग का उल्लंघन न करने से स्वभाव में स्थिर नहीं होता। शुभ विकल्प ऐसे आते हैं कि आत्मा कर्म से बँधा हुआ है और कर्म से बँधा हुआ नहीं है, जो ऐसे दो पक्षों का उल्लंघन-नहीं करता वह शुभराग के पक्ष को नहीं छोड़ता इससे वह समस्त नय-पक्ष को नहीं उल्लंघता, अतिक्रम नहीं करता और इससे समयसार का अनुभवन नहीं करता-आत्मा का अनुभवन नहीं करता; परन्तु जो समस्त विकल्पों का अतिक्रमण करता है—उल्लंघता है वही निर्विकल्प विज्ञानघन समयसार का अनुभवन करता है, विकल्प रहित मात्र आत्म स्वभाव का अनुभवन करता है, पर की अपेक्षा से रहित निरपेक्ष, सहज, शान्त, निर्विकल्प स्वरूप का अनुभवन करता है, अनुभव अर्थात् वेदन करता है। सहज आनन्द इत्यादि गुणों का वेदन करता है, निजरस का स्वाद लेता है, निजस्वाद में लीन हो जाता है, उसे समयसार का अनुभव अर्थात् आत्मा का अनुभव हुआ कहलाता है। पर निमित्त की ओर के राग-द्वेष के भंग से उल्लंघन की

गयी दशा को बिल्कुल निर्विकल्प कहा जाता है, वह निर्विकल्पस्वरूप होकर आत्मस्वभाव का अनुभव करती है, वह शुद्धतारूपी स्वभाव कर्म है-कार्य है-पर्याय है।

कर्म तीन प्रकार के हैं:—जड़कर्म, अज्ञानकर्म और स्वभाव कर्म। जड़ की अवस्था जड़ में होती है वह जड़कर्म है; अज्ञान भाव से विकारी भावों का-शुभाशुभ भावों का कर्म (कार्य) करता है इसलिये वह अज्ञानकर्म; अज्ञानभावों से कर्म करता है इसलिए ज्ञान भाव से भी कर्म करता है, अज्ञान भाव से कर्म नहीं हो तो ज्ञान भाव से भी कर्म नहीं हो, परन्तु अज्ञानभाव से कर्म है इसलिए ज्ञानभाव से कर्म है। कर्म में फल देने की जो शक्ति है, वह जड़ का कर्म है। स्वभावकर्म तो सिद्ध में भी है, वहाँ भी परिणमन है, प्रतिसमय परिणमन होता ही रहता है, स्वभावकार्य होता ही रहता है, सहजरूप निर्मल दशा का कार्य होता ही रहता है इसलिए वहाँ भी कर्म है। अर्थात् निज शुद्धदशारूप कार्य-पर्याय निरन्तर नयी-नयी होती ही रहती है, उसे शुद्धभाव कर्म कहा है।

आचार्यदेव सूक्ष्म विकल्प को निकलवा कर स्वभावकार्य प्रगट करने के लिये कहते हैं। मैं बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ—ऐसे शुभ विकल्प का पक्ष भी अपने को राग में रोकता है, तब फिर अन्य कौन सा पक्ष नहीं रोकेगा ? कौन सा पक्ष सहायता करेगा ? बाह्य की बात तो दूर ही कहीं रह जाती है। अत: सब प्रकार के विकल्प राग भाव हैं, बाधक ही हैं ऐसा निर्णय किये बिना भेद का व्यवहार का आश्रय छोड़कर स्वाश्रय का अनुभव नहीं कर सकता।

प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है ऐसे पक्ष में रुका वह भी राग का पक्ष है, उसे छोड़कर स्वरूप में स्थित हुआ वह समयसार-शुद्धात्मा है।

प्रत्येक आत्मा गुण और पर्याय से पूर्ण है—ऐसा एक नय ने ग्रहण किया उसे भी यहाँ पक्ष कहते हैं, तब फिर बाह्य की स्थूल बात तों कही दूर ही रह जाती है।

कोई कहे कि आत्मा का कोई कर्ता है, ईश्वर इसका कर्ता है, ईश्वर इसका अधिष्ठाता है, ऐसा जो मानता है वह तो बहुत ही स्थूल अज्ञानभाव का कार्य है, गृहीत मिथ्यात्व है, निश्चयपूर्वक का व्यवहार-मिथ्यात्व है। सत्देव, सत्गुरु और सत्शास्त्र पर जिसे श्रद्धा है, उसके गृहीत मिथ्यात्व छूट गया है, परन्तु देव-गुरु-शास्त्र पर ही लक्ष्य रहा करे तो वह राग है, देव-गुरु-शास्त्र द्वारा कहे गये नयपक्ष पर ही लक्ष्य रहा करे तो वह मिथ्यात्व है। यह बात सूक्ष्म अगृहीतमिथ्यात्व की है।

अनादि-अनन्त निगोद में गृहीत मिथ्यात्व नहीं था। शुभाशुभपरिणाम सो मैं हूँ, और वह मेरे हैं वैसी भ्रान्ति थी [उपादान की अशुद्धता की भ्रान्ति थी] उसमें निमित्त के ओर की नयी भ्रान्ति को ग्रहण किया अर्थात् असत् देव-गुरु-शास्त्र को सत् माना वैसी भ्रान्ति हो गयी इससे गृहीत मिथ्यात्व हुआ।

अब आँगन में आया। देव-गुरु-शास्त्र ने कहा कि राग के दो पक्ष होते हैं, वह तेरा स्वभाव नहीं है। ज्ञान अपूर्ण है—क्षयोपशम ज्ञान है, इससे मुख्य गौण में ढले बिना नहीं रहता। ज्ञान अल्प जाने अर्थात् नय की ओर जाये वहाँ मुख्य-गौण हुए बिना नहीं रहता।

जैसा है वैसा अखण्ड स्वभाव लक्ष्य में न ले तो देव-गुरु-शास्त्र ने वस्तु का जो स्वरूप कहा है वह लक्ष्य में नहीं लिया, सच्चे निमित्त पर श्रद्धा है परन्तु वे जो वस्तु स्वरूप कहना चाहते हैं, उस प्रकार ग्रहण नहीं किया और राग के पक्ष में रुका तो अगृहीत मिथ्यात्व है। यहाँ अगृहीत सूक्ष्म मिथ्यात्व के नाश का उपाय बतलाते हैं। राग के दो पक्षों में भी नहीं अटकना वैसा कहते हैं।

जिसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा है, जिसे निमित्त सच्चे हैं, उसके शुभ परिणाम भी उच्च होते हैं। पंच महाव्रतधारी, नग्न दिगम्बर मुनि हुआ हो और यदि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की यथार्थ श्रद्धा हो तो नवग्रैवेयक में जाये ऐसे उच्च शुभपरिणाम होते हैं परन्तु भवभ्रमण का अन्त नहीं आता। भवभ्रमण तो सम्यग्दर्शन द्वारा अगृहीत मिथ्यात्व दूर होने से आत्मभान हो तभी दूर होता है।

जिसे असत् देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा है, जिसके निमित्त ही खोटे हैं, उसके शुभभाव भी उच्च नहीं होते, नवग्रैवेयक जाये वैसे उच्च शुभभाव झूठे निमित्त को माननेवाले के नहीं होते, तब फिर भवभ्रमण तो दूर होगा ही कैसे?

यहाँ तो कहते हैं कि नयपक्ष में रुकना भी छोड़! एक नय कहता है कि आत्मा में कर्म बद्ध हैं, दूसरा नय कहता है कि आत्मा में कर्म अबद्ध हैं—यह दो पक्ष तो सत् देव, सत् गुरु और सत् शास्त्र के निकट से समझा है। इस अपेक्षा से बद्ध है और इस अपेक्षा से अबद्ध है इत्यादि पक्षों को सत् निमित्त के निकट से समझा है। जिनके पास से नय के पक्षों को समझा है, वह कहते हैं कि इन नय के पक्षों में क्यों अटका है! अब अपने स्वभाव में लीन हो जा! विकल्प तोड़कर स्वभाव में स्थिर हो!

देव-गुरु-शास्त्र की ओर के विकल्पों का आश्रय भी तेरे स्वभाव में नहीं है तो फिर अन्य कौन सा आश्रय स्वभाव में होगा? इसलिए निर्विकल्प विज्ञानघन स्वभाव के आश्रय द्वारा विकल्प को तोड़! स्वभाव में स्थिर हो जा।

सत् देव-गुरु के निकट से नय के पक्षों को सुना, उन्होंने पक्षातिक्रान्त होने के लिये समझाया तो फिर उनके कहे हुए नय के पक्षों स्थित रहना भी अच्छा नहीं लगेगा, क्योंकि वे नय के विकल्प सहज स्वभाव नहीं हैं, कृत्रिम हैं, देव-गुरु-शास्त्र की ओर के विकल्प भी कृत्रिम हैं, सहज स्वभाव नहीं हैं।

प्रथम श्रद्धा करे कि नयपक्ष के विकल्प से रहित मेरा सहज स्वरूप पूर्ण ज्ञानघन एकाकार है—इस प्रकार निःशंक हो, पश्चात् चारित्र के अल्प दोषरूप विकल्प हो तथापि वह विवेक से आगे ही बढ़नेवाला है, विकल्प को तोड़ेगा और आगे स्वभाव में बढ़ेगा।

किसी ने अबन्ध पक्ष को पकड़ा उसने भी राग को ही ग्रहण किया; किसी ने बन्ध पक्ष को पकड़ा उसने भी राग को ही ग्रहण किया; दोनों ने राग को ही ग्रहण किया है। द्रव्यदृष्टि से अबद्ध है और पर्यायदृष्टि से बद्ध है—ऐसा वस्तु का स्वरूप है, तथापि उसके राग में रुक जाना वह अपना स्वभाव नहीं है? जो पक्षों को तोड़कर स्वभाव में स्थित होता है वह समयसार को प्राप्त करता है। नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है। यह बात सम्यग्दर्शन की है, पूर्ण वीतरागता की यह बात नहीं है। मेरा वीतराग स्वभाव है ऐसी प्रतीति होने से निर्विकल्प वीतराग स्वभाव में स्थित होना सो समयसार है। वही सम्यग्दर्शन है।

अब, यदि ऐसा है तो त्याग की भावना को वास्तव में कौन नहीं नचायेगा? नचायेगा अर्थात् कौन परिणमित नहीं करेगा? ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्ष के त्याग की भावना के २३ कलशरूप काव्य कहते हैं।

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं,
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त
एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।६९।।

अर्थ:—जो नय पक्षपात को छोड़कर (अपने) स्वरूप सदैव गुप्त होकर रहते हैं वे ही, जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हुआ है—ऐसे होते हुए साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

जो सहज आत्मस्वरूप में गुप्त होकर रहते हैं, स्वसन्मुख होकर स्वरूप में स्थित होते हैं, वे बद्ध-अबद्ध के पक्ष के राग में स्थित नहीं रहते, राग के जाल को छोड़कर जिनका चित्त शान्त हुआ है, वे आत्मा के अमृत आनन्दस्वभाव का स्वाद लेते हैं आकुलता का अभाव होकर निजरस का स्वाद लेते हैं, नयपक्ष के त्याग की भावना को नचा करके परिणमित करके आत्मा के अमृत को पीते हैं।

बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ—ऐसे पक्ष में जो रहते हैं उसके चित्त से क्षोभ दूर नहीं होता—आकुलता नहीं मिटती, राग दूर नहीं होता। परन्तु बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ—वैसे विकल्प भी जिसमें नहीं हैं ऐसे भूतार्थ स्वभाव को ग्रहण करने से ही विकल्प छूटते हैं और जब वीतराग स्वभाव में प्रवृत्ति होती है, आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द सुखस्वरूप अनुभव में आता है, निर्विकल्प वीतरागभाव का वेदन होता है। जो बद्ध-अबद्ध के विकल्प रहित आत्मा का स्वरूप जानते हैं, वे निर्विकल्प स्वभाव के वेदक होते हैं, अनन्त गुण पिण्ड स्वरूप आत्मा का अनुभवन करनेवाले होते हैं। यह बात अपूर्व है, अचिन्त्य और अलौकिक है, इसे समझे बिना स्वभाव की महिमा नहीं आती और भवभ्रमण का अभाव नहीं होता। परन्तु जो इस स्वभाव को समझे उसी को स्वरूप की महिमा आती है, वही निजरस का स्वाद लेनेवाला होता है, उसी को भव-भ्रमण का अभाव होता है।

अब के २० कलशों में नयपक्ष का विशेष वर्णन करते हैं और कहते हैं कि ऐसे समस्त नयपक्ष को जो छोड़ता है, वह तत्त्व वेदी (तत्त्व का ज्ञाता) स्वरूप को प्राप्त होता है:—

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७०।।

अर्थः—जीव कर्म से बँधा हुआ है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव कर्म से बँधा हुआ नहीं है ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के विषय में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है, उसके निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है।)

एक पक्ष की पकड़वाला कहता है कि जीव बँधा हुआ है, दूसरे पक्ष की पकड़वाला कहता है कि जीव बँधा हुआ नहीं है। भगवान आत्मा तो चित्स्वरूप है उसमें ऐसे जो दो पक्ष होते हैं, वे राग के पक्ष हैं, राग के भेद हैं। परन्तु जो तत्त्व का अनुभवी है वह इन राग के पक्षों से रहित है। मैं ऐसा हूँ या वैसा हूँ उन भावों को छोड़कर विकल्प को तोड़कर स्वभाव में स्थित हुआ, निर्विकल्परूप हुआ वह चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है। बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ ऐसे जो विकल्प हैं सो राग का आँगन है। भगवान आत्मा का वह आँगन नहीं है। जो ऐसा जानता है वह तत्त्ववेदी है—स्वरूप का अनुभवी है—तत्त्व का वेदक है।

इस ग्रन्थ में प्रथम से ही व्यवहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्य के परिणाम पर निमित्त के आश्रय से अनेक होते हैं, उन सबको आचार्यदेव पहले से ही गौण कहते आये हैं, और जीव को शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इस प्रकार जीव पदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके, अब कहते हैं कि—जो इस शुद्धनय का भी पक्षपात (विकल्प) करेगा वह भी उस शुद्धस्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं होगा। अशुद्धनय की तो बात ही क्या है! किन्तु यदि कोई शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा और इससे वीतरागता नहीं होगी।

इस शास्त्र में व्यवहारनय को गौण करके, शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया है। कर्म का, राग का, निमित्त का, भेद का विषय करनेवाला ऐसा जो ज्ञान है वह व्यवहारनय है। उस व्यवहारनय का भार इस शास्त्र में गौण करके कथन किया है। आत्मा अनन्त गुणों से शुद्ध है, विकार उसका स्वभाव नहीं है। स्वभाव में मन नहीं, वाणी नहीं, शरीर नहीं है, मात्र शुद्ध अनन्त गुण के पिण्ड स्वरूप आत्मा, इसका विषय करनेवाला ज्ञान सो शुद्धनय है।

जो अनेक प्रकार से विकारी भेद हो वह वस्तु का स्वभाव नहीं है, वह तुझमें नहीं है और तू ऐसा नहीं है। राग-द्वेष का क्षणिक विकार होता है, वह तुझमें नहीं है, तू तो

चिदानन्दमूर्ति है—ऐसा आचार्यदेव पहले से ही कहते आये हैं। आत्मा तो चैतन्यमात्रस्वरूप है उसमें विकार का अंश नहीं है, पर का मेल नहीं है ऐसा शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा है, वह शुद्धनय का विषय है।

आत्मा शुद्ध है—ऐसी शुद्धता की बात आचार्यदेव ने अभी तक कही है, परन्तु यहाँ तो शुद्धनय का विकल्प भी दूर करना है। आत्मा शुद्ध है और आत्मा अशुद्ध है—ऐसे दो विकल्प भी पक्षपात हैं, वे विकल्प टूटे बिना स्वरूप में स्थिर नहीं हुआ जा सकता; इसलिए यहाँ विकल्पों को तोड़ने की बात की है।

शुद्ध कहकर अशुद्धता को गौण किया है, नित्य कहकर पर्याय को गौण किया है, शुद्धनय को जिस विकल्प से कहना चाहता है वह विकल्प भी तेरा स्वभाव नहीं है, अखण्ड स्वभाव की ओर उन्मुख होने के लिये, भंग की ओर से उपयोग को उठाने के लिये तू राग की ओर न देख! शरीर की ओर न देख! निमित्त की ओर मत देख! बन्ध-मोक्ष के दो पक्ष होते हैं, उन्हें भी गौण करके जो मात्र सहज स्वभाव है, उसका आश्रय कर! विकल्पों को तोड़ने के लिये अभेदस्वभाव का आश्रय करने को कहा है। जिस प्रकार नदी में पानी का प्रवाह एकरूप चला आता हो और उसमें बीच में यदि नाला आ जाये तो एकरूप प्रवाह का भंग पड़ जाता है, उसी प्रकार ज्ञान एकरूप प्रवाह से स्वभाव की ओर ढलना चाहिए परन्तु बीच में राग में, शरीर में और निमित्त में रुकने से एकरूप प्रवाह का भंग पड़ता है, इसलिए कहा है कि मात्र ज्ञायक अनन्त गुण से परिपूर्ण है इसका आश्रय करेगा तो निज स्वरूप में अपूर्व आनन्द को प्राप्त होगा। परन्तु यदि शुद्धनय के विकल्प में भी रुक जायेगा तो उस स्वाद को नहीं पा सकेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्धनय के विकल्प में नहीं रुकना, अशुद्धनय की तो बात ही क्या? क्योंकि यदि शुद्धनय का भी पक्ष लेगा, तो भी राग नहीं मिटेगा और वीतरागता नहीं होगी। पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्र स्वरूप में लीन होने से ही समयसार की प्राप्ति होती है, इसलिए शुद्धनय को जानकर उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्धस्वरूप का अनुभव करके स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करना योग्य है।

आत्मा रागी है, द्वेषी है, बँधा हुआ है, शरीर युक्त है—ऐसी दृष्टि जिसके विद्यमान है, उसकी बात तो दूर रही! वह तो शुद्धस्वरूप के आँगन में भी नहीं आया, वह तो

शुद्धस्वरूप से विमुख हो गया है, जरा भी स्वसन्मुख नहीं हुआ है परन्तु जो आत्मा की शुद्धता और अशुद्धता का यथार्थ ज्ञान करके शुद्धस्वरूप के पक्ष के राग में स्थित है, वह भी शुद्धस्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकता, आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता।

अशुद्धनय की ओर का जो असद्भूत व्यवहार है, उसके पक्ष की तो बात ही नहीं है, परन्तु जो गुण-गुणी के राग द्वारा भेद होता है वहाँ भी नहीं रुकना। शुद्धता के आँगन में खड़े-खड़े 'मैं ऐसा हूँ—मैं ऐसा हूँ' ऐसे विकल्प करता हुआ खड़ा रहेगा उसे भी निर्विकल्प स्वाद का स्वादन नहीं होगा, वह वहीं का वहीं रुक जायेगा; जैसा सहज आत्मस्वरूप है वैसा वीतराग नहीं होगा, इसलिए पक्षपात को छोड़कर एक शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप में लीन होने से स्वरूप को प्राप्त किया जाता है। इसलिए शुद्धनय को जानकर, स्वरूप में लीन होकर पक्षपात को छोड़ना।

आचार्यदेव ने शुद्धनय को जानना कहा है, क्योंकि जाने बिना छोड़ेगा क्या? इसलिए आत्मा पर से निराला है—ऐसा बराबर जानकर, अशुद्ध पक्ष को गौण करके, शुद्धस्वरूप को जान! पश्चात् शुद्ध के पक्ष के राग को छोड़कर स्वरूप में लीन हो! कषाय का प्रवर्तन भी स्वरूप में नहीं है—ऐसी यथार्थ श्रद्धा करके श्रद्धा का बल लाओ! श्रद्धा के पश्चात् चारित्र-स्थिरता ला! श्रद्धा का विषय सामान्य है, पश्चात् वर्तन ला अर्थात् विशेष ला! 'ऐसा हूँ और वैसा हूँ' वह विकल्प छोड़कर स्वरूप में प्रवर्तन-आचरण चारित्र ला! यदि विकल्प नहीं छूटेगा तो वीतराग-स्वभाव नहीं होगा।

जैसा स्वरूप है वैसा प्राप्त करना योग्य है परन्तु पक्ष में स्थित रहना योग्य नहीं है, विकल्प में स्थित रहना योग्य नहीं है इसलिए स्वभाव के आनन्द के प्रवर्तन के लिये विकल्प के भंग का त्याग करना चाहिए।

आत्मा परवस्तु की अवस्था को करे और परवस्तु आत्मा की अवस्था को करे—वह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा राग-द्वेष का कर्ता है, वह कहना भी सच्चा नहीं है। यहाँ तो उससे भी सूक्ष्म बात है। वस्तु को देखने के दो पक्ष हैं वह नय है। एक पर अपेक्षा से देखने का पक्ष और एक स्व-अपेक्षा से देखने का पक्ष। आत्मा को कर्म के बन्धन की अपेक्षा से देखना सो व्यवहारपक्ष और अबन्ध अपेक्षा से देखना सो निश्चयपक्ष। उन दोनों पक्षों के विकल्प में रुकना सो नयपक्ष है, राग है। उन पक्षों में स्थित रहने से वीतराग दशा प्राप्त नहीं होती इसलिए उन्हें छोड़कर स्वरूप में लीनता करना योग्य है।

(उपजाति)

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७१।।

अर्थः—जीव मूढ़ (मोही) है, ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव मूढ़ (मोही) नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के विषय में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उन्हें चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है।)

जीव मूढ़ है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव मूढ़ नहीं है ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। नय अपेक्षा का एक ऐसा पक्ष है कि जीव मूढ़ और दूसरा पक्ष है कि जीव मूढ़ नहीं है। अज्ञान भाव से कर्म की ओर युक्त है, पर में उलझ गया है—ऐसी पर्याय की अपेक्षा से देखें तो आत्मा मूढ़ है।

दूसरे नय का पक्ष ऐसा है कि जीव मूढ़ नहीं है। परमार्थदृष्टि से आत्मा मूढ़ नहीं है, वह बात यथार्थ है, क्योंकि त्रिकाल ज्ञानस्वभावी आत्मा कभी भी पर में नहीं उलझता, किन्तु उस ओर का विकल्प सो पक्ष है। परमार्थनय से आत्मा मूढ़ नहीं है वह बात यथार्थ है परन्तु अज्ञान अपेक्षा की दृष्टि से मूढ़ है—यह बात मिथ्या नहीं है, किन्तु वे दोनों नयपक्ष हैं, दोनों नय पक्षों में रुकना वह राग है।

आत्मा का वास्तविक हित कैसे हो—वह बात यहाँ की है। अन्य सब टालते-टालते नयपक्ष भी दूर कर देना वैसा आचार्यदेव का उपदेश है।

आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड है; उसे वर्तमान पर्यायदृष्टि से देखें तो मूढ़ है परन्तु त्रिकाल दृष्टि से देखें तो मूढ़ नहीं है किन्तु उसके ऊपर पक्ष करके रुकना राग है। जो तत्त्ववेदी है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही अनुभव में आता है। मात्र शुद्ध चैतन्यतत्त्व जब अनुभव में लीन है तब चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है, उसमें ऐसा हूँ और वैसा हूँ ऐसे नय के दो विकल्प नहीं हैं। उसे तो चित्स्वरूप जैसा है वैसा ही अनुभव में आता है।

आत्मा की क्षणिक अवस्था में मूढ़ता भासित होती है परन्तु वस्तु दृष्टि से आत्मा मूढ़ नहीं है, कर्म से उलझा हुआ नहीं है। वह दो नयों के दो पक्षपात हैं। मैं कर्म से उलझा हुआ

हूँ और मैं कर्म से पृथक् आत्मा उसमें उलझा हुआ नहीं हूँ—ऐसे दोनों विकल्प वास्तव में व्यवहार ही हैं परन्तु यहाँ एक को निश्चय कहा है। मैं चैतन्यज्योति कर्म में न उलझूँ—ऐसा विकल्प वह पक्ष है। परमार्थ दृष्टि से आत्मा नहीं उलझता वह बात यथार्थ है परन्तु ऐसा विकल्प वह राग है इसलिए व्यवहार है।

राजा बन जाये तो मैं राजा हुआ, राजा हुआ—ऐसा कहाँ तक सोचता रहता है? पश्चात् मैं राजा हूँ ऐसा निर्णय ही हो गया। उसी प्रकार पर से भिन्न चैतन्य ज्योति आत्मा उलझा हुआ नहीं है—ऐसा भान होने के पश्चात् विकल्प में रुका रहे तो स्वानुभव नहीं होता। नमक खारा है, खारा है, ऐसा कहाँ तक सोचता? सोचते रहने से नमक का स्वाद आयेगा? नमक-नमक ऐसा सोचते रहने से नमक खाया जाता है? नहीं खाया जाता। उसी प्रकार मैं अमूढ़ हूँ, मैं अमूढ़ हूँ वैसा सोचते रहने से, उस विकल्प में रुक जाने से स्वभाव का स्वाद आ जायेगा? नहीं।

अनेक प्रकार के कूड़ा-कचरारूप राग के पक्ष दूर करते-करते मन के आँगन में आकर खड़ा रहे और विचार करे कि मैं अमूढ़ हूँ, अमूढ़ हूँ, वह भी पक्ष है। आत्मा तो जैसा है वैसा ही है, उसका वेदन करना सो वस्तु स्वभाव है। वस्तु स्वभाव दो पक्षपात से रहित है। जो तत्त्व का वेदक है, उसे चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही है—वैसा अनुभव में आता है।

(उपजाति)

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७२।।

अर्थ:—जीव रागी है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव रागी नहीं है ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के विषय में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष ऐसा है कि जीव में राग है और दूसरे नय का पक्ष ऐसा है कि जीव में राग नहीं है। वर्तमान अवस्था में राग है—इस प्रकार विकल्प करके रुक जाना एक नय का पक्ष है और दूसरा नय कहता है कि स्वभाव में राग नहीं है। राग नहीं है वह नय दृष्टि से भी भंग किया है। एक चित्स्वरूप में दो भंग नहीं हैं। आत्मा रागी नहीं है और अरागी

नहीं है; रागी नहीं है अर्थात् वीतरागी है और अरागी नहीं है अर्थात् रागी है—ऐसे विकल्प के दो भंग चित्स्वरूप में नहीं हैं। चित्स्वरूप तो निरन्तर चित्स्वरूप ही है।

मिठाई लेने के लिये जाता है तब पूछता है कि मिठाई कितने रुपये सेर है? परन्तु जब खाने के लिये बैठता है तब यह बोलता रहे कि मिठाई कितने रुपये सेर है तो वह मिठाई नहीं खा सकता और न उसका स्वाद ही आता है। सर्वज्ञ का स्वरूप भगवान ने जैसा कहा है वैसा ही पकड़ते-पकड़ते प्रथम राग तो आता है—विकल्प तो आता है, एक अपेक्षा से (अवस्था में) राग है और दूसरी अपेक्षा से राग नहीं है—वैसे विकल्प भी आते अवश्य हैं, किन्तु उन विकल्पों में ही रुक जाये तो चैतन्य के स्वाद का अनुभव नहीं कर सकता। जिस प्रकार पहले मिठाई लेने जाये वहाँ मिठाई का भाव पूछे, अच्छे-बुरे की परीक्षा करे परन्तु जब मिठाई खाने बैठे तब वह सब छोड़ दे तो मिठाई खा सकता है। उसी प्रकार आत्मा को जानने के लिये प्रथम सभी अपेक्षाओं का ज्ञान करे, हित किसमें है और अहित किसमें है—इत्यादि सभी परीक्षा करके यथार्थ निर्णय करे, परन्तु उस विकल्प में रुक जाये तो चैतन्य स्वरूप का स्वाद नहीं ले सकता।

आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। जिस प्रकार सूर्य तो जैसा है वैसा ही है, परन्तु ऊपरवाला कहे कि सूर्य इस ओर है और नीचे वाला कहे कि सूर्य इस ओर है और उसके पार्श्व में खड़ा हुआ दूसरा कहे कि सूर्य मेरी ओर है, परन्तु सूर्य तो जैसा है वैसा ही है, जहाँ है वही है। उसी प्रकार चैतन्य सूर्य तो जैसा है वैसा ही है, परन्तु एक पक्षवाला कहे कि रागी है, दूसरे पक्षवाला कहे कि रागी नहीं है। पर्यायदृष्टि से और द्रव्यदृष्टि से दोनों बातें यथार्थ हैं परन्तु वैसे विकल्प चैतन्य सूर्य में नहीं हैं, उन विकल्पों से रहित चैतन्य सूर्य तो जैसा है वैसा ही है, इससे दो पक्षों का राग छोड़कर आत्मा में एकाग्र हो तो आत्मा के स्वभाव का आनन्द आये। जो तत्त्ववेदी है वह चित्स्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७३।।

अर्थः—जीव द्वेषी है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव द्वेषी नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के विषय में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो

तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उनको निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव द्वेषी है, दूसरे नय का पक्ष है कि जीव द्वेषी नहीं है। अनेकों का ऐसा अभिप्राय होता है कि अपने को कोई प्रतिकूलता करे तब द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जो अपने को बाधक हो उस पर द्वेष होता ही है—ऐसा माननेवाले के अभिप्राय में आत्मा द्वेषी ही है—ऐसा हुआ। वह भी एक पक्ष है; दूसरे पक्षवाला ऐसा कहता है कि आत्मा में द्वेष नहीं है। द्वेष वर्तमान समय की पर्याय में होता है, त्रिकाल दृष्टि से आत्मा में द्वेष-प्रतिकूलता-अरुचि आदि कुछ है ही नहीं; परन्तु ऐसे पक्ष में स्थित रहना सो राग है क्योंकि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप जैसे का वैसा है। वैसे पक्षरहित आत्मा का अनुभव न करके आत्मा द्वेषी नहीं है, वैसा पक्ष करना सो राग है।

परमार्थ से आत्मा में द्वेष नहीं है परन्तु व्यवहार से आत्मा की अवस्था में द्वेष है। जहाँ तक राग का अंश है वहाँ तक द्वेष का अंश भी है परन्तु आत्मा के त्रिकाली मूल स्वभाव में द्वेष नहीं है, किन्तु उस पक्ष के विकल्प में रुकने से राग में अटक जाता है, उसमें ज्ञान संक्रमित होता है, परिवर्तित होता है, इसलिए जो तत्त्व का वेदक है, वह पक्ष के राग में न रुककर चित्स्वरूप जीव में चित्स्वरूप जीव का ही अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७४।।

अर्थः—जीव कर्ता है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव कर्ता नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का ऐसा पक्ष है कि जीव कर्ता है और दूसरे नय का ऐसा पक्ष है कि जीव कर्ता नहीं है। अज्ञानभाव से जीव राग-द्वेष का कर्ता है—ऐसा एक नय का पक्ष है; दूसरे नय का पक्ष ऐसा है कि आत्मा राग-द्वेष का कर्ता तो नहीं है। वास्तव में निर्मल अवस्था का कर्ता भी व्यवहार से है। शुद्धात्मा तो जैसा है वैसा ही है; उसमें किसी प्रकार का भेद-विकल्प लागू नहीं होता इससे कर्ता है और कर्ता नहीं है—ऐसे विकल्प सो पक्ष है, वह रागमिश्रित विचार हैं। तत्त्व का ज्ञाता पक्षपात रहित है।

नमक खारा है, ऐसा निश्चित हो जाने के पश्चात्, यह खारा है, यह खारा है—ऐसा विचार करना नहीं रहता; खारा है यह निश्चित है फिर विचारना नहीं रहता, और यदि विचार करे तो नमक का स्वाद नहीं लिया जा सकता; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव जान लेने के पश्चात् आत्मा कर्ता है और कर्ता नहीं है—ऐसा सोचता रहे तो स्वरूप का स्वाद नहीं लिया जा सकता। आत्मा कर्ता है और कर्ता नहीं है—ऐसी उत्थानवृत्ति सो राग है; वह राग आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का स्वरूप तो रागरहित-वीतराग है।

धर्म आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का भान और प्रतीति करके उसमें स्थिर होना वह धर्म है। मैं कर्ता हूँ और मैं कर्ता नहीं हूँ—ऐसे राग मिश्रित विचार आत्मा के स्वभाव का कर्तव्य नहीं है, वह तो मन के अवलम्बन का कर्तव्य है। मैं पुण्य परिणामों का कर्ता हूँ और मैं पुण्य परिणामों का कर्ता नहीं हूँ, मैं स्वभाव अवस्था का कर्ता हूँ—निर्मल अवस्था का कर्ता हूँ—ऐसे विकल्प वह राग है—अस्थिरता है। जिस प्रकार पानी को हिलाया जाये तो वह हिलता है, उसी प्रकार विकल्प है वह स्थिर स्वभाव नहीं परन्तु चंचल हैं। आत्मा में सहज स्वभाव जैसा है वैसा भरा हुआ है, उस एकरूप स्वभाव में विकल्पों का भेद करना वह चंचलता है। तत्त्ववेदी उन विकल्पों में रहित है, चित्स्वरूप आत्मा का अनुभवन करता है।

(उपजाति)

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७५।।

अर्थ:—जीव भोक्ता है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव भोक्ता नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के विषय में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपातरहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि आत्मा भोक्ता है और दूसरे नय का पक्ष है कि आत्मा भोक्ता नहीं है। शरीर में बुखार आये तब अरुचि-अरति-ग्लानि करता है और निरोगता के समय राग करता है; उस राग-द्वेष और अज्ञान को ही भोगना होता है। रोग और निरोगता को कोई नहीं भोगता, परन्तु उसमें राग, द्वेष और अज्ञानभाव ही भोगे जाते हैं। एक नय कहता है कि अज्ञानभाव से हर्ष-शोक का भोक्ता है और ज्ञानभाव से ज्ञान का भोक्ता है; दूसरा नय कहता

है कि आत्मा को भोक्ता कहना भी व्यवहार है, इसलिए आत्मा भोक्ता नहीं है, वह तो जैसा है वैसा ही है, परन्तु जैसा है वैसा ही है—ऐसा विकल्प भी राग है; जो तत्त्व का ज्ञाता है वह सर्व विकल्प से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७६।।

अर्थः—जीव, जीव है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव, जीव नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

नित्य ज्ञानदर्शनरूप चैतन्य भावप्राण को धारण करना जिसका लक्षण है, उस जीवत्वशक्ति द्वारा आत्मा को जीव कहा जाता है। एक नय का ऐसा पक्ष है कि जीव जीव है, दूसरे नय का ऐसा पक्ष है कि जीव जीव नहीं है। आत्मा स्वतः है, वह बात तो सच्ची है, परन्तु मैं जीव हूँ, मैं जीव हूँ—ऐसा विकल्प है, वह राग का पक्ष है। जीव जीव नहीं है, अर्थात् जीव अपनेरूप है और पररूप नहीं है, है वह अपनी अपेक्षा से और नहीं है वह पर की अपेक्षा से—इस प्रकार दो नयों के दो पक्ष हैं। यहाँ अस्ति-नास्ति की बात की है। वस्तुस्वभाव से तो आत्मा अपनेरूप है और पररूप नहीं है। वस्तुस्वभाव तो ऐसा ही है परन्तु मैं जीव अपनेरूप हूँ और पररूप नहीं हूँ—ऐसे राग के पक्ष में जो रुकता है उसे आत्मा का अनुभव नहीं होता। माल को तोलकर रख देने से कहीं खाने का अनुभव नहीं होता, परन्तु जब माल खाये तभी खाने का अनुभव होता है। उसी प्रकार नय द्वारा आत्मा को जानकर गोखते रहने से कहीं आत्मा के निजरस का वेदन नहीं होता, परन्तु पक्ष छोड़कर आत्मा में लीन होने से आत्मा के निजरस का वेदन होता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में रागस्वरूप वृत्ति का उत्थान नहीं है परन्तु आत्मा की विकारी पर्याय में राग का उत्थान है। राग की वृत्ति तो आकुलित और दुःखस्वरूप है इसलिए तत्त्व का वेदक ज्ञानी अनाकुल आनन्दमय चैतन्यस्वरूप में लीन होकर राग की वृत्ति तोड़कर आत्मा के अपूर्व रस का अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७७।।

अर्थ:—जीव सूक्ष्म है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव सूक्ष्म नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के विषय में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्षवाला कहता है कि जीव सूक्ष्म है; सूक्ष्म है वह बात यथार्थ है परन्तु उसके विकल्प में रुकना वह राग है। वह मन, वाणी या शुभाशुभ परिणामों से पकड़ में नहीं आता इसलिए सूक्ष्म है। शरीर, मन, वाणी आत्मा में नहीं हैं; वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श भी आत्मा में नहीं हैं; वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रूपी हैं और आत्मा अरूपी है इसलिए सूक्ष्म है। कोई कहे कि श्वास तो आत्मा का है न? नहीं भाई! श्वास तो रूपी है और आत्मा अरूपी है, इसलिए श्वास स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म है। शरीर की आयु पूर्ण हो जाती है तब श्वास रुक जाती है और शरीर यहीं पड़ा रहता है। सूक्ष्म ज्ञानघन आत्मा देह से मुक्त होकर दूसरी गति में जाता है। शरीर, मन, वाणी, श्वास, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श स्थूल हैं और आत्मा सूक्ष्म है; परन्तु सूक्ष्म हूँ, सूक्ष्म हूँ—ऐसे विकल्प में रुकना वह राग है, इसलिए जो विकल्प को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होता है, वह आत्मा का अनुभव करता है।

दूसरे पक्षवाला कहता है कि—आत्मा स्थूल है, उसके दो प्रकार हैं:—एक प्रकार तो ऐसा है कि शरीर और इन्द्रियों के साथ सम्बन्धवाला है इसलिए स्थूल है। दूसरा प्रकार यह है कि—पहाड़ पर खड़ा हो और पच्चीस कोस दूर के पदार्थ ज्ञात होते हैं, इससे आत्मा पच्चीस कोस जितना नहीं हो जाता, परन्तु वह सब ज्ञान जानता है इसलिए आत्मा स्थूल है। केवलज्ञान में लोकालोक ज्ञात होते हैं इसलिए आत्मा स्थूल है। सब कुछ ज्ञात होता है, उस अपेक्षा से स्थूल है वह बात सच्ची है परन्तु उसके राग के पक्ष में रुकने से स्वसन्मुखता नहीं होगी। किसी भी नय के राग में रुकने से स्वरूप का वेदन नहीं आता। गन्ने को खाना और खीर का स्वाद एक साथ नहीं आता, खीर का स्वाद लेना हो तो गन्ने को छोड़ देना पड़ता है; उसी प्रकार मैं इस अपेक्षा से स्थूल हूँ और इस अपेक्षा से सूक्ष्म हूँ—वैसे विचार के अवलम्बन से स्थिर होने जाये तो स्थिर नहीं हो सकता; वह छिलका

तो निकाल देने योग्य है। राग के विकल्प के छिलके को निकाल दे तो वीतरागी खीर का स्वाद आये। स्वसन्मुख होते ही विकल्प विलीन होते हैं—उन्हें छोड़ना नहीं पड़ता। यह तो मात्र तत्त्वदृष्टि-सम्यग्दृष्टि-निर्विकल्प श्रद्धा-वीतरागी श्रद्धा चौथे गुणस्थान में होती है उसकी बात है। रागमिश्रित विचार की या विकल्प की यह बात नहीं है। जैसे अन्धेरे को हटाने का श्रम वृथा है अत: उसे हटाना नहीं पड़ता किन्तु प्रकाश करते ही वह उत्पन्न नहीं होगा, इस प्रकार त्रैकालिक ज्ञाता स्वभाव की दृष्टि और अनुभव किया कि रागादि में कर्तृत्व ममत्वरूप महा क्लेश उत्पन्न नहीं होगा।

(उपजाति)

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७८।।

अर्थ:—जीव हेतु (कारण) है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव हेतु (कारण) नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है, इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपातरहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्ष कहता है कि आत्मा कारण है और दूसरा पक्ष कहता है कि आत्मा कारण नहीं है। पर्यायदृष्टि से आत्मा अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कारण कहलाता है परन्तु वस्तुदृष्टि से सम्पूर्ण वस्तु राग-द्वेष का कारण नहीं है; मात्र वस्तु की अवस्था में राग-द्वेष होता है। नवीन-नवीन अज्ञानभाव होते हैं वह राग-द्वेष का कारण है। यदि वस्तु राग-द्वेष का कारण हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकता। पर्यायदृष्टि से आत्मा राग-द्वेष का कारण है वह बात सत्य है, परन्तु उस विकल्प में रुक जाना वह संसार का कारण है।

यदि आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना और उसमें स्थिर न हुआ तो सिर पर चौरासी का अवतार खड़ा है, जहाँ कोई शरण नहीं है, कोई सगा-सम्बन्धी नहीं है, दुकान नहीं है, खेत नहीं है; नाम, ठाम, गाम आदि कुछ भी नहीं है—ऐसे कुत्ते, कौवे, गधे आदि के भवों में चला जायेगा।

कोई कहेगा कि यह सब किससे कहा जा रहा है? प्रभु! तेरी प्रभुता, अन्तरंग शक्ति कैसे प्रगट हो यह अपूर्व बात धर्म के जिज्ञासावान को कहते हैं। एक बार श्रद्धा से तो प्रभु हो जा! फिर साक्षात् प्रभु होने का समय किसी दिन आयेगा, असली स्वभाव से तो सभी

प्रभु हैं—वैसी एक बार श्रद्धा तो कर! पश्चात् वर्तमान पर्याय में जो मलिनता है उसे पुरुषार्थ द्वारा टालकर निर्मल पर्याय प्रगट करके वीतरागता होगी।

यदि इस समय न चेता तो मरकर चला जायेगा चौरासी के चक्कर में! ढूँढ़ने पर हाथ नहीं आयेगा! इस शरीर में यदि तत्त्व न समझा तो चौरासी के चक्कर में ढूँढ़ने पर हाथ नहीं आयेगा! जिस प्रकार बिना डोरा पिरोयी हुई सुई कूड़े में खो जाती है, उसी प्रकार चौरासी के अवतार में खो जायेगा। सम्यग्ज्ञान रूपी सच्चा डोरा पिरोया तो चौरासी के कूड़े में नहीं खोने पायेगा, किन्तु यदि सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा नहीं पिरोया तो जिस प्रकार सुई खो जाती है, उसी प्रकार खो जायेगा। आँधी में उड़ा हुआ तिनका फिर ढूँढ़ने से हाथ नहीं आता! इसलिए यथार्थ ज्ञान कर, यथार्थ प्रतीति कर और स्वरूप में स्थिर हो!

वास्तव में, मरनेवाला मरकर कहाँ गया, उसे कोई नहीं देखता लेकिन सब अपने स्वार्थ को रोते हैं। 'हाय-हाय! मेरा इकलौता बेटा हीरा चला गया'—इस प्रकार अपने स्वार्थ को रोते हैं। परन्तु लड़के के आत्मा का क्या हुआ? वह कहाँ गया? अच्छी गति में या दुर्गति में? वह कोई नहीं देखता; परन्तु मात्र अपने स्वार्थ को ही सब याद करते हैं। सगे, कुटुम्बी सभी मात्र स्वार्थ के ही साथी हैं। उसके आत्मा का क्या हुआ होगा उसकी किसी को नहीं पड़ी है; यदि उसके आत्मा का और उसके भव का विचार करें तो अपना भी इस भव का राग उड़ जाये। भाई! भव भ्रमण का अन्त करना हो तो आत्मा की पहिचान कर।

आत्मा कारण है और आत्मा कारण नहीं है—ऐसे दो विकल्पों में रुकना छोड़कर आत्मा में रुकना वह आत्ममार्ग है। कारण है और कारण नहीं है—वैसे विकल्प छोड़कर स्वरूप स्थित होना वह मार्ग है। प्रथम निश्चय श्रद्धान और बाद विशेष पुरुषार्थ द्वारा, चारित्र द्वारा स्वरूप में स्थित हो सकते हैं।

लक्ष्य साधे बिना यदि बाण मारा जाये तो वस्तु को नहीं बींध सकेगा; उसी प्रकार आत्मा का यथार्थ स्वरूप दो पक्षों से रहित जैसा है वैसी पहिचान न करे, निर्विकल्प प्रतीति न करे तो जड़-चैतन्य की धारा को बींधकर भेदज्ञान किस प्रकार करेगा? स्थिर किस प्रकार होगा? इसलिए आत्मा का जैसा है वैसा पर से निराला पवित्र स्वरूप जानकर, उसकी प्रतीति करके, राग-द्वेष को और आत्मा के स्वभाव को बींधकर पृथक् करके स्वरूप में एकाग्र होने से आत्मा की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। आत्मा पर्याय से राग-द्वेष

का कारण है और वस्तुदृष्टि से कारण नहीं है—ऐसे विकल्प में तत्त्ववेदी नहीं रुकते, उन्हें चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही अनुभव में आता है।

(उपजाति)

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७९।।

अर्थ:—जीव कार्य है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव कार्य नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपातरहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्ष कहता है कि जीव की अवस्था कार्यरूप है, दूसरा पक्ष कहता है कि कार्यरूप नहीं है; वास्तव में तो जीव का स्वभाव जैसा है, वैसा ही है। विपरीत पुरुषार्थ से आत्मा अज्ञान और राग-द्वेष का कार्य करता है और सीधे पुरुषार्थ से स्वभाव की निर्मल पर्याय का कार्य करता है। इस प्रकार पर्यायदृष्टि से जीव कार्यरूप है और द्रव्यदृष्टि से वस्तु त्रिकाल एकरूप है, इस प्रकार पर्याय से और द्रव्य से वस्तु का स्वभाव जैसा है वैसा है। कार्यरूप है और कार्यरूप नहीं है—ऐसे विकल्प को छोड़कर अर्थात् स्वसन्मुख होकर तत्त्ववेदी शान्त आनन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८०।।

अर्थ:—जीव भाव है (भावरूप है) ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव भावरूप नहीं है; ऐसा दूसरे नय का पक्ष है। इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि आत्मा भावरूप है, दूसरे नय का पक्ष है कि आत्मा वैसा नहीं है—भावरूप नहीं है। पर की अपेक्षा से अभावरूप है और अपने रूप से भावरूप है। पररूप से अभाव है अर्थात् इस शरीररूप से आत्मा नहीं है; शरीररूप से भी आत्मा भावरूप हो तो परभव में आत्मा जाता है उसके साथ शरीर भी जाना चाहिए; किन्तु वैसा नहीं होता,

इसलिए शरीररूप से भावरूप नहीं है; किन्तु शरीररूप से आत्मा का अभाव है। आत्मा का आत्मारूप से भाव है, इस प्रकार आत्मा भावरूप है और आत्मा परद्रव्य-क्षेत्र-काल और परभाव अपेक्षा अभावरूप है—ऐसे दो विकल्पों में रुकना वह राग है। उन दो पक्षों को छोड़कर अभेद स्वरूप में रहना वह वीतरागता है। वस्तु तो स्वभाव में जैसी है वैसी है, उसमें भाव-अभाव के भंग-भेद के विकल्प नहीं हैं। जो तत्त्ववेदी हैं वे वस्तुस्वरूप का यथावत् वेदन करते हैं।

सूर्योदय हो तब एक कहे कि सूर्य पूर्व में है और दूसरा कहता है कि पश्चिम में है। पूर्व दिशा की ओर मुँह करके खड़ा हुआ कहता है कि सूर्य पूर्व में है, और पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके खड़ा हुआ कहता है कि सूर्य पश्चिम में है; परन्तु सूर्य तो जैसा है वैसा ही है। पूर्व और पश्चिम दिशा के पक्षपात से जो रहित है वह तो कहता है कि सूर्य तो जैसा है वैसा है। उसी प्रकार चैतन्य तो है वह है, परन्तु चैतन्य है और चैतन्य नहीं है—ऐसे विकल्प में रुकना वह राग है। चैतन्य नहीं है इससे वस्तु नहीं है—ऐसा नहीं, परन्तु इसके राग में लीन होना छुड़ाते हैं। वस्तु तो है परन्तु वह पररूप से नहीं है। सिद्ध सिद्धरूप है परन्तु पररूप नहीं है, इसी प्रकार चैतन्य चैतन्यरूप है परन्तु पररूप नहीं है। इस प्रकार वस्तु तो है—अस्ति तो है परन्तु विकल्प छुड़ाते हैं। यह वस्तु कितने पैसों की है—ऐसा सोचता रहे तो उस वस्तु को नहीं खाया जा सकता; खाने के समय गोखता रहे तो खाने का स्वाद नहीं आ सकता। आत्मा ऐसा है, ऐसा है ऐसा गोखता रहे तो आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। खाने के समय जीभ गोखने का कार्य करती है या खाने का? गोखने का ही काम करे तो गोखते समय खाया नहीं जा सकता। इस प्रकार विकल्प से गोखता रहे कि मैं भावरूप हूँ, मैं भावरूप नहीं हूँ; मैं अपने से हूँ और पर से नहीं हूँ ऐसे विकल्प में रुके तो स्वरूप का स्वाद नहीं ले सकता। जो तत्त्ववेदी हैं वे आत्मा का स्वभाव जैसा है उसका वैसा ही अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८१।।

अर्थ:—जीव एक है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव एक नहीं है—ऐसा

दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं-उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्षवाला कहता है कि जीव एक है, गुण और अवस्था से अनेक होने पर भी वस्तु से एक है, इसलिए उस अपेक्षा से उसकी बात सत्य है; गुण की अपेक्षा से और पर्याय की अपेक्षा से जीव को अनेक भी कहा जाता है; देह से प्रत्येक आत्मा भिन्न हैं, समस्त आत्मा एकत्रित होकर एक है—ऐसा नहीं है। द्रव्य अपेक्षा से एक है—ऐसी बात कही है; लेकिन प्रत्येक आत्मा पृथक् है। वेदान्त कहता है कि सर्वत्र सर्व-व्यापक आत्मा एक ही है; वह बात बिल्कुल मिथ्या है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि एक—अनेक के विकल्प में रुकने से आत्मा का स्वाद नहीं आता। खीर खाना और उसका वर्णन करना वह एक साथ नहीं हो सकता, वाणी का विषय और खाना एक साथ नहीं बन सकता; उसी प्रकार विकल्प का विषय करना और आत्मस्वभाव का वेदन करना वह एक साथ नहीं बन सकता। वाणी में उपयोग लगाता जाये और भोजन के स्वाद में उपयोग रहे वे दोनों एक साथ नहीं हो सकते; उसी प्रकार विकल्प करता जाये और आत्मा के निजरस का स्वाद लेता जाये—वे दोनों एक साथ नहीं बन सकते।

सोना पीला है, चिकना है,—वैसी भेददृष्टि से देखो तो अनेक कहलाये, परन्तु पीलेपन और चिकनेपन से सोना पृथक् नहीं होता—ऐसी अभेददृष्टि से देखो तो एक है; इसी प्रकार गुण और पर्याय के भेद की ओर से देखो तो आत्मा अनेक है परन्तु ज्ञान-दर्शनादि गुण और प्रति समय की पर्याय से आत्मा भिन्न नहीं होता—ऐसी अभेददृष्टि से देखो तो आत्मा अपने गुण पर्याय में एक है। परन्तु उस एक-अनेक के रटन में रुका रहे तो स्वरूप की एकाग्रता नहीं होगी। परन्तु जो तत्त्ववेदी हैं अर्थात् तत्त्व के ज्ञाता हैं, वे ऐसे एक-अनेक के विकल्प में न रुककर आत्मा के विज्ञानघन स्वभाव में एकाग्र होकर निजस्वभाव का स्वाद लेते हैं। निरन्तर चैतन्यस्वरूप जीव को चैतन्यस्वरूप ही जानते हैं।

(उपजाति)

एकस्य सान्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८२।।

अर्थः—जीव सांत (अन्तरहित) है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव सांत

नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं; जो तत्त्ववेदी पक्षपातरहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक अभिप्रायवाले का पक्ष है कि आत्मा सांत है, और दूसरा कहता है कि सांत नहीं है। एक समय की अवस्था होती है, वह दूसरे समय नहीं होती, दूसरे समय दूसरी अवस्था होती है—उस पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अन्त सहित है—वैसा कहा है। और आत्मा पर्याय जितना नहीं है; एक शरीर में यदि आत्मा पचास वर्ष तक रहे तो वह पचास वर्ष जितना नहीं है। आत्मा तो अनादि अनन्त अखण्ड, एकरूप त्रिकाल है। परन्तु एक समय की अवस्था जितना, दस वर्ष जितना या पचास वर्ष जितना नहीं है। आत्मा का स्वरूप तो जैसा है वैसा है, परन्तु अन्त सहित हूँ या अन्त रहित हूँ—ऐसे विकल्पों में रुकना वह धर्म का कारण नहीं है—धर्म नहीं है। बोलता जाये और खाता जाये, वह एक साथ नहीं बनता; उसी प्रकार विकल्पों में रुकना और आत्मा का अनुभव करना-दोनों एक साथ नहीं होते। ऐसा हूँ और ऐसा नहीं हूँ—ऐसा विकल्प भी अन्तर्जल्प है, उस अन्तर्जल्प में रुकने से आत्मा का अनुभव नहीं होता, इसलिए जो तत्त्ववेदी-तत्त्व का ज्ञाता है, वह ऐसे विकल्पों को छोड़कर चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८३।।

अर्थः—जीव नित्य है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव नित्य नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्षवाला कहता है कि आत्मा नित्य है और दूसरे पक्षवाला कहता है कि आत्मा नित्य नहीं है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर आत्मा नित्य है—ध्रुव है, परन्तु ऐसे राग-विकल्प में रुक जाने से आत्मा का वेदन नहीं होता। वस्तु स्वतः स्थायी रहकर अवस्था से परिवर्तित होती रहती है, इसलिए अवस्था से आत्मा अनित्य है। जिस प्रकार सोना स्थायी रहकर अवस्था बदलता रहता है, क्षण में कड़ा होता है, घड़ी में कुण्डल होता है, घड़ी में अँगूठी होता है; सोना एकरूप रहने पर भी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं; उसी प्रकार

आत्मा एकरूप रहने पर भी समय-समय की अवस्थाएँ बदलता है।

कोई कहे कि आप तो इसमें नित्य और अनित्य—सब निकाले देते हो। नहीं भाई! निकालते नहीं हैं, परन्तु वस्तु का सच्चा स्वरूप जैसा है वैसा समझाते हैं; स्वरूप को नहीं निकालते हैं परन्तु उस-ओर के राग-विकल्प को निकाल देने के लिये कहते हैं।

जिस प्रकार माल लेते समय बाँट-तराजू से तोलकर माल लेते हैं; परन्तु उसे खाते समय उस माल का स्वाद लिया जाता है—तराजू-बाँट साथ में नहीं लिये जाते; उसी प्रकार प्रथम वस्तुस्वरूप को जानने के लिए इन सभी पक्षों से वस्तु का निर्णय किया जाता है परन्तु अनुभव करते समय उन सभी पक्षों का राग रखे तो अनुभव न हो इसलिए जो तत्त्ववेदी हैं, वे पक्षों का राग छोड़कर आत्मा का स्वाद ले रहे हैं।

(उपजाति)

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८४।।

अर्थः—जीव वाच्य (वचन से कहे जाने योग्य) है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव वाच्य (वचनगोर) नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही है।

एक कहता है कि जीव वाच्य है और दूसरा कहता है कि वाच्य नहीं है—वे दोनों पक्षपात हैं। एक अपेक्षा से जीव कथंचित् वाणी से कहा जा सके-ऐसा है; यदि किसी भी अपेक्षा से कहा जा सके तो केवलज्ञानी की वाणी में पदार्थ का स्वरूप नहीं आये, इसलिए कथंचित् वचनगोचर है। जैसे कि घी का स्वाद वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता तथापि संकेत द्वारा कुछ बताया जाता है, इसलिए कथंचित् वचनगोचर है।

वाणी द्वारा आत्मा का स्वरूप कहा जा सकता है; केवलज्ञानी की वाणी में समस्त पदार्थों का स्वरूप आता है। परमार्थ दृष्टि से पदार्थों का पूर्णस्वरूप वाणी में नहीं आता। जैसे कि घी का स्वाद वाणी द्वारा कहे परन्तु सन्तोष नहीं होता। जब घी जैसे पदार्थ का वर्णन वाणी द्वारा सन्तोषपूर्वक नहीं हो सकता, तो फिर आत्मा का अनुभवरस वाणी से कैसे

कहा जा सकता है ? आत्मा का अद्‌भुत रस वाणी में कहने से सन्तोष नहीं होता; इसलिए आत्मा वचन से अगोचर है। आत्मा वचन अगोचर है और आत्मा वचनगोचर है—वैसा वृत्ति का उत्थान आत्मा के स्वरूप में नहीं है; वे दोनों पक्षपात हैं; जो तत्त्ववेदी हैं वे उन दोनों पक्षपातों को छोड़कर चित्स्वरूप का वेदन करते हैं।

एक ओर ऐसा कहा जाता है कि—'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमाँ, कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो,' और ऐसा भी कहा जाता है कि—भगवान के शब्द ब्रह्म में सम्पूर्ण स्वरूप आता है। ऐसी बात आये वहाँ अज्ञानी को विरोध भासित होता है परन्तु अपेक्षा से यह दोनों बातें यथार्थ हैं। वस्तुस्वरूप की बहुत महिमा आये तब ऐसा भी कहते हैं कि—अहो! वस्तु का स्वरूप वाणी से अगोचर है; जैसे कि—'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमाँ' इत्यादि। और ऐसा भी कहा जाता है कि—शब्दब्रह्म सर्व का प्रकाशक है। वे दोनों नयपक्ष हैं; वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा है इसलिए विकल्प में नहीं रुकना चाहिए, परन्तु उसे यथावत् समझकर उसका अनुभव करना-वेदन करना। जो तत्त्ववेदी हैं, वे निजस्वरूप का यथावत् अनुभव करते हैं।

आत्मा ज्ञानभाव से शुभाशुभ परिणामों का भी कर्ता नहीं है; दो नय के पक्ष होते हैं, उनका कर्तृत्व भी आत्मा के नहीं है। दो नयों के पक्ष में रुकने से आत्मा का स्वाद नहीं लिया जा सकता।

जिस प्रकार बोलनेवाला मनुष्य बोलते समय खा नहीं सकता, उसी प्रकार विकल्प के समय आत्मा का स्वाद नहीं आता। जिस प्रकार गन्ना चूसते समय खीर का स्वाद नहीं लिया जा सकता, उसी प्रकार विकल्प करनेवाला विकल्प करे कि—मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ, उसी प्रकार अन्तर्जल्प करता जाये और साथ ही साथ आत्मा का स्वाद भी लेता जाये—ऐसा नहीं हो सकता; इसलिए विकल्प छोड़कर स्वरूप का स्वाद लेना।

(उपजाति)

एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८५।।

अर्थः—जीव नानारूप है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव नानारूप नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो

तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष है कि जीव नानारूप अर्थात् अनेकरूप है, और दूसरे नय का पक्ष ऐसा है कि जीव अनेकरूप नहीं है। अनेक गुण-पर्याय की दृष्टि से आत्मा नानारूप है और वह आत्मा गुण-पर्याय के पिण्डरूप एक वस्तु है, इसलिए वस्तु दृष्टि से आत्मा एक है। श्रद्धा-ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण हैं, इसलिए आत्मा अनेकरूप है, और गुण-पर्याय के पिण्डरूप एक वस्तु है इसलिए एकरूप है।

मैं नानारूप हूँ और नानारूप नहीं हूँ अथवा मैं एकरूप हूँ और एकरूप नहीं हूँ—ऐसे शुभविकल्प में रुकना वह सहज अवस्था की स्थिति को विघ्नरूप है; ऐसे शुभविकल्प भी विघ्नरूप हैं, तब फिर दूसरे विकल्पों की तो बात ही क्या?

स्वत: एक है या अनेक है—इत्यादि विचार प्रारम्भ में आते हैं; मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, स्थिरतास्वरूप हूँ—इत्यादि गुणों का विचार प्रारम्भ में आता है, परन्तु एकाग्र होते समय वह काम नहीं आता; वह विकल्प विघ्नरूप है। जो तत्त्ववेदी हैं, वे दो पक्षपात से रहित हैं; वे तो चैतन्यस्वरूप का वेदन करनेवाले हैं।

८१वें कलश में ऐसा कहा है कि—जीव एक है और एक नहीं है; यहाँ ८५वें कलश में जीव अनेक है और अनेक नहीं है—ऐसा कहा है। ८१वें कलश में एक की अस्ति की ओर की बात ली है और यहाँ ८५वें कलश में अनेक की अस्ति की ओर की बात ली है, उतना अन्तर है। जो तत्त्ववेदी हैं, वे दोनों पक्षपातों से रहित हैं और चित्स्वरूप आत्मा का ही वेदन करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८६।।

अर्थ:—जीव चेत्य (ज्ञात होने योग्य है) है—ऐसा एक नय का पक्ष है, और जीव चेत्य नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नय का पक्ष ऐसा है कि जीव ज्ञात होने योग्य है और दूसरे नय का ऐसा पक्ष

है कि जीव ज्ञात होने योग्य नहीं है। जीव ज्ञात होने योग्य है—वह बात सत्य है, परन्तु मैं ज्ञात होने योग्य हूँ, मैं ज्ञात होने योग्य हूँ—वैसे विकल्प में रुक जाये तो स्वभाव का स्वाद नहीं आयेगा। मिश्री मीठी है, मीठी है—वैसा रटता रहे तो मिश्री का स्वाद नहीं आयेगा; किन्तु मिश्री खाये तो उसका स्वाद आये। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव रटता रहने से स्वभाव का स्वाद नहीं आता, परन्तु स्वभाव का वेदन करे तो स्वभाव का स्वाद आये। दो पक्षों के राग में रुकेगा तो निर्विकल्प सदानन्दी का स्वाद नहीं आयेगा।

आत्मा अज्ञान से दिखायी नहीं देता, इन्द्रियों से मन से दिखायी नहीं देता, इसलिए एक अभिप्राय ऐसा है कि आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है, परन्तु आत्मा स्वभाव से ज्ञात होता है इसलिए ज्ञात होने योग्य है, यह बात सत्य है, परन्तु दोनों प्रकार के विकल्पों में रुकने से निर्विकल्प स्वभाव में भंग पड़ता है। जो तत्त्ववेदी हैं वे निरन्तर चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूप ही अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८७।।

अर्थ:—जीव दृश्य है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव दृश्य नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के विषय में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

८६वें कलश में ज्ञात होने योग्य कहा और यहाँ अन्तर्दृष्टि से दृश्य होने योग्य कहा; ८६ में विशेष चेतना कही और यहाँ ८७ में सामान्य चेतना कही है।

परद्रव्य के आश्रय से, इन्द्रियों से या शुभराग द्वारा आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है, दृष्टिगोचर होने योग्य नहीं है—इस प्रकार विकल्प करते रहना भी राग है। और आत्मा स्वभाव से ज्ञात होने योग्य-दृष्टिगोचर होने योग्य है—ऐसा विकल्प करते रहना भी राग है। दोनों अपेक्षाओं से आत्मा जैसा है, वैसा जानने के पश्चात् भी राग में स्थित रहना कि—आत्मा ज्ञानमूर्ति दृष्टिगोचर होने योग्य है और दृष्टिगोचर होने योग्य नहीं है—यह भी आत्मा के स्वभाव को विघ्न करनेवाला है, स्वरूप के वेदन को रोकनेवाला है। जो तत्त्ववेदी हैं, वे निरन्तर चैतन्यस्वरूप का उपभोग करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८८।।

अर्थः—जीव वेद्य (वेदन होने योग्य, ज्ञात होने योग्य) है—ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव वेद्य नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं, उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्ष कहता है कि आत्मा वेदन योग्य है, और दूसरा पक्ष कहता है कि वेदन होने योग्य नहीं है। स्वभाव द्वारा-स्व अपेक्षा से आत्मा वेदन होने योग्य है और पर अपेक्षा से—पर इन्द्रियों द्वारा आत्मा वेदन होने योग्य नहीं है। वेदन होने योग्य है और नहीं है—वे दोनों विकल्प हैं; वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा समझकर स्वरूप का वेदन करना ही हितकर है। जो तत्त्ववेदी हैं वे निरन्तर चैतन्यस्वरूप का वेदन कर रहे हैं—अनुभव कर रहे हैं—भोग रहे हैं।

(उपजाति)

एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८९।।

अर्थः—जीव 'भात' (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है—ऐसा एक नय का पक्ष है, और जीव 'भात' नहीं है—ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है, अर्थात् उन्हें चित्स्वरूप जैसा है वैसा ही अनुभव में आता है।

एक नय का अभिप्राय ऐसा है कि जीव प्रत्यक्ष है वह बात सत्य है, क्योंकि जीव कहीं स्वयं अपने से परोक्ष होता है? नहीं होता। जीव स्वतः ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है, इसलिए प्रत्यक्ष है। दूसरे नय का पक्ष ऐसा है कि जीव प्रत्यक्ष नहीं है; इन इन्द्रियों से आत्मा ज्ञात नहीं होता इसलिए प्रत्यक्ष नहीं है। आत्मा स्वयं अपने द्वारा ज्ञात होता है परन्तु निम्नदशा में बीच में मन का निमित्त आता है, जानते हुए मन और इन्द्रियों का निमित्त आता

है इसलिए आत्मा परोक्ष है। परन्तु बीच में निमित्त आने पर भी ज्ञान ज्ञान द्वारा ही जानता है, इसलिए आत्मा प्रत्यक्ष है।

कितने ही लोग कहते हैं कि आत्मा तो जब केवलज्ञान हो तब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है परन्तु इसी समय प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। अरे भाई! वह बात सम्पूर्णता की अपेक्षा से सच है परन्तु निम्नदशा में भी अनुभव की अपेक्षा से आत्मा प्रत्यक्ष है; दूसरे प्रकार से द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से स्वरूपप्रत्यक्ष भी है। केवलज्ञान हो तब सकलप्रत्यक्ष कहलाता है—वह सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होने की अपेक्षा से है। आत्मा को जानते हुए क्षयोपशम ज्ञान में मन का निमित्त आता है इसलिए आत्मा परोक्ष है। इस अपेक्षा से आत्मा प्रत्यक्ष है और इस अपेक्षा से आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है—ऐसे विकल्प में रुकना वह खेद है।

प्रथम आत्मा का अनुभव हो तब विकल्प टूट जाता है और स्वरूप में स्थिर होते हैं, और फिर बाह्य लक्ष्य लाये तब विकल्प आता है, परन्तु उससे स्वरूप का भान नहीं जाता। और फिर अपनी पदवी के अनुसार स्वरूपस्थित हो जाते हैं, और फिर बाह्य लक्ष्य आता है। इस प्रकार साधकदशा में वर्तते रहते हैं। परन्तु जो विकल्प है, वह खेद है—दुःख का कारण है।

जिसे स्वरूप का स्वाद लेना हो वह आत्मा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष नहीं है—ऐसा गोखता रहे तो स्वरूप का स्वाद नहीं आयेगा। नमक खारा है, खारा है—ऐसा खाते समय भी गोखता होगा? नहीं गोखता। इसी प्रकार आत्मा शान्त-आनन्दस्वरूप है, इसमें स्थिर होना हो तो विकल्प क्या? विकल्प आये वह तो दुःख का कारण है। शरीर का नाम तो जो है वही है, उसमें रटना क्या? उसी प्रकार आत्मस्वरूप का यथावत् निर्णय किया फिर स्थिर होते समय रटना क्या? आत्मा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष नहीं है—ऐसा विकल्प दुःख का कारण है, आत्मा के निर्विकल्प आनन्द को विघ्नरूप है। एक सेर बेसन में चार सेर घी डालकर मैसूरपाक अमुक भाई ने बहुत अच्छा बनाया है—इस प्रकार मिठाई खाते समय भी मैसूर अच्छा है-अच्छा है—ऐसा गोखता रहे तो मैसूर खाया नहीं जा सकता। दूसरे लोग भी कहते हैं कि—छोड़ न भाई, अपनी बात को! खाने दे! इस प्रकार लड्डुओं को खाते समय गोखता रहे तो लड्डु नहीं खाये जा सकते। आत्मा पर से निराला पवित्र है,

पवित्र है—ऐसा गोखना अनुभव के समय नहीं होता; यदि गोखता रहे तो विकल्प नहीं टूट सकता और निर्विकल्प आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता।

आचार्यदेव ने २० कलश कहे हैं—बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-अनन्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य, भात-अभात इत्यादि नयों के पक्षपात हैं। जो पुरुष नयों के कथनानुसार यथायोग्य विवक्षा पूर्वक तत्त्व का—वस्तुस्वरूप का निर्णय करके नयों के पक्षपात को छोड़ते हैं, उन पुरुषों को चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूप से अनुभव होता है।

आत्मा व्यवहार से बँधा हुआ है और परमार्थ से बँधा हुआ नहीं है। आत्मा कर्म की अपेक्षा से, विकार की अपेक्षा से मूढ़ है परन्तु स्वभाव की अपेक्षा से अमूढ़ है। आत्मा पर्याय की अपेक्षा से रागी है परन्तु भूतार्थ वस्तुदृष्टि से रागी नहीं है। आत्मा पर्याय की अपेक्षा से द्वेषी है परन्तु वस्तुदृष्टि से अद्वेषी है। आत्मा अज्ञान अवस्था से विकार का कर्ता है परन्तु ज्ञान अवस्था से विकार का कर्ता नहीं है। आत्मा अज्ञान अवस्था से विकार का भोक्ता है परन्तु ज्ञान अवस्था से विकार का भोक्ता नहीं है परन्तु स्वभाव का भोक्ता है। जीव अपनी अपेक्षा से जीव है और परजीव की अपेक्षा से जीव नहीं है अर्थात् परपदार्थ की जीव में नास्ति है। जीव अपनी अपेक्षा से सूक्ष्म है; इन्द्रिय और विकल्प से पकड़ा जा सके—ऐसा नहीं है, इसलिए सूक्ष्म है। शरीर और इन्द्रियों के साथ सम्बन्धवाला है इसलिए स्थूल है। आत्मा पर्यायदृष्टि से, अज्ञान अवस्था से विकार का कारण कहलाता है परन्तु वस्तुदृष्टि से पूर्णवस्तु विकार का कारण नहीं है। आत्मा अज्ञान अवस्था से विकार का कार्य करता है और ज्ञान भाव से स्वभाव का कार्य करता है; वस्तुदृष्टि से सम्पूर्ण त्रिकाली वस्तु कार्यरूप नहीं होती। आत्मा अपने स्वभाव की अपेक्षा से भावरूप है और पर में आत्मा नहीं है इसलिए पर की अपेक्षा से आत्म अभावरूप है। वस्तुदृष्टि से आत्मा एकरूप है, गुण और पर्याय की अपेक्षा से अनेक रूप है अर्थात् एकरूप नहीं है। पर्याय एक समय पर्यन्त की होती है इसलिए पर्याय की अपेक्षा से आत्मा सांत है अर्थात् अन्त सहित है और त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से सान्त नहीं है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्यायदृष्टि से नित्य नहीं

है। आत्मा कथंचित् वाणी से कहा जा सकता है इसलिए वाच्य है परन्तु परमार्थ दृष्टि से आत्मा वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता इसलिए वाच्य नहीं है। आत्मा गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेकरूप है परन्तु गुण-पर्याय के एक पिण्डरूप होने से वस्तुदृष्टि से अनेकरूप नहीं है। आत्मा स्वभाव से ज्ञात होने योग्य है इसलिए चेत्य है, परन्तु मन और इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है, इसलिए चेत्य नहीं है। आत्मा स्वभाव द्वारा दृष्टिगोचर होने योग्य है इसलिए दृश्य है परन्तु मन-इन्द्रिय से दृष्टिगोचर होने योग्य नहीं है इसलिए दृश्य नहीं है। आत्मा स्वभाव की अपेक्षा से वेदन योग्य है परन्तु इन्द्रियों से वेदन होने योग्य नहीं है। आत्मा स्वतः अपने द्वारा प्रत्यक्ष है परन्तु इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं है। यह सब नयों के पक्ष हैं; उनमें यदि रुका रहे तो स्वभाव का अनुभव नहीं होगा परन्तु वस्तु का स्वभाव जैसा है, उसे यथावत् जानकर निर्णय करना पड़ेगा। जाने बिना भी स्वभाव का अनुभवन नहीं कर सकेगा और जानने के पश्चात् भी यदि विकल्प में रुका रहेगा तो भी स्वभाव का अनुभव नहीं हो सकेगा।

प्रथम वस्तु स्वभाव का निर्णय बराबर करना पड़ेगा। लोग कहते हैं कि नमक खारा है, परन्तु यह नमक है या खारा—इसका निर्णय बराबर करना पड़ेगा। खिचड़ी में नमक डाला जाता है परन्तु पापड़ी खार नहीं। समझे बिना खिचड़ी में नमक डालने के बाद यदि खार डाल देगा तो खिचड़ी का स्वाद बिगड़ जायेगा। यदि पापड़ में पापड़ खार डालेगा तो बराबर होगा परन्तु यदि खिचड़ी में डाला जाये तो खिचड़ी बिगड़ जायेगी—इसलिए यह नमक है या खारा यह बराबर निर्णय करना पड़ेगा, निश्चित किए बिना यदि रसोई करेगा तो बिगड़ जायेगी। उसी प्रकार प्रथम आत्मा का स्वरूप जानना पड़ेगा। जगत अनेक प्रकार से आत्मा का स्वरूप कहता है उसमें सच्चा स्वरूप क्या है उसका अन्तरंग से निर्णय किये बिना विकल्प नहीं छूटेगा, मूढ़ हो जायेगा, क्योंकि वस्तु को समझे बिना दृष्टि को रोकेगा कहाँ? विकल्प छोड़कर अस्तित्वपना कहाँ स्थिर रखेगा? क्योंकि अस्तिपने का तो भान नहीं है, इसलिए मूढ़ हो जायेगा।

दुकान पर माल लेने जाये, वहाँ यदि बिना तोला हुआ माल ले तो कम-अधिक आये परन्तु वहाँ ठगाता नहीं है; दुकानदार तोले बिना कहे कि देख! सवा पाँच तोला हो गया तो ऐसे नहीं मानेगा और कहता है कि तू तो तोलकर दे, तोले बिना माल नहीं लूँगा।

अन्त में दुकानदार को माल तोलकर ही देना पड़ता है—वहाँ तो बिना तोला हुआ माल नहीं लेता और यहाँ आत्मा में परीक्षा किये बिना मोक्षपर्याय प्रगट करने जाये तो वह कहाँ से प्रगट हो ? मैं आत्मा कौन हूँ ? किस अपेक्षा से शुद्ध हूँ और किस अपेक्षा से अशुद्ध हूँ ? किस अपेक्षा से बद्ध हूँ और किस अपेक्षा से अबद्ध हूँ ? यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन मुझसे भिन्न किस प्रकार हैं ? उन सबकी ज्ञान द्वारा तोल किये बिना-परीक्षा किये बिना यथार्थ निर्णय किये बिना विकल्प छोड़ने जायेगा तो मूढ़ हो जायेगा, क्योंकि आत्मा को यथार्थ नहीं जाना है इसलिए ठहरेगा कहाँ जाकर ? मूढ़ हो जायेगा। इसलिए प्रथम आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर, यथार्थ निर्णय करके, पर से भिन्न निराले आत्मा का भान करके, विकल्प को छोड़कर स्वरूप में स्थिर होगा तो आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव कर सकेगा; स्वरूप में स्थित होगा वहाँ विकल्प छूट जायेगा और चिदानन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव करेगा।

जीव में अनेक साधारण धर्म हैं, परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है इससे उसे मुख्य करके यहाँ जीव को चित्स्वरूप कहा है।

आत्मा में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि साधारण धर्म हैं, और ज्ञानस्वभाव असाधारण धर्म हैं। ज्ञान का स्वभाव जानने का है। जो जिसका स्वभाव हो उसे उसमें उपाधि या भार मालूम नहीं होता। ज्ञान में पच्चीस-पचास वर्ष की बात याद करता है वह क्या इन्द्रिय में से याद करता है ? मन में से याद करता है ? नहीं, ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञानस्वभाव में से याद करता है। पच्चीस-पचास वर्ष की बात यदि जीभ से कहने लगे तो कहते हुए बहुत समय लगेगा और पूरी कह भी नहीं सकेगा; किन्तु यदि ज्ञान से याद करे तो एक सेकेण्ड में याद कर सकता है। ज्ञानस्वभाव अपना स्वतः स्वभाव है, इससे याद कर सकता है, और वह ज्ञानस्वभाव प्रगट अनुभव में आ सकता है। ज्ञान को ध्यान में लेना हो तो तुरन्त लिया जा सकता है। यह जो याद करनेवाला है वह मैं हूँ, ज्ञाता मैं हूँ—इस प्रकार तुरन्त ही ध्यान में आये—ऐसा ज्ञानस्वभाव अनुभवगोचर है। ज्ञान स्वभाव असाधारण है अर्थात् किसी दूसरे द्रव्य में वह ज्ञानस्वभाव बँटा हुआ नहीं है। एक जीव द्रव्य में ही ज्ञानस्वभाव है और अस्तित्व आदि साधारण धर्म दूसरे द्रव्यों में भी हैं। एक ज्ञान को गुण-गुणी की अभेददृष्टि से देखो तो, सम्पूर्ण द्रव्यदृष्टि से देखो तो, उसमें अनन्त गुण आ जाते हैं। एक ज्ञानगुण को लक्ष्य में लेने से दूसरे द्रव्यों से चैतन्य द्रव्य पृथक्

होता है। दूसरे साधारण गुणों को लक्ष्य में लेने से जड़-चैतन्य द्रव्य भिन्न नहीं होते; चैतन्य द्रव्य को जानना हो तो ज्ञान लक्षण द्वारा झट से पहिचाना जा सकता है, इसलिए ज्ञानगुण असाधारण है।

उपरोक्त २० कलशों के कथन को अब संक्षिप्त करते हैं:—

(वसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्ष-कक्षाम्।
अन्तर्बहिः सम-रसैक-रस-स्वभावं,
स्वं भाव-मेक-मुपयात्यनुभूति-मात्रम्।।९०।।

अर्थः—इस प्रकार जिसमें बहुत से विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं—ऐसी महान नयपक्षकक्षा को (नयपक्ष की भूमि को) उलांघकर (तत्त्ववेदी) अन्तर और बाह्य में समतारसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है—ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (स्वरूप को) प्राप्त करता है।

प्रथम पदार्थ का लक्षण जानकर-बराबर निर्णय करके पश्चात् नयपक्ष की भूमि को उलांघकर आत्मा के आनन्द रस का वेदन करता है। पराश्रित अर्थात् व्यवहार, स्वाश्रित अर्थात् निश्चय दोनों की अलग-अलग खतौनी करना चाहिए, व्यवहार को परमार्थ में नहीं डालना है और न परमार्थ को व्यवहार में। परन्तु प्रथम वस्तु का बराबर निर्णय करता है; निर्णय करने के पश्चात् ऐसी महान नयपक्ष की भूमि को उलांघ जाता है। यहाँ तो बीस नय कहे हैं परन्तु ऐसे तो अनन्त नय हैं प्रथम श्रद्धा में उन सभी नयों का उल्लंघन करके आत्मा का समता रसरूपी एक ही रस जिसका स्वभाव है—ऐसे अपने स्वरूप को प्राप्त करता है।

व्यक्त अर्थात् बाहर है वह पर्याय और अव्यक्त शक्तिरूप अन्तर में है वह वस्तु; द्रव्य तथा पर्याय से सर्व प्रकार से आत्मा समता रस से परिपूर्ण है। अन्तर और बाह्य में एक समतारसरूप ही जिसका स्वभाव है, वह प्रगट होता है। मैं ऐसा हूँ और मैं वैसा हूँ वैसे विषम भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है। वैसे विषमभावों के विकल्प टूटकर आत्मा का आनन्द रस प्रगट होता है। आत्मा स्वतः आनन्द रस है। मैं ऐसा हूँ और मैं वैसा हूँ—ऐसी महान नयपक्ष की भूमिका उलंघन करके वह रस प्रगट होता है। आत्मा के समस्त प्रदेशों

में आनन्द है, अन्तर में और बाह्य में अर्थात् आत्मा की पर्याय में भी आनन्द है और वस्तु में भी आनन्द है, सम्पूर्ण आत्मा आनन्दरस से परिपूर्ण है।

नमक की डली में अन्दर भी खारापन होता है और बाहर भी खारापन होता है; उसी प्रकार आत्मा के अन्तर स्वभाव में त्रिकाली आनन्द रस है और वर्तमान व्यक्त पर्याय में भी वह आनन्दरस छलकता है।

शरीर-वाणी-मन इत्यादि परमाणुमात्र मिट्टी है—धूल है; कर्म भी धूल है, उससे आत्मा का वीतराग आनन्दरस भिन्न है; वह आनन्दरस वर्तमान पर्याय में भी छलक उठता है।

जिस प्रकार बरसात के दिन हों, खूब पानी बरस रहा हो; उस समय बाहर तो पानी होता ही है परन्तु अन्दर भींत में भी पानी के कण झलकने लगते हैं। गरमी के दिनों में शाम तक पत्थर तपते हैं, बाहर भी ताप होता है और पत्थर में भी उष्णता ओतप्रोत हो जाती है। ठण्ड के दिनों में सभी वस्तुएँ ठण्डी हो जाती हैं; बाहर भी ठण्ड और वस्तु में भी ठण्ड ओतप्रोत हो जाती है, इसी प्रकार स्वरूप में लीनता के समय पर्याय में भी शान्ति और वस्तु में भी शान्ति, आत्मा के आनन्द रस में शान्ति, शान्ति और शान्ति। वस्तु और पर्याय में ओतप्रोत शान्ति। रागमिश्रित विचार था वह खेद था; वह छूटकर पर्याय में और वस्तु में समता, समता और समता। वर्तमान पर्याय में भी समता और त्रिकाली वस्तु में भी समता। इस प्रकार आत्मा का आनन्दरस बाह्य में और अन्तर में सर्व प्रकार से शान्त रसमय छलक उठता है। इस प्रकार विकल्प जाल का उलंघन करके आनन्द रसरूप अपने स्वरूप को प्राप्त करता है।

अब नयपक्ष की भावना का अन्तिम काव्य कहते हैं:—

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः।।९१।।

अर्थः—पुष्कल, भारी, चंचल विकल्परूप तरंगों द्वारा उठनेवाले इस समस्त इन्द्रजाल को जिसका स्फुरणमात्र ही तत्क्षण भगा देता है, वह चिन्मात्र तेज:पुँज मैं हूँ।

नयों के विकल्प पुष्कल, महान इन्द्रजाल जैसे हैं। नियमसार में पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि—हे प्रभु! हे भगवान! आपका नयों का मार्ग इन्द्रजाल जैसा है। किसी

अपेक्षा से निमित्त है—ऐसा कहा जाता है और किसी अपेक्षा से निमित्त नहीं है—ऐसा कहा जाता है; किसी अपेक्षा से रागी है, किसी अपेक्षा से रागी नहीं है—ऐसा कहा जाता है। किसी अपेक्षा से कर्ता है, किसी अपेक्षा से कर्ता नहीं है—ऐसा कहा जाता है। किसी अपेक्षा से नित्य है—किसी अपेक्षा से नित्य नहीं है—ऐसा कहा जाता है। द्रव्य अपेक्षा से नित्य है और पर्याय अपेक्षा से अनित्य है। अज्ञान अपेक्षा से कर्ता है और ज्ञान अपेक्षा से कर्ता नहीं है—इत्यादि नय-भंग का मार्ग इन्द्रजाल जैसा लगता है। जो नहीं समझता वह आकुलित होता है और जो समझता है उसे अलौकिकता लगती है कि अहाहा! यह तो कोई अद्‌भुत मार्ग है; वस्तु स्वरूप को विरोध रहित यथावत् समझे उसे अलौकिकता लगे बिना नहीं रहती।

अज्ञानी कहते हैं कि दो बातें करते हो उसकी जगह एक ही बात करो न? क्षण में द्रव्य कहते हो और क्षण में पर्याय कहते हो; उसमें से एक बात कुछ भी करो। एक बात का निर्णय तो लाओ! तब ज्ञानी कहते हैं कि भाई! द्रव्य और पर्याय—दोनों तेरा स्वरूप है, तेरी जो विभाव पर्याय होती है उसमें व्यवहारनय से निमित्त की अपेक्षा आती है और त्रिकाली स्वभाव अनादि अनन्त है, उसमें किसी भी प्रकार निमित्त की अपेक्षा नहीं आती। इस प्रकार यदि समझे तो सर्व प्रकार से निपटारा हो सकता है—ऐसा है, और न समझे तो हर जगह आकुलित होगा। मन, वाणी और देह के पार भगवान आत्मा है। उसकी विभाव पर्याय में विकल्प का इन्द्रजाल है। जिस प्रकार समुद्र में पानी की भारी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार विकल्पों की भारी, चंचल लहरें उठती हैं उसके स्वभाव का स्फुरण होने से उन चंचल तरंगों का नाश करता है। स्वभाव का स्फुरण अर्थात् स्वभाव ज्ञानरूप मनुष्य की टंकार—वह जहाँ हुई वहाँ इन्द्रजाल जैसे चंचल विकल्प नष्ट हो जाते हैं। श्री कृष्ण वासुदेव ने धनुष की टंकार की वहाँ पद्मनाभ राजा की सेना भागी कि, इसके समक्ष अपने से नहीं ठहरा जा सकेगा इसलिए भाग चलो! ऐसा कहकर सभी भाग गये। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति ज्ञानानन्द श्रीकृष्ण भगवान आत्मा जागृत हुआ वहाँ अज्ञान और राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं, इस जाज्वल्यमान चैतन्य के समक्ष हम नहीं टिक सकेंगे—ऐसा कहकर वे भाग जाते हैं। श्री कृष्णरूपी आत्मा अज्ञान और राग-द्वेष का भक्षक है। अग्नि हो वहाँ दीमक खड़ी नहीं रहती, जहाँ अग्नि हो वहाँ दीमक सूख जाती है। इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप जाज्वल्यमान

ज्योति प्रगट हो, स्वरूप का भान हो—वहाँ विकल्प भस्म हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि विकल्प की नाशक है—भस्म करनेवाली है; ज्ञान का स्फुरण मात्र ही विकल्पों को भगा देता है। अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है, यह तो सम्यग्ज्ञान की बात है। भगवान आत्मा का अन्तर भान होने से, उसमें स्थिर होने से उन विकल्पों को तत्क्षण भगा देता है, उसी क्षण विकल्प खड़े नहीं रहते—ऐसा तेज:पुँज आत्मा मैं हूँ—ऐसा चित्प्रकाश आत्मा मैं हूँ ॥१४२॥

अब शिष्य पूछता है कि प्रभो! आत्मा किस अपेक्षा से नित्य है और किस अपेक्षा से अनित्य; किस अपेक्षा से बद्ध है और किससे अबद्ध;—इत्यादि नय पक्षों का बहुत सा स्वरूप आपने समझाया। अब, इस नयपक्ष का जो उल्लंघन कर गया है—उसका क्या स्वरूप है—वह कृपा करके समझाइये! इस प्रश्न का उत्तर गाथारूप से कहते हैं:—

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ।।१४३।।

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किञ्चिदपि नयपक्षपरिहीनः ।।१४३।।

अर्थ:—नयपक्ष से रहित जीव, समय से (आत्मा से) प्रतिबद्ध होता हुआ (चित्स्वरूप आत्मा का अनुभवन करता हुआ) दोनों नयों के कथन को केवल जानता ही है परन्तु नयपक्ष को किंचित् भी ग्रहण नहीं करता।

मैं ऐसा हूँ और ऐसा नहीं हूँ—यह नयपक्ष है। इस नयपक्ष से अतिक्रान्त आत्मा समय में प्रतिबद्ध अर्थात् लीन हो जाता है। जहाँ स्वसमय में प्रतिबद्ध होता है वहाँ, ऐसा हूँ और वैसा हूँ—वैसे विकल्प छूट जाते हैं। आत्मा के स्वभाव का जहाँ वेदन हुआ वहाँ राग के वेदन में नहीं रुकता, परन्तु नयपक्ष को केवल जानता ही है, नयपक्ष को किंचित् भी ग्रहण नहीं करता।

जिस प्रकार केवली भगवान, विश्व के साक्षीपने के कारण, श्रुतज्ञान के अवयवभूत—ऐसे जो व्यवहार-निश्चयनय के पक्ष हैं, उनके स्वरूप को ही केवल जानते है परन्तु निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञान द्वारा सदैव स्वत: ही विज्ञानघन हुआ होने से श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तपने द्वारा (श्रुतज्ञान की भूमिका का

उल्लंघन कर गया होने से) समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।

यहाँ श्रुतज्ञानी को केवलज्ञानी की उपमा देंगे। विकल्प रहित, निर्विकल्प एकाग्रता में, स्वसन्मुख उपयोगदशा में श्रुतज्ञानी केवली जैसा है—ऐसी उपमा देंगे।

सर्वज्ञ भगवान कैसे हैं? विश्व के साक्षीभूत हुए हैं, स्व-पर को जानने की शक्ति पूर्ण विकसित हो गयी है, परम पूर्णानन्द परमानन्द दशा प्रगट हुई है, परमाणु की समस्त अवस्थाएँ तथा अनन्त द्रव्यों की समस्त अवस्थाएँ एक साथ जान रहे हैं। भगवान के श्रुतज्ञान की अपूर्ण स्थिति नहीं है। भगवान दूसरे पदार्थों के गुण-पर्यायों को तथा अपने गुण-पर्यायों को जान रहे हैं, उसी प्रकार भावश्रुतज्ञान के साथ होनेवाले विकल्प के भेदों को भी केवल जानते हैं। भगवान स्वत: तो श्रुतज्ञान की भूमिका को उलांघ गये हैं, परन्तु श्रुतज्ञान की पर्याय को केवल जानते ही हैं।

श्रुतज्ञान की भूमिका में निर्विकल्प अनुभूतिरूप भाव श्रुतज्ञान का उपयोग न हो तब आत्मा मुक्त है और आत्मा मुक्त नहीं है—ऐसा विकल्प होता है। व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों समान कक्षा के नहीं हैं। यथार्थ निश्चय की कक्षा ऊँची है, परन्तु जहाँ राग के भेद पड़ते हैं, वहाँ दोनों पक्षपात हैं। आत्मा का भान होने के पश्चात् भी स्थिर न रह सके तब विकल्प आये बिना नहीं रहते। श्रुतज्ञान अपूर्ण स्थिति है इससे व्यक्त-अव्यक्त विकल्प आये बिना नहीं रहते। पर्याय की अपेक्षा से अशुद्ध हूँ और स्वभाव की अपेक्षा से शुद्ध हूँ—ऐसा विकल्प आता है परन्तु ज्ञानी उसकी पकड़ में नहीं रुकते।

केवलज्ञानी अपने अनन्त गुण-पर्यायों को समरस एक प्रकार से जानते हैं उसी प्रकार दूसरों को जानते हैं और श्रुतज्ञान की भूमिका को उलांघ गये होने से नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते। सकल-पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हुआ है, विमल अर्थात् सर्व पर्यायें निर्मल हुई हैं, निरन्तर प्रकाशमान है, केवलज्ञान सूर्य पूर्ण उदित हो गया है। जिस प्रकार लाख पँखुड़ियोंवाला कमल विकसित होता है, उस समय वह सम्पूर्ण-विस्मृत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में पूर्ण पर्याय विकसित हो—केवलज्ञान पर्याय खिले तब सम्पूर्ण सर्वज्ञ स्वभावरूपी ज्ञान कमल खिल उठता है। राग या द्वेष की एक भी वृत्ति नहीं होती क्योंकि राग-द्वेष का क्षय हुआ है; विज्ञान का समूह—विज्ञान का पुंज प्रगट हो गया है, जिसमें कि

दो पक्ष होने का अवकाश नहीं है; क्योंकि जिसमें दो पक्ष पड़ने का अवकाश है—ऐसी श्रुतज्ञान की दशा को उलांघ गये हैं।

जिस प्रकार केवली भगवान विश्व के साक्षीपने के कारण, केवलज्ञान प्रगट हुआ होने से और श्रुतज्ञान की भूमिका को उलांघ गये होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते; उसी प्रकार (श्रुतज्ञानी आत्मा) क्षयोपशम से जिनकी उत्पत्ति होती है—ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को ही केवल जानते हैं।

श्रुतज्ञानी अपूर्ण है; क्षयोपशम ज्ञान है इसलिए विकल्प उठेगा, परन्तु वहाँ भी उनके ग्रहण बुद्धि नहीं है। यहाँ श्रुतज्ञानी की केवलज्ञानी के साथ तुलना करते हैं। केवलज्ञानी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, श्रुतज्ञानी के भी नयपक्ष भी ग्रहण बुद्धि नहीं है। केवलज्ञानी समस्त जगत के साक्षी हैं, वे नयपक्ष के स्वरूप को केवल जानते ही हैं, तो श्रुतज्ञानी भी नयपक्ष के दो पक्षों में नहीं रुकते परन्तु उनके साक्षी रहते है। केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी में इतना अन्तर है कि केवलज्ञानी के समस्त ज्ञान विकसित हो गया है और श्रुतज्ञानी के अपूर्ण ज्ञान है।

द्रव्य, गुण और पर्याय; भूत, भविष्यत और वर्तमान, अनन्त काल व्यतीत हुआ और होगा तथा वर्तमान है उसे, केवलज्ञानी समरूप से जानते हैं; तीन काल और तीन लोक को एक साथ जानते हैं, श्रुतज्ञान की अपूर्ण दशा को उलांघ गये हैं।

श्रुतज्ञानी के अपूर्ण ज्ञान के कारण ज्ञान संक्रमित होता है—बदलता है। ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसे विकल्प आते हैं, एक पक्ष से दूसरा पक्ष बदल जाता है। ध्यान में है कि यह रागमिश्रित विचार आते हैं, ज्ञान होने पर भी विकल्प आये बिना नहीं रहते। रागमिश्रित विचार हैं तथापि राग के साथ श्रुतज्ञान का तर्क है, इससे उन्हें श्रुतज्ञानात्मक विचार कहा है। विकल्प उठता है तथापि ज्ञानी के स्वरूप में सावधानी है, विकल्प में सावधानी नहीं है। मैं अबद्ध हूँ और मैं बद्ध हूँ—ऐसे विकल्प उठते हैं तथापि उनके प्रति उत्साह नहीं है, परन्तु एकाग्र होने के प्रति उत्साह है। मैं शुद्ध हूँ, एक हूँ, ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसे विकल्प उठते हैं, परनतु उनमें वह लीन नहीं हो जाता, उन्हें रखना नहीं चाहता, उनमें उत्साह निवृत्त हुआ है, इससे उन्हें पकड़ता नहीं है। जो विकल्प उठे उसे नाश करने का

भाव वर्त रहा है, स्वरूप का उत्साह वर्तता है, स्वरूप में स्थिर होने—स्वरूप का अनुभव करने—स्वरूप का स्वाद लेने के समय से पूर्व वे विकल्प वर्तते अवश्य हैं, पक्ष भी होते हैं परन्तु उनमें उत्साह नहीं है, वहाँ रुकना नहीं है, वहाँ अटक जाना पसन्द नहीं है।

स्वरूप में स्थिर हुआ इससे साधक और सिद्ध दो एक हो गये, विकल्प छूटे इससे भगवान हो गया। विकल्प उठते हैं, तब भी उन्हें जानता ही है।

मैं सर्व विकल्पों से पृथक् चैतन्य जागृत स्वरूप हूँ—ऐसे चैतन्यस्वरूप के भान में ज्ञानदृष्टि को तीक्ष्ण करता हुआ आगे बढ़ता है। ऐसी तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि द्वारा ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय, समय से प्रतिबद्धपने द्वारा (चैतन्यमय आत्मा के अनुभवन द्वारा) उस समय (अनुभव के समय) स्वत: ही विज्ञानघन हुआ, श्रुत ज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका के अतिक्रान्तपने द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तव में समस्त विकल्पों से पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूति मात्र समयसार है।

अपूर्ण ज्ञान है इसलिए निर्मल, नित्य-उदित विशेषण आचार्यदेव ने दिया है; केवलज्ञानी पूर्ण हो गये हैं इसलिए सकल विमल-निरन्तर प्रकाशमान विशेषण आचार्यदेव ने दिया है।

तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये अपने निर्मल, नित्य-उदित चिन्मय आत्मा के प्रतिबद्धपने द्वारा (प्रतिबद्ध का अर्थ है आत्मा की लीनता में राग-द्वेष की लीनता रहित) चैतन्य के अनुभव के समय स्वत: ही विज्ञानघन हुआ होने से किसी भी नयपक्ष का ग्रहण नहीं करता। मैं रागी हूँ या रागी नहीं हूँ—ऐसे विकल्पों की भूमिका से अतिक्रान्तपने द्वारा किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता। केवलज्ञानी श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तपने द्वारा किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते और सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञान के समस्त विकल्पों के नयपक्ष अतिक्रान्तपने द्वारा किसी भी पक्ष को ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार श्रुतज्ञानी भी अनुभव के समय केवली के समान हैं—वैसा आचार्यदेव ने कहा है। केवलज्ञानी एक समय में सब जानते हैं और श्रुतज्ञानी उस प्रकार नहीं जान सकते-उतना अन्तर है। श्रुतज्ञानी समस्त विकल्पों से पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप आत्मा

का अनुभवन करते हैं। परमात्मा का अर्थ है द्रव्य से और ज्ञानात्मा का अर्थ है गुण से, प्रत्यग्ज्योति अर्थात् प्रथग्ज्योति ऐसे अनुभूति मात्र समयसाररूप का सम्यग्दृष्टि अनुभवन करते हैं—स्वसंवेदन करते हैं—स्वाद लेते हैं।

१४३ वीं गाथा पुनः लेते हैं

१४३वीं गाथा में नयपक्ष की बात आयी है। आत्मा कर्मों से बद्ध है और कर्मबद्ध रहित है—उन दो अपेक्षाओं के भंग में रुकना वह नयपक्ष। आत्मा समल है या विमल है, एक है या अनेक है—इत्यादि भंग के पक्षों में रुकना वह पक्ष है। पर के कर्ता की ओर नहीं, शरीर की ओर नहीं, वाणी की ओर नहीं—उसमें तो कहीं रुकना ही नहीं, परन्तु तू रागवाला है और रागवाला नहीं है—वैसे भंग के पक्षों में रुकना—वह भी तू नहीं है; तू तो सहजात्मस्वरूप, अभेद, एकाकार ज्ञानघन वस्तु है—उसमें न रुककर, मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ, वस्तु से एक हूँ और गुणों से अनेक हूँ—वैसे राग की पकड़ में ही रुक जाना वहाँ सहज स्वरूप का वेदन नहीं है परन्तु राग का पक्ष है। तब शिष्य पूछता है कि प्रभो! उस पक्षातिक्रान्त का अर्थ जो पक्ष का उल्लंघन कर गया है उसका क्या स्वरूप है? शिष्य जिज्ञासा से पूछता है कि—प्रभो! उस पक्ष का उल्लंघन करके जिसे आत्मा का अनुभव हो उसका क्या स्वरूप है—वह मुझे समझाइये! उसके उत्तररूप १४३वीं गाथा है।

निर्विकल्प अनुभव के समय की यह बात है; स्वरूप में एकाग्र हो तब मैं ऐसा हूँ या वैसा हूँ वैसा विकल्प भी वहाँ नहीं होता। किसकी भाँति? केवली भगवान की भाँति। जिस प्रकार केवली भगवान को विश्व के साक्षीपने के कारण 'मैं केवली हूँ, मैं दूसरों को उपदेश देता हूँ'—वैसा विकल्प नहीं होता; केवलज्ञान से सब कुछ जानते अवश्य हैं परन्तु विकल्प नहीं होता। नारकी को नारकी रूप से जानते हैं, देव को देवरूप से जानते हैं, मनुष्य, तिर्यंच इत्यादि सम्पूर्ण विश्व को जैसा है वैसा प्रत्यक्षरूप से जानते हैं। सम्पूर्ण विश्व में कुछ भी शेष नहीं रहता; समस्त पदार्थों को केवली भगवान प्रत्यक्ष जानते हैं। समस्त पदार्थ, प्रत्येक पदार्थ के सम्पूर्ण गुण, एक-एक गुण की समस्त पर्यायें, उन सबको प्रत्यक्ष साक्षीभूतरूप से एक साथ जानते हैं। श्रुतज्ञान के अवयवभूत अर्थात् अंशभूत जो निश्चय-व्यवहारनयों के पक्ष हैं, उनके स्वरूप को केवलज्ञानी केवल जानते ही हैं; मुझे केवलज्ञान हुआ मैं सिद्ध हुआ, पहले मैं सिद्ध नहीं था, पहले शक्तिरूप से शुद्ध था, और

अब पर्याय भी शुद्ध हो गयी—वे सभी नयपक्षों के विकल्प केवलज्ञानी के नहीं होते; केवलज्ञान के द्वारा उन नयपक्षों को जानते हैं। कोई कहे कि केवलज्ञानी के दया तो होती है न ? नहीं, बिल्कुल दया नहीं होती क्योंकि दया राग है, राग दूर होने पर ही वीतरागता प्रगट होती है, राग दूर हो तभी वास्तविक तत्त्व कहलाता है; केवलज्ञानी के राग का अंशमात्र भी नहीं होता।

इस समय महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी रूप से विराजमान हैं; भंग जाल रूप जो नयपक्ष हैं, उनके स्वरूप को केवल जानते ही हैं; सर्व विश्व के साक्षीरूप, केवलज्ञानी रूप से वर्तमान में विराज रहे हैं। इस समय इस क्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग का विरह है; इस भरतक्षेत्र में जब भगवान महावीर विचर रहे थे तब वे भी तेरहवीं भूमिका में थे, इस समय वे सिद्ध भगवान के रूप में विराज रहे हैं। श्री सीमन्धर भगवान इस समय महाविदेह क्षेत्र में विराज रहे हैं, वे केवलज्ञानी भगवान निरन्तर प्रकाशमान एक धारावाही सहज स्वरूप से है; अब कहीं प्रयत्न करके उन्हें उपयोग नहीं लगाना पड़ता, सहजपरिणमन दशा है, इसलिए केवलज्ञानी के उपयोग नहीं है—वैसा कहा जाता है। केवलज्ञान विमल है उसमें किसी भी प्रकार का मल नहीं है, सकल केवलज्ञान द्वारा सदैव स्वत: ही विज्ञानघन होता हुआ स्वरूपाकार ज्ञानबिम्ब हो गया है; इससे श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तपने द्वारा अर्थात् निम्न भूमिका में मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ—वैसा अपूर्ण ज्ञान में होता है वैसी अपूर्ण ज्ञान की मर्यादा का उल्लंघन कर गये हैं, केवलज्ञान में सब कुछ ज्ञात हो गया है इससे वहाँ राग का विकल्प नहीं होता। अपूर्ण ज्ञान में ऐसा होता है कि मैं द्रव्य से ऐसा हूँ और पर्याय से ऐसा हूँ, परन्तु केवली भगवान उस अपूर्ण ज्ञान की भूमिका उलांघ गये हैं, इससे नयपक्ष से दूर हैं, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते। राग का भी नाश हो गया है और अपूर्ण ज्ञान का भी नाश हो गया है, वीतरागता और पूर्ण ज्ञान वर्त रहा है।

जिस प्रकार केवली भगवान अपूर्ण ज्ञान को उलांघ गये होने से नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते उसी प्रकार निम्न दशा में यथार्थ प्रतीति हो जाने के पश्चात् श्रुतज्ञानी आत्मा को, क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले श्रुत ज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उसका उत्साह निवृत्त हुआ है।

निर्विकल्प स्थिरता के समय भी सूक्ष्म वृत्ति पड़ी है; यदि सूक्ष्म वृत्ति भी टूट जाये और पूर्ण स्थिरता हो जाये तो वीतरागता प्रगट हो परन्तु यह तो अपूर्ण ज्ञान है इससे अनुभव के समय भी विकल्प उठते अवश्य हैं, किन्तु वे तो अबुद्धिपूर्वक के विकल्प हैं; वे विकल्प इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें केवलज्ञानी जान सकते हैं छद्मस्थ स्वयं उन्हें नहीं जान सकता।

भगवान विश्व के साक्षीभूत होने से केवल जानते ही हैं, उनके सूक्ष्मतया भी विकल्प वृत्ति नहीं होती, और निम्न भूमिका में अल्पज्ञान होने से निर्विकल्प ध्यान के समय, स्वरूप के ध्यान के समय राग के कारण ज्ञान अबुद्धिपूर्वक संक्रमित अवश्य होता है, अबुद्धिपूर्वक विकल्प भी आते हैं परन्तु छद्मस्थ से वे पकड़े नहीं जाते। विकल्प पकड़ में नहीं आते उन्हें अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है। निर्विकल्प ध्यान में से बाहर आये तब बुद्धिपूर्वक के विकल्प होते हैं अर्थात् बुद्धि से पकड़ में आयें—ऐसे विकल्प होते हैं; तथापि स्वानुभव के समय उन विकल्पों को ग्रहण करने में उत्साह निवृत्त हुआ है, साक्षीरूप से वह विकल्प को जानता रहता है, पुरुषार्थ की मन्दता के कारण अस्थिरता है, इससे विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु उन विकल्पों को ग्रहण करने का उत्साह नहीं होता।

श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहारनिश्चयनय पक्षों के स्वरूप को केवल जानते ही हैं, जिस प्रकार केवली भगवान जानते हैं उसी प्रकार यह भी विकल्पों का ज्ञाता ही है। ज्ञान का स्व-पर को जानने का स्वभाव होने से स्व-पर को जानता है, परन्तु उन विकल्पों को ग्रहण करने की ओर का उत्साह निवृत्त हुआ है, ज्ञान ज्ञान का ही कार्य करता है, विकल्प उठते हैं, परन्तु उस ओर उत्साह नहीं है।

प्रश्न:—अनुभव के समय अबुद्धिपूर्वक के विकल्प को जान सकता है ?

उत्तर:—अनुभव के समय अबुद्धिपूर्वक के विकल्प को नहीं जान सकता। यदि जाने, तब तो बुद्धिपूर्वक का विकल्प हो गया, फिर अबुद्धिपना कहाँ रहा ? इसलिए निर्विकल्प ध्यानी अबुद्धिपूर्वक के विकल्प को नहीं जान सकता। केवलज्ञानी जान सकता है कि इस आत्मा के सूक्ष्म विकल्प है परन्तु उसे स्वत: को उसकी खबर नहीं है। वह तो अपने स्वरूप में ही लीन है। सातवीं भूमिका में मुनि को भी अनुभव के समय अबुद्धिपूर्वक के विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु उन्हें वह पकड़ नहीं सकते, उन विकल्पों को पकड़ने के लिए उपयोग सूक्ष्म होना चाहिए और यदि उपयोग इतना अधिक सूक्ष्म हो

तो केवलज्ञान हो जाये। निर्विकल्प ध्यान के समय यदि अबुद्धिपूर्वक विकल्प न हो तो कषाय न हो और कषाय न हो तो अपूर्ण ज्ञान न हो और अपूर्ण ज्ञान न हो तो सर्वज्ञ हो अर्थात् उस समय केवलज्ञानी हो जाये; परन्तु वैसा तो नहीं होता इससे अबुद्धिपूर्वक विकल्प है परन्तु उसकी स्वरूप ध्यानी को खबर नहीं है, वह तो अपने स्वसंवेदन में लीन है।

आचार्यदेव ने केवली भगवान की बात में कहा है कि निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञान के द्वारा नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते। और यहाँ सम्यग्ज्ञानी की बात में कहा है कि तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किया गया निर्मल, नित्य-उदित चैतन्य है उसमें प्रतिबद्धपने द्वारा नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार दोनों के विशेषणों में अन्तर है, क्योंकि केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है और श्रुतज्ञान अपूर्ण।

मैं पर से निराला, आनन्दमय, निर्मल आत्मा हूँ वैसी तीक्ष्ण सूक्ष्मदृष्टि द्वारा निर्मल, नित्य-उदित चैतन्य में प्रतिबद्धपने को प्राप्त हुआ है। निम्नदशा में पुरुषार्थ है इससे तीक्ष्ण-सूक्ष्मदृष्टि द्वारा निर्मल, नित्य उदित आत्मा में प्रतिबद्धपने को प्राप्त हुआ है—वैसा कहा है।

नित्य-उदित का अर्थ है स्थायी उदित—ऐसे चैतन्य में लीनता प्राप्त की है। केवलज्ञानी की बात में कहा है कि—सदा विघानघन हुआ है और यहाँ सम्यग्ज्ञानी की बात में निर्विकल्प हुआ होने से जितने समय तक निर्विकल्प आनन्द में रहे उतने समय तक स्वत: ही विज्ञानघन हुआ होने से आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार को वेदता है—ऐसा कहा है।

केवलज्ञानी की बात में आचार्यदेव ने कहा है कि श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तपने द्वारा वे किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते; और यहाँ सम्यग्ज्ञानी की बात में अन्तर्जल्प और बाह्यजल्परूप विकल्पों की भूमिका के अतिक्रान्तपने द्वारा समस्त नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता।

केवलज्ञान में किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता और यहाँ निर्विकल्प उपयोग में किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता—वह बात दोनों में समानरूप से ली है।

श्रुतज्ञानी निर्विकल्प उपयोग के समय साधकरूप है और केवलज्ञानी तो पूर्ण हो गये हैं परन्तु निर्विकल्प उपयोग के समय श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी समान है।

सम्यग्ज्ञानी को निर्विकल्प उपयोग के समय सर्वथा ज्ञान नहीं जमा है, क्योंकि जब निर्विकल्पता में से बाहर आता है, तब पुन: विकल्प उठते हैं। यदि निर्विकल्प उपयोग के समय ज्ञान बिल्कुल जम गया हो तो केवलज्ञान हो जाये, परन्तु वैसा नहीं होता; इसलिए निर्विकल्प उपयोग के समय अबुद्धिपूर्वक विकल्प होते हैं, इससे उपयोग बाहर आने से बुद्धिपूर्वक के विकल्प आते हैं। उपयोग बाहर आये और विकल्प आये तब भी उसे ज्ञायक का भान रहता है, ज्ञायक का भिन्न परिणमन रहता है। पृथक् भान रहने पर भी घर के कामकाज के, व्यापार-धन्धे के, दया, दान, पूजा, भक्ति के विकल्प आते हैं, परन्तु उनकी यहाँ बात नहीं है, यहाँ तो निर्विकल्प अनुभव की बात है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—वास्तव में वह श्रुतज्ञानी आत्मा निर्विकल्पता के समय समस्त पक्षों से पर है, इससे परमात्मा है। देखो! यहाँ श्रुतज्ञानी को परमात्मा कहा है; श्रुतज्ञानी के अपूर्ण पर्याय है तथापि उस अपेक्षा को गौण करके जो आत्मा की उत्कृष्ट स्थिरता है, उसके स्वानुभूतिरूपी माल का यह नमूना है, इससे उसे परमात्मा कहा है। यह किसकी बात हो रही है ? यह चौथे गुणस्थानवाले की बात है, चौथे गुणस्थानवाले की बात है, चौथे गुणस्थानवाले को आचार्यदेव ने परमात्मा कहा है।

स्वरूप में लीन हुए श्रुतज्ञानी आत्मा को आचार्यदेव ने ज्ञानात्मा कहा है; स्वत: आत्मा तो है, परन्तु ज्ञान उपयोग को परोन्मुखता से हटाकर अपने आत्मा में लीन किया है, इसलिए उसे ज्ञानात्मा कहा। स्वरूप में लीन हुआ वहाँ प्रत्यग्ज्योति हुआ-निर्मल ज्योति हुआ, आत्मा की ख्याति हुई, ईश्वर के दर्शन हुए अपनी प्रसिद्धि हुई, आत्म-साक्षात्कार हुआ। ऐसा अनुभूति मात्र आत्मा साक्षात् समयसार हुआ।

वस्तु का ऐसा अचिन्त्य और अद्‌भुत स्वभाव है। धर्म किसे कहा जाये—उसकी तो अभी खबर ही नहीं है तो खबर के बिना उस ओर का प्रयत्न होगा कहाँ से ? यथार्थ श्रवण किये बिना समझ में नहीं आता और समझे बिना लक्ष्य में नहीं आता। जिसे आत्मा का कल्याण करना हो उसे वस्तुस्वरूप समझना ही होगा।

भावार्थ:—जिस प्रकार केवली भगवान सदैव नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी 'ऐसा हूँ और वैसा हूँ'—वैसे पक्ष से छूट जाते हैं, तब विकल्पों

से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभव करते हैं, और समस्त नयपक्षों के स्वरूप के ज्ञाता-दृष्टा हो जाते हैं।

एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण करे कि रागी ही हूँ अथवा रागी नहीं हूँ; दोनों में से किसी भी एक पक्ष का ग्रहण करे तो वह पक्षपात है और मिथ्यात्व से मिला हुआ राग है। व्यवहारनय को जाने अवश्य परन्तु व्यवहारनय को आदरणीय माने तो वह पक्ष है और मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग है। बन्ध को जाने तो अवश्य परन्तु आदरणीय माने तो एकान्त पक्ष हुआ। अकेला शुद्धस्वभाव माने और बन्ध को न माने तो वह भी एकान्त पक्ष है, मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग है।

यदि आत्मा अवस्था में भी पूर्ण हो गया हो तो विकल्प कैसे उठे ? विकल्प उठता है वह असद्भूतव्यवहार है। विकल्परूप अशुद्ध अवस्था है वह व्यवहार है और आत्मा का शुद्धस्वरूप है, वह निश्चय है। भेद है, वह व्यवहार है और अभेद है, वह निश्चय है। उन दोनों को मुख्य-गौण रूप से जानना वह नय है। शुद्धद्रव्य की प्रतीति के विषय का बल और द्रव्यदृष्टि का ज्ञान तथा पर्याय का ज्ञान हो तो स्वभाव की साधना का पुरुषार्थ जागृत होता है, द्रव्यदृष्टि के विषय के बल बिना द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि—दोनों नयों का ज्ञान सच्चा नहीं होता और दोनों नयों के ज्ञान बिना द्रव्यदृष्टि के विषय का बल यथार्थ नहीं होता, इसलिए दोनों में से यदि कोई भी एक न हो तो पुरुषार्थ जागृत नहीं होता।

निमित्त को न जाने तो ज्ञान मिथ्या है, और निमित्त तथा मैं दोनों एक हैं—वैसा माने तो श्रद्धा मिथ्या। एक कहे कि आत्मा में मलिन पर्याय ही नहीं है, आत्मा बिल्कुल शुद्ध ही है—इस प्रकार पर्याय रहित वस्तु को माने तो ज्ञान मिथ्या है, और अकेला व्यवहार अर्थात् पर्याय ही माने, निश्चय वस्तु को न माने तो वस्तु के बिना निर्मल पर्याय होगी कहाँ से ? इसलिए मात्र पर्याय को माननेवाले का ज्ञान भी मिथ्या है। ज्ञान दोनों पक्षों का होना चाहिए; यदि दोनों पक्षों का ज्ञान हो तो हेय और उपादेय को जानकर स्वसन्मुख हो।

व्यवहार जानने योग्य है, परन्तु आदरणीय एक निश्चय वस्तु ही है। यदि व्यवहार से लाभ माने तो व्यवहार स्वत: ही निश्चय हो गया। व्यवहार के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते; क्योंकि व्यवहार पराश्रय है; पराश्रय से स्वाश्रय कैसे प्रगट होगा ? गुण-पर्याय के भेदरूप व्यवहार के आश्रय से भी निर्मल पर्याय कैसे प्रगट हो ? अभेद के आश्रय से

स्वभाव पर्याय प्रगट होती है, परन्तु भेद के आश्रय से स्वभावपर्याय प्रगट नहीं होती। स्वाश्रय सो निश्चय स्वभाव है इसलिए स्वाश्रय से स्वभावपर्याय प्रगट होती है—वह वास्तविक स्थिति है।

ज्ञानी स्वभावदृष्टि से रागादि का कर्ता नहीं है, तथापि पुरुषार्थ की अशक्ति से राग होता है उसे जानना वह व्यवहारनय है। झुकना चाहिए अपने पूर्ण स्वभाव की ओर और ज्ञान करना चाहिए द्रव्य-पर्याय दोनों का। जो अवस्था में राग न हो तो फिर वहाँ से पीछे हटना क्या? और स्वभाव अविकारी न हो तो फिर सन्मुख होना किसमें? स्वभाव अविकारी है उस ओर उन्मुख होता है और पर्याय में विकार है, उस ओर से विमुख होता है, इसलिए निश्चयनय का विषय ध्रुवस्वभाव है और व्यवहारनय का विषय पर्याय—वे दोनों नय ज्ञान करने योग्य हैं और आदरणीय एक निश्चयनय ही है।

कोई ऐसा माने कि मैं मात्र शुद्ध हूँ; अवस्था में न राग है और न विकल्प है—वैसा एकान्त माने वह भी मिथ्यात्व है; और जो द्रव्य स्वभाव को न समझे और मात्र व्यवहार-व्यवहार करता रहे उसे सच्चे व्यवहार का ज्ञान होगा ही कहाँ से? इसलिए व्यवहार की पकड़वाला भी मिथ्यात्वी है।

अपने आप समयसार वाँचे तो समझेगा क्या? व्यवहार और निश्चय का स्वरूप क्या है, वह तो समझ नहीं सकता और कहता है कि इसमें तो दोनों नय आते हैं; परन्तु उस बात के लिये अस्वीकार कौन करता है? ज्ञान तो दोनों का करने योग्य है परन्तु उनमें आदरणीय कौन सा है? भेद या अभेद? व्यवहार की ओर लक्ष्य करने से विकल्प होता है, राग होता है, भेद पड़ता है, भंग पड़ते हैं; परन्तु निर्मल अभेद शुद्धस्वभाव है उस पर लक्ष्य करने से—उस ओर उन्मुख होने से पर्याय निर्मल होती है, शुद्धता बढ़ती है, राग दूर होता है, विकल्प छूटते हैं, इसलिए आदरणीय तो एक निश्चयनय है, उन्मुख होने योग्य निश्चयनय है और ज्ञान करने योग्य व्यवहार-निश्चय दोनों हैं।

एक पक्ष को सर्वथा ग्रहण करे कि आत्मा में राग नहीं है, द्वेष नहीं है—इत्यादि कोई भी मलिनता नहीं है, तो आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसी झूठी बात तू लाया कहाँ से? तेरी पर्याय में मलिनता वर्तमान हो रही है, मलिनता में निमित्त भी सम्मुख हैं उनका ज्ञान तो कर... अवस्था में जो मलिनता है उसे जानकर छोड़; निश्चय एकरूप शुद्ध स्वभाव है, उसे

जान करके आदर, मलिनता को जाने बिना मलिनता को दूर करने का पुरुषार्थ नहीं होगा; दोनों पक्ष समझे बिना जो एक ही ओर खींचातानी करे वह मिथ्यादृष्टि का राग है।

एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो वह मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग है और प्रयोजन के वश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्रमोहनीय का राग है।

प्रयोजनवश का अर्थ है आवश्यकता के कारण। जैसे कि कोई कर्म को न मानता हो तो उससे कहते हैं कि भाई! यह विकार होता कहाँ से है? इत्यादि अशुद्ध पर्याय के ओर की बात की, उस समय राग को स्थापित करते हैं और वस्तुस्वभाव को गौण करते हैं। और कोई द्रव्यस्वभाव को न माने, मात्र पर्याय को ही माने, निमित्त को ही माने तब उससे कहते हैं कि द्रव्यस्वभाव ही मूल वस्तु है, द्रव्यस्वभाव के बिना निर्मल पर्याय कहाँ से आयेगी? निमित्त का और पर्याय का तो ज्ञान करने योग्य है—इस प्रकार एक नय को मुख्य करके प्रयोजनवश कहे तो मिथ्यात्व नहीं परन्तु चारित्रमोह का राग है।

निगोद का आत्मा सिद्ध समान है तथापि निगोद में और सिद्ध में जो अन्तर है, वह पर्याय का है, निगोद से लेकर सिद्ध तक बीच में जितनी न्यूनाधिक विकास की अवस्था वह सब व्यवहार है।

पहला पक्ष तो सर्वथा एक नय को ग्रहण करके एकान्त मानता है, इसलिए मिथ्यात्व है और दूसरा पक्ष प्रयोजनवश व्यवहार या निश्चय को मुख्य-गौण करता है—वह मिथ्यात्वरहित चारित्रमोहनीय का राग है। तीसरे पक्ष में, स्वरूप में स्थिर हो तब राग नहीं है—वीतराग जैसा ही है; जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को मात्र जाने ही—तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग जैसा ही होता है—ऐसा जानना चाहिए। चौथे, पाँचवें और सातवें गुणस्थान में आत्मानुभव के समय नय के राग को छोड़कर श्रुतज्ञानी भी वीतराग जैसा ही होता है; वीतराग नहीं परन्तु वीतराग जैसा ही—ऐसा कहा है। भावार्थ में भी टीका जैसी सन्धि की है, अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है। यदि बराबर ध्यान पूर्वक पढ़े तो सब समाधान हो जाये—ऐसा है। ऐसी उच्च वस्तु महा भाग्य बिना सुनने को नहीं मिलती।

वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है—वह कलश में कहते हैं:—

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धति-मपास्य समस्तां चेतये समयसार-मपारम् ।।९२।।

अर्थ:—चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अनुभव में आते हैं (किये जाते हैं)—ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप होने से जो एक है—ऐसे अपार समयसार को मैं, समस्त बन्ध पद्धति को दूर करके अर्थात् कर्म के सम्पर्क से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर अनुभव करता हूँ।

चित्स्वभाव के पुंज द्वारा अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुव अनुभव में आते हैं। अहो! उत्पाद, व्यय और ध्रुवस्वरूप आत्मा का अनुभव हो ऐसा आचार्यदेव बतलाते हैं। इसमें अचिन्त्य स्वरूप द्रव्य है वह आचार्यदेव ने बताया है। ज्ञानस्वभाव के पुंज द्वारा अर्थात् ज्ञानस्वभाव के समूह द्वारा अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुवभाव अनुभव में आते हैं। उत्पाद निर्मल है, व्यय भी निर्मल है और ध्रुव भी निर्मल है—तीनों निर्मल हैं। ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप निर्मल होने से जो एक है; उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीन प्रकार से होने पर भी जो एक है, अपार है, असीम है;—ऐसे असीम सामर्थ्यवाले अपार समयसार का मैं अनुभव करता हूँ; कर्म के उत्पाद-व्यय से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर मैं अनुभव करता हूँ; कर्म के उत्पाद-व्यय से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर मैं अनुभव करता हूँ। जब लिखने की ओर लक्ष्य हो तब आत्मा अनुभव में नहीं आता, परन्तु जब आत्मा में स्थिर होता है तब आत्मा अनुभव में आता है।

निर्विकल्प अनुभव होने से, जिसके केवलज्ञानादि गुणों का पार नहीं है—ऐसे समयसाररूपी परमात्मा का अनुभव ही वर्त रहा है, 'में अनुभव करता हूँ'—ऐसा विकल्प भी जहाँ नहीं होता।

जिसके अनन्तानन्त गुणों का पार नहीं है, ऐसे समयसाररूपी परमात्मा का अनुभव जब वर्तता है तब, मैं अनुभव करता हूँ—एकाग्र हुआ हूँ—ऐसा विकल्प भी नहीं होता। ज्ञान वर्त रहा है, वेदन वर्त रहा है परन्तु विकल्प वहाँ नहीं है—ऐसा पक्षातिक्रान्त का

स्वरूप है। अब कर्ताकर्म की अन्तिम गाथा रही है। जो पक्षातिक्रान्त है वही समयसार है—ऐसा अब कहेंगे।

क्रमबद्ध पर्याय में स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ आदि पाँच समवाय

पक्षातिक्रान्त ही नियम से समयसार है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ही समयसार है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों पुरुषार्थ से प्रगट होते हैं। चैतन्य के एक क्षण के पुरुषार्थ की उग्रता में पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म पाँचों समवाय आ जाते हैं। वस्तु के ऊपर यथार्थ दृष्टि हुई वह पुरुषार्थ द्वारा हुई वह पुरुषार्थ ॥१ ॥ उस पुरुषार्थ के द्वारा जो स्वभाव था उसमें से पर्याय प्रगट हुई—वह स्वभाव ॥२ ॥ जिस समय पर्याय प्रगट हुई वह स्वकाल अर्थात् काल ॥३ ॥ और पुरुषार्थ द्वारा जो पर्याय क्रमबद्ध होने की थी वह हुई वह नियति ॥४ ॥ और पुरुषार्थ से स्वभाव प्रगट होने के समय जो कर्म का अभाव हुआ वह कर्म ॥५ ॥ चार समवाय अस्तिरूप से चैतन्य में आ जाते हैं और अन्तिम कर्म का अभाव वह नास्ति परिणमनरूप से चैतन्य में आ जाता है।

आत्मा की पर्याय प्रगट होने में पाँचों कारण होते हैं; उन सबमें पुरुषार्थ मुख्य है। जैसी वीर्य की उग्रता या मन्दता होती है, उसी प्रकार कार्य आता है। जो पुरुषार्थ करे उसे दूसरे चारों कारण आ जाते हैं। जो पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता उसे एक भी कारण लागू नहीं पड़ता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सब पुरुषार्थ से ही प्रगट होते हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही समयसार है; उसके साथ आंशिक, चारित्र होता है, परन्तु मुख्यतया तो यहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान की ही बात ली है। उनके साथ आंशिक चारित्र होता है और पश्चात् क्रमशः पूर्ण चारित्र प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र प्रगट ही नहीं होता, इसलिए यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात मुख्यतया ली है।

पक्षातिक्रान्त ही समयसार है—ऐसा नियम से सिद्ध होता है—ऐसा अब कहते हैं:—

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।।१४४।।

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः।।१४४।।

अर्थः—जो सर्व नयपक्षों से रहित कहा गया है, वह समयसार है; इसी को (समयसार को ही) केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान—ऐसी संज्ञा (नाम) मिलती है। (नाम पृथक् होने पर भी वस्तु एक ही है।)

यह गाथा बहुत उच्च है। यह गाथा तो कर्ताकर्म की बहुत-बहुत बात करते-करते और पर के और रागादिक के साथ कर्ताकर्म भाव को छोड़ना कहते-कहते आयी है परन्तु लोग कहते हैं कि हमें यह समझ में नहीं आता इसलिए दूसरा कुछ करने के लिए कहो। परन्तु भाई! पाप करना तो कोई कहता ही नहीं, अशुभ भाव की अपेक्षा शुभभावों में रुके वह ठीक है, परन्तु प्रथम स्वभाव को समझना चाहिए; क्योंकि स्वभाव के भान द्वारा विकार का अन्त आता है। शुभभाव विकार है, विकार से स्वभाव समझ में नहीं आता किन्तु ज्ञान द्वारा समझ में आता है। शुभभाव से पुण्यबन्ध होता है परन्तु भव का अन्त नहीं आता। शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, विकार की क्रिया मैं कर सकता हूँ—वह बात तो दूर रही, परन्तु यह तो आँगन में आकर मैं शुद्ध हूँ और मैं शुद्ध नहीं हूँ—ऐसे दो पक्षों के राग में रुकेगा वहाँ तक विकार दूर नहीं होगा और जिसमें राग बिल्कुल नहीं है, उसको ग्रहण किये बिना निर्विकल्प स्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी; सहज स्वभाव की प्राप्ति के बिना वीतराग नहीं होगा और वीतरागता के बिना मुक्ति नहीं होगी। प्रथम सहज ज्ञान स्वरूप का निर्णय करने के लिये मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ—ऐसे विचार आते अवश्य हैं, निर्णय करने के लिए विचारों का मंथन आता अवश्य है, और वैसा करने से वह प्रतीति हो वह तो ज्ञान की पर्याय है परन्तु साथ में जो राग है, वह विकार है। अपूर्ण ज्ञान में विचार होता है और विचार के साथ राग होता है; इसलिए उस अपूर्ण ज्ञान की पर्याय जितना आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं है; आत्मा तो परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य से भरपूर है; वर्तमान समय में ही अपार सामर्थ्य से परिपूर्ण—ऐसे आत्मा पर लक्ष्य करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। आत्मा की परिपूर्ण दृष्टि में अपूर्ण पर्याय आदरणीय नहीं है। स्वरूप में स्थिर होने से रागमिश्रित विचार छूट जाते हैं; जब तक राग मिश्रित विचारों में रुकता है, तब तक स्वरूप का स्वाद नहीं ले सकता। साधक-दशा में रागमिश्रित विचार आते अवश्य हैं, परन्तु स्वरूप का अनुभव

करते समय वे विचार छूट जाते हैं। अशुभ परिणामों से बचने के लिये रागमिश्रित शुभ विचारों में रुकता अवश्य है, परन्तु स्वरूप के अनुभव के समय वे विचार भी छूट जाते हैं।

कोई कहेगा कि हमें सच्चा वस्तु स्वरूप समझने का क्या काम है? हम तो व्यवहार-शुभभाव करते रहेंगे। परन्तु भाई! शुभभावों से पुण्य होगा-संयोग मिलेंगे परन्तु वे संयोग और शुभभाव तो अजागृत भाव हैं, वे मरण के समय जागृति किस प्रकार रखायेंगे?

मरते समय कुछ भी भान नहीं रहेगा, असाध्य हो जायेगा। नित्य जागृत स्वभाव का भान नहीं है, शुद्ध धर्म की खबर नहीं है—उसका फल तो मूढ़ता ही आयेगा न? शुभाशुभ भाव करे उसके फल में संयोग मिलते हैं अर्थात् बाह्य संयोग मिलते हैं, परन्तु उसके फल में आत्मा की जागृति नहीं मिलती; क्योंकि शुभभाव तो विकार है, और विकार का फल संयोग मिलता है, परन्तु यदि आत्मा के शुद्ध स्वभाव का भान किया हो तो आत्मा में से आत्मा की जागृति रहे। सारे जीवनभर शुभभाव किये हों परन्तु मरण समय असाध्य हो जाता है क्योंकि देह से आत्मा को पृथक् स्वीकार नहीं किया है, देहाध्यास नहीं तोड़ा है, शुभराग करने योग्य मानता है शुभाशुभ परिणामों से भिन्न आत्मा को स्वीकार नहीं किया है, पर के साथ एकत्वबुद्धि है इससे मूढ़ हो जाता है। पर से भिन्न आत्मा का यदि भान हो तो पर से पृथक् रहकर आत्मा की जागृति रख सकता है। जिसे भिन्न चिदानन्द आत्मा का भान नहीं है, वह जीवित होते हुए भी असाध्य है और मरते समय भी असाध्य हो जाता है। मैं चिदानन्द आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, मैं शरीररूप नहीं हूँ, वचनरूप, मनरूप, शुभाशुभ विकाररूप मैं नहीं हूँ—ऐसा पृथक् आत्मा का जिन्हें भान नहीं है, वे सब असाध्य हैं। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि—यह जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहलाता है—उसका भान कर, उसे प्रगट कर! और वे कहते हैं कि जो सर्व नयपक्षों से रहित कहा गया है, वही समयसार है, और इसी समयसार को केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। नाम भिन्न हैं तथापि वस्तु एक है।

आत्मा पर से भिन्न, शुद्ध-पवित्र, ज्ञानमूर्ति है—ऐसा निर्णय करके उसमें स्थिर हुआ उसी को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। नाम भिन्न हैं तथापि वस्तु एक ही है। मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ—वैसे पक्षों में लगा रहे, तथापि उन पक्षों के छूट जाने

से, अनन्त गुण-पर्याय की मूर्ति चैतन्य स्वरूप में स्थिर होने से मात्र अकेला आत्मा रह जाये वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

जो वास्तव में समस्त नयपक्षों द्वारा खण्डित न होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है-ऐसा है—वह समयसार है। वास्तव में इस एक को ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम मिलता है। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसार से भिन्न नहीं—एक ही हैं।)

जो समस्त नयपक्षों द्वारा खण्डित होता था—मैं शुद्ध हूँ, मैं एक हूँ; और गुण से तथा पर्याय से अनेक भी हूँ—ऐसे विकल्पों से खण्डित होता था, राग मिश्रित पक्ष से स्वरूप का भंग हो जाता था—वह जब समस्त नयपक्षों के विकल्पों को पुरुषार्थ से रोक देने से खण्डित नहीं हुआ—तब अखण्डित हुआ। समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है और अपने अखण्डित स्वरूप का अनुभव करता है वही समयसार है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, समयसार से पृथक् नहीं हैं।

यह केवलज्ञानी की बात नहीं परन्तु चौथे गुणस्थान की बात है, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी की बात है।

राग के विकल्प से खण्डित होता था वह स्वरूप का निर्णय करके स्वरूप में स्थित हुआ-वहाँ जो खण्ड होता था वह रुक गया और मात्र आत्मा अनन्त गुणों से भरपूर आनन्द स्वरूप रह गया। मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ; मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ—ऐसे विकल्पों से छूट गया और अकेला आत्मतत्त्व रह गया—उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, और वही समयसार है। समयसार यह पृष्ठ नहीं है, अक्षर नहीं हैं; यह पन्ने तो जड़ हैं। आत्मा के आनन्द में लीनता वह ही समयसार है। स्वरूप का बराबर निर्णय करके विकल्प टूट जायें, पश्चात् अनन्त गुण सामर्थ्य से भरपूर मात्र आत्मतत्त्व रहा वही समयसार है।

कोई कहेगा कि यह तो आप परमात्मा की बात करते हो; केवलज्ञानी की बात करते हो। परन्तु भाई! यह तो एक अंश की बात है, मात्र बानगी की बात है, अभी पूरा करना तो शेष रहा है, इससे अनन्त गुना पुरुषार्थ शेष रहा है। अभी पूर्ण स्थिरता प्रगट नहीं हुई है, पूर्ण वीतरागरूप स्थिरता तो आंशिक स्थिरता में वृद्धि करते-करते होती है। यह तो मात्र अंश प्रगट हुआ है, अभी श्रावकत्व की स्थिरता, मुनित्व की स्थिरता, केवलज्ञान की स्थिरता-

वह सब शेष हैं। यह तो मात्र चौथी भूमिका की बात है। ऐसा निर्विकल्प अनुभव होने के पश्चात् राजपाट करे, गृहस्थाश्रम में हो तथापि पर से निराले आत्मा का भान उसके वर्तता रहता है, इससे वह ज्ञाता रहता है; इसलिए वह आत्मा में रहा है परन्तु गृहस्थाश्रम में नहीं रहा है। निर्विकल्प अनुभव सदैव नहीं रहता, अन्तर्मुहूर्त रहता है; पश्चात् राज्य, व्यापारादि विकल्प उठते हैं परन्तु उनका वह कर्ता नहीं होता, स्वरूप का पृथक् भान रहता है। व्यापार, धन्धा, राजपाट करते समय भी किसी-किसी समय स्वरूप में उपयोग स्थिर भी होता है परन्तु चौथा गुणस्थान है इसलिए विशेष स्थिरता नहीं होती।

स्वयं जाति से वणिक हो, परन्तु जब बालक हो तब किसान के भी यहाँ जाये और वह खाने-पीने को दे तो खाता-पीता है, क्योंकि उसे खबर नहीं होती कि मैं वणिक हूँ। और जब बड़ा हुआ तब खबर हुई कि मैं वणिक हूँ, मुझे किसान के यहाँ नहीं खाना-पीना चाहिए; वह पानी पीने से अपवित्र हो जाऊँगा—ऐसा बड़े होने पर ध्यान आता है और वृद्ध होने पर तो सभी प्रकार का बाह्य का बहुत ध्यान आ जाता है। उसी प्रकार अनादि अज्ञान से मैं कौन हूँ और पर कौन है—इसकी खबर न होने से पर का अभिमान करता है; पर मेरा है और मैं पर का हूँ, पर मेरा कर सकता है और मैं पर का कर सकता हूँ—इस प्रकार बाल भाव से अज्ञान का भोजन-पान करता है, परन्तु जहाँ भान हुआ कि मैं पर से निराला, निर्विकल्प चैतन्यज्योति आत्मा हूँ, मैं पर का कुछ नहीं कर सकता और न पर मेरा ही कुछ कर सकता है—ऐसा भान हुआ कि वहाँ जवान हुआ—वह जवानी की चाल है। यह चौथी भूमिका की बात है, सम्यग्दर्शन की बात है, यह आत्म जागृति की बात है; अभी स्थिरता शेष है, अंशतः स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है, परन्तु अभी पाँचवीं और छठवीं-सातवीं भूमिका की स्थिरता प्रगट नहीं हुई है अर्थात् अभी चारित्र प्रगट नहीं हुआ है, क्रमानुसार पाँचवीं-छठवीं-सातवीं भूमिका की स्थिरता प्रगट करके आगे बढ़कर वीतराग हो—केवलज्ञान प्रगट करे वह वृद्धपना है। इस १४४वीं गाथा में तो सम्यग्दर्शन की बात है, आत्मा के अनुभव की बात है, पूर्ण स्थिरता की बात नहीं है।

सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये—आत्मा का अनुभव करने के लिये प्रथम क्या करना चाहिये वह आचार्यदेव कहते हैं। प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

प्रथम क्या करना चाहिए वह आचार्यदेव ने कहा है। प्रत्येक जीव सुख की इच्छा करता है, किन्तु पूर्ण सुख किसने प्रगट किया है ? वैसा पूर्ण पुरुष कौन है ? उसकी पहिचान करना चाहिए, और उस पूर्ण पुरुष ने सुख का स्वरूप क्या कहा है—उसे जानना चाहिए। उस सर्वज्ञ पुरुष के कहे हुए वाक्य—वह आगम है। इसलिए प्रथम आगम में सुख का स्वरूप क्या कहा है उसे जानकर उसका अवलम्बन करके, ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना चाहिए; निर्णय है वह पात्रता है और आत्मा का अनुभव उसका फल है। इस गाथा में पात्रता और उसका फल—दोनों बताये हैं। ऐसा निर्णय करने की जहाँ रुचि हुई वहाँ अन्तर में कषाय का रस मन्द पड़ ही जाता है। तत्त्व विचार द्वारा कषाय का रस मन्द पड़े बिना इस निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। प्रथम श्रुतज्ञान का अवलम्बन करना—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने सच्चा आगम क्या है ? उसका कहनेवाला पुरुष कौन है ? इत्यादि सभी निर्णय करने को कह दिया है; सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कौन हैं ? उन सबका निर्णय आ जाता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करने में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय करना आदि सब एक साथ आ जाता है।

प्रथम श्रुतज्ञान का अवलम्बन करना कहकर आचार्यदेव ने उसमें बहुत-बहुत समाविष्ट किया है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर उनका निर्णय करना कि यह सच्चे हैं और यह मिथ्या हैं। जिस आगम में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कर सकता है—ऐसा कहा हो वह आगम सच्चा नहीं कहलाता, उसे कहनेवाला गुरु भी सच्चा नहीं है, ऐसा बतानेवाला देव भी सच्चा नहीं है; लेकिन दोनों तत्त्व भिन्न हैं, प्रत्येक तत्त्व स्वाधीन है, कोई तत्त्व किसी तत्त्व के आधार से नहीं है, कोई तत्त्व किसी तत्त्व का कुछ भी करे तो तत्त्व पराधीन हो जाये परन्तु ऐसा तो बनता नहीं है। प्रत्येक तत्त्व स्वाधीन है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ नहीं कर सकता—ऐसा वस्तु का स्वरूप बतानेवाला देव भी सच्चा है, गुरु भी सच्चा है और शास्त्र भी सच्चा है—ऐसी पहचान करके देव-गुरु-शास्त्र कथित जो आत्मा का स्वरूप है उसका विचार करके अपने द्वारा, श्रुतज्ञान के अवलम्बन द्वारा ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना चाहिए। वह निश्चय ऐसा अपूर्व करना कि जिस निश्चय के फल में आत्मा का अनुभव हो, केवलज्ञान हो केवलदर्शन हो और अनन्त गुण प्रगट हों। आगम द्वारा, सद्गुरु द्वारा निर्णय करना उस निर्णय करने में राग

का अंशत: अभाव होकर निर्णय होता है, परन्तु निर्णय के समय बुद्धिपूर्वक के सर्व विकल्प नहीं छूट जाते, स्वभाव में स्थिर नहीं हो जाता, परन्तु जब निर्णय करता है, उस समय भी आत्मा से आत्मा का निर्णय करता है। मन और राग की गौणता करता है; आत्मा को अधिक करता है और राग को गौण करता है—अर्थात् अंशत: राग से मुक्त होकर स्वत: अधिक होकर आत्मा से आत्मा का निर्णय करता है। परन्तु जब स्वरूप में स्थिर हो जाता है, तब बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं—बुद्धिपूर्वक का मन का निमित्त छूट जाता है, और चिद्रूप-चिदानन्द में उपयोग लीन होता है।

जो आगम आत्मा का ज्ञानलक्षण न बताये किन्तु विकारलक्षण बताये, पराधीनलक्षण बताये-वह आगम मिथ्या है; निमित्त ही उपादान है—ऐसा बताये वह आगम मिथ्या है। यदि निमित्त कार्य कर देता हो तो निमित्त निमित्तरूप नहीं रहा परन्तु उपादान हो गया; निमित्त मात्र उपस्थितिरूप हो तो निमित्त निमित्त कहलाये। यदि निमित्त, उपादान का कार्य कर देता हो तो वह (निमित्त) उपादान हो गया, परन्तु निमित्तरूप नहीं रहा। सूर्य कमल को नहीं खिला देता, परन्तु जब कमल खिले तब सूर्य की उपस्थिति होती ही है—ऐसा सम्बन्ध है। जो शास्त्र आत्मा का स्वाधीन लक्षण बताये वह शास्त्र सच्चा है, वह स्वाधीन स्वरूप बतानेवाला देव भी सच्चा है और वैसा स्वाधीन स्वरूप बतानेवाला गुरु भी सच्चा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रथम श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेना, श्रवण करना-मनन करना और सत्समागम करना। आगम के आधार से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करना। जीवों को रुचि नहीं है, यदि रुचि हो तो पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहें। अरे भाई! आत्मा की रुचि कर! मरण समय कौन शरण होगा? भेड़-बकरी की तरह मरण हो वह कहीं मरण कहलाता है? लखपति या करोड़पति हो, सैंकड़ों आदमी पास खड़े हों फिर भी मर जाता है, वहाँ कौन शरण है? घोर वेदना में असाध्य होकर मर जाता है उसमय कौन शरण है? यदि आत्मा की जागृति की होगी तो वह साथ आयेगा। प्रथम आत्मा की सच्ची जिज्ञासा करे, सत्य कहाँ है उसे खोजे, सच्चा देव कौन है? सच्चा गुरु कौन है? सच्चा शास्त्र कौन है? उन्हें शोधे, और वे जो बता रहे हैं उसका निर्णय करने के लिये समय निकाले, फिर निर्णय करे कि मैं पर से निराला, स्व-पर का ज्ञाता, अनन्त गुण मूर्ति आत्मा हूँ। यह राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, पर का अच्छा-बुरा करना मेरा स्वभाव नहीं है, पर

का कर्ता होना मेरा स्वभाव नहीं है, पर का स्वामित्व रखना मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो 'ज्ञान स्वभावी आत्मा हूँ'; स्व-पर का ज्ञायक हूँ, किन्तु किसी भी प्रकार पर का कर्ता नहीं हूँ—ऐसा निर्णय प्रथम श्रुतज्ञान से करना चाहिए।

प्रथम सच्चा निर्णय किये बिना निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। सत् स्वरूप प्रगट करने में सच्चे देव, गुरु और शास्त्र का निमित्त आया। सच्चे पुरुषार्थ से सच्चे निर्णय का निमित्त भी आया, वह अन्तर का निमित्त हुआ; सच्चा निर्णय कारण हुआ और पश्चात् अनुभव आया। सच्चा निश्चय करने के पश्चात् भी आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, आत्मा की शान्ति और आनन्द के वेदन के लिए अन्तरोन्मुख किस प्रकार होता है—वह आचार्यदेव कहते हैं। इस टीका का भाव बहुत ऊँचा है। जब आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि करना हो तब पर की प्रसिद्धि छोड़ना चाहिए। आत्मा के अनुभव के उपभोग के लिए सच्चा निर्णय करने के पश्चात् स्वोन्मुख किस प्रकार होता है—वह आचार्यदेव कहते हैं।

सच्चा निश्चय करने के पश्चात्, आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए, पर प्रसिद्धि के कारण जो इन्द्रिय द्वारा और मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं, उन्हें मर्यादा में लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को (मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्मसम्मुख किया है—ऐसा, तथा नाना प्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसम्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरस से ही प्रगट होनेवाला, आदि-मध्य-अन्त रहित, अनाकुल, केवल, एक सम्पूर्ण विश्व के ऊपर मानों तैरता हो—उस प्रकार के अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभवन करता है, उसी समय वह सम्यक्रूप दिखायी देता है (श्रद्धा में आता है) और ज्ञात होता है; इससे समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

आत्मा आनन्दमूर्ति-आनन्द का रसकन्द है, इन्द्रियाँ और मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि-वह पर की प्रसिद्धि का कारण है-पर की प्रसिद्धि करनेवाले हैं; इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तित जो बुद्धि है, वह पर के ऊपर लक्ष्य करनेवाली है; पर लक्ष्य में स्त्री, कुटुम्ब, देव, गुरु, शास्त्र—सब आ जाते हैं, वह सब पर की प्रसिद्धि है। पाँचों इन्द्रियों और मन की ओर प्रवर्तित जो बुद्धि है, उसे पर लक्ष्य में जाने से रोके और आनन्द सागर आत्मा की ओर

उन्मुख करे वह आत्मारूपी आनन्द के हिमालय में प्रविष्ट होने की सीढ़ियों पर चढ़ रहा है।

परपदार्थों की प्रसिद्धि के कारण इन्द्रियाँ और मन हैं, उनसे प्रवर्तित जो बुद्धि है, उसे स्वोन्मुख करके मतिज्ञान को अर्थात् मतिज्ञान के व्यापार को आत्मसन्मुख किया है। कैसी अद्भुत सरस बात ली है! किसी बलवान योग में अद्भुत शैली से अद्भुत गाथा की रचना हुई है कितना उत्तम सिद्धान्त दिया है! कि मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसा निश्चय करके प्रगट पर्याय में आनन्द लाने के लिये, पर की ओर—पाँच इन्द्रियों और मन की ओर झुकते हुए भाव को स्वभावोन्मुख किया है। उपयोग परोन्मुख होता है, उसे स्वोन्मुख कर लेना;—इस प्रकार मतिज्ञान के व्यापार को आत्मसन्मुख किया।

उपयोग मन और इन्द्रिय की ओर युक्त हो तब मन दिखायी नहीं देता, परन्तु उस समय बाह्य पदार्थ लक्ष्य में आते हैं, इससे समझ लेना चाहिए कि अभी उपयोग की लीनता पर की ओर है; मतिज्ञान के व्यापार का योग पर की ओर से छूटकर आत्मस्वभाव में हो तब आत्मस्वभाव लक्ष्य में आता है। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसा निर्णय करके उपयोग पर की ओर से छूटकर स्वभावोन्मुख होता है और आत्मा में लीन होता है, तब आत्मा का अनुभव होता है।

अब, श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करते हैं। अनेक प्रकार के नयपक्ष के अवलम्बन से होनेवाले अनेक प्रकार के विकल्प, जो कि—बद्ध, अबद्ध, शुद्ध, अशुद्ध, एक, अनेक इत्यादि नयपक्ष हैं, जो आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं, उनमें प्रवर्तित जो ज्ञान का व्यापार है, उसे रोककर श्रुतज्ञान के व्यापार को स्वोन्मुख करता है। यहाँ आत्मा के आनन्द की बात लेना है, इससे आकुलता को उत्पन्न करनेवाले नयपक्ष—ऐसा कहा है। मतिज्ञान का व्यापार पर की ओर भी सामान्य है और स्व की ओर भी श्रुतज्ञान की अपेक्षा से सामान्य है; श्रुतज्ञान के व्यापार में अनेक तर्कणायें होती हैं—इससे यदि श्रुतज्ञान का व्यापार पर की ओर जाये तो विकल्प के भंग-भेद आते हैं, शुद्ध, अशुद्ध, बद्ध, अबद्ध, इत्यादि नयपक्ष के विकल्प होते हैं और वे आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं; और उस श्रुतज्ञान का व्यापार यदि अन्तरस्वभावोन्मुख हो तो विकल्पतरंग टूटकर आनन्दतरंग उठती है, शान्ति के झरने झरते हैं, समाधि का स्वाद आता है।

मैं आत्मा शुद्ध हूँ, अशुद्ध हूँ, बद्ध हूँ, मुक्त हूँ, नित्य हूँ, अनित्य हूँ, एक हूँ, अनेक

हूँ—वैसी राग की वृत्ति भी दु:खदायक है, आकुलतारूप है—वैसे अनेक प्रकार के श्रुतज्ञान के भावों को मर्यादा में लाकर, मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ—वैसे विचारों को पुरुषार्थ द्वारा रोककर, परोन्मुख होते उपयोग को स्वोन्मुख करके, नयपक्ष के राग के भंग को आत्मा के स्वभाव रस के भान द्वारा दूर करके, श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करता है उस समय अत्यन्त विकल्प रहित होकर तत्काल निजरस से प्रगट होनेवाले आदि-मध्य-अन्त रहित आत्मा के परम आनन्द अमृतरस का वेदन करता है। आदि-मध्य-अन्त रहित अर्थात् आत्मा का प्रारम्भ नहीं है इससे अन्त भी नहीं है; तब फिर जिसे प्रारम्भ और अन्त न हो उसका मध्य क्या होगा ? आत्मा अनादि से वही का वही है, अखण्डानन्द, अनन्त गुणों का पिण्ड, आदि-मध्य-अन्त रहित आत्मवस्तु है।

प्रथम, आत्मा का यथार्थ निर्णय करके पश्चात् पर प्रसिद्धि का जो कारण है—ऐसी इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तती बुद्धि; उसे मर्यादा में लाता है। पश्चात् उस मतिज्ञान के व्यापाररूप बुद्धि को अर्थात् मतिज्ञान के व्यापार को आत्मसन्मुख करता है और अनेक प्रकार के नयपक्ष के अवलम्बन से—अनेक प्रकार के विकल्पों से आकुलता उत्पन्न होती है—ऐसी श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान को भी आत्म-सन्मुख करता है। इस प्रकार दोनों ज्ञान के व्यापार को आत्मसन्मुख करके अत्यन्त विकल्परहित होता है। उसी क्षण आत्मस्वभाव निजरस से प्रगट होता है, आदि-मध्य और अन्त रहित आत्मा का अनुभव करता है, अनाकुल-निराकुल आनन्दरूप आत्मा का अनुभव करता है, विकल्पों की अनेकता छूट जाने से केवल एकरूप, सम्पूर्ण विश्व के ऊपर मानों तैरता हो—ऐसा आत्मा का अनुभव करता है। तैरता अर्थात् विश्व के ऊपर मानो अलग-असंग होकर तैरता हो ऐसा अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव करता है। विकल्प में रुकता था वहाँ खण्ड पड़ता था, वह छूट जाने से अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव करता है। अनन्त गुणों की पर्यायें जिसमें एक साथ उछल रही हैं—ऐसे अनन्त गुणस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है, विज्ञानघन-स्वभाव आत्मा का अनुभव करता है। विकल्प की ओर ज्ञान जुड़ता था तब अस्थिर होता था, अब ज्ञान जम गया। जिसमें विकल्प प्रविष्ट नहीं हो सकता—ऐसे निबिड ज्ञानरूप अर्थात् विज्ञानघनरूप आत्मा का अनुभव करता है। ऐसे परमात्मारूप समयसार का आत्मा जब अनुभव करता है, उसी समय आत्मा सम्यक्त्वरूप

दिखायी देता है (श्रद्धा में आता है) । वह समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है । वही भगवान के दर्शन हैं वही ईश्वर के दर्शन हैं—वही परमात्मा के दर्शन हैं । उसी समय आत्मा के यथार्थ दर्शन होते हैं और यथार्थ श्रद्धा में आता है ।

अनन्त गुण-पर्याय से परिपूर्ण जो तत्त्व है उसे अपूर्ण विकारी और पूर्ण पर्याय की अपेक्षा के बिना लक्ष्य में लेना वह द्रव्यदृष्टि है, वही यथार्थदृष्टि है । उस दृष्टिपूर्वक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के व्यापार को आत्मसन्मुख किया वह व्यवहार है, प्रयत्न करना वह व्यवहार है, स्वोन्मुख होना वह व्यवहार है । इन्द्रियाँ और मन की ओर रुकनेवाला ज्ञान, अल्प विकसित ज्ञान; उस ज्ञान के व्यापार को स्वोन्मुख करना वह व्यवहार है । सहज शुद्धपारिणामिकस्वभाव एकरूप है । परिपूर्ण तत्त्व में साध्य साधक के भंग नहीं पड़ते । तत्त्व यदि अपूर्ण हो तो साध्य साधक के भंग पड़ते हैं, परन्तु तत्त्व तो परिपूर्ण है, तथापि पर्याय में अपूर्णता है । विकार है इसलिए प्रयास करना रहता है, साधक अवस्था रहती है । पर्यायदृष्टि से साध्य-साधक के भी भंग पड़ते हैं । परिपूर्ण तत्त्वदृष्टि होने पर भी पर्याय में अपूर्णता होने से बीच में साधक अवस्था आये बिना नहीं रहती । पर्यायदृष्टि से अपूर्णता है, विकार है; उसे तत्त्व दृष्टि के बलपूर्वक दूर करके निर्मल करता है और अनुक्रम से पूर्ण निर्मलता प्रगट करता है । यथार्थदृष्टि होने के पश्चात् साधक अवस्था बीच में आये बिना नहीं रहती । आत्मा का भान करके स्वभाव में एकाग्र होता है, तभी परमात्मारूप समयसार का अनुभव करता है, आत्मा के अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है, आनन्द के झरने झरते हैं ।

कोई कहे कि—ऐसा आनन्द हो तो बाहर से उछल पड़े न ? अरे भाई ! यह कहीं संसार के हर्ष की बात नहीं है । यह तो अकषाय, निराकुल आनन्द की बात है । हर्ष करना तो आकुलता है । यह तो सहज आनन्द की बात है, आत्मा के सहज आत्मस्वभाव की बात है । आनन्द की बात आये वहाँ लोगों को ऐसा लगता है कि कुछ बाहर से उछलना तो चाहिए न ? परन्तु अरे भाई ! आनन्द का वेदन करता हूँ—ऐसा विकल्प भी राग है, आकुलता है । आनन्द का तो सहज वेदन होता है और जागृत स्वरूप ज्ञान में ज्ञात होता है । जागृत आत्मा उसे जानता है—उसका वेदन करता है । आत्मा का सुख अन्तर में है; वह

बाह्य में रूपी पदार्थ में, इन्द्रियों में, या शरीर में नहीं उछल पड़ता। आत्मा के आनन्द का वेदन आत्मा में होता है, बाहर उछलकर नहीं आता।

आत्मा ज्ञानघन है; जब तक उसका निश्चय न हो तब तक श्रुतज्ञान का अभ्यास करना, और निश्चय होने के पश्चात् एकाग्रता का अभ्यास करना—इस प्रकार प्रबल प्रयत्न करने से परमात्मारूप समयसार के दर्शन होते हैं।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का निर्णय करके, आत्मा क्या है उसका निर्णय करना चाहिए। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के पर्याय के भेद जितना आत्मा नहीं है, परन्तु सामान्य ज्ञानमात्र—अखण्ड ज्ञानमात्र आत्मा है। ज्ञातारूप से जानना ही आत्मा का स्वरूप है, पर का कुछ भी करना आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। जिसने पर का कर्तृत्व स्वीकार किया है उसने आत्मस्वभाव का सच्चा निर्णय नहीं किया है। पर का अकर्ता, स्वभाव का कर्ता, स्व-पर ज्ञायक—ऐसे आत्मा का यथार्थ निर्णय करने के पश्चात् आगे बढ़ा जा सकता है। देव को जाने, गुरु को जाने, धर्म को जाने, पुण्य-पाप के भावों को जाने, नव तत्त्वों में से अकेले पृथक् आत्मा को जो जाने उसने आत्मा का सच्चा निश्चय किया है। ऐसा निश्चय करने के पश्चात् प्रगट अनुभव करने के लिये इन्द्रियों और मन में प्रवर्तमान बुद्धि को मर्यादा में लाकर फिर आत्मसन्मुख करना चाहिए। खेद इत्यादि के दो भाव होते हों, उन्हें प्रथम मर्यादा में लाये और पश्चात् ज्ञान को आत्मसन्मुख करे। मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ, मैं अबद्ध हूँ—ऐसे विकल्पों को छोड़कर मात्र एक आनन्दमूर्ति आत्मा रह गया, उसका अनुभव करे वह परमात्मा के दर्शन हैं, वही सम्यग्दर्शन है। यह बारहवें गुणस्थान की बात नहीं है। आचार्यदेव ने टीका में 'सम्यग्दृश्यते'—ऐसा शब्द रखा है, इसलिए श्रद्धा की बात है, चौथे गुणस्थान की बात है। जब परमात्मारूप समयसार का आत्मा अनुभव करता है, उसी समय श्रद्धा में आता है। पश्चात् बाह्य में लक्ष्य आये तब विकल्प आते हैं, पर से भिन्न ज्ञायक का भान रहता है, श्रद्धा रहती है परन्तु उपयोग बिल्कुल आत्मा में जमा हुआ नहीं होता। जब आत्मा के स्वभाव में स्थिर होता है, तब परमात्मारूप आत्मा का साक्षात् अनुभव करता है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का है, शुभराग का नहीं-घर, वस्त्रादि का नहीं है। जिसे सच्ची जिज्ञासा जागृत हुई हो और जो पुरुषार्थ करे—वह प्रगट कर सकता है।

जिसे आत्मा का हित करना हो उसे प्रथम आगम का अभ्यास करके आत्मस्वभाव का सच्चा निर्णय करना चाहिए। सर्वज्ञ परमात्मा कौन हैं? उनकी वाणी कैसी है?—उसका निर्णय करना चाहिए। सच्चे गुरु कैसे होते हैं? सच्चे शास्त्र कैसे होते हैं?—उसका निर्णय करना चाहिए और देव-गुरु-शास्त्र द्वारा कहे गये आत्मस्वभाव का निर्णय करना चाहिए। संसार में भी पहले तो परीक्षा ही करते हैं न? चाहे जिस वस्तु को लेने जाये वहाँ परीक्षा करके माल लेते हैं। उसी प्रकार आत्मस्वभाव का भी यथार्थ निर्णय करना पड़ेगा। आत्मा ज्ञानस्वरूप है—ऐसा कहने में आनन्द, बल, स्थिरता आदि सभी गुण आ जाते हैं। ज्ञानगुण और आत्मा की अर्थात् गुण-गुणी की अभेददृष्टि से देखो तो ज्ञानमात्र आत्मा कहने में समस्त गुण आ जाते हैं।

मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ—ऐसा निश्चय करके पश्चात् स्वोन्मुख होता है। पाँच इन्द्रियाँ और मन की ओर जो मतिज्ञान का व्यापार प्रवर्तित होता था, उसे ज्ञानमात्र में मिला देता है। पाँच इन्द्रियाँ और मन जब तक बाह्य में काम करते हैं, तब तक राग है। कान द्वारा शास्त्र के शब्द सुने, आँख द्वारा प्रतिमाजी के दर्शन करे—वह सब इन्द्रियों का विषय है, वह सब राग है। निर्विकल्प अनुभव के समय वह राग छूट जाता है। बाह्य पदार्थों में जो लक्ष्य है उसे छोड़कर आत्मोन्मुख होना, ज्ञान, शब्द, रस, रूप इत्यादि को ज्ञेय करते हुए उसे स्व-ज्ञेयोन्मुख करना, इन्द्रियों से जो बोध होता है—उसे स्वभावोन्मुख करना, इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, उसे ज्ञानमात्र में मिलाना, अकेले ज्ञान स्वभाव में लीन करना चाहिए। उसी प्रकार श्रुतज्ञान को भी स्वभावसन्मुख करना चाहिए। मैं बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ; शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ—ऐसे विकल्पों में रुकना वह राग है; यह विकल्प मिटाकर श्रुतज्ञान को स्वोन्मुख करना, स्व में लीन होना। स्व में लीन होने से समस्त विकल्प छूट जाते हैं और अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव होता है, निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है। यह धर्म है, धर्म का उपाय है। इसके अतिरिक्त जो व्रत और चारित्र हैं, वे सभी बालव्रत, बालतप और बालचारित्र हैं।

संसार में जीव दुःख का वेदन कर रहे हैं। यदि सुख हो तो परपदार्थ की इच्छा मात्र न हो। यदि आनन्द प्रगट हो तो पर की इच्छा ही न हो; सुख की इच्छा होती है इसलिए वह दुःखी है। वास्तविक सुख आत्मा में है, उसके प्रगट होने पर दुःख दूर होते हैं। प्रथम

आत्मस्वभाव का निर्णय करके पश्चात् उसमें लीन हो तो आत्मा के अपूर्व आनन्द का अनुभव हो। इसलिए यदि सुख की आवश्यकता हो तो पुरुषार्थ करके, विकल्प तोड़कर आत्मा में लीन होना—उससे अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है और वही समयसार है। सम्यग्दर्शन गुण (-सम्यक्त्व) आत्मा का ही है इसलिए आत्मा में होता है, बाहर नहीं। सम्यग्दर्शन घर तथा वस्त्रादि में नहीं किन्तु आत्मा में है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट करने का कितना अच्छा उपाय बतलाया है! यही प्रथम उपाय है।

आबाल, युवक या वृद्ध—सभी को करने योग्य तो यही है। सत्य शरण यही है, अन्य कोई शरण नहीं है। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा निर्णय करके, उसमें स्थिर होना, स्थिर होकर आत्मा का अनुभव करना ही मोक्ष का उपाय है, दूसरा कोई मोक्ष का उपाय नहीं है। इतनी भक्ति करना या इतनी दया करना-वह मोक्ष का उपाय है—ऐसा आचार्यदेव ने नहीं कहा है; परन्तु सच्ची प्रतीति करके उसमें स्थिर होना, उसे आचार्यदेव ने मोक्ष का उपाय कहा है। सच्चा समझने के पश्चात्, सम्यग्भान होने के पश्चात्, जब तक अपूर्ण है तब तक शुभपरिणाम आयेंगे, वह भक्ति भी करेगा दया, दान, पूजा, भक्ति के परिणाम आयेंगे, परन्तु वह मोक्ष का उपाय नहीं है। बीच में आता अवश्य है, परन्तु वह आगे जाने का मार्ग नहीं है। सच्चे ज्ञान के बिना आत्मा उत्तर नहीं देता। सच्चा स्वरूप समझे बिना भव बन्धन की बेड़ी नहीं टूटती। कदाचित पुण्य परिणाम करेगा तो करोड़ाधिपति के घर में जन्म लेगा; परन्तु उससे क्या हुआ? वह सब तो धूल के समान है। उससे कहीं भवबन्धन का अभाव नहीं हुआ। भव बन्धन का अभाव तो सच्चे स्वरूप की प्रतीति करके उसमें स्थिरता करने से ही होता है, और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना,
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।

विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ।।९३।।

अर्थ:—नयों के पक्षों से रहित, अचल निर्विकल्प भाव को प्राप्त करता जो समय का (आत्मा का) सार प्रकाशित करता है—वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा)-जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (स्वाद लिया जाता है, अनुभवन किया जाता है) वह-विज्ञान ही जिसका एक रस है—ऐसा भगवान है, पवित्र पुराण पुरुष है। ज्ञान कहो या दर्शन—वह यही (समयसार) है; अधिक क्या कहा जाये? जो कुछ है वह यह एक ही है—(मात्र पृथक्-पृथक् नामों से कहा जाता है)।

देखो तो! यह कलश कितना ऊँचा है! कितना सरस है! यह तो अभी निम्नदशा की बात है, धर्म के प्रारम्भवाले की यह बात है, चतुर्थ भूमिकावाले की यह बात है। जिन लोगों ने यथार्थ तत्त्व न सुना हो उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो बहुत उच्च कक्षा की बात है; परन्तु भाई! तुझे अपनी महिमा नहीं जमी है, अपना माहात्म्य तुझे नहीं आया है, इससे ऐसा लगता है।

प्रश्न:—अपना माहात्म्य स्वयं करता है या भगवान का?

उत्तर:—वास्तव में स्वयं अपने स्वभाव का माहात्म्य करता है। भगवान का माहात्म्य करता है—वैसा कहना वह व्यवहार है। शुभराग आता है, इससे सामनेवाले निमित्त पर आरोप करके माहात्म्य करता है, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि भगवान का माहात्म्य करता है; परन्तु जिसे आत्मा का माहात्म्य हो उसी को सच्चा भगवान का माहात्म्य आता है। अपने आत्मा का माहात्म्य—महिमा की जिसे प्रतीति हुई है और आत्मा की पूर्णता की तीव्र आकांक्षा जिसे जागृत हुई है—उसी को पूर्ण सर्वज्ञ वीतराग के प्रति सच्ची भक्ति आती है, बहुमान और अन्तर से उत्साह उसी को आता है।

जीवों को अपना माहात्म्य ही नहीं आता; अपना मकान यदि अच्छा बना हो तो उसका माहात्म्य आता है, दूसरों को भी वह मकान माहात्म्य से दिखाता है, घर में कोई अच्छी वस्तु हो तो दूसरों को बतलाता है। अरे भाई! उस धूल के चित्र का तो तुझे माहात्म्य है, परन्तु तेरा चित्र अन्दर कैसा है उसका कुछ माहात्म्य है या नहीं? अपने चैतन्य भगवान का अपने को जब तक माहात्म्य न आये तब तक किसी प्रकार कल्याण नहीं हो सकता।

यहाँ इस कलश में कहते हैं कि शुद्ध, अशुद्ध, बद्ध, अबद्ध, निर्मल, समल इत्यादि

नयों के विकल्प आते हैं, उनसे रहित, अचल, असंख्य प्रदेशी, चैतन्यमूर्ति आनन्दघन आत्मा, निर्विकल्प भाव को प्राप्त होता हुआ जो समय का सार है, उसे प्रकाशित करता है। राग-द्वेष के जो विकल्प हैं, वह आत्मा का सार नहीं है। शुभाशुभ विकल्पों से रहित, आकुलता रहित, निर्विकल्प स्वरूप, अमृत आनन्दमय आत्मा का अनुभवन करना वह समय का सार प्रकाशित होता है। वह समय का सार कैसे पुरुषों द्वारा आस्वाद्यमान है? निश्चल, आत्मलीन पुरुषों द्वारा आस्वाद्यमान है, अचंचल पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, धीर पुरुषों द्वारा वह आस्वाद्यमान है। वह अनुभव किसके वश से होता है? जो स्वरूप में स्थिर हैं और धीर हैं—वैसे पुरुषों के वश से आत्मस्वरूप आस्वाद्यमान है।

जैसे किसी लम्बे सूत में गाँठ लग गयी हो, तो उस गाँठ को निकालने के लिए कितना धीर होना चाहिए; उसी प्रकार अनन्त काल की भ्रान्ति की गाँठ निकालने के लिए तो भारी धैर्य होना चाहिए। अनन्त गुण-पर्याय का पिण्ड आत्मा धीर पुरुषों द्वारा अनुभव में आता है। जिस प्रकार मणिदीप चाहे जैसे पवन के झोकों से भी नहीं हिलता, उसी प्रकार चाहे जैसे बाह्य संयोगों में भी न डिगें—ऐसे अचल, आत्मलीन पुरुषों द्वारा आत्मरस आस्वाद्यमान है। यह विज्ञान ही एक जिसका रस है, अचिन्त्य और अपूर्व जिसका आत्मरस है—ऐसा भगवान आत्मा है, वह पुराण पुरुष है, प्राचीन से प्राचीन है—नवीन प्रगट नहीं होता; उसे ज्ञान कहो, दर्शन कहो, चारित्र कहो, सत् कहो, शान्ति कहो, आनन्द कहो, वह यह समयसार ही है। जैसे सोने को पीला-कहो, चिकना कहो, भारी कहो—जो कुछ कहो वह सोना ही है, उसी प्रकार आत्मा के संवेदन में आचार्यपद कहो, उपाध्यायपद कहो, मुनिपद या सम्यक्पद—जो कुछ वह यह एक ही है; चारित्र, आराधना, समाधिमरण, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, सिद्ध और अरिहन्तपद भी यही है।

विकल्प को पद नहीं कहा जाता। विकल्प को अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय नहीं कहा जाता। विकल्प को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जाता। स्वरूपानुभव में ही यह समस्त पद आते हैं। अनुभव के अतिरिक्त यह पद क्या कहीं बाहर होगा? बाहर से पद लिया जाता है, वह व्यवहार है, परमार्थ से इसी में समस्त पद आ जाते हैं। अनुभव अंशत: पूर्णता तक बढ़ता अवश्य है, लेकिन सभी पदों में अनुभव तो यही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ है, वह यही है; उसे स्वभाव कहो, अनुभव कहो, साक्षात्कार कहो या

साक्षात् प्रभु के दर्शन कहो—जो कुछ कहो वह सब यही है। अधिक क्या कहें? जो कुछ कहो वह यह एक ही है, मात्र पृथक्-पृथक् नाम से कहा जाता है।

अब विशेष कहते हैं कि प्राप्त की प्राप्ति है, कहीं अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है। सत् तो है ही परन्तु उसका लक्ष्य हट गया था, स्वभाव में से च्युत हो गया था, मान्यता में फेर आ गया था—वह ज्ञान में आ मिलता है; भूल हुई थी उसे टालकर उपयोग आत्मा के साथ मिल जाता है। वस्तु तो जैसी ही है वैसी है, परन्तु पर्याय स्वभाव में आ मिलती है।

यह आत्मा ज्ञान से च्युत हुआ था, वह ज्ञान में ही आ मिलता है—ऐसा अब कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेक-निम्न-गमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैक-रसस्तदेक-रसिना-मात्मान-मात्मा हरन्,
आत्मन्येव सदा गतानुगतता-मायात्ययं तोय-वत्।।९४।।

अर्थः—जिस प्रकारी पानी अपने समूह से च्युत हुआ दूर गहन वन में बह रहा हो उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग द्वारा अपने समूह की ओर बलपूर्वक ढाला जाता है। पश्चात् वह पानी, पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर अपने समूह में आ मिलता है; उसी प्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघन स्वभाव से च्युत होकर प्रचुर विकल्प जाल के गहन वन में दूर भ्रमण करता था, उसे दूर से ही विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघन स्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ा गया। केवल विज्ञानघन के ही रसिक पुरुषों को जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आता है—ऐसा वह आत्मा, आत्मा को आत्मा में खींचता हुआ (ज्ञान, ज्ञान को खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर) सदैव विज्ञानघन स्वभाव में आ मिलता है।

आचार्यदेव अब दृष्टान्त देते हैं—जैसे पानी अपने समूह से च्युत हुआ अर्थात् पानी के प्रवाह की धारा कहीं उल्टी-सीधी निकल गयी, फिर वह गहन वन में फिरता रहता है और यदि ढालू मार्ग मिल जाये तो ढालवाले मार्ग में चला जाता है और पानी में मिल जाता है। दूर से ही ढालू मार्ग में बलपूर्वक ही मोड़ा जाये अर्थात् ढालू मार्ग हो उसमें थोड़ी लकीर

बनाये, तो पानी, पानी में जाये, पानी पानी के बल से, पानी को, पानी के समूह की ओर खींचता हुआ पानी में जाकर मिलता है। ढालू मार्ग में पानी ढले और फिर पीछे का पानी वेग देता है अर्थात् ढकेलता है इससे पानी प्रवाहरूप होकर पानी में जाकर मिल जाता है। इसी प्रकार आत्मा विज्ञानघन से च्युत हुआ है और विकल्प जाल के गहन वन में भ्रमण करता है;—ऐसा कहकर आचार्यदेव यह कहते हैं कि—आत्मा बिल्कुल शुद्ध नहीं है, अवस्था में भूल है। यदि अवस्था में भूल न हो तो यह संसार किसका? यदि अवस्था में भूल न हो तो अवस्था में मलिनता होगी ही कैसे? इसलिए आत्मा ने भूल की थी, उससे विमुख होता है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान-आनन्द का कन्द है, विकल्प जाल आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा विज्ञानघन, अरूपी ज्ञान-आनन्द की मूर्ति है। ऐसे स्वभाव से च्युत होकर भ्रान्ति में और राग-द्वेष की वृत्तियों में भ्रमण करता है; शरीर, इन्द्रियाँ, शुभाशुभ-विकल्प—यह सब मैं ही हूँ—इस प्रकार भ्रान्ति द्वारा विकल्प जाल के गहन वन में फिरता रहता है, प्रचुर विकल्प जाल में फँसा रहता है।

स्त्री-पुत्र, कुटुम्बादि के लिए कुछ कर दूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु पर का कुछ नहीं कर सकता और व्यर्थ का अभिमान करता रहता है; चाहे जितने धक्के खाये लेकिन विकल्प जाल में से नहीं हटता। मकड़ी जिस प्रकार जाल में फँसती है, उसी प्रकार यह तृष्णा के जाल में उलझता है। अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत हुआ प्रचुर विकल्प-जाल के गहन वन में दूर भ्रमण करता था। जिस प्रकार पानी अपने क्षेत्र को छोड़कर दूर गया था उसी प्रकार आत्मा अपना क्षेत्र छोड़कर दूर नहीं गया है परन्तु स्वभाव से दूर गया है, नय के विकल्प में, पुण्य-पाप के विकल्प जाल में दूर भ्रमण करता है। अनन्त भव कीड़े-मकोड़े-नारकी-देव इत्यादि के किये तथापि विकल्प जाल का अन्त नहीं आया। मनुष्य भव में आया परन्तु यदि आत्मा का भान नहीं किया तो पूरी आयु बीत जाने पर भी विकल्पों का अन्त नहीं आता, विकल्प जाल नहीं टूटता; परन्तु जहाँ स्व-पर का विवेक किया, वहाँ स्वरूप में जा मिलता है और विकल्प जाल टूट जाता है।

दूर से ही विवेक किया अर्थात् विकल्पों में नहीं मिला; विकल्प हैं अवश्य परन्तु स्व से पर ऐसे विकल्पों का भेदज्ञान करके विकल्पों को गौण किया। मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक

हूँ, आनन्दघन हूँ—इस प्रकार स्व-पर का विवेक करके स्वोन्मुख हुआ, विकल्पों से दूर से ही विमुख हुआ।

विवेक किया अर्थात् अपने को पकड़ा; परन्तु अभी स्थिरता नहीं हुई; सम्यग्ज्ञान हुआ है। प्रारम्भ में आगम का ज्ञान करता था तभी से विवेक प्रगट करने का प्रयत्न करने लगा है। प्रथम से ही विवेक प्रगट करने का प्रयत्न करना वह मार्ग है। प्रयत्न द्वारा यथार्थ विवेक प्रगट करके विकल्पों के गहन वन में रुका था उसे, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पर से पृथक् हूँ—इस प्रकार पर पृथक् करने के, ढालू मार्ग की ओर मोड़ते हैं, बल से अपने में विवेक करके मोड़ते हैं। 'बल से'—ऐसा कहने से आचार्यदेव का तात्पर्य यह है कि तेरे पुरुषार्थ से कार्य होता है।

यहाँ पानी का दृष्टान्त लागू होता है। पानी पत्थरों को तोड़ डालता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी पत्थरों को तोड़ डालता है। जैसा पानी का प्रवाह है वैसा ही ज्ञान का प्रवाह है, जो ज्ञान परसन्मुख दूर होता था वह स्वसन्मुखता से स्वरूप में नजदीक प्रवाहित किया जा सकता है।

विज्ञानघन स्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ने में आया अर्थात् अपने पुरुषार्थ से तू ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ, ज्ञानस्वभावरूप हुआ। तेरे पुरुषार्थ के बिना कोई भी ऐसा नहीं है जो तुझे विज्ञानघन स्वभाव का स्वाद दे; यदि ज्ञान की दिशा अपने स्वभाव सन्मुख कर तो तेरा स्वाद तुझे अनुभव में आयेगा।

विज्ञानघन के रसिक को विज्ञानघन में ही शान्ति है, उसी में रस है, उसी में लीन होता है; वह उसी का अनुभव करता है और प्रयत्न भी उसी का करता है। ऐसा आत्मा आत्मा को आत्मा में खींचता हुआ (ज्ञान ज्ञान को खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर) सदैव विज्ञानघन स्वभाव में आ मिलता है।

जिसके पास पूँजी नहीं होती वह प्रथम तो मिट्टी की कुण्डियों में चने मूँगफली आदि थोड़ी सी चीज़ें रखकर उनका व्यापार करता है; ऐसा व्यापार करते-करते एक वर्ष में दो सौ रुपये बढ़ते हैं, थोड़ी पूँजी हो जाती है, और फिर वह पूँजी बढ़ाता रहता है; इसी प्रकार प्रथम आगम द्वारा और श्री गुरु के उपदेश द्वारा विवेक प्रगट करने का प्रयत्न करे,

प्रयत्न करते-करते विवेक प्रगट होता है। विवेक प्रगट होने पर ज्ञान, विकल्प और मैं दोनों पृथक् हैं—ऐसा भेदज्ञान करके, विकल्पों को गौण करके, यह मेरा नहीं है, मेरा नहीं है— इस प्रकार परभावों का अस्वीकार करते हुए बल से ज्ञान उपयोग को स्वोन्मुख करता है। प्रथम तो पुरुषार्थ करके बल से स्वोन्मुख करता है, और फिर तो वेग आत्मा की ओर जमा कि आत्मा आत्मा को आत्मा में खींचता हुआ आत्मा में आकर मिल जाता है; फिर तो पूँजी पूँजी को बढ़ाती है; उसी प्रकार आत्मा में जमा कि वहाँ निजस्वरूप का उपभोग करता है और बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं। इस प्रकार साधकदशा में वृद्धि होते-होते वीतराग होने तक स्थिरता बढ़ती जाती है, और फिर पूँजी पूँजी को बढ़ाती है।

प्रारम्भ में छोटा व्यापार करे अर्थात् आगम द्वारा और श्री गुरु के उपदेश द्वारा विवेक प्रगट करने का प्रयत्न करे और विवेक प्रगट होने के पश्चात् तो पूँजी से पूँजी बढ़ती जाती है।

पुरुषार्थ द्वारा यथार्थ विवेक, यथार्थ प्रतीति प्रगट करके जो यह सत्, यह अस्ति, यह ज्ञान है सो मैं हूँ; यह विकल्प-राग मैं नहीं हूँ, यह आकुलता मैं नहीं हूँ—इस प्रकार अस्वीकार करता, ध्रुवस्वभाव में पर की नास्ति स्वीकार करता और अपने सत् स्वरूप में अपनी अस्ति स्वीकार करता हुआ ढालवाले मार्ग में ज्ञान को खींचता हुआ ज्ञान में आ मिलता है।

जिस प्रकार पानी को ढाल मिला कि वह दौड़ता है; आगे का पानी खींचता है और पीछे का पानी उसे ढकेलता है इस प्रकार जाकर पानी, पानी में मिल जाता है; इसी प्रकार आत्मा में ढालवाला मार्ग (नीचा नहीं किन्तु ढाल अर्थात् सीधा रास्ता, विवेकरूपी ढाल) अर्थात् विवेक का सीधा मार्ग हो गया, विवेकी ज्ञान स्थिर होता हुआ अर्थात् ज्ञान ज्ञान को खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर सदैव विज्ञानघन स्वभाव में आ मिलता है।

स्वभाव की ओर झुकता हुआ, स्वभाव का बहुमान करता हुआ, स्वभावोन्मुख होता हुआ, पर से भेदज्ञान करता हुआ, स्व-पर का विवेक करता हुआ—स्व-पर को पृथक् करता हुआ ज्ञान उपयोग भगवान आत्मा में मिल जाता है, बढ़ते-बढ़ते सदैव विज्ञानघनस्वभाव में पूर्ण होता है।

आचार्यदेव ने यहाँ किसी ऐसी शैली से रचना की है कि—प्रथम आगम ज्ञान कर, पश्चात् मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसा निश्चय कर, पश्चात् अनुभव कर—ऐसा क्रम

इसमें दिया है। देखो, इसमें 'काल या कर्म बाधा देते हैं'—आदि कुछ नहीं आया, मात्र पुरुषार्थ ही आया है।

आत्मा पर का माहात्म्य होने से मिथ्यात्व के मार्ग द्वारा स्वभाव से बाहर निकल कर, विकल्पों के मार्ग में भ्रमण करता था, उसे वहाँ से पृथक् करने के विवेकवाले मार्ग द्वारा स्वयं अपने को खींचता हुआ, राग का संगठन तोड़ता, स्वयं ही अपने स्वभाव द्वारा स्वभाव में स्थिरता करता हुआ विज्ञानघन स्वभाव में आ मिलता है, स्वयं विज्ञानघन होता है, वहाँ विकल्प छूट जाते हैं।

अब, कर्ताकर्म अधिकार का उपसंहार करते हुए, कुछ कलशरूप काव्य कहते हैं, उनमें प्रथम कलश में कर्ता और कर्म का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृ–कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।।९५।।

अर्थ:—विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और विकल्प ही केवल कर्म है (अन्य कोई कर्ता–कर्म नहीं है); जो जीव विकल्प सहित है, उसका कर्ता–कर्मपना कभी नाश को प्राप्त नहीं होता।

इस शरीर की, वाणी की, क्रिया मुझसे होती है, शुभाशुभ विकल्प का कर्ता मैं हूँ—ऐसा जो मानता है वही कर्ता है, वही उसका कर्ता होता है और जो शुभाशुभ वृत्ति हुई वह उसका कर्म है। वही कर्ता–कर्मपना है, दूसरा कोई कर्ता–कर्मपना नहीं है।

कर्ता का अर्थ है होनेवाला, और जो हुआ वह उसका कर्म है। राग–द्वेष मेरा कर्तव्य है—ऐसा मानकर जो रुकता है वह उसका होनेवाला होता है अर्थात् कर्ता होता है और राग–द्वेष उसका कर्तव्य होता है, उसमें से उसे चौरासी के अवतार फलते हैं परन्तु धर्म नहीं फलता।

अज्ञानी कहता है कि मैं शरीर को अच्छा कर देता हूँ, शरीर को रखता हूँ। अरे! ऐसा किया होता तो बहुत अच्छा हो जाता; तुमने मेरा कहना माना होता तो बढ़ जाते; परन्तु भाई! तू चाहे जितना कर, तो भी जिसे बढ़ना होगा वह बढ़ जायेगा, वह तेरे हाथ की बात नहीं है। किसी से किसी दूसरे का कुछ हो सकता है—वैसा माननेवाला अज्ञानी है। जिस

परमाणु की जिस समय जो अवस्था होना है, वह हुए बिना नहीं रहेगी, परन्तु अज्ञानी मानता है कि यह मुझसे होती है।

विकल्प का कर्ता अज्ञानी होता है और विकल्प उसका कार्य होता है। शरीर का, इज्जत का, पैसे का, मकान का—किसी भी परद्रव्य का आत्मा कुछ नहीं कर सकता। अज्ञानी विपरीत मान्यता से अहंकार करता है कि मैं पर का कर सकता हूँ—ऐसा माननेवाले का जीवन व्यर्थ है। आत्मा का तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है। अकेले ज्ञानस्वभाव में, करना, छोड़ना—ऐसा कोई कर्तव्य नहीं आता; अकेले साक्षी स्वभाव में क्या आये? कुछ नहीं आता; मात्र साक्षीपना ही आता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि अमुक का ऐसा किया होता तो ऐसा हो जाता; दो दिन पहले और आ जाता तो तुझे एक हजार रुपया दिला देता, लेकिन किसी की हिम्मत है कि किसी को एक पाई भी दिला दे! इसलिए कोई किसी अन्य का कुछ नहीं कर सकता। पाठ में कहा है कि जहाँ तक विकल्प भाव है, वहाँ तक कर्ता-कर्म भाव है, वह विकल्प अज्ञानभाव सहित का लेना चाहिए।

जो करता है वह करता ही है, और जो जानता है वह जानता ही है—ऐसा अब कहते हैं:—

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।।९६।।

अर्थः—जो करता है वह केवल करता ही है, और जो जानता है, वह केवल जानता ही है; जो करता है वह कभी जानता नहीं है और जो जानता है, वह कभी करता नहीं है।

करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जानन हारा;
जो करता नहिं जानै सोई, जानै सो करता नहिं होई॥

(समयसार नाटक कर्ताकर्म क्रिया द्वार ३३)

अज्ञानभाव से आत्मा कर्ता होता है और ज्ञानभाव से जानता है। जो करनेवाला है वह ज्ञाता नहीं है, और जो ज्ञाता है वह करनेवाला नहीं है। शरीर, कुटुम्ब, मकान इत्यादि का मैं कर देता हूँ—ऐसा माननेवाला कर्ता ही है और वह अकेला अज्ञानभाव है, ज्ञानी को

अल्प राग-द्वेष होता है तथापि वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है। द्रव्यदृष्टि के विषय में कर्तापना है ही नहीं; अल्प राग-द्वेष होते हैं, तथापि वह कर्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है।

ज्ञानी ने किंचित् मात्र भी शरीरादि जड़ का और राग-द्वेषादि का नहीं किया है, मात्र ज्ञाता ही रहता है। किंचित् मात्र भी पर का कर्ता हो तो वह जानता नहीं है और ज्ञाता है वह एक अंश भी पर का कर्ता नहीं होता; मात्र ज्ञाता ही रहता है। एक अंश भी पर का कर्ता होनेवाला मात्र कर्ता ही है, क्योंकि ज्ञाता पृथक् नहीं रहता। कभी भी मुझसे जड़ की क्रिया हुई—ऐसा ज्ञानी को कभी भी भासित नहीं होता। ज्ञानी राग का कर्ता नहीं होता परन्तु पुरुषार्थ की मन्दता से अस्थिरता हो जाती है, विकार में युक्तता हो जाती है, लेकिन ज्ञानी तो ज्ञान का ही कर्ता है, विकार का कर्ता तो कभी भी होता ही नहीं।

जो करता है उसे कर्ता ही भासित होता है, परन्तु मैं पृथक् हूँ—वैसा भासित नहीं होता। चलने की, बोलने की, काम करने आदि परपदार्थ की क्रियाएँ मुझसे होती हैं—ऐसा माने वह कर्ता है, क्योंकि परपदार्थ की क्रिया कोई तीन काल-तीन लोक में कर ही नहीं सकता। जो कर्ता है वह कर्ता ही है, जो ज्ञाता है, उसे करने का कुछ भी अभिप्राय नहीं है, वह तो सभी प्रसंगों में मात्र ज्ञाता ही रहता है।

इसी प्रकार करनेरूप क्रिया और जाननेरूप क्रिया-दोनों भिन्न हैं—ऐसा कहते हैं:—

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितञ्च ।।९७।।

अर्थः—करनेरूप क्रिया के अन्दर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती और जाननेरूप क्रिया के अन्दर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; इसलिए ज्ञप्तिक्रिया और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं—इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।

करनेरूप क्रिया के अन्दर जानने की क्रिया भासित नहीं होती। और जाननेरूप क्रिया के अन्दर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती। अज्ञानभाव में मैं पर का करता हूँ—वैसा भासित होता है, परन्तु मैं ज्ञाता हूँ, कर्ता नहीं हूँ—वैसा भिन्नत्व नहीं रहता और इसी से भिन्नत्व भासित भी नहीं होता। करनेरूप क्रिया में जहाँ हो वहाँ कर्मपना ही भासित होता है। पुण्य की-पाप की, हिंसा-दया की जितनी वृत्तियाँ उठती हैं, उन सबका मैं कर्ता हूँ और

वह मेरा कार्य है—ऐसा अज्ञानी को भासित होता है, अपने ज्ञाता स्वभाव की खबर नहीं है, इससे करनेरूप क्रिया में एकमेक होने से उसे ज्ञातारूप क्रिया भासित नहीं होती। ज्ञानी को शरीर की क्रिया, राग की क्रिया होती अवश्य है, परन्तु मैं उससे पृथक् ज्ञाता हूँ—वैसा पृथक्त्व का उसे भान रहता है, इससे वह ज्ञाता है, परन्तु कर्ता नहीं है। जिस क्षण राग की और शरीरादि की क्रिया होती है, उसी क्षण पृथक् रहता है, ज्ञाता रहता है किन्तु कर्ता नहीं होता।

ज्ञाता, ज्ञाता में एकाग्र हुआ वह उसकी ज्ञप्तिक्रिया है। मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ—वैसी प्रतीति की और उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र हुआ वह ज्ञानक्रिया है—ज्ञप्तिक्रिया है। उस ज्ञप्तिक्रिया में—मैंने पूजा की, भक्ति की, व्रत किये—वैसा कर्तृत्व भासित नहीं होता। ज्ञान का ज्ञान किया अर्थात् ज्ञाता का ज्ञान किया, पूजा-भक्ति के, व्रतादि के जो-जो विकल्प आते हैं उन ज्ञेयों का ज्ञान किया। पूजा-भक्ति के जो-जो निमित्त आते हैं, उनका सम्बन्ध-ज्ञान किया—इस प्रकार सबका ज्ञान किया; परन्तु निमित्त का कुछ कर सकता हूँ—वैसा भासित नहीं होता, मात्र ज्ञान की ही क्रिया भासित होती है।

जानने की क्रिया में, पर का मैं कर सकता हूँ—वैसा भासित नहीं होता। जड़ का तो कर ही नहीं सकता, परन्तु राग का भी नहीं कर सकता। जड़ का तो मैं कभी नहीं कर सकता परन्तु राग का कर सकता हूँ—ऐसा ज्ञानी को भासित नहीं होता। जड़ का तो नहीं कर सकता, लेकिन राग का भी नहीं कर सकता—ऐसा ज्ञानी को भासित होता है। यह धर्मी और अधर्मी की क्रिया की बात है। धर्मी की ज्ञप्तिक्रिया है और अधर्मी की करोतिक्रिया है; दोनों भिन्न हैं। अज्ञानी के पर का मैं कर सकता हूँ—ऐसी करोतिक्रिया है। उस करोतिक्रिया में ज्ञान क्रिया भासित नहीं होती और ज्ञानी को ज्ञान की एकाग्र क्रिया में—ज्ञप्ति क्रिया में करोतिक्रिया भासित नहीं होती। 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः'—कहा जाता है वहाँ ज्ञान अन्तर का और क्रिया बाहर की—ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु ज्ञान अन्तर का तो शान्तिरूप क्रिया भी अन्तर की ही होती है—यह 'ज्ञानक्रियाभ्याम्' का अर्थ है।

'मैं परद्रव्य को करता हूँ'—ऐसा जब आत्मा परिणमित होता है, तब तो कर्ताभावरूप परिणमन-क्रिया करता होने से अर्थात् 'करोति' क्रिया करता होने से कर्ता ही है; और जब 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ'—ऐसा परिणमित होता है तब ज्ञाताभावरूप परिणमित होने से

अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया करता होने से ज्ञाता ही है। यह अन्तर परिणमन की बात है। जब कर्तापने का परिणमन हो तब ज्ञातापना भासित नहीं होता और जब ज्ञातापने का परिणमन हो तब कर्तापना भासित नहीं होता। शरीर की, राग की, वाणी की अवस्था मैं करता हूँ; मैं बोलता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ—ऐसा अन्तर में भासित होता है तब मैं जानता हूँ, जानता हूँ—ऐसा भासित नहीं होता—वह अज्ञानी की करोतिक्रिया है। पुण्य-पाप रहित ज्ञाता में एकाग्र हो, ज्ञाता में निर्मल परिणति हो, ज्ञाता की ज्ञाता में निर्मल परिणति हो तब वह ज्ञप्तिक्रिया है। यह साधक की बात है, केवली की बात नहीं है। मैं जानता हूँ, जानता हूँ—ऐसा परिणमन होता है—वह ज्ञप्तिक्रिया है, और अज्ञानी मैं करता हूँ, मैं करता हूँ—ऐसा परिणमित होता है—वह करोतिक्रिया है।

यहाँ कोई पूछता है कि अविरति सम्यग्दृष्टि आदि को जहाँ तक चारित्र में पुरुषार्थ की कमजोरी है, वहाँ तक वह कषायरूप परिणमित होता है, तो उसे कर्ता कहा जाता है या नहीं?

समाधान:—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को श्रद्धा-ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है। चारित्र में च्युति के अनुसार कषायरूप परिणमन है वह उदय की बलजोरी से है; उसके वे ज्ञाता हैं, इससे अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व उनके नहीं है। निमित्त की बलजोरी से होनेवाले परिणमन का फल किंचित् होता है वह संसार का कारण नहीं है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ काट देने के पश्चात् वह वृक्ष कुछ समय रहे या न रहे—प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है—वैसा यहाँ समझना चाहिए। ज्ञातास्वभाव के सम्बन्ध से तो रागादि होते नहीं किन्तु परद्रव्य के साथ सम्बन्ध करता है, उतना विभाव के बल को हटाने के लिये पर का जोर कह दिया है।

चौथे गुणस्थान में आत्मा की पहिचान तो है, ज्ञायक स्वरूप की निःशंक प्रतीति के साथ अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष छूटकर स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीय के राग-द्वेष की निवृत्ति नहीं हुई है; स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है परन्तु अभी अस्थिरता बनी है, उस अस्थिरता का निमित्त चारित्रमोह है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि—पाण्डव, रामचन्द्र, भरत चक्रवर्ती आदि संसार में थे तब उन्हें अल्प राग तो था, तथापि उस राग के वे कर्ता थे या नहीं?

उत्तर:—अविरत सम्यग्दृष्टि को राग है परन्तु उसका स्वामित्व नहीं है। स्वतः पर

के अधिकार में नहीं हो जाता और ऐसा भी नहीं मानता कि पर मेरे अधिकार में हो जाता है। पर का ज्ञाता रहता है। पुरुषार्थ की मन्दता से अस्थिरता होती है, उसका ज्ञाता रहता है।

चौथी भूमिका में राजपाट, स्त्री, कुटुम्ब सब कुछ होता है; ज्ञानी उनका स्वामी नहीं होता। वह मेरे आश्रित वस्तु है इसलिए जैसा चलाऊँगा वैसी चलेगी-वैसी मान्यता ज्ञानी के नहीं होती। कषायरूप अल्प परिणमन है; यदि वह न हो तो केवलज्ञान हो जाये। उस अल्प कषाय के परिणमन को—'उदय की बलजोरी' कहा है।

प्रश्नः—उदय की बलजोरी क्यों ली है।

उत्तरः—दृष्टि का बल अखण्ड, शुद्ध, चिदानन्द पर है—उस दृष्टि के कथन से 'उदय की बलजोरी' ली है। पुरुषार्थ हीन है, वह बात यहाँ नहीं लेना है, क्योंकि पुरुषार्थ हीन है वह पर्याय है; दृष्टि के विषय में अखण्ड शुद्ध द्रव्य है, पुरुषार्थ की हीनतारूप पर्याय उसके विषय में नहीं है, इससे वह बात यहाँ नहीं ली है। क्रोध-मानादि अल्प कषाय की अवस्था होती तो आत्मा में है, परन्तु वह उदय की बलजोरी से है—वैसा कहा है, क्योंकि श्रद्धा के विषय में अखण्ड पूर्णता है; क्षणिक विभाव पर्याय उस श्रद्धा का विषय नहीं है, इससे उदय की बलजोरी कही है। ज्ञानी को श्रद्धा-ज्ञान में पर का स्वामित्व, सम्बन्धत्व नहीं है परन्तु अवस्था में कषाय का सम्बन्ध है; लेकिन अवस्था दृष्टि का ध्येय नहीं है, दृष्टि का विषय नहीं है। एकरूप शुद्ध अखण्ड द्रव्य है वह दृष्टि का विषय है। पर्याय के भंग, राग के भंग दृष्टि में नहीं हैं; दृष्टि के साथ जो ज्ञान है वह ज्ञान अखण्ड और खण्ड, अभंग और भंग—दोनों को जानने का कार्य करता है।

पुरुषार्थ की अशक्ति, राग और राग के निमित्त-बाह्य संयोग, वह सब दृष्टि का विषय नहीं है, इसलिए वे सब पर के हैं—ऐसा कहकर उदय की बलजोरी कही है।

ज्ञान दो कार्य करता है; दर्शन के विषय को भी ज्ञान जानता है और अवस्था को भी ज्ञान जानता है। ज्ञान में वस्तुदृष्टि की मुख्यता करके, अवस्थादृष्टि को गौण करके उस अपेक्षा से यहाँ उदय की बलजोरी कही है। वस्तुदृष्टि में पर्याय का विषय नहीं है तथापि पुरुषार्थ की अशक्ति से युक्तता हो जाती है; परन्तु युक्त होने की भावना नहीं है। इसी क्षण यदि वीतराग हुआ जाता हो तो यह कुछ भी नहीं चाहिए—भावना तो वैसी ही रहती है; स्वरूप में लीन होने की ही भावना रहती है।

चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानवाले को ज्ञाता कहा है; रागादि का कर्ता नहीं कहा, ज्ञाता ही कहा है। ज्ञानी के अल्प कषाय होती है परन्तु उसका वह ज्ञाता ही रहता है। ज्ञानी स्वभाव और परभाव को जानता है, उसके परद्रव्य का स्वामित्व नहीं है इसलिए वह कर्ता नहीं है—ज्ञाता है। मलिन अवस्था की भावना नहीं है इसलिए भी कर्ता नहीं है—ज्ञाता है। ज्ञानी मानता है कि मेरी शान्ति और आनन्द मुझमें हैं, पुण्य-पाप के जो विकल्प उठते हैं, वे मेरे अमृत आनन्द की हत्या करते हैं; इसलिए ज्ञानी को उन पुण्य-पाप के विकल्पों की भावना नहीं होती परन्तु आत्मा के अमृत आनन्द की भावना होती है।

एक मनुष्य पचास चमारों के बीच बैठा हो और चमार उसे बुरी-बुरी गालियाँ दे रहे हों; तब कोई उससे कहे कि—क्यों भाई! तुझे यह गालियाँ अच्छी लग रही हैं, इसी से तू इनके बीच में बैठकर सुन रहा है! तब वह मनुष्य कहे कि अरे! भाई ऐसी गालियाँ कैसे अच्छी लगेंगी? बिल्कुल अच्छी नहीं लगतीं, लेकिन क्या करूँ? मेरी निर्बलता है, यहाँ से उठकर जाने की मेरी शक्ति नहीं है, इसलिए विवश हूँ; यदि लब्धि प्रगट हुई होती तो उड़ जाता; इसी प्रकार ज्ञानी को कषाय की अल्प परिणति होती है परन्तु उसे वह गाली के समान मानता है; पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण राग-द्वेष होता है। अल्प राग-द्वेष होता है, इससे ऐसा नहीं समझना कि राग-द्वेष अच्छा लगता है, परन्तु निर्बलता है, इससे होता है। ज्ञानी समझते हैं कि जितने अंश में यह कषाय की परिणति होती है, उतना ही मेरा अमृत स्वरूप लुटता है, मेरे स्वरूप की हानि होती है। यह राग-द्वेषरूप परिणति मेरे स्वरूप को कलंकरूप है। चौथे गुणस्थान में तीन कषायों की चौकड़ी है, पाँचवें गुणस्थान में दो कषायें हैं, छट्ठे में एक कषाय है। चौथे में भले ही तीन कषायें होती हैं तथापि उनसे भव (संसार) नहीं बढ़ते और न भव बिगड़ते ही हैं। सम्यक्त्वी को जिस परिणाम में आयुष्य का बन्ध हो उससे वैमानिक देव का भव बाँधता है, और यदि देव में हो तो ऊँचा मनुष्य होता है। ज्ञानी के एक-दो भव हों वे भी अच्छे ही होते हैं, इसलिए चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान में अल्प कषाय हो उससे अल्प बन्धन होता है, परन्तु उससे भव बढ़ें या बिगड़ें—वैसा बन्धन नहीं होता।

श्रेणिक राजा को सम्यक्त्वी होने से पूर्व आयुष्य बँधा हुआ था; इससे वे नरक में गये हैं; लेकिन सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् तो नरक का आयुष्य बँधता ही नहीं। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् तो श्रेणिक राजा को इस प्रकार के शुभ परिणाम आये कि जिनसे तीर्थंकर

गोत्र का बन्ध हुआ,—इससे अगले भव में तीर्थंकर होना है।

जिस प्रकार वृक्ष की जड़ काट देने के पश्चात् कुछ वृक्ष थोड़े समय हरे रहते हैं और फिर सूखते हैं और कुछ तो तुरन्त ही सूख जाते हैं। कई वृक्ष ऐसे देखने में आते हैं कि गिरे और तुरन्त सूख जाते हैं और कई वृक्ष ऐसे भी होते हैं कि जड़ कटने पर अमुक काल तक हरे रहते हैं, लेकिन वे प्रतिक्षण सूखते ही रहते हैं। ताड़ वृक्ष का स्वभाव ऐसा होता है कि उसे अमुक स्थान पर सुई चुभी तो पूरा वृक्ष तुरन्त सूख जाता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्यात्व का मूल नाश हुआ होने से किसी को एकाध-दो भव होते हैं और किसी को तो मिथ्यात्व दूर हुआ कि उसी भव में केवलज्ञान होता है। जिसे एकाध-दो भव शेष रहते हैं, उसे सम्यग्दर्शन हुआ तब से क्षण-प्रतिक्षण मलिन पर्यायों का नाश होता जाता है और क्षण-प्रतिक्षण निर्मल पर्याय की उत्पत्ति होती जाती है तथा दृष्टि ध्रुवस्वभाव पर है। यह सम्यग्दर्शन की महिमा है।

जिसकी दृष्टि पर के ऊपर है, वह अज्ञानी है, उसके निर्मल पर्याय का नाश है और मलिन पर्याय की क्षण-क्षण उत्पत्ति है। ध्रुव स्वभाव तो अन्दर पड़ा है, वह नाश नहीं हो सकता? परन्तु उस पर दृष्टि नहीं है, दृष्टि पर के ऊपर ही है इसलिए वह अज्ञानी है। ज्ञानी को चिदानन्द, चैतन्यमूर्ति, आत्मा का भान होने से वह राजपाट, स्त्री, कुटुम्बादि में बना हो तथापि पर का स्वामी नहीं होता; अन्तर से उदास है, वैरागी है, पर में से अनन्त रस कम हो गया है, स्व में अनन्त रस बढ़ गया है, अनन्त रुचि बढ़ गयी है, पूर्ण स्वभाव की बात सुनते ही रोम-रोम उल्लसित हो जाता है, पूर्ण स्वभाव को साध लिया है—ऐसे १८ दोष रहित सर्वज्ञदेव और पूर्ण स्वभाव के साधक गुरु के प्रति उसे अनहद भक्ति उछलती है। पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण अल्पकषाय है इससे अल्प शुभाशुभ भाव होते हैं, परन्तु उन भावों से भव बढ़ते नहीं और भव बिगड़ते नहीं हैं; किंचित् बंधन होता है, प्रतिक्षण निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है, बढ़ते-बढ़ते अनुक्रम से अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्धदशा का वरण करता है। यह सर्व सम्यग्दर्शन की बात है।

पुन: इसी बात को दृढ़ करते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृ-कर्म-स्थिति:।

ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ।।९८।।

अर्थ:—कर्ता निश्चित कर्म में नहीं है, और कर्म भी निश्चित कर्ता में नहीं है—इस प्रकार यदि दोनों का परस्पर निषेध किया जाता है तो कर्ता-कर्म की स्थिति क्या? (जीव-पुद्गल के कर्ता-कर्मपना नहीं ही हो सकता)। इस प्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है—ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है तथापि अरे!! नेपथ्य में यह मोह क्यों अत्यन्त जोर से नाच रहा है? (इस प्रकार आचार्य को खेद और आश्चर्य होता है।)

कर्ता निश्चित कर्म में नहीं है। भगवान आत्मा जड़ में प्रविष्ट नहीं हो जाता। भगवान आत्मा अरूपी है, वह बदलकर रूपी नहीं होता; उसी प्रकार कर्म अरूपी भगवान आत्मा में नहीं है, कर्म बदलकर भगवान आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाते; इस प्रकार दोनों का परस्पर निषेध किया जाता है।

कोई कहे कि आत्मा, आत्मा का करे और पर का न करे तब तो एकान्त हो जाये? परन्तु भाई! आत्मा, आत्मा का करे और पर का भी करे तो दोनों द्रव्य एक हो गये वही एकान्त है; और आत्मा; आत्मा का करे तथा पर का कुछ भी न करे—वही सच्चा अनेकान्त है। 'एक वस्तु में वस्तुपने को उत्पन्न करनेवाली प्रसिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशन करना-उसका नाम अनेकान्त है।' आत्मा, आत्मा का करे और पर का कुछ भी न करे—उसमें परस्पर दो विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशन करना है; उसका नाम अनेकान्त है। अनेकान्त में अस्ति-नास्ति दो धर्म हैं। आत्मा के अस्ति-नास्ति धर्म आत्मा में हैं और जड़ के अस्ति-नास्ति धर्म जड़ में हैं। आत्मा अपना करे वह अस्ति और पर का कुछ भी न करे वह नास्ति—वही सच्चा अनेकान्त है। आत्मा अपना भी करे और पर का भी करे तब तो स्वयं और पर दोनों एक हो गये; इसलिए वह तो एकान्त है। अपना करे और पर का न करे—उसी में परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशन है—वही सच्चा अनेकान्त है।

यदि कर्ता और कर्म पृथक् हैं तो फिर उनकी स्थिति क्या है? यदि दोनों का परस्पर निषेध किया जाता है तो ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है—ऐसी स्थिति प्रगट है—त्रिकाल प्रगट है, और जो समझे उसे प्रगट होती है। जिसे पृथक्त्व का भान हुआ उसे पर का स्वामित्व नहीं है; पर का कर्तृत्व नहीं है। उदय, उदय में है और आत्मा, आत्मा

में है; राग, राग में है और आत्मा, आत्मा में है—ऐसी पृथक्-पृथक् वस्तु है, तथापि नेपथ्य में मोह क्यों नाच रहा है ? वस्तु में त्रिकाल कर्ताकर्मपना नहीं है तथा अज्ञानी कर्ताकर्मपना क्यों मान रहे हैं ? विपरीत मान्यता और मोह क्यों जोर से नाच रहे हैं ?—उसका आचार्यदेव को खेद और आश्चर्य है। अरे प्रभु ! तू पर में नहीं है और पर तुझमें नहीं है ! भाई ! तुझे यह क्या हुआ ? माता-पिता, लड़के से कहते हैं कि भाई ! तुझे यह पर का संग कहाँ से लग गया है ? उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! तुझे यह क्या हो गया है ? जागृतस्वरूप चैतन्य में यह मोह क्यों नाच रहा है ? ज्ञान, ज्ञान में है; ज्ञान में राग-द्वेष नहीं आते और राग-द्वेष में ज्ञान नहीं आता। भगवान आत्मा जड़रूप नहीं होता और जड़ भगवान आत्मारूप नहीं होता। फिर भी यह मोह क्यों नाच रहा है ? इस प्रकार आचार्यदेव को खेद और आश्चर्य होता है।

आठ कर्मों को आत्मा करता है—वह घी का घड़ा जैसी बोलने की रीति है। घी का घड़ा कभी नहीं होता; घड़ा तो मिट्टी का है। घी, घी में है और घड़ा, घड़े में है; एक-दूसरे के एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध से उपचार से घी का घड़ा कहा जाता है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान को रोका है—वैसा कहना भी मात्र उपचार है। अपनी परिणमनशक्ति हीन हुई तब ज्ञानावरणीय को निमित्त कहा जाता है। जीव पुद्गल में नहीं है और पुद्गल जीव में नहीं है—दोनों द्रव्य पृथक् हैं, तब फिर उन्हें कर्ताकर्मपना कैसे हो सकता है ? तीन काल और तीन लोक में आत्मा कर्म में नहीं है और कर्म आत्मा में नहीं है। शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, किन्तु दोनों पृथक् हैं। यदि दोनों एक हों तो कभी पृथक् नहीं हों। दोनों एक क्षेत्र में स्थित हैं, इससे उपचार से कहा जाता है कि शरीर में आत्मा है; परन्तु आत्मा, आत्मा में है और शरीर, शरीर में है—दोनों पृथक् हैं। इससे एक-दूसरे के कर्ता-कर्मपना नहीं है, तथापि अज्ञानी के मोह नाच रहा है।

आत्मा में कर्म नहीं है और कर्म में आत्मा नहीं है। जड़, जड़ में है और आत्मा, आत्मा में है। जड़ का कर्ता आत्मा नहीं है, और जड़ आत्मा का कर्म नहीं है, तब फिर यह मोह क्यों नाच रहा है ? इसका आचार्यदेव को खेद और आश्चर्य होता है।

जड़ आत्मा का कुछ नहीं कर सकता। यदि कर सकता हो तो जहाँ पर सिद्ध भगवान विराजमान हैं, वहाँ भी जड़ है, इससे उन्हें भी बन्ध होना चाहिए ? लेकिन ऐसा

नहीं है; स्वयं विपरीत मान्यता से मानता है कि मैं जड़ का कर सकता हूँ और जड़ मेरा कर सकता है—वह मान्यता बन्ध का कारण है। आत्मा जड़ का कर्ता नहीं है और जड़ आत्मा का कर्म नहीं है—तब फिर यह मोह क्यों नाच रहा है ?

और यदि मोह नाचता है तो भले नाचे; तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है—ऐसा कहते हैं:—

(मन्दाक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव,
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत्।।९९।।

अर्थ:—अचल, व्यक्त और चित्शक्तियों के (ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों के) समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति अन्तरंग में उग्ररूप से इस प्रकार जाज्वल्यमान हुई कि—आत्मा अज्ञान में कर्ता होता था वह अब कर्ता नहीं होता और अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होता था वह कर्मरूप नहीं होता। और ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है और पुद्गल, पुद्गलरूप ही रहता है।

आत्मा अचल है। मैं जड़ का कर्ता और जड़ मेरा कर्म—ऐसा अज्ञानी मानता था परन्तु वस्तुस्थिति जैसी है वैसी है; उल्टा माने तो उससे कहीं वस्तु में बिगाड़ नहीं होता। मात्र पर्याय में बिगाड़ है। शरीर की अँगुली में बिगाड़ हो, सड़ जाये तो वह सड़ा हुआ भाग आगे बढ़ता जाता है; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में क्षणिक बिगाड़ हुआ है वह बिगाड़ आत्मा में आगे बढ़ता जाये वैसा नहीं है। आत्मा तो आनन्दघन, निर्मलस्वभावी है, उसे राग-द्वेष और मिथ्यात्व मोह की पर्याय नहीं हिला सकती। आत्मा अचल है उसे मिथ्यात्व मोह की पर्याय नहीं हिला सकती। आत्मा द्रव्य से तो अचल है ही, परन्तु जब से सम्यग्ज्ञान हुआ तब से पर्याय से भी वह अचल है।

आत्मा द्रव्य से तो व्यक्त है ही, परन्तु आत्मा का भान हुआ तब से वह पर्याय से भी व्यक्त हुआ। जहाँ भान हुआ वहाँ वस्तु तो ऐसी की ऐसी ही है—ऐसा ज्ञात हुआ। वस्तु तो जैसी की वैसी ही है; पर्याय व्यक्त हुई वहाँ ज्ञात हुआ कि अहो! मैं तो जैसा हूँ, वैसा

ही हूँ। इस प्रकार अनन्त गुण पिण्ड आत्मा का अनुभव हुआ। चित्शक्तिओं के समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति अन्तरंग में उग्ररूप से इस प्रकार जाज्वल्यमान हुई कि अज्ञान अवस्था में पर का कर्ता होता था वह रुक गया; मिथ्यात्वमोह के विकार के कारण नवीन कर्म बँधते थे वे रुक गये। मैं मन नहीं, वाणी नहीं, शरीर नहीं, विकार नहीं, कोई पर नहीं हूँ—ऐसा जहाँ भान हुआ वहाँ ज्ञान तो ज्ञान ही रह गया, ज्ञान तो ज्ञान की अवस्थारूप हो गया और पुद्‍गल, पुद्‍गलरूप में रह गया। अज्ञान के निमित्त से पुद्‍गलकर्मरूप होता था, वह अब नहीं होता। अज्ञान अवस्था में कर्म में निमित्तरूप से कर्ता होता था, वह अब कर्ता नहीं होता। अज्ञान अवस्था में निमित्तनैमित्तिकरूप से कर्तृत्व मानता था, वह ज्ञान अवस्था होने से छूट गया; मिथ्यात्वमोह छूट जाने से उसके कारण—उसके निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से जो कर्म बँधते थे वे रुक गये। यहाँ चारित्रमोह की बात गौण है। अज्ञान अवस्था के कारण विकार होता था और उसके निमित्त से पुद्‍गलकर्मरूप होता था, उस कर्म का उदय आने से आत्मा उसमें विपरीत पुरुषार्थ द्वारा युक्त होता था इससे नवीन कर्म बँधते थे; इस प्रकार निमित्तनैमित्तिक भाव होता था, वह सम्यग्भान होने से रुक गया।

आत्मा अजीव का कर्ता है और अजीव उसका कर्म है—ऐसा अज्ञानी मानता था। जीव और अजीव दोनों कर्ता-कर्म का वेश धारण करके एक होकर रंगभूमि में उपस्थित हुए थे, उन्हें सम्यग्ज्ञान ने यथार्थ पहिचान लिया। दोनों एक वेश धारण करके रंगभूमि में आये थे उन्हें सम्यग्ज्ञान ने लक्षण से यथार्थ पहिचान लिया। प्रज्ञाछैनी द्वारा छेदकर पृथक् किया। मैं तो आत्मा हूँ, और यह जड़ है—ऐसा भान होने पर दोनों पृथक् हो गये। सम्यग्ज्ञान ने जाना कि यह एक नहीं किन्तु दो हैं—ऐसी पहिचान होने से वे वेश छोड़कर रंगभूमि से बाहर निकल गये। जिस प्रकार बहुरूपिये को जब तक कोई न पहिचान ले तब तक वह चेष्टाएँ करता रहता है, परन्तु जहाँ पहिचान हुई कि—अरे! यह तो अपने ही गाँव का भांड है! ऐसा जान लिया कि वहाँ वह हँसकर अपना रूप प्रगट कर देता है और चेष्टाएँ छोड़कर चल देता है। उसी प्रकार जहाँ आत्मा का भान हुआ वहाँ ज्ञान ज्ञानरूप से रहता है और पुद्‍गल कर्म पुद्‍गलरूप हो जाता है, तथा कर्ताकर्मपना छूट जाता है ॥१४४॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय बनै करता सो,
ताकरि बन्धन आन तणूं फल ले सुखदुःख भवाश्रमवासो;

ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै परपासो,
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो।

जीव अनादि से स्वरूप का अज्ञान और राग-द्वेष का विकार उत्पन्न करके कर्ता होता था इससे बन्धन होता था और उसके कारण चौरासी के आश्रम में बसकर सुख-दुःख भोगता था। जब आत्मा का भान होता है, तब पर का कर्ता नहीं होता परन्तु मात्र ज्ञाता ही रहता है, इससे बन्धन नहीं होता; पर की पाँस (बन्धन) छूट जाती है और अपने आनन्द में सदा विलास करता है एवं मोक्ष में जाता है। मोक्षपर्याय प्रगट होने के पश्चात् अनन्त काल तक स्वरूप सुख में स्थित रहता है। जैसा स्वभाव प्रगट हुआ वैसा स्थायी रहता है— नित्य रहता है।

यह कर्ताकर्म की रचना कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा किसी अद्भुत प्रकार से हुई है। सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में समयसार के इस कर्ताकर्म अधिकार जैसा अधिकार अन्यत्र कहीं नहीं है। और फिर उसमें अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका करके तो 'सोने में सुगन्ध' जैसा कार्य कर दिया है। सोना और सुगन्ध एकमेक हो गये हों वहाँ फिर क्या कमी होगी ? जो आत्मजिज्ञासु होंगे वे इस अमूल्य वाणी को समझेंगे, और उनका कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा।

[इस प्रकार इस समयसार शास्त्र पर परमपूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का दूसरा कर्ताकर्म अधिकार पूर्ण हुआ।]

शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उनके भावों को तथा कारण-कार्यादिक को किसी के किसी में मिलाकर निरूपण करता है, और ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। और निश्चयनय उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता, और ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न:—यदि ऐसा है तो जिनागम में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण?

उत्तर:—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है'—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता से व्याख्यान है उसे 'ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है'—ऐसा जानना; और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इस अनुसार भी है और इस अनुसार भी है'—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों को ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न:—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश किसलिए दिया गया? एक निश्चय का ही निरूपण करना था?

उत्तर:—ऐसा ही तर्क श्री समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जिस प्रकार किसी अनार्य-म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने के लिए कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश असम्भव है, इसलिए व्यवहार का उपदेश है और उसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि—इस प्रकार निश्चय को अंगीकार कराने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है, वह अंगीकार करने योग्य नहीं है। (—श्री मोक्षमार्गप्रकाशक)